भाग १

मधुर रस

स्वरूप
और
विकास

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड

दिल्ली ६ पटना ६

भाग–१

मधुर रस सैद्धान्तिक विवेचन

पटना विश्वविद्यालय की डी० लिट्० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध (१९६४ ई०)

मधुर रस

स्वरूप
और
विकास

मूल्य रु० १८ ००



प्रथम सस्करण
१९६८



प्रकाशक
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
दिल्ली ६



मुद्रक
नवीन प्रस दिल्ली ६



आवरण सज्जा
रिफार्म स्टूडिओ दिल्ली ६

'पिबतु सोम्य मधु'

'समुद्रादूर्मिमधुमां उदारदुपांशुना सममृतत्वमानट ।'

—ऋग्वेद

'स एव रसाना रसतम परम परार्थं ।'

—छान्दोग्योपनिषद्

'रसो व स । रसछ्ह्येवाय लब्ध्वानन्दी भवति । एष ह्येवानन्दयति ।'

—तत्तिरीयोपनिषद

'एकाकी नारमत आत्मान द्वेधा व्यभजत् पतिश्च पत्नी चाभवत् ।'

—वेदोपनिषद्

मुख्यरसेषु पुरा य सक्षेपेणोदितो रहस्यत्वात् ।
पृथगव भक्तिरसराट् स विस्तरेणोच्यते मधुर ॥

—श्री रूपगोस्वामी

हम तुम बीच भया नहिं कोई ।
तुमहिं सो कन्त नारि हम सोई ॥

—सन्त कबीर

प्रकृति पुरुष का प्रणय निवेदन,
जीव ब्रह्म का प्रेमोल्लास!
भक्त भामिनी औ भगवन् का
शाश्वत आनन्द-केलि विलास!!

मधुराख्या रस-आदि, सुधार्णव,
अति दुर्लभ दुर्गम्य महान्!
तुम्हें समर्पित है श्री राधे!
देवि, प्रिया, सहचरी! प्राण!!

तुम्हारा ही—
'अभिनव'

आमुख

भारतीय वाङमय का विपुल साहित्य भाण्डार आदि रसात्मक किंवा भक्ति रस राट मधुर रस से ओत प्रोत है। विभिन्न युगों के अन्तगत विविध धम साधना मार्गों के साहित्य में मधुर रस का जसा वविध्यपूर्ण स्वरूप विधान किया गया है—वह अयत्र दुलभ है। साधको सतो एव भक्तो ने अपनी अमरवाणियो म प्रकृति और पुरुष की प्रणाय लीला जीवात्मा और परमात्मा के आध्यात्मिक परिणय और प्रमोल्लास तथा भक्त भामिनी और भगवान् के शाश्वत आनन्द केलि विलास की जसी मार्मिक अभियजना की है उन्हे देखते हुए सहज ही यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि इनके अतगत जिस दिव्य मनोराग की शतश उदभावनाए की गयी हैं—उनका मूलभूत रस क्या है? इसे देवविषयक रति जन्य भाव कहना या अलौकिक शृगार मानना समीचीन नही प्रतीत होता क्योकि जिसम सवथा एक स्वतन्त्र रस की सिद्धि के सारे तत्त्व विद्यमान हो तथा रसास्वाद कराने की अप्रतिम क्षमता हो—उसे मात्र भाव कहना असगत-सा प्रतीत होता है। इसी तरह शृगार के पीछे 'अलौकिक' विशेषण के जोड़ देने से भी सतोष नही होता क्योकि इसकी अपनी सीमाएँ हैं जो भक्ति रस राट मधुर रस से उसी तरह एकदम मेल नही खाती जिस तरह मानव के पीछे अति या अलौकिक विशेषण जोड देने से वह ब्रह्म का पर्याय नही बन सकता। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध इन्ही जिज्ञासाओ की मधुर परिणति है।

विषय का उद्बोधन

मधुर रस मानव मन की सहज वृत्ति की सर्वोत्तम परिणति है। यह भक्त और भगवान् ब्रह्म और उसकी शक्तियो के पारस्परिक मधुर भाव बधन की उत्कृष्टतम अभिव्यजना है। इस मधुर रस की सम्प्राप्ति के लिए अनुरागी मन की आतुरता, उसके निस्सीम आनन्द पयोनिधि म निमग्न होकर सन्तत रसास्वादन करने की आकाक्षा सभी देशो और सभी कालो म पायी जाती है। इसके उद्बोधन के लिए भावुक भक्तो एव सन्तो द्वारा ब्रह्म की ऐश्वर्य माधुरी के साथ साथ उसकी लीला माधुरी की बडी ही कोमल एव कमनीय कल्पना की गयी है तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चतुर्विध पुरुषार्थ के अतिरिक्त 'प्रेमा पुमर्थो महान्' की महनीय उद्भावना की गयी है।

भगवान् की यह लीला क्या है? इसका रहस्य क्या है? यह बतलाना बड़ा कठिन है, क्योंकि यह स्वयं ही रहस्य भी है और उसका समाधान भी, साधन भी है और साध्य भी। इसका मधुर आस्वाद गूंगे के गुड़ के स्वाद के सदृश अनिर्वचनीय अर्थात् केवल अनुभवैकगम्य है। इसको जानने के लिए प्रेम दृष्टि अपेक्षित है जिससे देखने पर ज्ञान द्वारा अगम्य ब्रह्म प्रेम

का स्पर्श करके दुःख-स्वरूप का विनाश कर चलते हैं। और वस्तु के रूप में प्रमाण को दूर करने में प्रेम के वशीभूत होकर वह बुद्धि और वाणी के परे भगवान् मनोहर निर्गुण अक्षर और अनीह का [illegible] होकर उनके मधुमय बनकर प्राण रमण होते हैं। किन्तु सबसे बड़ी विलक्षणता तो यह है कि भगवान् स्वयं प्रेम स्वरूप होकर भी प्रेम के याचक बने रहते हैं स्वयं रस स्वरूप होते हुए भी रस के अभिलाषी हैं और स्वयं आनन्द स्वरूप रहते हुए रस पाकर ही आनन्दी होते हैं। (तैत्तिरीयोपनिषद् २ ७) यदि इन सारे रहस्यों का समाधान पूछा जाय तो इसका एक ही उत्तर होगा यह यह कि सब भगवान् की लीला है जिसका न कोई आदि है और न अवसान न कोई कारण है और न कोई कार्य। लीला को छोड़ कर लीला का और कोई दूसरा प्रयोजन नहीं है नहि लीलाया किञ्चित्प्रयोजन मस्ति, लीला एव प्रयोजनत्वात्।

आनन्द स्वरूप प्रेम-स्वरूप और रस स्वरूप भगवान् की लीला अर्थात् विलासेच्छा की कमनीय कल्पना भारतीय मनीषा की मधुरतम उपलब्धि है। लीला-तत्त्व भारतीय साधना की सर्वाधिक कोमल सर्वोपरि भाव प्रवण एव सर्वोच्च कल्पना है दृश्य-जगत के खण्ड सत्य से अखण्ड सत्य और क्षर पुरुष से अक्षर पुरुष के सधान का अभिनव मार्ग है। साधक रूप और सीमा की सहायता से उस शाश्वत अरूप और परिव्याप्त असीम को देखता है जो उसका चरम प्राप्तव्य है। कवि शब्द और अर्थ का सहारा लेकर अरूप सत्य की ओर उन्मुख होता है कलाकार रेखा और रग की सहायता से रूपातीत भाव की अभिव्यजना करता है और भक्त भी नाम और रूप की सीढियो से ही उठकर अनाम और अरूप परम तत्त्व की झाँकी पाता है। (कबीर ह प्र० द्वि पृ २०४) भारतीय साधको की रूपोपासना का लीला दर्शन का और उनकी राग साधना का यही रहस्य है।

इस प्रकार जीवात्मा और परमात्मा का सहज विलास ब्रह्म और उनकी शक्तियो की आनन्द केलि भक्त प्रयसी और भगवान् प्रियतम की शाश्वत प्रेम लीला ही मधुर रस का सस्थान है। सनातन काल से विविध साधना मार्गों द्वारा इसी देवविषयक साक्षात प्रेम प्रतीति को 'लीला के दुग्ध रस से परितृप्त किया गया है। ऋग्वेद के कई मन्त्रों मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सष्टि का आदि स्रोत सोम अर्थात मधु का कोई अनन्त समुद्र है जिसकी मधुमान् ऊर्मि अथात आनन्दमयी लहर ही जीवन है— समुद्रादूर्मिमधुमाँ उदारदु पाशुना समममृतत्वमानट (ऋ० ४/५८/१) । सोम के इस विश्वव्याप्त अति सरस सुस्वादु एव तीव्र माधुर्यानन्द से मानव प्राण मे मधुर आनन्द का उन्मेष होता है जिससे प्राण परितृप्त होते हैं— स्वादुष्किलाय मधुमा उताय तीव्र किलाय रसवा उतायम्' (ऋ० ६/४७/१)। इन्द्र अर्थात प्राण-तत्त्व उस स्वादिष्ट, मधुमान तीव्र और रसवान् सोम के पान के लिए आतुर रहता है। शतपथ ब्राह्मण (६ १ १ १) मे प्रत्येक प्राणी के अन्तगत प्रदीप्त मध्य प्राण को इन्द्र कहा गया है जिसे अग्नि की भी सज्ञा दी गयी है। अग्नि रूपी पुरुष या वृषा और सोमरूपी स्त्री या योषा का द्वन्द्व या मिथुन भाव ही सृष्टि का कारण है। अग्नि वृषा और सोम योषा के मधुर सयोग मे ही रस की आनन्दानुभूति होती है।

मानव मन को अखण्ड माधुर्यानन्द से आप्यायित करनेवाली यह सहज तीव्र मधुमान और रसात्मक प्रवृत्ति जिसे रति की भी सज्ञा दी गयी है कई प्रकार के मानवीय

सम्ब धो द्वारा प्रत्यक्षानुभूत होती है। इनम भोग और भक्ति दोनो क्षत्रो म शा त दास्य, सख्य, वात्सल्य और दाम्पत्य (मधुर) भाव के सम्ब ध प्रमुख माने गये हैं। इन पाँच प्रकार के सम्बन्धो म आत्म समपण भाव क चरमोत्कष, अन य प्रमासक्ति और अतिशय अ तरगता के विचार से दाम्पत्य भाव के सम्बन्ध को सर्वाधिक महत्त्वपूण कहा गया है। इन्ही के अनुसार क्रमश शाता, प्रीता, प्रेयसी, अनुकम्पा और काता—पाँच प्रकार की भगवदविषयक रति होती है। 'जहाँ तक जड-जगत् का विषय है इनम शान्तारति सबसे श्रेष्ठ है और फिर बाकी क्रमश नीचे पडती हुई अन्तिम रति काता विषयक होकर शृगार नाम ग्रहण करती है। जड विषयक होने से यह सबसे निकृष्ट होती है। पर तु जड जगत है क्या चीज ? न ददास ने ठीक ही कहा है कि यह भगवान की छाया है जो माया के दपण म प्रतिफलित हुई है— 'या जग की परछाँह री माया दरपन बीच । अब अगर दपण की परछाँह की जाँच की जाय तो स्पष्ट ही मालूम होगा कि इसम छाया उल्टी पडती है। जो चीज ऊपर होती है, वह नीचे पड जाती है और जो नीच होती है वह ऊपर दीखती है। ठीक यही अवस्था रति की हुई है। "जड जगत म जो सबसे नीची है वही भगवद्विषयक होने पर सबसे ऊपर हो जाती है। यही कारण है कि शृगार रस जो जड-जगत् म सबसे निकृष्ट है वस्तुत भगवद्विषयक शृगार होने पर मधुर रस हो जाता है। (मध्यकालीन धम साधना ह• पृ० द्वि० पृ० २५२ २५३)।

तात्पय यह है कि प्रम लौकिक प्रीति का विषय बन जाने पर जडो मुख हो जाता है। फलत काताभाव की रति म जडासक्ति का ही चरमोत्कप होता है। कि तु वही प्रेम जब चिन्मुख होकर भगवत प्रीति का विषय बन जाता है तब वह सवश्रेष्ठ उज्वल रस किंवा मधुर रस के नाम से प्रतिष्ठित होता है।

उपयुक्त तथ्यो से यह सिद्ध होता है कि आत्मा और परमात्मा का सहज विलास भक्त रूपी प्रेयसी और भगवान रूपी प्रियतम की चिर तन प्रणय कलि लीला ही मधुर रस का उत्स है। वदिक युग से लेकर आधुनिक युग तक विभि न साधना मार्गो द्वारा इसी रहस्यमय आदि रस की आन दानुभूति को अनेक प्रकार म अभि यजित करने का प्रयास किया गया है।

भारतीय इतिहास के मध्यकाल (७वी सदी से १८वी सदी तक) के साधना क्षत्र मे कई आतरिक एव बाह्य कारणो से एक बहुत ही वीयवती भाव क्रांति के दशन होते हैं जिससे प्रभावित होकर कवि कलाकार साधक सभी एक अभिनव सृष्टि म सलग्न दिखलायी पडते हैं। यह 'अभिनव सष्टि ब्रह्म और उनकी शक्तियो की शतश रहस्यमय प्रम लीलाओ स आत प्रात है यह भक्त प्रेयसी और परमपुरुष की आन द केलि और प्रणय विलास से परिपूण है। भगवान के इसी माधुयमडित स्वरूप को अपूव मानवीय रस से अभिषिंचित कर नाना धम साधनाओ के साधको न अपन अपने साम्प्रदायिक सिद्धान्तो के अनुकूल बनाकर उपस्थित किया है। इन रस सिद्ध साधको ने ब्रह्म और उनकी शक्तियो की आन दमय रस मय और मधुमय प्रम लीलाओ को अपनी साधना का के द्र बि दु बनाकर तथा उस अपूव लीला रस के आस्वाद को परम काम्य मानकर जिस विलक्षण साधना साहित्य की सष्टि की है वह अनायास ही सम्पूण भारतीय वाडमय का कण्ठहार बन गया है तथा अपनी व्यापकता मम स्पर्शिता एव रसमयता के कारण परमोज्वल मधुर रस का महाणव बन गया है।

विषय की रहस्यमयता और स्वसंवेद्यता

आत्म विस्मरणकारी परमोल्लासमय अनन्त ब्रह्मानन्द में आत्मा का तादात्मीभूत होकर परमात्मा से एकमेव हो जाना एक ऐसी अनन्य असाधारण भाव दशा है जो वाणी से परे है। यह भाषा की अपेक्षा नहीं रखती अपितु भाषा स्वयं इसका अनुगमन कर सार्थक बनती है और लौकिक अर्थों के स्तरों को भेद कर पारलौकिक अर्थों का अभिव्यंजन करने लगती है। इस विशेष स्थिति में भाषा की मंत्र शक्ति का द्योतन होता है। प्रेम रस रसिक साधकों ने अपनी वाणियों में भाषा के इसी स्वरूप को प्रकाशित किया है जिसके आधार पर उन्हें वाणी के बादशाह की उपाधि से विभूषित किया गया है और उनकी वाणियों को साहित्य रसिकों द्वारा अलौकिक काव्यानन्द का आस्वाद करानेवाला भी माना गया है।

अति गुह्य एवं रहस्यमय मधुर रस की अन्तरंग साधना में अलौकिक प्रणयानुभूति की अभिव्यंजना के लिए लौकिक प्रेम प्रतीकों का विधान किया जाता है। अतएव व्यक्तिगत रूप में दीक्षित साधक ही इस अंतरंग राग साधना के अधिकारी माने गये हैं। अनधिकारी व्यक्तियों के हाथों में पड़कर प्राणियों को बंधन विमुक्त करनेवाला राग साधना के ऊर्ध्वांग उन्मुक्त शिखर से च्युत होकर जीव के भव बन्धन का कारण बन जाता है। इसीलिए इस मधुर भाव-साधना की तुलना सिंहनी के दूध से की गई है जो या तो सिंह शावक के मुंह में ठहरता है अथवा हिरण्य पात्र में दूसरे किसी पात्र में पड़ते ही वह फट जाता है। इन्हीं कारणों से मधुर रस की अंतरंग साधना में अधिकार भेदवाद को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है और यह परमगुह्यता एवं रहस्यमयता के आवरण के भीतर ही विकसित हुई है। रससिद्ध संतों एवं भक्तों ने सच्चे जिज्ञासु एवं पारखी के सामने ही इस रस विशेष के रहस्य के उद्घाटन करने का आदेश दिया है। रसिकाचार्यों ने तो अन्य सम्प्रदायवालों और अन्य इष्टदेवोपासकों तक को ब्रह्म और उनकी शक्तियों की इस एकान्तिकी मधुर प्रेमलीला के सम्बन्ध में कुछ कहना सुनना निषिद्ध माना है।

विषय की मौलिकता

मधुर रस साधना के ऐतिहासिक विकास क्रम की परम्परा अति प्राचीन है। इस विशाल देश के अंतर्गत जैन बौद्ध शैव, शाक्त, सिद्ध, नाथ वैष्णव, सूफी संत आदि विविध साधना मार्गों की आध्यात्मिक प्रेम साधना के क्षेत्र में शक्तिमान और उसकी शक्तियों के पारस्परिक प्रणय विलास के आधार पर विपुल साहित्य भाण्डार की सृष्टि की गयी है। किन्तु इस विपुल साहित्य भाण्डार के अंतर्गत जिस अलौकिक रस तत्त्व का विराट आयोजन किया गया है अभी तक न तो उसके स्वरूप पर सम्यक रूप से विचार किया गया है और न इस रस साधना की ऐतिहासिक क्रम परिणति के वैज्ञानिक पर्यालोचन करने का ही कोई व्यवस्थित प्रयास हुआ है। भारतीय मनीषा के इस बहुत बड़े अभाव की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज ने ठीक ही लिखा है कि 'रस तत्त्व का विश्लेषण और रस साधना का सम्यक आलोचन अभी तक कहीं ठीक प्रकार से हुआ है ऐसा प्रतीत नहीं होता। भारत के बाहर आध्यात्मिक साहित्य की विवेचना के प्रसंग में तो इस प्रकार का उद्यम तक दृष्टिगोचर नहीं होता। यहाँ के आध्यात्मिक साहित्य की अवस्था भी

प्राय इसी प्रकार की है। प्रारम्भिक और परस्पर असम्बद्ध आलोचना विभिन्न प्रसगो मे यूनाधिक मात्रा में अवश्य हुई है, परन्तु पूर्वापर सगति का सरक्षण करते हुए विशेष पर्यालोचन का सूत्रपात भी अभी तक नहीं हुआ।" (राममक्ति म रसिक सम्प्रदाय की भूमिका, पृ० १)।

सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय भगवत्-स्वरूप प्रम से ओत प्रोत है। परिमाण और गुण दोनो दृष्टियो से शक्तिमान् और उनकी शक्तियो की शाश्वत प्रणय-केलि स सम्बन्धित अति मूल्यवान और समृद्ध साहित्य की सुदीर्घ परम्परा भी विद्यमान है। फिर भी सस्कृत क साहित्याचार्यों ने आध्यात्मिक प्रेम साधना से परिपूर्ण राशि राशि साहित्य की रमणीयता, सरसता और रस प्रवणता की ओर ध्यान ही नहीं दिया और जिन्होने ध्यान दिया भी उन्होने इसमे वर्णित मधुर रस को देवता विषयक रति कह कर या तो भाव-कोटि म ही निविष्ट कर दिया या स्मृति, मति, धृति और उत्साह भावों म ही इसका अन्तर्भाव दिखलाकर शान्त रस मे समाविष्ट कर दिया—'अतएव ईश्वर प्रणिधान विषये भक्ति श्रद्धे स्मृति मति धृत्युत्साहानुप्रविष्टेभ्योऽन्यथै वाङ्गमिति न तयो पृथग्रसत्वेन गणनम्' (नाट्यशास्त्र भरतमुनि)।

सस्कृत के साहित्य शास्त्र प्रणेताओ म आचार्य रुद्रट ने ही सवप्रथम स्नेह प्रकृति प्रेयान्' कहकर 'प्रेयान्' नामक नवीन रस की उदमावना की और 'स्नेह' को उसका स्थायीभाव माना—

शृ गार वीर करुणा बीभत्स भयानकादभुता हास्य ।
रौद्र शात प्रेयानिति मन्तव्या रसा सर्वे ॥
(काव्यालकार रुद्रट, १२/३)

आचाय रुद्रट के पश्चादभावी आचार्यों म स अभिनवगुप्त हेमचन्द्र शार्ङ्गदेव धनजय, भोज, पण्डितराज जगन्नाथ आदि ने तो भक्तिरस का अन्य रसा मे अन्तर्भाव दिखला कर उसे एक स्वतन्त्र रस के रूप म मानने से अस्वीकार ही कर दिया।

किसी नवीन तथ्य को स्वीकार करने म परम्परा का व्यामोह कितने प्रबल रूप म बाधक बनकर खडा हो जाता है यह सस्कृत काव्यशास्त्र के अंतिम आचाय पडितराज जगन्नाथ के एतद्विषयक द्विधात्मक मन्तव्य से सुस्पष्ट है। उन्हाने भगवान् को भक्तिरस का आलम्बन, पुराणादि धर्म-ग्रन्थो के पठन-पाठन-श्रवणादि को उद्दीपन रोमाच, अश्रुपातादि को अनुभाव, हर्षादि को सचारी भाव तथा भगवदविषयक प्रम रूप भक्ति को स्थायीभाव स्वीकार करते हुए भी भक्तिरस को स्वतन्त्र रस के रूप में मानन से अस्वीकार कर दिया है जिसका गतानुगतिकतावाद को छोडकर और कोई दूसरा बौद्धिक आधार नहा है। यह उनके स्वकथन से ही स्पष्ट है—

'अथ कथमेतएव रसा। भगवदालबनस्य रोमाचाश्रुपातादिभिरनुभावितस्य हर्षादिभि पोषितस्य, भागवतादि पुराण श्रवण समय भगवद्भक्तैरनुभूयमानस्य भक्तिरसस्य दुरपह्नवत्वात। भगवदनुरागरूपाभक्तिश्चात्र स्थायिभाव। न चासौ शान्तरसेऽन्तर्भावमर्हति अनुरागस्य वैराग्य विरुद्धत्वात। उच्यते—भक्तेर्देवादिविषयरतित्वेन भावान्तर्गततया रसत्वानुपपत्तेरिति।"

भक्तिरस को स्वतन्त्र रस के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय वष्णव आचार्यों को है। उन्होंने प्राचीन काव्यशास्त्र के आधार पर स्वतन्त्र वष्णव रस शास्त्र का प्रणयन कर भक्ति रस की स्थापना करने का साधु प्रयास किया है। किन्तु इस दिशा म उनका दृष्टिकोण काव्य शास्त्रीय न होकर साम्प्रदायिक अधिक रहा है। भगवत्प्राप्ति के चतुर्विध साधनों मे भक्ति की सवश्रेष्ठता सिद्ध करते हुए उन्होंने सामान्य रूप से भक्ति रस का विवेचन किया है।

आचाय मधुसूदन ने भगवद् भक्ति रसायन नामक ग्रन्थ मे भक्तिरस को स्वतन्त्र रस सिद्ध करते हुए लिखा है कि अन्य रसो के सदृश भक्ति भी विभावादि से युक्त होकर चित्र रूपवद रसत्व को प्राप्त होती है। वास्तव म अन्य देवतादि से सम्बन्ध घन हो जाने पर यह अलौकिक आनन्ददायिनी रति भक्तिरस मे परिणत हो जाती है। कान्तादिविषयक रसो में पूर्ण सुख स्पर्श नही होन के कारण रसत्व का यथेष्ट रूपेण पोषण नहीं होता। इससे भिन्न भक्तिरस नितान्त सुखमय होता है। अतएव लौकिक क्षुद्र रसो से परिपूर्णरसा भगवद्रति वसी ही बलवती है जसी खद्योतो मे आदित्य की प्रभा —

> रसातर विमावादि सकीर्णा भगवद रति ।
> चित्ररूपवद्व्याद्यप्रसतां प्रतिपद्यते ॥
> रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाजित ।
> भाव प्रोक्तो रसो नेति यदुक्त रसकोविद ॥
> देवातरपु जीवत्वात परानदा प्रकाशनात ।
> तद्योग्य—परमानद रूपेण परमात्मनि ॥
> कान्तादिविषया वा ये रसाद्यास्तत्र नेदृशम ।
> रसत्व पुष्यते पूण सुखास्पर्शित्व कारणात ॥
> परिपूणरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रति ।
> खद्योतेभ्य इवादित्यप्रभेव बलवत्तरा ॥
>
> (भ भ० र मधुसूदन सरस्वती)

भागवत की श्रीधरी टीका भावार्थदीपिका म भी सामान्य रूप से अन्य रसो के साथ भक्तिरस का उल्लेख किया गया है—

> रौद्रादभतौ च शृङ्गारा हास्य वीरोदयस्तथा ।
> भयानकश्च बीभत्स शान्त सप्रेमभक्तिक ॥

चतन्यदेव के समकालीन और परवर्ती वृन्दावन स्थित षट गोस्वामियो एव गौडीय वष्णव मत के अन्य वष्णव आचार्यों ने सामान्य रूप से भक्ति रस और विशेष रूप से मधुर रस को स्वतन्त्र रस के रूप म स्थापित करने का स्तुत्य प्रयास किया है। गौडीय वष्णव मत के साम्प्रदायिक सिद्धान्तो आचारो एव धम विश्वासो को शास्त्रीय एव लोक-सम्मत रूप प्रदान करने वाले वष्णव आचाय भक्ति शास्त्र और काव्य शास्त्र के ममज्ञ थे। यही कारण है कि उन्होंने प्राचीन सस्कृत रसशास्त्र के आधार पर वष्णव रसशास्त्र का प्रणयन किया तथा राधा कृष्ण की प्रम लीला को प्रमुख प्रतिपाद्य बनाकर मधुर रस को स्वतन्त्र रस के रूप मे प्रतिष्ठित करने का महनीय प्रयास किया। भगवद्भक्ति की शास्त्रीय व्याख्या करने वाले

गौडीय वष्णव आचार्यों का प्रमुख उद्देश्य भक्ति शास्त्र का सुचिन्तित और बौद्धिक रूप प्रस्तुत करना था। वे साहित्य शास्त्र, व्याकरण, अलकार स्मृति आदि विषयो को हरिमय बनाना चाहते थे। वे ज्ञान को भक्ति का अनुगत बनाकर उपस्थित करना चाहते थे। अतएव भगवत्प्रेम के पुरस्कर्ता वष्णव आचार्यों ने जिन वष्णव रस ग्र थो का प्रणयन किया है वे सस्कृत साहित्य म नई शास्त्रीय चिन्तन पद्धति का सधान बनाते हैं।

भक्ति रस के विवेचन की दृष्टि से रूपगोस्वामी कृत हरिभक्ति रसामृतसिन्धु और उसकी जीवगोस्वामी-कृत दुगम सगमनी मुकुन्ददास गोस्वामी कृत अथरत्नाल्पदीपिका और विश्वनाथ चक्रवर्ती कृत 'भक्ति सार प्रदर्शिनी टीकाए उल्लेखनीय हैं।

भक्तिरस या मधुर रस के विवेचन की दृष्टि स रूपगोस्वामी की उज्ज्वल नीलमणि और उसकी जीवगोस्वामी-कृत लोचनरोचिनी और विश्वनाथ चक्रवर्ती कृत आनन्द चन्द्रिका या उज्ज्वल नीलमणिकिरण नामक टीकाएँ विशेष निर्देश्य हैं।

मधुर रसविषयक उपयुक्त दो महान विवेचनात्मक रस ग्रन्थों के अतिरिक्त जीव गोस्वामी कृत षट सन्दभ कृष्णदास कविराज कृत चतन्य चरितामृत कणपूर कृत अलकार कौस्तुभ नरोत्तमदास कृत प्रम भक्ति चन्द्रिका, नारायण भट्ट कृत भक्ति रसतरगिणी विश्वनाथ चक्रवर्ती कृत भक्ति रसामृतसिन्धु बिन्दु और माधुय कादम्बनी म भी मधुर रस की विवेचना की गई है।

उपयुक्त गौडीय वष्णवाचार्यों द्वारा लिखित ग्रन्थों म यद्यपि सवप्रथम भक्ति किंवा मधुर रस को स्वतन्त्र रस के रूप म प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया गया है तथापि भक्ति के क्षत्र म केवल राधा कृष्ण की प्रेम लीला को ही ध्यान म रखकर रस मीमासा करने के कारण वह बहुत कुछ साम्प्रदायिक एव एकागी जसा प्रतीत होता है।

गौडीय वष्णवाचार्यों के अतिरिक्त निम्बाक सम्प्रदाय एव राधावल्लभीय सम्प्रदाय के माधुयरसोपासक भक्त्याचार्यों ने भी प्रासगिक रूप मे मधुर रस के प्रतिपादन करने का प्रयास किया है। हालांकि मधुर भाव क इन भक्त्याचार्यों का उद्देश्य मधुर रस की मीमासा करन की अपेक्षा राधा कृष्ण की मधुर प्रम-लीलाओ का आकलन करना ही प्रमुख रहा है। इस दृष्टि से निम्बाक सम्प्रदाय क माधुयरसोपासक श्री भट्ट कृत जुगलसतक निम्बाक सम्प्रदाय के भीतर 'रसिक सम्प्रदाय नामक शाखा के प्रवत्तक हरिव्यासजी कृत महावानी (जुगलसतक का भाष्य ग्रन्थ), स्वामी हरिदास कृत केलिमाल राधावल्लभीय सम्प्रदाय के प्रवतक स्वामी हितहरिवशजी रचित राधा सुधानिधि श्री व्यास रचित व्यास वाणी (द्वितीय खड) विशेष उल्लेखनीय ग्रन्थ रत्न हैं।

राम भक्ति के रसिक सम्प्रदाय क रसिकाचार्यों ने भी अनेक उत्तम ग्रन्थो की रचना की है जिनम प्रसगानुसार मधुर रस का निरूपण किया गया है। ऐसे ग्रन्थो म श्रीहनुमत सहिता' अग्रदास रचित ध्यान मजरी और 'शृगार रस सागर मधुराचाय-कृत श्री सुन्दर मणि सन्दभ और माधुय कलि कादम्बिनी श्री रसिकअली कृत सिद्धान्त मुक्तावली कृपानिवास-कृत 'रस सार ग्रन्थ श्री रामचरणदास-कृत रसमालिका श्री जीवाराम जुगल प्रिया कृत शृगार रस रहस्य महत्वपूर्ण हैं। फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि गौडीय वष्णव आचार्यों के समान मधुर भाव की उपासना करने वाले वष्णवाचार्यों ने मधुर रस की शास्त्रीय

मीमांसा करने का कोई विधिवत प्रयास नहीं किया है। इस प्रकार हिन्दी के वैष्णव साहित्य मे भक्ति किंवा मधुर रस की शास्त्रीय व्याख्या करने वाले रस ग्रन्थ का एक प्रकार से अभाव ही है।

आधुनिक युग के युग प्रवर्त्तक साहित्यकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने नाटक नामक ग्रन्थ मे रसो का नामोल्लेख करते हुए शृगार हास्य करुणा रौद्र वीर भयानक अद्भुत वीभत्स इन रसो के अतिरिक्त सख्य वात्सल्य प्रमोद या आनन्द य शान्त भक्ति या दास्य प्रम या माधुर्य रस का उल्लेख किया है। हिन्दी के आधुनिक काव्य शास्त्रियो ने भी प्रसगवश यत्र तत्र भक्ति रस को स्वतन्त्र रस माने जाने का समर्थन किया है। प० रामदहिन मिश्र ने भक्तिरस की आस्वाद्य योग्यता की चर्चा करते हुए लिखा है कि भारतीय साधु सन्तो ने भक्ति का जो रूप खडा किया है वह साङ्गोपाङ्ग है। शास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर भक्तिरस परिपूर्ण तथा खरा उतरता है और रस श्रेणी मे आने के उपयुक्त है। भक्ति रस के विरुद्ध जितने तर्क हैं वे नि सार हैं। (काव्य दर्पण अभिनव साहित्य शास्त्र पृ २८८) प० अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध ने भक्ति रस की स्वतन्त्र सत्ता एव सर्वोत्कृष्टता का निर्देश करते हुए कहा है कि भक्ति रस के अतिरिक्त दूसरा कौन रस है जिसके द्वारा ब्रह्मानन्द की प्राप्ति यथातथ्य हो सके ? काव्य प्रकाशकार ने जो व्यापक लक्षण रसो के बतलाये थे उसके आधार से विचार करने पर भी भक्ति रस का स्थान उच्च ही नही उच्चतर सिद्ध हुआ। भक्ति साहित्य भी किसी रस से अल्प नही हिन्दी ससार में तो सन्तो की वाणियो ने उनका भडार भली भाँति भर दिया है। (रस कलस पृ २१६ २१९) सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने सस्कृत साहित्य के इतिहास (पृ ६८ ७१) मे भक्ति रस की निर्बाध आस्वाद्य-योग्यता एव स्वतन्त्र सत्ता का समर्थन करते हुए इसकी रस सिद्धि पर जोर दिया है। बाबू गुलाबराय ने अपने नव रस नामक रस ग्रन्थ के तेरहवें अध्याय मे नवरसेतर रसो की चर्चा के प्रसग में भक्ति रस का उल्लेख किया है। डा आनन्दप्रकाश दीक्षित ने अपने रस ग्रथ रस सिद्धान्त स्वरूप विश्लेषण (पृ० २९४) मे भक्ति रस विषयक विविध खण्डनात्मक एव मण्डनात्मक विचारो का परिचयात्मक विवरण देते हुए अन्त मे मराठी विद्वान डा वाटवे के विचार का समर्थन करते हुए लिखा है कि भक्ति रस के समान आस्वाद्य मो गोपकारक बहुजनसुलभ वाङमय परिपुष्ट व सस्कृत साहित्यशास्त्र तथा मानस शास्त्र की कसौटी पर पूर्णतया खरा उतरने वाला रस न मानने का कोई कारण नही है।

हिन्दी के उपर्युक्त रस विवेचको के अतिरिक्त कतिपय मान्य हिन्दी-आलोचको ने अपने अपने आलोचना ग्रथो मे भक्तिरस को एक स्वतन्त्र रस के रूप मे माने जाने का अनुमोदन किया है। डा नगेन्द्र के मतानुसार साधारण व्यक्ति के लिए देवादि विषयक रति भाव की स्थिति से आगे नहीं बढ़ पाती, क्योकि उसका आलम्बन परोक्ष एव अमूर्त है परन्तु यह मनोविकार रस परिणति में असमर्थ है एकदम ऐसा कहना अनुचित होगा। मीरा सूर तुलसी की भक्ति रस दशा को प्राप्त नही कर सकी थी यह कहना तो सत्य का तिरस्कार करना है। (रीतिकाव्य की भूमिका पृ० ७ ७१) डॉ हजारीप्रसाद द्विवेदी के कथनानुसार आत्मा जिस रस का अनुभव करता है वही सर्वश्रेष्ठ भक्ति रस है जिसका नाना स्वभावों के भक्त नाना भाव से रसास्वादन करते हैं। मधुर रस उसी का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप

है।' (मध्यकालीन धर्म साधना पृ० २१६)

इस प्रकार हिंदी के आधुनिक रस विवेचकों एवं आलोचकों ने अपने अपने ग्रंथों में प्रासंगिक रूप से ही यथास्थान भक्ति अथवा मधुर रस का सामान्य रूप से उल्लेख किया है। हिंदीतर भाषाओं में बंग भाषा के गौडीय वैष्णव आचार्यों के अतिरिक्त मराठी विद्वान डा० वाटवे प्रो० द० के० केल्कर रावजी मोडक, रा० प्रधान, रा० भागवत, रा० ग० म० गोरे, प्रो० श्री० नी० चापेकर प्रो० र० रा० देशपांडे, प्रो० श्री० ना० बनहट्टी, के० श्री० पागारकर तथा डा० मा० गो० देशमुख ने भक्तिरस की आस्वाद्य योग्यता और प्रभाव का विवेचन करते हुए उसके एक स्वतन्त्र परिपूर्ण रस माने जाने का अनुमोदन किया है। डा० वाटवे ने अपने रस विमर्श नामक रस ग्रंथ के भक्ति रस प्रकरण में भगवद्रति स्थायीभाव पर मानस शास्त्र और साहित्य शास्त्र दोनों दृष्टियों से विचार करते हुए भक्ति रस को परिपूर्ण रस माना है। उनकी दृष्टि में भक्ति रस को स्वतन्त्र रस नहीं मानने का एकमात्र कारण परम्पराभिमान है जो सर्वथा उपेक्षणीय है। प्रो० केलकर ने भी अपने 'काव्यालोचन' में मानव संस्कृति की विकास परम्परा से दृढ होने वाली भावनाओं में ईश्वर भक्ति की भावना को एक प्रबल भावना के रूप में स्वीकार किया है तथा इसके आधार पर भक्ति भाव को स्वतन्त्र रस के आसन पर समासीन करने का समर्थन किया है।

रस विवेचन विषयक उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त कई ऐसे भक्ति साधनामूलक ग्रन्थ हैं जिनमें प्रसंगवश यथास्थान मधुर रस की संक्षिप्त चर्चा की गई है। ऐसे ग्रन्थों में डॉ० दीनदयाल गुप्त का 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय', डॉ० विजयेन्द्र स्नातक का राधा वल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य, गोस्वामी ललिता चरण का हितहरिवंश स्वामी सम्प्रदाय और साहित्य, डा० रत्नकुमारी का १६वीं शती के हिंदी और बंगाली के वैष्णव कवि, डा० रूपनारायण का व्रजभाषा के कृष्ण काव्य में माधुर्य भक्ति', डा० भुवनेश्वरनाथ मिश्र माधव' का रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना डा० भगवतीप्रसाद सिंह का रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय डा० प्रभुदयाल मीतल का 'चैतन्य मत और व्रज साहित्य' डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का मध्यकालीन धर्म साधना डा० रामपूजन तिवारी का व्रजबुलि साहित्य, डा० सरला शुक्ल का 'हिन्दी सूफी कवि और काव्य', प० बलदेव उपाध्याय का भागवत सम्प्रदाय प० परशुराम चतुर्वेदी का 'मध्यकालीन प्रेम साधना ब्रह्मचारी बिहारी शरण का निम्बार्क माधुरी श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार का 'प्रेम दर्शन, डा० एस० के० डे का वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेंट इन बंगाल', श्री प्रह्लाद नरहर जोशी का मराठी साहित्यातील मधुराभक्ति आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस दिशा में मधुरोपासना से सम्बन्धित श्रीमती प्रेमलता शर्मा (काशी) और श्रीमती उमावती (कलकत्ता विश्वविद्यालय) के गवेषणात्मक कार्य भी सराहनीय हैं।

ऊपर मधुर रस और उसकी साधना से सम्बन्धित जितने काव्यशास्त्रीय आलोचनात्मक एवं गवेषणात्मक ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है उनमें से जहाँ तक मेरी जानकारी है किसी भी ग्रंथ में आधिकारिक विषय वस्तु के रूप में मधुर रस और उसकी साधना का क्रमबद्ध वर्णनात्मक विवेचन नहीं किया गया है। जहाँ-कहीं मधुर रस की किंचित चर्चा की भी गई है तो प्रासंगिक विषय वस्तु के रूप में ही। हालाँकि अधिकांश विद्वानों ने भक्ति किंवा

मधुर रस को परिपूर्ण रस के रूप म सिद्ध किय जाने का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है किन्तु विविध शास्त्रो के आधार पर उसके सद्धान्तिक विवेचन द्वारा उसके स्वरूप निर्धारण तथा साधना साहित्य म उसके स्वरूप विकास के वज्ञानिक पर्यालोचन का प्रयास नही के बराबर ही हुआ है। साम्प्रदायिक ग्रन्थो म मधुर रस की जो थोडी बहुत चर्चा की गयी है वह साम्प्रदायिक सिद्धान्तो की विभिन्नता एव साधना भेद के कारण बहुत कछ परस्पर असम्बद्ध और एकागी है। आधुनिक विद्वानो ने भक्ति किंवा मधुर रस के प्रसग म या तो *मानस शास्त्र का सहारा लिया है या परम्परागत काव्यशास्त्र का।* इसमे भी विषय वस्तु के प्रतिपादन म एकागिता एव अपूर्णता का होना सवथा स्वाभाविक है। आलोचनात्मक एव गवेषणात्मक ग्र थो म यथास्थान भक्ति किंवा मधुर रस की किंचित चचा की गई है जिससे परिपूर्ण रस के रूप मे इसकी सिद्धि नहा हो पाई है। कछक साधना मार्गों के साहित्य म मधुर रस साधना का जो स्वरूप उपस्थित किया गया है वह विवेचनात्मकता की अपेक्षा विवरणात्मक ही अधिक है। उसम भी पूर्वापर सगति के सरक्षण का कोई ध्यान नहीं दिया गया है। साराश यह है कि अद्यावधि मधुर रस और उसकी साधना से सम्बधित जो भी सामग्री प्रकाश म आई है वह सवथा अपर्याप्त एकागी एव परस्पर असम्बद्ध होन के कारण प्रारम्भिक महत्व की भी मानी जा सकती है इसम स देह है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध की प्रथम मौलिकता यह है कि इसम मैंने क्रमश भक्ति शास्त्र मनोविज्ञान शास्त्र दशन शास्त्र और काव्य शास्त्र के आधार पर मधुर रस के स्वरूप की स्थापना की है तथा आधिकारिक विषय वस्तु के रूप मे इसके सावयव निरूपण द्वारा इसे परिपूर्ण रस के रूप म ही नही अपितु भक्ति रसराज किंवा आदि रस के रूप म प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। जहाँ तक मेरी जानकारी है हिन्दी ही नही अपितु किसी भी भारतीय भाषा म विविध शास्त्रो के आधार पर इतने व्यापक रूप से भक्ति किंवा मधुर रस के सद्धान्तिक विवेचन एव स्वरूप निर्धारण का प्रयास नहीं किया गया है। इस दृष्टि से यह पहली कृति है जिसम विविध शास्त्रीय सिद्धान्तो के आधार पर मधुर रस के स्वरूप का तात्त्विक निरूपण है।

इसकी दूसरी उल्लेखनीय मौलिकता यह है कि इसके द्वितीय भाग के तीन खण्डो म मधुर रस साधना की ऐतिहासिक क्रमपरिणति का सुस्पष्ट विवेचन किया गया है तथा विविध साधना पद्धतियो के हिन्दी साहित्य मे पूर्वापर सगति का सरक्षण करते हुए मधुर रस साधना के स्वरूप विकास का विशुद्ध पर्यालोचन किया गया है जिससे वदिक युग से लेकर मध्यकाल तक की मधुर रस साधना के विभिन्न रूपो का क्रमबद्ध इतिहास स्पष्ट हो जाता है। अबतक विभिन्न विद्वानो ने किसी न किसी सम्प्रदाय विशेष की सीमित परिधि मे ही मधुर रस साधना के स्वरूप का व्यष्टि रूप म प्रदर्शित करने का किंचित प्रयास किया है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध मे जन बौद्ध सिद्ध नाथ वष्णव सूफी और सन्त सम्प्रदायो के साधना साहित्य म मधुर रस के स्वरूप विकास को समष्टि रूप म समुपस्थित करने का प्रयास किया गया है। इन विशेषताओ को देखते हुए मधुर रस के तात्त्विक विवेचन तथा विविध साधन मार्गों के साधना साहित्य (हिन्दी) मे मधुर रस के स्वरूप विधान की दृष्टि से प्रस्तुत शोध प्रबन्ध प्रथम मौलिक प्रयास कहलाने का अधिकारी है।

विषय-वस्तु-विधान

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का विषय-वस्तु विधान दो भागों के अन्तर्गत सात खण्डों में किया गया है। प्रथम भाग के चार खण्डों में मधुर रस का तात्त्विक एवं सैद्धान्तिक विवेचन है तथा दूसरे भाग के तीन खण्डों में मध्यकालीन हिन्दी साधना साहित्य के विशेष सन्दर्भ में उसके स्वरूप विकास का पर्यालोचन करते हुए मधुर रस की का यगत मीमांसा की गई है।

प्रबन्ध का प्रथम खण्ड आकार में लघु होते हुए भी विषय के स्वरूप प्रतिपादन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है क्योंकि मधुर रस का मूलाधार भक्तिशास्त्र ही है। अतएव इस खंड में भक्तिशास्त्र के आधार पर भगवद्भक्ति के विविध भेदों का तात्त्विक विवेचन करते हुए प्रेम महाधन को ही भगवत्साधना का एकमात्र प्रयोजन-तत्त्व सिद्ध किया गया है जो क्रमशः रति, प्रेम प्रणय मान, स्नेह राग अनुराग, भाव और महाभाव के रूप में वर्द्धमान होता हुआ परमोत्कर्ष को प्राप्त होता है और जीवात्मा या भक्त रूपी प्रेयसी और परमात्मा के दाम्पत्य भाव सम्बन्ध द्वारा भक्ति रसराज मधुर रस के रूप में परिणत हो जाता है।

द्वितीय खण्ड में मनोविज्ञान के आधार पर मधुर रस का स्वरूप प्रतिपादन किया गया है। मधुर रस भगवान् के प्रति भक्ति के मनोराग की उत्कृष्टतम परिणति है। मधुर रस की लोकोत्तर भावदशा में भावुक भक्त के मन की अन्तर्बाह्य क्रियाशीलता और संकल्प विकल्प की शक्तियाँ विरत हो जाती हैं। अतएव कारण-कार्य-सम्बन्ध भाव से परे होने के कारण मधुर रस मनोविज्ञान की सीमा से दूर का विषय हो जाता है किन्तु जिन कारणों से निर्गुण, निराकार ब्रह्म को सगुण और साकार भगवान् बनना पड़ता है उन्हीं कारणों से जीवात्मा अथवा भक्त रूपी प्रियतम के अलौकिक नित्य प्रणय-लीला रस की अभिव्यक्ति के लिए लौकिक प्रेम प्रतीकों की भी आवश्यकता पड़ती है। यही वह बिन्दु है जहाँ मधुर रस के मनोवैज्ञानिक विवेचन की अपेक्षा होती है। अतएव इस खंड में मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर मनुष्य की मूल वृत्ति काम के भक्ति के रूप में रूपान्तरित होने और मधुर रस के रूप में आस्वाद्य बन जाने की विशद विवेचना की गई है।

तृतीय खण्ड अन्य खण्डों की अपेक्षा विस्तृत एवं विविधतापूर्ण है क्योंकि इसमें विभिन्न साधना पद्धतियों एवं धर्म-सम्प्रदायों के दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर जीव जगत और ब्रह्म के तात्त्विक स्वरूप और पारस्परिक सम्बन्ध की स्थापना है। उपासक अपने उपास्य के साथ अपने स्वभाव रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार अनेक प्रकार के भावात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है। जब तक उपास्य और उपासक, ब्रह्म और उसकी शक्तियों के तात्त्विक स्वरूप और पारस्परिक सम्बन्ध का निर्धारण नहीं हो जाता तब तक उनकी पारस्परिक शाश्वत प्रणय लीला के रहस्य का उद्घाटन नहीं हो सकता। इसीलिए ब्रह्म और उसकी शक्तियों के तात्त्विक स्वरूप एवं पारस्परिक सम्बन्ध के निर्धारण के लिए दार्शनिक सिद्धान्तों के निरूपण की आवश्यकता पड़ती है। इसके अभाव में किसी भी प्रकार की साधना या उपासना नहीं चल सकती। इसी विचार से इस खण्ड में ब्रह्म और उसकी शक्तियों की शाश्वत आनन्द केलि के रहस्योद्घाटन के लिए वैष्णव-दर्शन के विभिन्न द्वैताद्वैतपरक सिद्धान्तों के साथ साथ योग सांख्य तन्त्र शैव, शाक्त, जैन बौद्ध, सिद्ध सूफी और सन्त

सम्प्रदायो के दार्शनिक मतवादा का विवेचन किया गया है। मधुर रस के दार्शनिक विवेचन की अन्तिम परिणति के रूप म प्रेम दर्शन की मीमासा की गयी है, क्योंकि जीवात्मा और परमात्मा उपासक और उपास्य शक्तिमान् और उसकी शक्तियो के तात्विक स्वरूप और एकात्म भाव के प्रतिपादन के लिए जिस प्रकार तत्ववेत्ताओ ने विभिन्न द्वैतान्तपरक दार्शनिक सिद्धान्तो की अवतरणा की है उसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा भक्त और भगवान् शक्तिमान् और उसकी शक्तियो के दाम्पत्य भावपरक मधुर सम्बन्ध की स्थापना के लिए सहृदय साधको एव भावुक भक्तो ने प्रेम दर्शन के सिद्धान्त को अनिवाय रूप से ग्रहण किया है।

चतुर्थ खण्ड म वष्णव रस साधना के आलोक म मधुर रस का सावयव काव्यशास्त्रीय विवेचन किया गया है। आरम्भ म रस शब्द के विभिन्न अथ रस की कल्पना तथा रस के काव्य शास्त्रीय विकास क्रम पर प्रकाश डालते हुए मधुर रस की निष्पत्ति पर विचार हुआ है। चिन्जगत और जड जगत म रसो की स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए तथा जडाश्रित विषयक शृगारादि रस क साथ मधुर रस का मौलिक अतर दिखलाते हुए उसकी अलौकिकता सिद्ध की गई है। तदुपरान्त मधुर रस मे प्रेम की आतरिकता मधुर भाव का हृदय म प्रतिष्ठापन और मधुर रस का प्रादुर्भाव मधुर रस के स्थायी भाव —मधुरा रति और उसके भेदो का निरूपण किया गया है। भगवान के प्रति भक्त की ऐश्वय ज्ञान शून्य मधुरा रति क्रमश प्रेम स्नेह मान प्रणय राग अनुराग परम अनुराग भाव और महाभाव के रूप म विकसित होकर किस प्रकार मधुर रस मे परिणत हो जाती है इसका सम्यक दिग्दर्शन करते हुए मधुर रस के विषयालम्बन आश्रयालम्बन और उसके भेद तथा मधुर रस के अत्यतोल्लास को अभिव्यक्त करने वाले परकीया भाव की श्रेष्ठता सिद्ध की गई है। इसी प्रसग मे सखी भाव और उसके परकीयात्व के आदश तथा नायिका भेद का विवेचन करते हुए मधुर रस के उद्दीपन विभाव मधुर रस के प्रसाधन तथा रूप विन्यास मधुर रस के अनुभाव सात्विक भाव और सचारी भाव का विवेचन हुआ है। पुन वष्णव आचार्यों के रस शास्त्र के अनुसार मधुर रस के सभोग एव विप्रलम्भ पक्षो तथा उनके अवान्तर भेदो और उनकी अन्तदशाओ का प्रतिपादन किया गया है। अन्त म भक्ति किंवा मधुर रस स्वतन्त्र रस है या भाव-मात्र इस प्रश्न से सम्बद्ध अनेक आरोपो का खडन करते हुए भक्ति रस म ही अन्य सभी रसो का अन्तर्भाव दिखलाकर उसकी व्यापकता सिद्ध की गई है तथा भक्ति रस के पचभेदो म सर्वश्रेष्ठ मधुर रस को भक्ति रसराज तथा आदि रस के रूप मे प्रतिष्ठित किया गया है।

शोध प्रबन्ध के द्वितीय भाग के पचम षष्ठ एव सप्तम खण्डो म क्रमश मधुर रस साधना के ऐतिहासिक विकास क्रम तथा मध्यकालीन सगुणमार्गी एव निगुणमार्गी साधना पद्धतियों के हिन्दी साहित्य मे मधुर रस के स्वरूप विधान का पर्यालोचन किया गया है। पौने बारह सौ पृष्ठो के इस पूरे प्रबन्ध को एक ही जिल्द म रखना असुविधाजनक प्रतीत होने के कारण इसके प्रथम भाग और द्वितीय भाग की सामग्रियो को क्रमश मधुर रस सद्धान्तिक विवेचन तथा मधुर रस काव्य मीमासा नाम से दो जिल्दो म प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार मधुर रस सद्धान्तिक विवचन के अन्तगत भक्तिशास्त्र मनोविज्ञानशास्त्र दशन शास्त्र और काव्यशास्त्र के आधार पर मधुर रस के तात्विक स्वरूप का उद्घाटन करते हुए

उसका सैद्धान्तिक निरूपण किया गया है तथा 'मधुर रस काव्य मीमांसा' में मधुर रस साधना के ऐतिहासिक विकास क्रम की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए सगुण निर्गुण विविध साधना पद्धतियों के मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में मधुर रस साधना के स्वरूप विधान और विकास के सम्यक पर्यालोचन द्वारा मधुर रस की काव्यगत मीमांसा की गई है तथा इसकी स्वतन्त्र सत्ता सार्वजनीनता आस्वाद्य योग्यता एवं व्यापक प्रभाव को सिद्ध किया गया है।

कृतज्ञता-ज्ञापन

सर्वप्रथम मैं उस परमप्रेमास्पद परमेश्वर के सामने श्रद्धावनत हूँ जिसके अनुग्रह से यह कार्य सम्भव हो सका तदुपरान्त गुरुवर डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्रीजी के प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने मुझे इस विषय की ओर अभिप्रेरित किया। अपने अनुवर्त्तियों के सारे योग क्षेम के भार को अपने ऊपर ले लेने वाले गुरुदेव प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्माजी के पाद-पद्मों पर तो मैं मौन भाव से ही अपनी आत्मिक श्रद्धा की पुष्पांजलि अर्पित करता हूँ क्योंकि उन्होंने अथ से लेकर इति तक मेरे लिए जो किया है उसे शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। पटना विश्वविद्यालय के भूतपूर्व विभागाध्यक्ष प्रो० जगन्नाथराय शर्माजी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के यशस्वी विद्वान् श्री पद्मनारायण आचार्यजी अध्यात्म साधना और साहित्य के प्रख्यात पण्डित पद्मभूषण म० म० गोपीनाथ कविराजजी ने समय समय पर इस अति गूढ एवं रहस्यपूर्ण रस साधना के सम्बन्ध में जो अमूल्य सुझाव दिये और अपने विलक्षण ज्ञान से इसके बोध में जो सहायता पहुँचाई, इसके लिए मैं इन महानुभावों का चिर ऋणी रहूँगा। आचार्य कुंवर चन्द्रप्रकाशसिंहजी के प्रति भी मैं अपना हार्दिक आभार व्यक्त किये बिना नहीं रह सकता जिन्होंने मुजफ्फरपुर में अपने अल्पकालीन सत्संग द्वारा मधुर रस साधना से सम्बन्धित कई महत्त्वपूर्ण तथ्यों से अवगत कराने की कृपा की। आचार्य डा० रमाशंकर तिवारीजी ने 'उज्ज्वलनीलमणि में मधुर रस का निरूपण' शीर्षक अपना विद्वत्तापूर्ण निबन्ध भेजकर मेरी जो सहायता की इसके लिए मैं उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। बिहार विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागाध्यक्ष डा० बेचन झा जी के प्रति भी मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिनसे अनेक प्रकार की सहायता उपलब्ध हुई है। सुहृद्वर डा० सुरेन्द्रनाथ दीक्षित (एल० एस० कालेज) डॉ० गोपाल राय (पटना कालेज) डॉ० रामवचन शर्मा (पटना कालेज) और डॉ० सियाराम तिवारी (पटना कॉमर्स कालेज) को मेरे हार्दिक धन्यवाद, जिन्होंने अनेक रूपों में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देकर मुझे सदा के लिए अपना बना लिया है।

इस प्रबन्ध को पूरा करने में मुझे अनेकानेक प्रकाशित अप्रकाशित ग्रन्थों पत्र पत्रिकाओं एवं सत्संग का सहारा लेना पड़ा है। अतएव मैं समष्टि रूप से उन सभी साधु सन्तों, साधक महात्माओं, विद्वान् लेखकों और सुकवियों को नतमस्तक होकर अपनी श्रद्धा निवेदित करता हूँ। मेरे शिष्य प्रो० पाण्डेय शशिभूषण प्रसाद 'शीतांशु', एम० ए० और राजेन्द्रप्रसाद सिंह 'अमर', एम० ए० ने इस सिलसिले में अनेक प्रकार की जो सेवाएं की उनके लिए मैं इनकी उत्तरोत्तर सफलता की शुभकामना करता हूँ। अपनी पत्नी श्रीमती राधारानी चौधरी के प्रति किन शब्दों में अपने भाव व्यक्त करूं, यह नहीं समझ पाता क्योंकि मेरा सब कुछ उन्हीं

की एकनिष्ठ त्याग-तपस्या और साधना का सुफल है।

राजकमल प्रकाशन की प्रबंध निदेशिका श्रीमती शीला संधू, कार्यपालक निदेशक श्री सत्यप्रकाशजी तथा पटना शाखा के व्यवस्थापक श्री उमाशंकर श्रीवास्तव के प्रति भी हम हार्दिक आभार प्रकट करते हैं जिनके सहयोग से अनेक विघ्न बाधाओं के बावजूद इसका प्रकाशन सम्भव हो सका है।

—रामस्वार्थ चौधरी 'अभिनव'

अभिनव निवास
खबड़ा रोड
मुजफ्फरपुर (बिहार)

सकेताक्षर

ऋ० स०	ऋग्वेद सहिता
ना० शा०	नाट्य शास्त्र
सा० द०	साहित्यदर्पण
ना० भ० सू०	नारद भक्ति सूत्र
उ० नी०	उज्ज्वलनीलमणि
स्क०	स्कन्द पुराण
ऋ०	ऋग्वेद
तैत्तिरी०	तैत्तिरीयोपनिषद्
पू० भा०	पूर्वभाग
डॉ० ह० प्र० द्वि०	डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी
डॉ० रा० प्र० च०	डॉक्टर राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी
डॉ० ध० ब्र० शा०	डाक्टर धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री
डा० गो० त्रि०	डाक्टर गोविन्द त्रिगुणायत
डॉ० श० भू० दा० गु०	डाक्टर शशिभूषण दास गुप्त
रा० पू० ति०	रामपूजन तिवारी
ह० भ० र० सिं०	हरिभक्तिरसामृतसिंधु
प्र० च० बा०	प्रबोधचन्द्र बागची
म० म० प० गो० क०	महामहोपाध्याय प० गोपीनाथ कविराज
डा० आ० प्र० दी०	डाक्टर आनन्दप्रकाश दीक्षित
डॉ० भ० प्र० सिं०	डॉक्टर भगवतीप्रसाद सिंह
डॉ० ध० वी० भा०	डाक्टर धर्मवीर भारती
ना० ना० उ०	नागेन्द्रनाथ उपाध्याय
डा० त्रि० ना० दी०	डाक्टर त्रिलोकीनाथ दीक्षित
द्वि० ल०	द्वितीय लता
चै० च०	चैतन्य चरितामृत
आ० ली०	आदि लीला
म० ली०	मध्य लीला
ईशा०	ईशावास्योपनिषद

की एकनिष्ठ त्याग-तपस्या और साधना का सुफल है।

राजकमल प्रकाशन की प्रबन्ध निदेशिका श्रीमती शीला सन्धू, कार्यपालक निदेशक श्री सत्यप्रकाशजी तथा पटना शाखा के व्यवस्थापक श्री उमाशंकर श्रीवास्तव के प्रति भी हम हार्दिक आभार प्रकट करते हैं जिनके सहयोग से अनेक विघ्न बाधाओं के बावजूद इसका प्रकाशन सम्भव हो सका है।

—रामस्वार्थ चौधरी 'अभिनव'

अभिनव निवास
खबड़ा रोड
मुजफ्फरपुर (बिहार)

संकेताक्षर

ऋ० सं०	ऋग्वेद संहिता
ना० शा०	नाट्य शास्त्र
सा० द०	साहित्यदर्पण
ना० भ० सू०	नारद भक्ति-सूत्र
उ० नी०	उज्ज्वलनीलमणि
स्क०	स्कन्द पुराण
ऋ०	ऋग्वेद
तैत्तिरी०	तैत्तिरीयोपनिषद्
पू० भा०	पूर्वभाग
डॉ० ह० प्र० द्वि०	डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी
डॉ० रा० प्र० च०	डाक्टर राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी
डॉ० ध० ब्र० शा०	डाक्टर धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री
डा० गो० त्रि०	डाक्टर गोविन्द त्रिगुणायत
डॉ० श० भू० दा० गु०	डाक्टर शशिभूषण दास गुप्त
रा० पू० ति०	रामपूजन तिवारी
ह० भ० र० सिं०	हरिभक्तिरसामृतसिंधु
प्र० च० बा०	प्रबोधचन्द्र बागची
म० म० प० गो० क०	महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज
डा० आ० प्र० दी०	डाक्टर आनन्दप्रकाश दीक्षित
डा० भ० प्र० सिं०	डाक्टर भगवतीप्रसाद सिंह
डॉ० ध० वी० भा०	डाक्टर धर्मवीर भारती
ना० ना० उ०	नागेन्द्रनाथ उपाध्याय
डा० त्रि० ना० दी०	डाक्टर त्रिलोकीनाथ दीक्षित
द्वि० ल०	द्वितीय लता
चै० च०	चैतन्य चरितामृत
आ० ली०	आदि लीला
म० ली०	मध्य लीला
ईशा०	ईशावास्योपनिषद

सं० सि० स०	स त सिद्धान्त सग्रह
ज्ञा० स०	ज्ञान सहिता
यो० द	योगदर्शन
सा० पा०	साधनापाद
शि० स०	शिवसहिता
प० प०	पंचम पटल
द्वि प	द्वितीय पटल
छान्दोग्य	छान्दोग्योपनिषद्
अथव०	अथववेद
ह० भ० र० सि०	हरिभक्तिरसामृतसिंधु
सू० सा०	सूरसागर
म० ध० सा०	मध्यकालीन धम-साधना
प० क० त०	पदकल्पतरु
की० स	कीतन सग्रह
भ० च०	भक्ति चर्चा
य० ना ती	यतिवर नारायण तीथ
री० का० क० औ० शृ० र का वि	रीतिकालीन कविता और शृगार रस का विवेचन
उ० का०	उत्तर काड
बृहद्	बृहदारण्यकोपनिषद
अहि स०	अहिबुध्न्य सहिता
भाग०	भागवत
ई० स०	ईश्वर सहिता
न० ग्र०	नन्ददास ग्रथावली
व० प्र० प्र०	वेल्वेडियर प्रस प्रयाग
आ प०	आदि पव
द्रो० प०	द्रोण पव

• •

अनुक्रमणिका

प्रथम खण्ड
मधुर रस का भक्तिशास्त्रीय विवेचन
(पृष्ठ १ से ३६ तक)

द्वितीय खण्ड
मधुर रस का मनोवैज्ञानिक विवेचन
(पृष्ठ ४१ से ११२ तक)

त्रिविध वृत्तियाँ चराचर जगत् की तीन कोटियाँ सृष्टि के समस्त व्यापारों में आनन्दोपलब्धि की भावना आनन्द अद्वैत है अहं भाव आनन्द का उपभोक्ता है मनुष्य द्वारा एकत्व-स्थापन की प्रवृत्ति तथा स्थायी आनन्द का अन्वेषण रससिद्धि के लिए तन्मयता तथा हृदय की संवेदनशीलता आवश्यक काव्यानन्द और आधुनिक मनोविज्ञान काव्यानन्द के सिद्धान्त आधुनिक मनोविज्ञान और रस-कल्पना रस का अर्थ अभिरुचि रस या काव्यानन्द लौकिक है रस या काव्यानन्द का वास्तविक आधार अभिरुचि और लोक-व्यवहार है रुचि और आनन्द मधुर रस के स्थायी भाव सचारी भाव अनुभावादि की मनोवैज्ञानिक व्याख्या भाव और मनोवेग मनोवेग स्थायीभाव सचारी भाव और अनुभाव मनोवेग की मनोवृत्ति मनोवेगों के तीन भेद मौलिक मनोवेग मिश्रित मनोवेग व्युत्पन्न मनोवेग प्राणियों की मूल वृत्तियाँ कामभाव और रतिभाव रति और भक्ति राग और द्वेष भाव मनुष्य का विस्तार भाव सयोगेच्छा अथवा प्रजनन वृत्ति काम का प्रादुर्भाव काम का यथार्थ स्वरूप काम की व्यापकता काम का प्रभाव काम रति मनुष्य की नैसर्गिक इच्छा है काम सिद्धि काम के द्विविध रूप वासना मूलक और परमार्थ मूलक प्रेम अथवा रति का भक्ति में रूपान्तर अनन्य प्रेमदशा सर्वोत्तम भक्ति की मनोदशा है भारतीय एव पाश्चात्य मानस-शास्त्र का दृष्टिकोण पाश्चात्य मानस शास्त्र के तीन संस्थान मनोवैज्ञानिकों के काम सिद्धान्त विषयक तीन मत फ्रायड का काम सिद्धान्त और भक्ति भाव काम वृत्ति का उदात्तीकरण काम भाव का रूपान्तर रूपान्तर में भगवल्लीला रस की निष्पत्ति भक्ति भाव की मनोवैज्ञानिक व्याख्या मनुष्य की कामवृत्ति मनुष्य द्वारा सर्वस्व और सर्वाधिक आनन्द प्रदायक पदार्थ की खोज एकत्व स्थापन अथवा पूर्णत्व प्राप्ति की प्रवृत्ति मनुष्य में आदर्शवाद की प्रवृत्ति आत्म प्रतिष्ठा और आत्मरक्षण की प्रवृत्ति आत्म रक्षा की प्रवृत्ति क्या भक्ति भावना एक सहज वृत्ति है भक्ति भाव और कामुकता कामदशा और भक्तिदशा धर्म का लैंगिक उद्भव लिंगोपासना का सूत्रपात आदिम धर्मभाव में कामवासना की उद्दाम अभिव्यक्ति आदिम मानव में भय की भावना और रहस्यमयी शक्ति की कल्पना धर्म सम्प्रदायों के लैंगिक प्रतीक उन्नत सास्कृतिक दशा एव कामवृत्ति का उन्नयन साहित्य कला और धर्म में वृत्तियों का परिष्करण कामवृत्ति का धर्मभाव पर व्यापक प्रभाव भक्तिभाव के मूल में अभुक्त वासना काम के उन्नयन का व्यावहारिक रूप दाम्पत्य प्रेम तथा आदर्श रूप ईश्वर प्रेम है दाम्पत्य प्रेम ईश्वर प्रेम की भावात्मक अभिव्यक्ति भक्ति-साधना में दाम्पत्य मधुर भाव के ग्रहण का प्रयोजन दाम्पत्य भाव की व्यापकता दाम्पत्य भाव का आध्यात्मिक स्वरूप एव मधुर रस की अवतारणा।

तृतीय खण्ड

मधुर रस का दार्शनिक विवेचन

(पृष्ठ ११३ से २७६ तक)

(क) वैष्णव-दर्शन

अनुभूति और दर्शन ईश्वर का अस्तित्व बोध और आनन्द लाभ मानव चेतना के विकास से सम्बन्धित कुछ मूल प्रश्न मानव चेतना का स्वरूप पदार्थ विश्व चेतना का सक्रिय

रूप है पदार्थ चेतना और जीवन की सापेक्षता, सृजन आनन्द सृष्टि का प्रेरक तत्त्व विश्व चेतना का मातृ रूप और संहार रूप सभी तत्त्व एक ही विराट चेतना के स्वरूप हैं सृष्टि का कारण, मैथुनी-सृष्टि का सूत्रपात, ब्रह्म भावना के मूल में अदृष्ट शक्तियों की कल्पना, ब्रह्म भावना के तीन प्रकार ब्रह्म का रूप ब्रह्म का निर्गुण निर्विशेष रूप और अद्वैतवाद शंकराचार्य का अद्वैतवाद, ब्रह्म का सगुण निर्विशेषरूप और विभिन्न दार्शनिक मतवाद रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैतवाद विशिष्टाद्वैतवाद और भक्ति साधना, प्रपत्तिवाद प्रपत्ति-वाद की आधारभूत प्रवृत्तियाँ भक्ति की दाम्पत्य भावना, विशिष्टाद्वैतवाद का प्रभाव, भगवान का भाव गृहीत रूप तथा द्वैत-अद्वैत परक दार्शनिक मतवाद भगवान् का ज्ञानाश्रित और भावाश्रित रूप, नाम और रूप की उपासना ब्रह्म का प्रतीकमय साकार रूप भगवान् का भावना विनिर्मित रूप दाम्पत्य भाव प्रेम की अनन्यता और आत्मनिवेदनासक्ति का चरमोत्कर्ष मूल में अद्वैत किन्तु भगवत्प्रीत्यर्थ भक्ति द्वैत की कल्पना द्वैतवाद द्वैताद्वैतवाद परब्रह्म के साथ राधा की उपासना का समावेश राधाकृष्ण की युगलोपासना का रहस्य शुद्धाद्वैतवाद वल्लभाचार्य का पुष्टिमार्ग, लीला के लिए सारी सृष्टि ब्रह्म की आत्मकृति है, ब्रह्म सम्बन्ध और ताप, पुष्टि के भेद अचिन्त्य भेदाभेदवाद ब्रह्म और जीव का भेदाभेद ब्रह्म का स्वरूप ब्रह्म की तीन प्रमुख शक्तियाँ स्वरूप शक्ति तटस्थ शक्ति और माया शक्ति भगवान् के ऐश्वर्य रूप और माधुर्य रूप, श्रीकृष्णतत्त्व, धाम, राधा तत्त्व, जीव-तत्त्व जगत-तत्त्व सर्वेश्वरवाद का सिद्धान्त।

(ख) सांख्य और योग दर्शन

सांख्य दर्शन का पुरुष और प्रकृति-तत्त्व प्रसवती प्रकृति, पुरुष और प्रकृति मूल तत्त्व प्रकृति परिणामवाद पंच प्रमाण भिन्न गुण वाले पुरुष और प्रकृति के भोग से सृष्टि की स्थिति, सांख्य दर्शन के उभय रूप।

योग जीवात्मा और परमात्मा के तादात्म्य स्थापन की विशिष्ट प्रणाली है नाद योग के भेद लय योग, मन्त्र-योग हठयोग, नाड़ी विज्ञान चक्र-विज्ञान षट् चक्र, कुण्डलिनी, कुण्डलिनी की अवस्थिति और गन्तव्य, कुण्डलिनी उत्थापन क्रिया।

(ग) तन्त्र, शैव और शाक्त दर्शन

तन्त्र मन्त्र का आविर्भाव, तन्त्राचार का भारतीय धर्म साधना में सन्निवेश, तात्त्विक अन्तर्वाद भाव त्रय सप्त आचार बीजाक्षर मंडल चक्र माहेश्वरों के चार दर्शन कापालिक मत और सहज-साधना त्रिरत्न वज्र पद्म और मन्त्र सोम सिद्धान्त, चतुर्विध आनन्द प्रथमानन्द परमानन्द विरमानन्द और सहजानन्द कालदमन पाशुपत मत के पंच पदार्थ एवं पशु और पति का मधुर मिलन शैव सिद्धान्त शैवमत का निष्कर्षण शैवागम, काश्मीरी शैवमत का ईश्वराद्वयवाद स्पन्दवाद का सिद्धान्त, प्रत्यभिज्ञा दर्शन का ईश्वराद्वय वाद याग ज्ञान और भक्ति का समन्वय वीर शैवमत का शक्ति विशिष्टाद्वैतवाद शक्ति तत्त्व शक्ति के रूप शक्ति-तत्त्व और शिव-तत्त्व शाक्त के दो सम्प्रदाय कौल सहज साधना (मधुरभाव) अद्वैतदर्शन शाक्त साधना के आचार दर्शन का रहस्य ज्ञान शक्ति

क्रिया शक्ति एव लोय लोय का उदात्तीकरण शक्ति सन्तोष और समरसता शिव शक्ति-सामरस्य।

(घ) बौद्ध दर्शन

बौद्धमत का अनात्मवाद बौद्धधम की शाखाए हीनयान महायान महायान के दार्शनिक सिद्धान्त बोधिसत्व बोधिचित्त महायान चर्या अथवा पारमिताए त्रिकाय सिद्धान्त एव त्रिकाय की कल्पना दशभूमियाँ बौद्ध-दर्शन के चार प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्त माध्य *मिक मत या शून्यवाद शून्यभावना का विकास शून्य के चार रूप शून्यता और करुणा* विज्ञानवाद या योगाचार मत चित्त की सतता या भूततथता चित्त ही आलय विज्ञान है तथता का अनभव तान्त्रिक बौद्ध दर्शन धारणी और मन्त्र मन्त्रयान का उदय वज्रयान का वज्रमार्ग बौद्धधम का वज्रयान सम्प्रदाय वज्रयान का आविर्भाव-काल वज्रयानी साधना का लक्ष्य प्रज्ञोपाय का अद्वयत्व वज्रयानी तत्त्व का रहस्य गुरुतत्त्व की मिथुनाकारता तथाभाव एव समताज्ञान पारमिता साधन और ब्राह्म सुख बोधिचित्त बोधिचित्ताभिषेक अधिकार भेदवाद पचबुद्ध और उनकी भार्याए मुद्रा साधना पच मुद्राए चार मुद्रा चार क्षण और चार आनन्द चतुर्काय सिद्धान्त महासुख महाराग पचमाकार युगनद्ध तत्त्व युगनद्ध तत्त्व (बोल्कक्कोलयोग) समरस की स्थिति महासुख सहज विलास वज्रयान योग दर्शन काया की महत्ता और वज्रयानी चक्र विधान वज्रयानी नाडी विधान प्राण साधना कालचक्रयान।

(ङ) जैन-दर्शन

जैन ब्रह्म भावना वीतराग भगवान में अनुराग सभव है।

(च) सूफी दर्शन

सूफीमत ईमान का वास्तविक आधार अल्लाह है अल्लाह की सत्ता और शक्ति सूफियो के अल्लाह परम प्रमास्पद एव निखिल सौन्दय निधि हैं सूफी एकेश्वरवाद परमात्मा के चार गुण और चार रूप अल्लाह और इसान अथवा जीव अल्लाह और जगत।

(छ) प्रेम दर्शन

प्रेम तत्त्व प्रेमा पुमर्थोमहान प्रेम और काम, तत्सुखी और स्व-सुखीभाव प्रेम और आनन्द आनन्द की उत्कृष्ट अनुभूति का आधार प्रेम-तत्त्व है प्रेम वृत्ति के विविध रूप दाम्पत्य प्रेम ईश्वरीय प्रेम नित्य विहार प्रेम मधुर रस आत्मा का रसमय अनुभव है।

चतुर्थ खण्ड
मधुर रस का काव्यशास्त्रीय विवेचन
(पृष्ठ २८१ से ३९८ तक)

रस के विभिन्न अर्थ वेद और उपनिषदो मे रस शब्द के प्रयोग रस की कल्पना मधुर रस की परिभाषा; अलौकिक शृगार रस उज्ज्वल रस भक्ति रस मधुर रस का काव्य

नास्त्रीय विकास क्रम मधुर रस की श्रेष्ठता हरिभक्ति रसामृत सिन्धु' मे मधुर रस का विवेचन, शान्तभक्ति रस प्रीति भक्ति रस प्रेयो भक्ति रस, वत्सल भक्ति रस, मधुर रस चिज्जगत और जड जगत् मे रसो की स्थिति क्या मधुर रस शृगार रस का भक्ति-परक नाम है जडादि विषयक शृगारादि रस के साथ मधुर रस का एक और मौलिक वषम्य, मधुर रस अलौकिक है मधुर रस मे प्रेम की आन्तरिकता, मधुर भाव का हृदय म प्रतिष्ठापन अलौकिक मधुर रस का प्रादुर्भाव मधुर रस और उसका स्थायीभाव मधुरा रति के भेद भावानुसार मधुरा रति के भेद प्रेम, महिमाज्ञानयुक्त प्रेम और ऐश्वय ज्ञान शून्य, राग माग से चलने वाला प्रेम स्नेह मान प्रणय, राग अनुराग परम अनुराग भाव महाभाव महाभाव के दो भेद रूढ और अधिरूढ, अधिरूढ महाभाव के दो भेद मोदन और मादन लीला मधुर रस के आलम्बन मधुर रस के आश्रयालम्बन कान्तागण, कृष्ण कान्ता के तीन भेद लक्ष्मीगण, महिषीगण और व्रजागनागण श्रीकृष्णवल्लभाओ की दो कोटियाँ, स्वकीया और परकीया, परकीया म मधुर रस का अत्य तोल्लास परकीया भाव की श्रेष्ठता परकीया भाव की दाशनिक व्याख्या परकीया भाव वष्णवो का आदश श्री राधा मधुर रस का श्रेष्ठतम आश्रय राधा का परकीयात्व श्री राधा के भाव सखी भाव और उनके परकीयात्व का आदश सखी प्रेम प्राकृत काम नही शुद्ध प्रम है नायिका भेद मधुर रस के उद्दीपन विभाव मधुर रस के प्रसाधन तथा रूप विन्यास मधुर रस के अनुभाव किलिकिंचित विलास ललित, कुट्टमित, मोट्टायित, विब्बोक भोग्य, चकित, मधुर रस के सात्विक अनुभाव या भाव मधुर रस के सचारी भाव मधुर रस भक्तिपरक शृगार के भेद पूवराग पूवराग के तीन भेद प्रौढ समजस और साधारण मान प्रेम वचित्य प्रवास, सुदूर प्रवास, सभोग शृगार और उसका भेद सक्षिप्त सभोग, सकीण सभोग (दानलीला नौका विहार, जल क्रीडा और स्नान-यात्रा, कुज विहार-लीला), समृद्ध मान सभोग, सम्पन्न सम्भोग (वसन्त लीला होली-लीला, डोल लीला झूलन लीला, निद्रा या रसालय) धूतता या छल से मिलन मधुर भक्ति रस का खडन मडन शान्त रस का स्थायी भाव शम अभाव रूप नही भाव रूप है शृगार रस मे भक्ति रस का अन्तर्भाव अदभुत और भक्ति रस वीर करुण रौद्र, भयानक और बीभत्स मधुर भक्ति रस को भाव की सज्ञा क्यो मधुर भक्ति रस पर विक्रिया हीनता का आरोप मधुर भक्ति रस की व्यापकता।

उपसहार
(पृष्ठ ३७६ से ३६१ तक)

सदर्भ ग्रथानुक्रमणिका

भाग एक

प्रथम खण्ड

मधुर रस का भक्तिशास्त्रीय विवेचन

भक्ति का उद्गम

सम्पूर्ण भारतीय लोकजीवन, साधना और साहित्य मधुर भक्तिरस की प्रभावक धारा से आप्यायित है। भारतवर्ष में भक्ति का उदय कब, कहाँ और किन परिस्थितियों में हुआ, इस पर निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता। किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि वैदिक साहित्य जिस प्रकार कर्म और ज्ञान का उद्गम स्थल है उसी तरह वह भक्ति का भी मूल स्रोत है। वैदिक मंत्रों में विशिष्ट देवताओं की स्तुति इतनी भावपूर्णता तथा मार्मिकता के साथ की गई है कि अनायास ही उनमें स्तोता के हृदय की रागात्मक वृत्तियों की झाँकी मिलती है। पण्डित बलदेव उपाध्याय के शब्दों में 'बिना भक्ति स्निग्ध हृदय के इस प्रकार की कोमल तथा भावुक स्तुतियों का उदय ही नहीं हो सकता। शुष्क हृदय में न तो इतनी कोमलता आ सकती है और न इतनी भावुकता। देवताओं की स्तुति करते समय साधक उनके साथ पिता, माता, स्निग्ध बन्धु आदि[1] नितान्त मनोरम हृदयंगम सम्बन्ध स्थापित करता है और यह स्पष्ट प्रमाण है कि स्तोता के हृदय में देवताओं के प्रति सर्वतोभावेन प्रेम तथा अनुराग विद्यमान है।'[2] कतिपय सूक्तों में तो भावात्मक रहस्यवाद का स्पष्ट चमत्कार दिखलाई पड़ता है। एक मंत्र में आंगिरस ऋषि ने कहा है कि जिस प्रकार जाया पति का आलिंगन करती है उसी प्रकार हमारी मति इन्द्र का आलिंगन करती है[3]। पुनः एक दूसरे मंत्र में काक्षीवती घोषा ने अश्विनी कुमारों से पूछा है कि हे अश्विनौ! आप लोग रात को कहाँ निवास करते हैं? किसने आपको प्रेम में बाँधकर विवश कर रखा है जिस तरह विधवा देवर को अपने वश में कर लेती है?[4]

ज्ञान प्रधान उपनिषदों में भी जगह-जगह पर भक्ति भावना की महत्ता के स्पष्ट संकेत मिलते हैं। कठोपनिषद् में आत्मप्राप्ति के उपायों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि यह आत्मा न वेदाध्ययन से, न धारणा शक्ति से और न अधिक श्रवण से ही प्राप्त हो सकता

---

१ त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे।—ऋ० ८।९८।११
सखा पिता पितृतमः पितॄणाम्
कर्तेमु लोकमुशते वयोधाः।—वही ४।१७।१७
द्रष्टव्य—वही ६।१।५

२ भागवत सम्प्रदाय—पं० बलदेव उपाध्याय, पृ०—६४

३ ऋ० सं० १०।४३।१

४ ऋ० सं० १०।४०।२

है। यह साधक जिस आत्मा का वरण करता है उस आत्मा से ही यह प्राप्त किया जा सकता है। उसके प्रति यह आत्मा अपने स्वरूप को अभिव्यक्त कर देता है। तात्पर्य यह है कि जिसको यह स्वीकार कर लेता है उसी के द्वारा यह प्राप्त किया जा सकता है। इस मंत्र में आत्मा के अनुग्रह की ओर गूढ़ संकेत किया गया है जिसका सम्बन्ध मूलतः भक्ति से है।[1] श्वेताश्वतरोपनिषद् में तो भक्ति के मुख्य तत्त्व प्रपत्तिवाद की स्थापना करते हुए स्पष्ट कहा गया है कि जिस पुरुष की देवता में उत्कृष्ट भक्ति होती है तथा देव के समान गुरु में भी जिसकी भक्ति होती है उसी महात्मा को ये कहे गये अर्थ स्वतः प्रकाशित होते हैं। इस प्रकार सबसे पहले इसी प्रसंग में भक्ति शब्द का प्रयोग किया गया है।[2] पुराण-साहित्य तो भक्ति का आकर ग्रन्थ ही माना गया है। भक्ति भावना को उत्कर्ष पर पहुँचानेवाले पुराण ग्रन्थों में ब्रह्मवैवर्तपुराण विष्णुपुराण पद्मपुराण तथा भागवतपुराण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। मधुर रस की स्थापना की दृष्टि से भी इन पुराणों का विशेष महत्त्व है। भक्ति के विकास की दृष्टि से श्रीमद्भागवत का स्थान अन्यतम है। संस्कृत वाङ्मय का तो यह अनुपम ग्रन्थ रत्न है ही। इसके अतिरिक्त भक्तिशास्त्र का भी यह आकर ग्रन्थ माना जाता है। श्रीमद्भागवत की संस्तुति करते हुए कहा गया है कि यह निगम कल्पतरु का स्वयंगलित फल है जिसे शुकदेवजी ने अपनी मधुर वाणी से अमृतत्व संयुक्त कर दिया है। यह भागवत रस का आलय है जिसे संसार के भावुक रसिकों से बार बार पान करने का आग्रह किया गया है।[3] इसके भाव इतने कोमल एवं मधुर हैं कि ज्ञान तथा कर्म की साधना से शुष्क बने हुए मानस में भी यह मधुर भक्ति की सुधा धारा प्रवाहित करने में समर्थ है। पण्डित बलदेव उपाध्याय के शब्दों में वैष्णव धर्म के अवान्तरकालीन समग्र सम्प्रदाय भागवत के ही अनुग्रह के विलास हैं विशेषतः वल्लभ सम्प्रदाय तथा चैतन्य सम्प्रदाय जो उपनिषद् भगवद्गीता तथा ब्रह्मसूत्र जैसे प्रस्थानत्रयी के साथ साथ भागवत को भी अपना उपजीव्य मानते हैं।[4]

भक्ति श्रद्धा विश्वास एवं प्रेम पूरित भक्त हृदय का वह मधुर मनाराग है जिसके द्वारा भक्त और भगवान् उपास्य और उपासक के पारस्परिक सम्बन्ध का निर्धारण होता है। वह भक्त के विमल मानस से निःसृत दिव्य प्रेम की वह उज्ज्वल भावधारा है जिसके प्रवाह में पड़कर लौकिक प्रेम का विषयानन्द अपने समस्त कलुषों का परिहार कर अलौकिक प्रेम के ब्रह्मानन्द में परिणत हो जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में लौकिक प्रेम का

१ नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य
स्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम्॥—कठ १।२।२३

२ यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥—श्वेता ६।२३
द्रष्टव्य—श्वेता ६।१८

३ निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥ भागवत—१।१।३

४ भागवत सम्प्रदाय पृ बलदेव उपाध्याय पृ

पारलौकिक प्रेम में परिवर्तित हो जाने का यही रहस्य है।[1] भक्तों की यही भक्ति भावना मधुर रस का उत्स है। भक्ति भावना के प्रसंग में सर्वप्रथम उपास्य तत्त्व, उपासक तत्त्व तथा उपासना तत्त्व पर थोड़ा सा विचार कर लेना आवश्यक है क्योंकि इन्हीं तत्त्वों के आधार पर भक्त और भगवान् के पारस्परिक सम्बन्ध की स्थापना निर्भर करती है।

जिस तरह मनुष्य के जीवन से सम्बन्धित क्षुधाएँ उनकी परितृप्ति या पूर्ति करने वाले पदार्थों की सत्ता को सिद्ध करती हैं उसी तरह मनुष्य के अन्तःकरण में किसी की उपासना करने की आवश्यकता भी यह सिद्ध करती है कि कोई उपास्य सत्ता या अदृष्ट महाशक्ति या महात्मता है। वह महत्सत्ता "अनल ही पैदा कर सकता है अनल ही नाश कर सकता है अनल ही संहार भी कर सकता है। हवा उसी के इशारे पर नाच रही है समुद्र उसी के इशारे पर मौन गम्भीर मुद्रा से आकाश की ओर ताक रहा है सूर्य उसी के इंगित पर जल रहा है। वह महान् है वह ब्रह्म है वह व्यापक है।[2] इस प्रकार उसी सर्वशक्तिमान् सत्ता के संकेत पर अखिल ब्रह्माण्ड के समस्त क्रियाकलाप सम्पादित हो रहे हैं।

इस व्यापक ब्रह्म को जानने के लिए मनुष्य ने अपनी दो प्रकार की मनोवृत्तियों का सहारा लिया है। एक है उसकी धार्मिक मनोवृत्ति और दूसरी है दार्शनिक प्रवृत्ति। मनुष्य को धार्मिक मनोवृत्ति के सहारे ब्रह्म के ऐश्वर्यमय और माधुर्यमय रूप का अनुभव होता है तथा दार्शनिक मनोवृत्ति के सहारे परमात्मतत्त्व और जीवतत्त्व के पारस्परिक सम्बन्ध का तात्त्विक ज्ञान होता है।

इस प्रकार मनुष्य की धार्मिक और दार्शनिक मनोवृत्तियों के परिणामस्वरूप ही अनेकानेक धर्म-सम्प्रदायों तथा दार्शनिक मतवादों की स्थापना समय समय पर होती रही है।

आध्यात्मिक अन्वेषण की प्रवृत्ति भारतीय चिन्तन की अन्तश्चेतना है। ब्रह्म अथवा उपास्य का स्वरूप क्या है तथा जीवात्मा और परमात्मा का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है और इन दोनों के सम्बन्ध को जानने के साधन क्या हैं इन्हीं प्रश्नों के समाधान के लिए नाना प्रकार के धर्ममत और दार्शनिक मतवाद प्रवर्तित रहे हैं। 'आत्मा और परमात्मा जीव और ब्रह्म का पारस्परिक सम्बन्ध सारे भक्ति साहित्य का विषय है।'[3] इसी प्रकार परमात्मा और जीवात्मा का तात्त्विक मीमांसा करना दर्शनशास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य रहा है किन्तु इतना सब कुछ होने पर भी इन विषयों पर अन्तिम रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। उपास्य का स्वरूप क्या है वह अद्वैत है या द्वैत, ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो सदा अनिर्णीत रहे हैं। इसका प्रमाण यह है कि ब्रह्म के सम्बन्ध में जितनी बातें कही गई हैं वे अभावमूलक ही हैं। किसी ने भी विश्वासपूर्वक नहीं कहा कि वह ऐसा है, बल्कि सबने यही कहा कि वह ऐसा नहीं है। उपास्य के स्वरूप का निर्धारण उपासक के अनुरूप ही होता है। इसी के अनुसार ब्रह्म का एक रूप ज्ञानाश्रित है और दूसरा भावाश्रित। ब्रह्म का ज्ञानाश्रित रूप अव्यक्त कल्पनातीत निर्गुण निराकार और अनिर्वचनीय है। ब्रह्म के भावाश्रित रूप का

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखित 'लोभ और प्रीति' शीर्षक निबंध (चिन्तामणि।)
२ मध्यकालीन धर्म साधना डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० २४१
३ साहित्यिक निबंधावली में प्रो० रघुनाथ शर्मा लिखित "रहस्यवाद की रहस्यवादिता" शीर्षक निबंध, पृ० ११३।

सम्बन्ध उपासक के भावपक्ष से है। उपासक के भाव का आश्रित होकर पुरुष वाम नें पातरा अनूप तत्त्व उपासक की रुचि के अनुरूप उसे मधुर भाव-बन्धना म आबद्ध हो जाना है। उपास्य उपासक की मनोवृत्ति क अनुरूप स्वामी सखा प्राण आदि रूपा म व्यक्त होना है। यही भावधारा भगवान् के नाम और रूप की कल्पना का कारण है। ब्रह्म के रूप रूप को व्यक्त सगुण और साकार कहा गया है।

जिस प्रकार सत्काव्य के लिए मूर्त आधार की आवश्यकता होती है उसी तरह उपासना के लिए भी अमूर्त ब्रह्म के मूर्त आलम्बन की आवश्यकता है। क्योंकि उपासना का मूल लक्ष्य है भगवद् सान्निध्य प्राप्त करना—उसका प्रमपात्र बनना। और यह तब तक नहीं चरितार्थ हो सकता जब तक कि अव्यक्त निर्गुण निराकार ब्रह्म व्यक्त सगुण और साकार न हो जाय।

भगवत्प्रेम ही जीवन का नि श्रेयस मंगल है। इस मंगल अभियान के लिए सबसे पहले उस अमूर्त आलम्बन का ज्ञान या परिचय प्राप्त करना आवश्यक है क्योंकि ज्ञान या परिचय के अभाव म न तो उस अमूर्त आलम्बन से भावात्मक तादात्म्य हो स्थापित हो सकता है और न आनन्दानुभूति ही हो सकती है। इन्हीं तथ्यों पर प्रकाश डालते हुए आचार्य देवेन्द्र नाथ शर्मा ने लिखा है कि अज्ञेय और अव्यक्त को अज्ञेय और अव्यक्त ही रखकर उसका भावभूमि या काव्यभूमि के भीतर सन्निवेश सम्भव नहीं।—संहिताओं उपनिषदों म जो परमात्मा या ब्रह्म की मीमांसा की गई है वह काव्य की भावना से नहीं वल्कि तत्त्व की दृष्टि से। इसलिए वह अज्ञेय और अव्यक्त तात्त्विक जिज्ञासा का विषय बन सकता है रसानुभूति का नहीं यह दर्शन और काव्य म भेद है। इसलिए भारतीय साहित्यिक परम्परा म वाल्मीकि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक कोई एक भी ऐसा कवि नहीं हुआ जिसने अज्ञेय और अव्यक्त को अज्ञेय और अव्यक्त ही रखकर उसके प्रति प्रेमव्यंजना की हो।[1]

इस प्रकार ब्रह्म के स्वरूप बोध की दृष्टि से दर्शन और काव्य म जो अन्तर है वही अन्तर ज्ञानमार्ग और उपासनामार्ग म है। ज्ञानमार्ग द्वारा ब्रह्म का तत्त्वचिन्तन किया जाता है किंतु उपासना द्वारा उसका निकटतम सान्निध्य प्राप्त कर उसका प्रेम पात्र बना जा सकता है। उपासक को यह प्रेम पात्रता तभी प्राप्त होती है जब उपास्य भावधर्मी बन जाता है। इस प्रकार भगवान् को भावधर्मी बनानेवाला सबसे सहज मार्ग भाव मार्ग है भक्ति मार्ग है। इसी लिए तो कहा भी गया है कि वह अन्तर्देव न काष्ठ म है न पाषाण म है और न मिट्टी म है। वह तो निश्चय ही भावलोक म विराजमान है। अतएव भाव ही उसको प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है।[2] इसी मन्तव्य को परिपुष्ट करते हुए पुन कहा गया है कि हरिभक्ति अर्थात् भाव साधना के बिना कर्म विवेकादि ज्ञान और मुक्तता से सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती[3]। भक्ति

---

१ रहस्यवाद की रहस्यवादिता आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा साहित्यिक निबन्धावली पृ ११ १११

२ न देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे न मृण्मये।
देवो हि विद्यते भावे तस्माद्भावो हि कारणम् ॥
—निगुणधारा बैजनाथ विश्वनाथ पृ ३३ पर उद्धृत।

३ हरिभक्ति विना कर्म न स्याच्चेतोशुद्धिकारणम्।
न वा सिद्ध्येद् विवेकादि न ज्ञानं नापि मुक्तता ॥
—निगुणधारा बैजनाथ विश्वनाथ पृ ४८ पर उद्धृत।

मार्ग इसी भावसाधना का मार्ग है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता और विलक्षणता यही है कि मनुष्य इस पर आरूढ़ होकर अपने स्वभाव के द्वारा ही अपने स्व-भाव अर्थात् असली भाव को प्राप्त कर लेता है। जिस समय हमें अपने भाव का ज्ञान हो जाता है उसी समय अभाव का भी ज्ञान हो जाता है। मनुष्य के अन्तर में जहाँ भी रिक्तता है अभाव है वहाँ परम प्रेयान् भगवान् स्वयं उपस्थित हो जाते हैं—अभाव भगवान् की प्रेममयी उपस्थिति से विभाव बन जाता है।[1] इस प्रकार निर्गुण, निराकार भगवान् भक्त के भाव के अनुरूप उसके अभाव को दूर करने के लिए उसकी रिक्तता को भरने के लिए स्वामी, सखा, पुत्र, प्रियतम आदि रूपों में विभाव बनकर प्रकट होते हैं। भक्ति मार्ग की भाव साधना का यही रहस्य है। अरूप को रूप देने के प्रयास का यही रहस्य है। क्योंकि प्रीति तो प्रभु का स्वभाव है साक्षात् स्वरूप है। विश्वात्मा का दिव्य चिन्मय मंगल विग्रह प्रीति के तत्त्व से ही पूर्ण है। उस प्रीति की मधुरिमा ऐसी है कि वे स्वयं उसका आस्वादन किये बिना नहीं रह सकते। अतः उसका आस्वादन करने के लिए वे अपने ही स्वरूपभूत चिन्मय धाम में स्वयं ही प्रिया और प्रियतम के रूप में विद्यमान हैं। सच्चिदानन्द स्वरूप परम प्रेम घन परमात्मा के अनन्त रस विलास के अलौकिक भावराज्य में प्रवेश पाना ही भक्ति भाव साधना का प्रयोजन है। इसमें जो विलक्षण माधुर्य है अद्भुत मादकता है उसमें मुग्ध हुए भक्त भ्रमर मुक्ति की ओर आँख उठाकर भी देखना नहीं चाहते। यदि प्रभु कृपा करके उन्हें मुक्ति देना भी चाहते हैं तो वे उसकी उपेक्षा करते हैं।[2] वे चतुर्दश भुवन में परिव्याप्त भगवान् की रूप माधुरी को मुग्ध नयन से निहार निहार कर निरन्तर पुलकित और प्रफुल्लित होते रहते हैं।[3] महाप्राण साधक कबीर ने भी इसी प्रकार भगवान् के अतीन्द्रिय भावराज्य के अनुपम वैभव विलास की झाँकी के दर्शन किये थे। उन्हें भी यत्र-तत्र सर्वत्र अपने राम के सुन्दर (ऐश्वर्य) और सौन्दर्य (माधुर्य) गुणों का व्यापक प्रसार दिखाई पड़ा था और वे खुद उसमें समा गये हो गए थे।[4] प्रेम-साधक जायसी ने भी जगत् के नाना रमणीय रूप रंगों और व्यापारों में उसी रूप माधुरी और प्रेम माधुरी के साक्षात्कार किए थे। प्रेमदिवानी मीरा भी यही अनुभव कर मगन रहीं दिन रातों की घोषणा करने लग गई थीं। रहस्यवादी कवियों द्वारा वर्णित 'सीमा के बीच असीम की लीला' 'सीमा में असीम का आभास' आत्मा और परमात्मा जीव और ब्रह्म की पारस्परिक प्रणयानुभूति का भी यही रहस्य है।[5] वस्तुतः एक ही असीम उल्लास इस विराट विश्व के नाना रूपों और व्यापारों के माध्यम से अपने को चरितार्थ कर

---

१ ब्रज भाषा और भक्तिसाहित्य की भूमिका, डॉ० ह० प्र० द्वि०, पृ० २।

२ दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः। —श्रीमद्भागवत, ३।२९।१३
अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदान न आन॥ —तुलसीकृत रामायण

३ तोमार मधुर रूपे भरेछे भुवन।
मुग्ध नयन मम पुलकित मोहित मन॥ —श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

४ लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल॥ —कबीर

५ 'साहित्यिक निबन्धावली' में आचार्य नरेन्द्रनाथ शर्मा लिखित 'रहस्यवाद की रहस्यवादिता' शीर्षक निबन्ध देखें।

रहा है। तरल जलनिधि के हरित वीचि विलास में, अम्बर की गहन नीलिमा में उर उर के प्रेमोच्छ्वास में काव्य के मधुररस में कुसुमों की सुरभि में तारक दलों के अमन्द हास में उस निस्सीम विराट सत्ता का उल्लास ही विविध प्रकार से अभिव्यक्त हो रहा है। प्रज्ञा का वही सत्य स्वरूप हृदय में प्रेम बनकर नयनों में लावण्य बनकर तथा लोकसेवा में निर्विकार शिव बनकर प्रकट होता है।[1] निखिल सौन्दर्य रसानन्द निधि विश्वात्मा की इसी ऐश्वर्य माधुरी रूप माधुरी और प्रेम माधुरी की अनादि स्वानुभूति प्राप्त करना ही रहस्य वाद का मर्म है और इसी का उद्घाटित करना तथा इसे सहज बोध गम्य एवं मनजन सुलभ बनाना उपासना के भाव मार्ग का परम प्रयोजन है।

दर्शन के क्षेत्र में निर्गुण सगुण का विरोध भले हो हो भाव-साधना के क्षेत्र में प्रवेश करते ही इस विवाद का अन्त हो जाता है। निर्गुणमार्गी कबीर ने तो गुण में निर्गुण निर्गुण में गुण है बाट छाँडि क्यों बहिये की उद्घोषणा करके इसी वास्तविक दशा का परिचय दिया है। क्योंकि उनका दृढ़ विश्वास था कि भाव भगति और विश्वास के बिना सांसारिक संशय शूल का नाश नहीं हो सकता।[2] कबीर की बाट भाव भगति की वही पुरानी बाट है जिसका निरूपण नारद पाराशर शाण्डिल्य प्रभृति भक्ति-तत्त्ववेत्ताओं ने किया तथा जिस पर आरूढ़ होकर साधक कबीर भगवत्प्रेम पयोनिधि में मगन हो गये।[3]

असल में अध्यात्म जबरदस्ती की चीज नहीं है। भौतिक आवश्यकताओं को बिल्कुल कुचल ही डालने से अध्यात्म सिद्धि नहीं हो जाती। ज्ञानमार्ग की दुरूहता का मूल कारण यही जबरदस्ती यही बलात्कार है। इस कठिनता को सरलता में बदल देनेवाला मार्ग उपासना का मार्ग है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह भावों का परिष्करण अथवा भूमिका

---

१ एक ही तो असीम उल्लास
विश्व में पाता विविधाभास
तरल जलनिधि में हरित विलास
शान्त अम्बर में नील विकास
वही उर उर में प्रेमोच्छ्वास
काव्य में रस कुसुमों में वास
अचल तारक पलकों में हास,
लोल लहरों में लास।
विविध द्रव्यों में विविध प्रकार
एक ही मर्म मधुर झंकार!
वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप
हृदय में बनता प्रणय अपार
लोचनों में लावण्य अनूप
लोकसेवा में शिव अविकार!
—रश्मिबन्ध पन्त पृ० ८९।

२ भाव भगति विश्वास बिनु कटै न संसै सूल।
कहै कबीर हरि भगति बिनु मुकति नहीं रे मूल॥ —कबीर।

३ भगति नारदी मगन सरीरा। —कबीर

४ योगप्रवाह डा० पी० डी० बड़थ्वाल पृ० २७८

परिवर्तन है। मनुष्य की वासनाएँ अपने आप में अच्छी या बुरी नहीं होतीं। वासनाओं की उदात्तता या अनुदात्तता उनके आलम्बन पर निर्भर करती है। सांसारिक विषयों की जो आसक्ति मोह बनकर भव बंधन का कारण बनती है वही उलट कर जब ईश्वरोन्मुख हो जाती है तब भक्ति बनकर जीव की मधुर मुक्ति की विधायिका बन जाती है। 'जो इन्द्रियाँ विषयों में सक्त होकर आध्यात्मिक उन्नति में बाधा डालती हैं वे ही तल्लीनता की अवस्था में परमात्मा की ओर मुड़ जाती हैं।'[1] ऐसी स्थिति का परिचय देते हुए मलूकदास ने कहा है कि "जब तक मेरे घर में अँधेरा था तब तक ये सारे चोर मेरे सर्वस्व का अपहरण कर रहे थे। अब जब हृदय मन्दिर में प्रेम का दीपक जल उठा तब वे ही चोर मेरे मित्र हो गये।"[2]

मनुष्य के मन की इसी विलक्षणता के कारण साधना पथ के पथिकों ने इष्टदेव की कल्पना की है तथा अपने अपने मनोभाव के अनुरूप स्वामी, सखा, पुत्र तथा प्रियतम के रूप में उसकी उपासना की है। ब्रह्म के स्वरूप की तात्त्विक मीमांसा करनेवाले तत्त्ववेत्ता चाहे जो कुछ सिद्ध करें, भक्ति भावापन्न उपासक का हृदय तो भगवान् की ऐसी रूप माधुरी और प्रेम माधुरी के अमृत रस का मधुपान करना चाहता है जिसका वर्णन करती हुई एक गोपांगना ने कहा है कि 'अरी सखि! गोपेन्द्र सुत मेरी पाँचों इन्द्रियों को बलपूर्वक आकृष्ट करते हैं। वे अपने सौन्दर्यामृत सिन्धु से मुझ जैसी ललनाओं के चित्तरूपी पर्वत को आप्लावित कर देते हैं, उनके परम नर्म रम्य वचन कानों को आनन्दित कर देते हैं। उनके श्री-अंग कोटि चन्द्रमाओं के समान सुशीतल हैं। वे अपने सुधा-तुल्य सौरभ की बाढ़ से सम्पूर्ण जगत् को सप्लावित कर देते हैं तथा उनके अधर पीयूष से भी मधुर हैं।'[3] गोपी भाव के माध्यम से भगवद् रूप रस रसिक भक्त स्पष्ट कह देता है कि वह उस परम प्रिय श्रीकृष्ण को जिनके सुन्दर कर पल्लव वंशी विभूषित हैं जिनकी देह कान्ति नव नीरदमाला के सदृश है जिनके शरीर पर पीताम्बर सुशोभित है जिनके अधर बिम्बफल के समान अरुण राग रंजित हैं जिनका सुन्दर मुख पूर्णेन्दु के समान प्रतिभासित हो रहा है तथा जिनके नेत्र अरविन्द के सदृश हैं छोड़कर किसी भी दूसरे तत्त्व को नहीं जानता है।[4] इससे स्पष्ट है कि इष्टदेव की उपलब्धि तर्क से नहीं प्रेम से ही हो सकती है। इस प्रेम का प्रभाव ऐसा है कि भक्तों के प्रेम

---

१ योग प्रवाह, डॉ॰ पी॰ डी॰ बड़थ्वाल, पृ॰ २७८

२ जब लगि था अँधियार घर, मूसि थके सब चोर।
जब मंदिर दीपक बर्यो, वही चोर धन मोर ॥

—मलूक दास

३ सौन्दर्यामृत सिन्धुभंग ललना चित्ताद्रि सम्प्लावक:।
कर्णानन्दि सनर्म रम्य वचन: कोटीन्दु शीतांगक: ॥
सौरभ्यामृत सम्प्लवावृत जगत् पीयूष रम्याधर:।
श्री गोपेन्द्र सुत: स कर्षति बलात् पञ्चेन्द्रियाण्यालि मे ॥

—गोविन्द लीलामृत

४ वंशी विभूषित करान्नवनीरदाभात्—
पीताम्बरादरुण बिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दु सुन्दर मुखादरविन्द नेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

—योगप्रवाह—बड़थ्वाल पृ० २७७ पर उद्धृत।

म वशीभूत होकर निगुण निराकार और अनादि ब्रह्म को भी सगुण और साकार बनना पड़ता है ।[1] भक्त शिरोमणि रसखान ने भी प्रेमदेव की अलौकिक छवि के चमत्कार का वर्णन करते हुए लिखा है कि इसका बढ़कर मोहिनी के मोह का तोड़ने तथा मानिनी के मान म अपने हृदय का हटा देने का कोई दूसरा साधन नहीं है । इसी प्रेम मार्ग का अवलम्बन कर मियाँ रसखान वस्तुत रसखान बन गये ।[2]

उपासक का चरम लक्ष्य अपने इष्टदेव का सान्निध्य प्राप्त करना है । इसके लिए वह इसी म अपना सम्पूर्ण संसार का पर्यवसित कर देना चाहता है वह अपने इष्टदेव के साथ अपने आपको एकमेव कर देना चाहता है । अपने प्यारे मोहन को सम्बोधित करती हुई कबीर की जीवात्मारूपी दुल्हन भी तो यही निवेदन करती है । वह यही चाहती है कि उसके प्रियतम आवें और वह उन्हें अपने नयनों म बसाकर सदा के लिए पलक झपका बन्द कर ले । इसके बाद वह फिर किसी दूसरी वस्तु को देखना नहीं चाहेगी और अपने प्रियतम को भी किसी दूसरी वस्तु को नहीं देखने देगी ।[3]

इस प्रकार उपासना के द्वारा ही उपासक अपने उपास्य के साथ साक्षात् सम्बन्ध स्थापित करने म समर्थ होता है । उपासना का अर्थ ही है उपासक का उपास्य के समीप अवस्थित होना । उपासक अपने उपास्य के जितना ही निकट होता जाता है उतना ही उसका वह प्रेम पात्र बनता जाता है । उपास्य के प्रति उपासक का यह प्रेम कभी ऐहिक प्रेम की तरह मलिन नहीं होता वरन् उत्तरोत्तर विकसित होता जाता है । भक्त के इस आध्यात्मिक प्रेम के धाने तार म इतनी मजबूती होती है कि अखिल जगदीश्वर भी उसम बँध जाते हैं । भगवान् की प्रेमवश्यता ही इस धाने प्रेमतन्तु का एकमात्र बल है । कबीर के शब्दों म हरि प्रेमरस का पान जिसने एक बार कर लिया उसके लिए संसार के सारे विलास वैभव निरर्थक हैं । इस अलौकिक प्रेम व्यापार म भक्त के साथ भगवान् भी इस प्रकार सपृक्त हो जाता है कि वह भी भक्त का साथ नहीं छोड़ता ।[4] वस्तुत भगवान् भाव के भूखे हैं तथा प्रेम से प्रसन्न होते हैं । गोस्वामी तुलसीदास ने भी रामहि केवल प्रेम पियारा । जानि लेहु जो जाननिहारा ॥ की उद्घोषणा द्वारा इस सम्बन्ध म मानो अंतिम बात कह दी है । इसम भी आगे बढ़कर प्रेमोपासना की महत्ता का जयघोष करते हुए उन्होंने स्पष्ट कहा है कि उपासना के बिना जप तप योग ज्ञान आदि उसी तरह व्यर्थ हैं जिस तरह बिना दूल्हे की दुलहिन ।[5]

---

१ सगुन अरूप अलख अज जोई ।
भगत प्रेमबस सगुन सो होई ॥ —तुलसी ।

२ तोरि मानिनी तें हियो फोरि मोहिनी मान ।
प्रेमदेव की छबिहिं लखि भये मियाँ रसखान ॥ —रसखान

३ नैनों अंतर आव तूँ नैन झाँपि तोहि लेउँ ।
ना मैं देखों और को ना तोहि देखन देउँ ॥ —कबीर

४ कबीर मन निरमल भया जैसा गंगा नीर ।
पीछे लागा हरि फिरै कहत कबीर कबीर ॥ —कबीर
भक्त बिरह कातर करुनामय डोलत पीछे लाग । —सूरदास

५ श्रमन दम आचार दया सुमति ज्ञान सब होय ।
तुलसी बिना उपासना बिनु दुलहे की जोय ॥ —तुलसीदास

इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि भक्त भगवान् की प्रेमोपासना जितने माध्यम से करता है उनमें दाम्पत्य भाव की उपासना सर्वश्रेष्ठ मानी गयी है। सब की अधिकता अनन्य भाव से कान्ता सम्मत माधुर्यभाव में ही दिखलायी पड़ती स्वांग पर्यन्त सर्वस्व दान करके भी कान्ताभाव की घनिष्ठ मधुर रसमयी सेवा कहीं भी अन्य निष्ठा सम्बन्धियों में सम्भव नहीं है। यही कारण है कि अत्यन्त प्राचीन काल से ही सभी प्रकार के साधना मार्गों में किसी न किसी रूप में दाम्पत्य भाव की अवतारणा द्वारा मधुर रस का संनिवेश किया गया है।

मधुर रस का वास्तविक स्रोत भक्तिशास्त्र है। इस दृष्टि से श्रीमद्भागवत, ब्रह्मवैवर्त पुराण, वृहद् गौतमीय तन्त्र, ब्रह्म संहिता, सम्मोहन तन्त्र, समस्त संहिता-साहित्य, वृहद् वाल्मीकि सत्योपाख्यान, वैष्णव साहित्य, गीता, शाण्डिल्य भक्तिसूत्र, नारद भक्तिसूत्र, भक्ति रसायन, भगवद्भक्ति चन्द्रिका, भक्ति सन्दर्भ, हरिभक्तिरसामृत सिन्धु, उज्ज्वलनील मणि, रसार्णव सुधाकर, चैतन्य चरितामृत, रस-कलिका, प्रीति सन्दर्भ आदि आदि भक्तिशास्त्र विषयक ग्रन्थ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

भक्ति-तत्त्व

सम्पूर्ण भक्तिशास्त्र की अन्तश्चेतना भक्तिभावना है। भक्ति सिद्धान्तों के अन्तर्गत भक्ति के तीन तत्त्व निर्धारित किये गये हैं—अनुग्रह, प्रेम और भक्ति। पुत्र शिष्यादि के प्रति स्नेह को अनुग्रह, भार्यादि के प्रति स्नेह को प्रेम तथा गुरुजन, देवतादि के प्रति स्नेह को भक्ति कहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि स्नेह ही संसार के सारे सम्बन्धों का मूलस्रोत है। यही विश्वाधार है। साधना के क्षेत्र में मधुरोपासना का यही रहस्य है। परमब्रह्म का आश्रय जिसमें मान्य हो, उसकी प्राप्ति का जिसमें साधना हो सके, जिसमें साधक का मन नियोजित हो सके वही भक्तियोग है। भक्तियोग साधक के अन्तिम लक्ष्य परमानन्द स्वरूप परमेश्वर तक पहुंचने का सहज एवं स्वाभाविक पथ है। इसीलिए इसे साधन भक्ति की संज्ञा दी गयी है। भक्ति योग का लक्ष्य परम पुरुष में अपने-आपको आसक्त कर उसी में अपनी सत्ता को सर्वतोभावेन लीन करना है। अतः भक्तियोग प्रेम के उच्चतम विकास का निदान स्वरूप है।

श्रीमज्जय तीर्थ ने श्रीमन्नाथ सुधा नामक ग्रन्थ में भक्ति की व्याख्या करते हुए कहा है कि "निरवधिकानन्त नवद्य कल्याण गुणत्व ज्ञान से समुत्पन्न अनेकानेक बाधाओं से अविच्छिन्न अत्यधिक दृढ़ अप्रतिबद्ध निरन्तर प्रेम प्रवाह ही भक्ति है।"[1] यही मोक्ष का मुख्य कारण है। परम पुरुष इसी के वशीभूत है।[2] नारद के अनुसार भक्ति परम प्रेमरूपा और अमृत-स्वरूपा है जिसे प्राप्त कर मनुष्य सिद्ध, अमर और तृप्त हो जाता है।[3] पराशर

---

१ 'तद् भक्तिनामनिरवधिकानन्तानवद्य कल्याण गुणत्व ज्ञानपूर्वक स्वस्वात्मात्मीय समस्तवस्तुभ्योऽनेक गुणाधिकोऽन्तराय सहस्र णाप्यप्रतिबद्धो निरन्तर प्रेम प्रवाह।'
—श्रीमन्नाथसुधा (श्रीमज्जयतीर्थ रचित)

२ "भक्तिरेवैनं नयति भक्तिवश पुरुष॥" —माठर श्रुति

३ 'सात्वस्मिन परम प्रेमरूपा अमृत स्वरूपा च।' —नारद भक्तिसूत्र २।३
यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति अमृतो भवति, तृप्तो भवति। —वही, सूत्र ४

पुत्र व्यास पूजादि म प्रगाढ प्रेम होन को ही भक्ति कहते हैं ।[१] गग न हरिगुण कीर्तनादि म होनवाले प्रगाढ प्रेम को भक्ति की सज्ञा दी है ।[२] शाण्डिल्य ईश्वर म परानुरक्ति को भक्ति मानते हैं ।[३] पुन आत्मा म तीव्र रति क होन को भक्ति कहा गया है ।[४] श्रीमद्भागवत म निष्काम भाव स स्वभाव की प्रवृत्ति का सत्य मूल भगवान् म लय हो जान को ही भक्ति कहा गया है ।[५]

साराश यह है कि भक्ति उपास्य और उपासक का भावात्मक सम्बन्ध है। भक्त और भगवान् क बीच यही एक अगाध सम्बन्ध सूत्र है।[६] इसी भक्ति क नाते भगवान् भक्त पर सदा द्रवित हो उठते है।[७] कृष्णदास कविराज न भक्ति को अभिधेय कहा है जो भगवान् और भक्त का सम्बन्ध है जिसका प्रयोजन केवल कृष्ण प्रेम की प्राप्ति है।[८] जिस प्रकार धन का मुख्य प्रयोजन भोग है उसी प्रकार प्रेम का मुख्य प्रयोजन कृष्ण सुख है।[९] तुलसीदास न भक्ति को साध्य माना है। सभी साधना का एकमात्र फल रामचरण म रति है।[१०] वष्णव आचार्यों न कृष्ण प्रेम को नित्य सिद्ध कहा है। यह साध्य नहीं है। अथात् नित्य सिद्ध कृष्ण भक्ति का प्राकट्य ही साध्य है।[११] कृष्णदास कविराज का कहना है कि वैष्णव शास्त्र भक्ति का

---

१ पूजादिष्वनुराग इति पाराशय ।
—वही सूत्र १६

२ कथादिष्विति गग ।
—वही सूत्र १७

३ सा परानुरक्तिरीश्वर ।
—शाण्डिल्य भक्तिसूत्र

४ आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्य ।
—नारदभक्ति सूत्र १८

५ श्रीमद्भागवत स्क ध ३ अ २५ श्लो ३२ ३३ ।

६ कह रघुपति सुनु भामिनि बाता । मानो एक भगति कर नाता ॥
—रा च मा अ ३५ पृ ३४५ ।

७ जाते बेगि द्रवउ म भाई । सो मम भगति भगत सुखदाई ॥
—वही अ १६ पृ ३३ ।

८ भगवान् स ब ध भक्ति अभिधेय हय ।
प्रेम प्रयोजन वेदे तिन वस्तु कय ॥
—च च मध्यलीला परि ६ पृ १३३ ।

९ धन फल जैछे सुख भोग फल पाय ।
तैछे भक्तिफल कृष्णे प्रेम उपजाय ॥
—चै च मध्यलीला परि ९ पृ २९ ।

१० सबु करि मागहि एकु फलु रामचरन रति होउ ।
—रा च मा अ १२८ पृ २३४ ।
अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउ निरबान ।
जनम जनम रति रामपद यह बरदानु न आन ॥
—वही अ २०४ पृ २५९

११ नित्य सिद्धस्य भावस्य प्राकट्य हृदि साध्यता ।
—रूपगोस्वामी ।

सम्बन्ध अभिधेय और प्रयोजन बतलाते हैं। यह भक्ति कृष्ण प्राप्ति सम्बन्ध है और प्राप्ति का साधन है यह अभिधेय है और इसका प्रयोजन प्रेम है। यह पुरुषार्थ का सार है और प्रेम महाधन, कृष्णमाधुर्य और कृष्णसेवानन्द की प्राप्ति का कारण है। भक्ति के द्वारा कृष्ण की सेवा भी केवल कृष्ण प्रेम का आस्वादन करने के लिए की जाती है।[1]

भक्तिमार्ग की महत्ता

ईश्वर प्राप्ति के चार साधना मार्ग हैं—ज्ञान कर्म, योग और भक्ति। नारद भक्ति सूत्र में भक्ति को ज्ञान कर्म और योग से श्रेष्ठ बतलाया गया है।[2] श्रीमद्भागवत में भक्तिमार्ग को विश्व-कल्याण का उत्तरदायी माना गया है।[3] सम्पूर्ण वैष्णव साहित्य भक्ति की महिमा के यशोगान में व्याप्त है। यहां तक कि निर्गुणोपासक संतों ने भी मुक्तकण्ठ से भक्ति की महत्ता की उद्घोषणा की है। सन्त कबीर कहते हैं कि यदि भाव भक्ति नहीं है तो योग-साधना वृथा है।[4] कर्म मार्ग बन्धन का कारण है और भक्ति मार्ग बन्धन विमोचन का सर्वाधिक उपयुक्त साधन है।[5] भक्ति के बिना कोरा ज्ञान निरर्थक है क्योंकि भक्त को ही ज्ञान की प्राप्ति होती है।[6] यहां तक कि भक्ति के बिना जप-तप संयम व्रत तीर्थ-स्नान दान, ध्यान सभी मिथ्या हैं।[7]

बंगाली वैष्णव आचार्य कृष्णदास कविराज ने भी कर्म योग और ज्ञान को भक्ति

---

१ वेद शास्त्र कहे सम्बन्ध अभिधेय प्रयोजन।
कृष्ण प्राप्ति सम्बन्ध भक्ति प्राप्तिर साधन॥
अभिधेय नाम भक्ति प्रेम प्रयोजन।
पुरुषार्थ शिरोमणि प्रेम महाधन॥
कृष्ण माधुर्य सेवानन्द प्राप्तिर कारण।
कृष्ण सेवा करे कृष्णरस आस्वादन॥
—चै० च०, मध्यलीला, परि० २, पृ० २६०।

२ 'सा तु कर्मज्ञान योगेभ्योऽप्यधिकतरा"।
—ना० भ० सू०, २५।

३ श्रीमद्भागवत ७।६।६

४ भाव भगति विसवास बिन, कटै न ससै मूल।
कहै कबीर हरि भगति बिन, मुकति नहीं रे मूल॥
—क० ग्र० पृ० २४६।

५ हिरदै कपट हरि सू नहिं साचो कहा भयो जो अनहद नाच्यो।
—वही, पृ० १८२।

६ कर्म करत बढ़े अहमेव मिलि पाथर की करही सेव।
कहुँ कबीर भगति कर पाया, भोले भाइ मिले रघुराया॥
—क० ग्र०, २८०
मन बधि अधि अन्त न पाया। राम भगति बैठे घर आया॥
—वही, पृ० २७४ २७५

७ कहा जप कया तप कया संजम कहा व्रत कहा अस्नान।
जब लगि जुगति न जानिये भाव भगति भगवान॥
—वही

गुणापेक्षी बनाया है । अन्त में सबका अन्तर्भाव भक्ति में ही हो जाता है।[१] भक्त शिरोमणि तुलसीदास ने भी भक्ति को सभी साधना का सुन्दर फल कहा है ।[२] अतः भक्ति स्वतन्त्र है। वह अकेली मुक्ति प्रदायिनी है । ज्ञान कर्म और योग में स्वतन्त्र कृष्ण को वश में करने की सामर्थ्य नहीं है । कृष्ण को वश में करने का एकमात्र साधन कृष्ण प्रेम है ।[३] भक्ति ही माया के बन्धनों का विमोचन करनेवाली है ।[४] भक्ति को देखते ही माया जीव को मुक्त कर पलायन कर जाती है ।[५]

भक्ति के प्रथम तथा चरम अवयव वृत्ति और समापत्ति

सात्त्विक सहजात सहज रतिरूप भाव या वृत्ति भक्ति का प्रथम अवयव है तथा समापत्ति उसका चरमावयव है । मनुष्य के चित्त में दबे हुए सात्त्विक रतिरूप संस्कार स्मृति रूप आभ्यन्तर निमित्त द्वारा या शास्त्रों में वर्णित कोटि कन्दर्पाधिक कमनीय स्वरूप तथा अर्चादि विग्रहों के साक्षात्कार से रतिरूप भाव या वृत्ति के रूप में परिणत हो जाते हैं। संक्षेप में स्मृति या कल्पनोद्भूत वस्तु से या इन्द्रिय प्रणाली द्वारा बाह्य वस्तु से उपराग अथवा आभोग के अनन्तर मन में जो ग्राह्य ग्रहणाकारा प्रतीति होती है उसी को वृत्ति की संज्ञा दी गयी है । यह सहजात सात्त्विक रतिरूप भाव या वृत्ति इष्टदेव के माहात्म्य-बोध के साथ उत्पन्न होती है तथा स्नेहधारानुकारिणी है । प्रेम परिप्लुतता वृत्ति भक्ति का सर्वप्रथम अवयव है ।[६] मनुष्य की यह वृत्ति बाह्य विषय विकारों के कारण स्थिर नहीं रहती तथा अन्यान्य वृत्तियों द्वारा विच्छिन्न होती रहती है । साधन भक्ति द्वारा चित्त के समाधान हो जाने पर यह वृत्ति सुस्थिर हो जाती है । इसी स्थिति विशेष में वह वृत्ति मात्र न रहकर विलक्षण भक्ति बन

---

१ कृष्णभक्ति हय अभिधेय प्रधान ।
भक्तिमुख निरीक्षक कर्मयोगज्ञान ॥
—चै० च० मध्यलीला परि० २२ पृ० २७८

२ जप तप नियम जोग निज धर्मा । श्रुति संभव नाना सुभ कर्मा ॥
ज्ञान दया दम तीरथ मज्जन । जहँ लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन ॥
आगम निगम पुरान अनेका । पढ़े सुने कर फल प्रभु एका ॥
तव पद पंकज प्रीति निरंतर । सब साधन कर यह फल सुन्दर ॥
—रा० च० मा० उ० ४८ पृ० ५१४

३ ज्ञाने कर्मे योग धर्मे न हे कृष्णवश ।
कृष्णवश हेतु एक कृष्ण प्रेमरस ॥
—चै० च०, मध्यलीला परि० १७ पृ० ८२

४ भगति करत बिनु जतन प्रयासा ।
संसृति मूल अविद्या नासा ॥
—रा० च० मा०, उ० ११६ पृ० ५५१

५ देखी भगति जो छोरै ताही ।
—वही बा० २ ? पृ० १२०।

६ सर्वात्मना निमित्तैव स्नेहधारानुकारिणी ।
वृत्तिः प्रेमपरिप्लुतता भक्तिर्माहात्म्यबोधजा ॥
—शाण्डिल्य संहिता।

जाती है और इष्टदेव के माहात्म्य ज्ञान के साथ अनेक भूमिकाओं में विकसित होती हुई फल भक्ति का रूप ग्रहण कर लेती है। इसी भूमिका में भक्तों को मधुरा भक्ति रस का आस्वादन होता है जो विषयावच्छिन्न चिदानन्दाभूत लौकिक रस का साध्यतत्त्व माना गया है।[1]

जिस प्रकार सात्त्विक रतिरूपभाव या वृत्ति भक्ति का प्रथम अवयव है, उसी प्रकार समापत्ति' को उसका चरम अवयव माना गया है। पातंजल योगदर्शन में कहा गया है कि 'सुनिर्मल स्फटिक मणि के समान वृत्तियों से रहित चित्त का ग्रहीता, ग्रहण अथवा ग्राह्य रूपों के द्वारा उपरंजित होकर उन्हीं के आकाररूप में भासित होना समापत्ति है।[2]

भक्ति का उद्रेक

भक्ति का उद्रेक अथवा आध्यात्मिक प्रेम की जागृति के लिए विषय-त्याग, कुसंग त्याग, सत्संग, अखण्ड भजन, हरिगुणकीर्तनादि, सन्तों और सतों की कृपा, गुरुसेवा, निष्कामता, समर्पणनिष्ठा, सदाचरण, नामस्मरण, स्वस्थ शरीर, स्थिर चित्त तथा पूर्वजन्म के संस्कारादि साधन परमावश्यक हैं। साधक का चित्त जब कामना रहित, वांछा रहित, विकार रहित और सांसारिक विषयों के प्रति आसक्ति रहित हो जाता है तब उसके निर्मल मानस में भक्ति रूपी राजहंस का अवतरण होता है, जिससे संसार के सभी बन्धन, विकार और कामनाएँ लुप्त हो जाती हैं।[3]

भक्ति का स्वरूप

भक्ति प्रेम स्वरूपा है।[4] प्रीति के बिना भक्ति नहीं उत्पन्न हो सकती।[5] अतः प्रीति भक्ति का उत्स है। प्रेममयी भक्ति अहैतुकी है। भगवान के प्रति एकनिष्ठ प्रेम ही भक्ति है। वह अमृत स्वरूपा है। इसे प्राप्त कर मनुष्य सिद्ध होता है और परितृप्त हो जाता है। ईश्वर में निरतिशय अनुराग ही भक्ति है। ईश्वर के प्रति इस परानुरक्ति के स्वरूप पर विचार करते हुए विष्णुपुराण में कहा गया है कि, हे नाथ! मैं कर्मफल के वश होकर जिन जिन सहस्रों योनियों में परिभ्रमण करूँ, उन सभी योनियों में तुम्हारे प्रति सदा

---

1. 'अत्र च लौकिक रसे शृंगारादौ विषयावच्छिन्नस्यैव चिदानन्दांशस्य स्फुरणादानन्दांशस्य न्यूनत्वं भगवदाकाराकार चित्तवृत्तिलक्षणे भक्ति रसे तु अनवच्छिन्नचिदानन्दघनस्य भगवतः स्फुरणादत्यन्ता धिक्यमानन्दस्य। अतो भगवद्भक्ति रस एव लौकिक रसानुपेक्ष्य परम रसितं सेव्य।"
—भक्तिचन्द्रिका, यतिवर नारायण तीर्थ।
2. 'क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्ति
—पातंजल योगदर्शन १।४१
3. 'यत्प्राप्य न किंचिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति।"
—ना० भ० सू० ५।
4. "तत्ववस्तु कृष्ण, कृष्णभक्ति प्रेमरूप।"
—चै० च० आदिलीला, परि० २, पृ० १।
5. जाने बिनु न होइ परतीती।
बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई।
—रा० च० मा०, उ० ८९, पृ० ८८७

मेरी निश्चल भक्ति बनी रहे। अविवेकी पुरुष की विषयों में जैसी अविचल आसक्ति रहती है तुम्हारा अनुस्मरण करते हुए तुम्हारे प्रति मेरी भी वैसी ही अविचल प्रीति रहे वह मेरे हृदय से कभी दूर न हो।[1] विषयी की विषयों के प्रति जो अत्यंत आसक्ति होती है उसी का प्रत्यावर्तन कर यदि ईश्वर में संयुक्त किया जाय तो वह अहैतुकी या शुद्ध भक्ति कहलाती है। छान्दोग्योपनिषद् में प्रभु भक्ति को सर्वोत्कृष्ट रस कहा गया है। यह वह रस है जो अपने माधुर्य से मनरूपी चातक को मस्त कर देता है।[2] इस प्रकार उपयुक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि भक्ति का वास्तविक स्वरूप अहैतुकी ही होता है।

भक्ति के दस सोपान

'भक्तिरसामृतसिन्धु' में रूपगोस्वामी ने भक्ति के दस सोपान बतलाये हैं जिन्हें क्रमशः श्रद्धा विशेष श्रद्धा भजन क्रिया श्रद्धा के मार्ग में आनेवाले अनर्थों की निवृत्ति निष्ठा प्रकाश एवं अनुकूल रुचि आसक्ति या विश्वास दृढ़ता प्रेम भाव या अनुभूति और भक्ति की संज्ञा दी गयी है।[3] सूफी धर्म में जिज्ञासा प्रेम आलोक या ज्ञान सांसारिकता का विनाश ऐक्य विस्मय और आत्मसमर्पण क्रमशः इन सात अवस्थाओं के वर्णन हुए हैं।

भक्ति के अनुबन्ध चतुष्टय

अधिकारी सम्बन्ध अभिधेय और प्रयोजन ये ही भक्ति के अनुबन्ध चतुष्टय कहे जाते हैं। भक्ति शास्त्र के प्रति श्रद्धावान् व्यक्ति अधिकारी है। यही जीवतत्व है। परमात्मा अखिल प्रेमरसानन्द मूर्ति है। वे नित्य रस स्वरूप हैं नित्य प्रेम स्वरूप हैं तथा नित्य आनन्द स्वरूप हैं। सूर्य की किरण के समान अथवा अग्नि के स्फुलिंग के समान जीव इस अखिल प्रेम रस आनन्द स्वरूप ईश्वर का ही अंश है। अतः विशुद्ध प्रेमरस आनन्द ही जीव का प्रकृत स्वरूप या स्वभाव है। प्रेमानन्द ही उसका प्रकृत स्वरूप है।[4] जीव-तत्त्व का उपास्यतत्त्व के साथ वाच्य वाचक सम्बन्ध है। उपास्य तत्त्व की प्राप्ति का उपाय अर्थात् भक्ति अभिधेय है और उपास्य के प्रेम की प्राप्ति ही इसका प्रयोजन है। जीवन की परम प्रयोजनीय वस्तु पुरुषार्थ शिरोमणि प्रेम महाधन है। जिस प्रयोजन के पूर्ण हो जाने पर सारी आवश्यकताएं निवृत्त हो जाती हैं वही है यह अनिर्वचनीय प्रेम महाधन। अपने प्राप्तव्य

---

१ नाथयोनि सहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्।
तेषु तेष्वचला भक्ति रच्युतास्तु सदा त्वयि॥
या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥

—विष्णु पुराण १।२०।१६ २ ।

२ स एव रसानां रसतमः परमः परार्थ्यः।

—छान्दोग्योपनिषद्।

३ भक्तिरसामृतसिन्धु (१ २)।

४ आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।

—तैत्ति उ भृगुवल्ली षष्ठोऽनुवाक।

को आकर्षित करना ही इसका स्वभाव है। इस प्रकार भगवत्साधना का प्रयोजन ही प्रेम है। प्रेम की पूर्वावस्था का नाम 'भाव" या रति है। साधन भक्ति के परिपाक में भाव भक्ति का उदय होता है। जब इष्टदेव में प्रीति के कारण मन संलग्न रहना चाहता है तब भाव ही रति नाम से अभिहित होता है। यह भाव मन की अवस्था या विकार विशेष का नाम है। विषय रस निमग्न व्यक्ति का चित्त जब भगवदुन्मुख होता है तथा भगवद् भाव में विभावित होता है ईश्वर के चिन्तन में रस लेता है तब भावोत्पत्ति की दशा आती है। यह प्रेम की प्राथमिक अवस्था है। 'भाव' चित्त को रंजित कर उसकी कठोरता को दूर करके उसको सुकोमल बनाता है। यह ह्लादिनी शक्ति का वृत्ति विशेष है और इसकी अपेक्षा कोटिगुना आनन्द रूप, आह्लादिनी शक्ति के सारस्वरूप "वृत्ति" का रति कहते हैं। इसी भावदशा में प्रेमांकुर उत्पन्न होता है। प्रेमांकुर उत्पन्न होने के पूर्व शान्ति अव्ययकालत्व विरति, मान शून्यता आशाबन्ध, समुत्कण्ठा नाम स्मरण में रुचि, भगवद्गुणाख्यान में आसक्ति और उनकी लीलाभूमि में प्रीति—ये नौ लक्षण उदित होते हैं। प्रेमाविष्ट चित्त की उच्चतम दशा में नाना प्रकार के विचित्र भावों का आविर्भाव होता है।

जिस धन्य पुरुष के चित्त में इस नवीन प्रेम का उन्मीलन होता है उसकी वाणी और क्रिया के रहस्य को शास्त्र प्रणेता भी नहीं जान सकते।[1] ऐसा प्रेमी साधक स्वप्रिय इष्टदेव का नाम-कीर्तन करते-करते भगवान् में अनुराग हो जाने के कारण द्रवित चित्त होकर कभी हँसता है कभी रोता है कभी उच्चस्वर में प्रलाप करता है, कभी गाता है, कभी उन्मत्त के समान नृत्य करने लगता है। वह साधक स्वभावतः सामान्य जनोचित आचार-व्यवहार से बहिर्भूत होकर कार्य करता है।[2]

भक्ति के प्रकार

भक्ति के अनेक प्रकार बतलाये गये हैं। भक्ति-दर्शन के प्रमुख प्रवर्तक शाण्डिल्य तथा नारद ने भक्ति के मुख्या और गौणी दो भेद किये हैं।[3] श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित आर्त्त जिज्ञासु अर्थार्थी और ज्ञानी इन चार प्रकार के भक्तों में से प्रथम तीन की भक्ति गौणी है तथा ज्ञानी की भक्ति मुख्या है जिसे अहैतुकी भक्ति भी कहते हैं। श्रीमद्भागवत में तामसी राजसी और सात्त्विकी भक्ति का वर्णन किया गया है जिन्हें गौणी भक्ति की संज्ञा दी गयी है। इनसे श्रेष्ठ पराभक्ति है जो मुख्या तथा अहैतुकी मानी गयी है। इसी परा भक्ति को निर्गुण भक्ति भी कहा गया है। दैवी मीमांसा दर्शन के रस पाद में अंगिरा ने

१ धन्यस्यायं नवप्रेमा यस्योन्मीलति चेतसि।
अन्तर्वाणीभिरप्यस्य मुद्रा सुष्ठु सुदुर्गमा॥

२ एवं व्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय—
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥
—श्रीमद्भागवत (११।२।४०)

३ शाण्डिल्य सूत्र ७२
नारदभक्ति सूत्र ५४ ५५ ५६।

वधी और रागात्मिका भक्ति के दो भेद बतलाये हैं। विविध विधानों द्वारा की जाने वाली भक्ति वधी है।[१] इससे भिन्न रस का अनुभव करानेवाली आनन्द और शान्ति प्रदायिनी भक्ति को रागात्मिका कहते हैं।[२] गीता म इसी के अनुरूप निगण भक्ति का निरूपण किया गया है।[३]

नवधा भक्ति और एकादश आसक्तियाँ

भक्त प्रहलाद ने भक्ति के श्रवण कीर्तन स्मरण पाद सेवन अर्चन वन्दन दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—ये नौ भेद बतलाये हैं जिनका नारद-पाचरात्र शाण्डिल्यसूत्र भक्ति तरगिणी श्रीमद्भागवत[४] गीता आदि वष्णव ग्रथों म विस्तृत निरूपण किया गया है। देवर्षि नारद ने गुण माहात्म्यासक्ति रूपासक्ति पूजासक्ति स्मरणासक्ति दास्यासक्ति सख्यासक्ति कान्तासक्ति वात्सल्यासक्ति आत्मनिवेदनासक्ति तन्मयतासक्ति और परम विरहासक्ति—इन ग्यारह प्रकार की प्रेमरूपा भक्ति का उल्लेख किया है।[५] इसका तात्पय यह है कि परमात्मा मे ग्यारह प्रकार से मन की आसक्ति सम्भव है।

साधन भक्ति और साध्य भक्ति

भक्ति के उपयुक्त रूपो क आधार पर ही साधन रूप और साध्यरूप भक्ति के दो भेद बतलाय गये हैं। साधनरूप भक्ति ही वधी अथवा नवधा भक्ति है तथा साध्यरूप भक्ति रागानुगा अथवा प्रेमलक्षणा भक्ति है। श्रीमद्भागवत मे निरूपित नवधा भक्ति मुख्यत वधी भक्ति है जिसे कनिष्ठा भक्ति भी कहा गया है। उसी म प्रेमलक्षणा भक्ति का जोडकर प्रेम लक्षणा नामक दशधा भक्ति की उद्भावना की गयी है जिसे मध्यमा भक्ति की सज्ञा दी गयी है। यह प्रेमलक्षणा भक्ति निष्काम होती है तथा इसम प्रेम अथवा राग की प्रधानता होती है। सगुण भक्तो एव निगुण सन्तो ने बडे उत्साह के साथ इसे ग्रहण किया है। गोपी प्रेम को ही प्रेमलक्षणा भक्ति का आदश माना गया है। गोपीप्रेम म इष्टदेव श्रीकृष्ण के माहात्म्य और प्रभाव का ज्ञान उनके प्रति व्याकुलता का भाव उन पर सवस्व समपण करने की उत्कट अभिलाषा और उनके सुख स सुखी रहने की दुर्निवार आकाक्षा की प्रमुखता है। प्रेमलक्षणा भक्ति म जाति वण लोकाचार शास्त्राचार कुल मयादा देश काल का कोइ भेद भाव मा य नहो है।

---

१ विधिसाध्यमाना वैधी सोपानरूपा।
—दैवी मीमासा दशन। रसपाद सूत्र ११।

२ रसानुभवविधानन्द शान्तिप्रदा रागात्मिका। —वही सूत्र १२।

३ श्रीमद्भगवद्गीता १२।१३।१८ द्रष्टव्य।

४ श्रवण कीर्तन विष्णो स्मरण पादसेवनम्।
अर्चन वन्दन दास्य सख्यमात्मनिवेदनम्॥
—श्रीमद्भागवत ७।५।२३

५ गुण माहात्म्यासक्ति रूपासक्ति पूजासक्ति स्मरणासक्ति दास्यासक्ति सख्यासक्ति कान्तासक्ति वात्सल्यासक्त्यात्मनिवेदनासक्ति तन्मयतासक्ति परम विरहासक्ति, रूपा एकधाप्येकादशधा भवति। —भक्तिसूत्र ८२।

परमेश्वर के प्रति प्रगाढ़ प्रेम होते ही प्रेमी भक्त के सभी सांसारिक बंधन शिथिल हो जाते हैं। वह भौतिकता के धरातल से उठकर ऐसे अन्यलोक में पहुँच जाता है जहाँ अहर्निश उसके नयनों में प्रियतम के दिव्यरूप और गुण जगमगाते रहते हैं। इस अवस्था को प्राप्त होकर साधक तन मन घर द्वार सबकी सुधि खो बैठता है और उन्मत्त की तरह घूमता फिरता है।[1] वह प्रेमाधिक्य के कारण रह रह कर रोमांचित हो उठता है लम्बी लम्बी आहें भरता है, और आँखों से आँसुओं की अजस्र धारा प्रवाहित करता रहता है। इस प्रकार छककर राम रसायन पीने वाले मतवाले को भला नवधाभक्ति की क्या परवाह हो सकती है?[2]

प्रेमलक्षणा भक्ति के पथिक का चित्त अंतर्मुखी होकर निरंतर अपने साध्य में ही नियोजित रहता है। इस प्रेमलक्षणा भक्ति के रहस्य को कोई नहीं जान सकता।[3] जिस प्रकार पानी के बिना मछली दूध के बिना शिशु औषधि के बिना रोगी, स्वाति-बूंद के बिना चातक चन्द्रमा के बिना चकोर और चंदन के बिना सर्प आकुल रहते हैं उसी प्रकार भक्त प्रेम और प्रेमाधार को पाने के लिए आकुल आतुर बना रहता है। जिस प्रकार निर्धन धन को और कामिनी कांत को पाने की चाह करती है उसी प्रकार भक्त को भगवान् की चाह होती है। उसे कोई दूसरी वस्तु नहीं सुहाती। प्रेम का ऐसा ही प्रभाव होता है।[4] 'बोधसार' में इसी प्रेमदशा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि प्रियतम कृष्ण की उपासना करते समय यह शरीर रोमांच से चमत्कृत हो गया भक्ति भावना से मन आनन्दित हो उठा, प्रेमाश्रुओं से मुख-मण्डल और वाष्पाकुल-वाणी से कंठ विभूषित हो उठे। अब कृष्णार्जुन को छोड़कर दूसरे विषय के ग्रहण के लिए हमें एक क्षण का भी अवकाश नहीं है। इतने पर भी सायुज्य आदि

---

१ प्रेम लग्यो परमेश्वर सौं तब भूलि गयो सब ही घर बारा।
ज्यौं उनमत्त फिरै जित ही तित नैकु रही न शरीर सँभारा॥
—सं० सुन्दरदास ज्ञानसमुद्र द्वि० उ० १० ७४।

२ स्वास उस्वास उठै सब रोम चलै दृग नीर अखंडित धारा।
सुंदर कौन करै नवधा विधि छाकि परयो रस पी मतवारा॥
—वही, २८।३८।

३ निशदिन हरि सौं चित्तासक्ती सदा लग्यो सो रहिये।
कोउ न जानि सकै यह भक्ती प्रेमलक्षणा कहिये॥
—वही, २८।४०।

४ नीर बिनु मीन दुःखी छीर बिनु शिशु जैसे
पीर जाके औषध बिनु कैसे रह्यो जात है।
चातक ज्यौं स्वातिबूँद चंद को चकोर जैसे
चन्दन की चाह करि सर्प अकुलात है।
निर्धन ज्यौं धन चाहै कामिनी ज्यों कंत चाहै,
ऐसी जाकी चाह ताकौं कछु न सुहात है।
प्रेम को प्रभाव ऐसो प्रेम तहाँ नेम कैसो,
सुन्दर कहत यह प्रेम ही की बात है।

—वही, २८।४३।

चतुर्विध मुक्तियाँ न जाने क्या हमारे द्वार पर खड़ी हमारी दासी बनने के लिए तरसा रही हैं।[1]

श्रीमद्भागवत' में भगवान ने स्वयं योगिराज भक्त शिरोमणि की प्रशंसा करते हुए कहा है कि प्रेम के प्रादुर्भूत हो जाने से जिसकी वाणी गद्गद् और चित्त द्रवीभूत हो जाता है जो प्रेमावेश में कभी रोता है कभी हँसता है कभी लज्जा त्यागकर ऊँचे स्वर में गान और नाचने लगता है ऐसा मेरा भक्त त्रिभुवन को पवित्र कर देता है।[2] नारदभक्तिसूत्र में वर्णित ग्यारह प्रकार की आसक्तियाँ भाव भक्ति या प्रेम भक्ति से सम्बद्ध हैं।

प्रेम लक्षणाभक्ति से श्रेष्ठ पराभक्ति है जिसे उत्तमा भक्ति की भी संज्ञा दी गई है। इसमें साधक का मन अपने इष्टदेव में तैलधारवत अविच्छिन्न भाव से रमा रहता है। इसमें प्रेम की अविच्छिन्नता रहती है। जिस प्रकार तेल एक पात्र से दूसरे पात्र में रखते समय एक ही अविच्छिन्न धारा में गिरता है उसी प्रकार जब चित्त अविच्छिन्न भाव से ब्रह्म में नियोजित हो जाय तभी पराभक्ति का प्रादुर्भाव होता है।[3] पराभक्ति की दशा में एक क्षण के लिए भी साधक का साध्य से विक्षेप नहीं होता। शाण्डिल्यसूत्र में इसी को ईश्वर के प्रति परानुरक्ति कहा गया है। यह पराभक्ति अहेतुकी और अव्यवहित होती है।[4] इसे साध्यभक्ति की संज्ञा दी गई है। पराभक्ति का साधक सालोक्य सार्ष्टि सामीप्य सारूप्य सायुज्य कैवल्य निर्वाण आदि किसी प्रकार की मुक्ति या भुक्ति नहीं चाहता।

पराभक्ति साधना की चरमावस्था एवं परमगुह्य है। पराभक्ति की दशा में साधक और साध्य शारीरिक भेद होते हुए भी भाव के क्षेत्र में एकात्म हो जाते हैं। भक्त और भगवान की एकात्मकता का बड़ा ही सुन्दर विवेचन भक्तों एवं सन्तों ने किया है।[5] जिस प्रकार राजयोग की समाधि-दशा में योगी ब्रह्म के साथ तादात्म्य अनुभव करता है और

१ रोमाञ्चेन चमत्कृता तनुरियं भक्त्यावनोनन्दित
प्रेमाश्रूणि विभूषयन्ति वचनं कण्ठ गिरा गद्गदा।
नारमार क्षणमात्रमप्यवसरं लब्धाऽन कुर्वता
मुक्तेऽपि चतुर्विधापि निमिषं दास्याय लोलायते॥ —बोधसार।

२ वाच गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥
—श्रीमद्भागवत ११।१४।२४।

३ चेतसो वतनं चैव तैलधारासमं सदा
—श्रीमद्भागवत।

४ अहैतुक्यव्यवहिता या भक्ति पुरुषोत्तमे।'
—श्रीमद्भागवत २९ १२।

५ सेवक सेव्य मिल्यौ रस पीवत भिन्न नहीं अरु भिन्न सदा ही।
ज्यों जल बीच धर्यो जलपिंड सुपिंड सुनीर जुरे कछु नाहीं॥
ज्यों दृग में पुतरी दृग एक नहीं कछु भिन्न सुभिन्न सदा हीं।
सुन्दर सेवक भाव सदा यह भक्ति परा परमातम माहीं॥
—सन्त सुन्दरदास ग्रा० स, पृ० ५०२१४६

उसकी इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी होकर बाह्यजगत से विमुख हो जाती हैं तथा अपने-अपने कार्य को स्थगित कर देती हैं उसी प्रकार पराभक्ति की दशा में भक्त की प्रवृत्ति बाह्य-जगत से हटकर अन्तर्मुखी हो जाती है। उसकी इन्द्रियाँ पूर्णत मनोनुगामिनी हो जाती हैं।[1] सन्तों ने इस महाभावस्था का बड़ा ही विस्मयापन्न वर्णन किया है। "श्रीमद्भागवत" में पराभक्ति की उन्मादपूर्ण स्थिति का मार्मिक चित्रण करते हुए कहा गया है कि इसमें भगवत्प्रेम जन्य उन्माद की भावना अत्यन्त तीव्र हो उठती है। दिव्योन्माद की इस उत्कृष्ट अवस्था में तीव्र वेदना के अश्रुओं के आगे-पीछे उल्लास की विशद स्मित रेखा खिंची रहती है तथा हर्ष के साथ-साथ वारी-वारी से उल्टा सीधा प्रलाप करना भी जारी रहता है। भक्त आनन्दमग्न होकर कभी नाचने लगता है कभी तार-स्वर से हरिगुणगान करने लगता है फिर एकाएक मौन धारण कर लेता है। वह इस प्रकार चिन्तन में लीन हो जाता है मानो अपने आराध्य से एकमेक हो गया हो। इस स्थिति में भक्त की भावना-तन्त्री परमात्मा के स्वर से पूर्णत सवादी स्वर में बजने लगता है। भक्त के भावनात्मक जीवन में एक तीव्र वेदनाशीलता उत्फुल्लता आ जाती है और वह सुरत सुगाकर ईश्वर की सतत अनुभूति करने लगता है।[2]

भक्त की भावना के अनुसार भक्ति के भेद

साराश यह है कि पराभक्ति अखण्डाकार ज्ञान के अविच्छिन्न प्रवाह के साथ भक्त की अत्यन्त सूक्ष्म एव रसमयी सवेदनशीलता तथा भगवदकृपा की बाढ़ की हिलोरों का सगम-स्थल है। इस अवस्था में अहम् का सर्वथाभावेन विलोपन हो जाना है केवल अपनी आत्मा के रूप में ईश्वरानुभूति शेष रह जाती है। हिन्दी के वैष्णव कवियों की अपेक्षा बगाली वैष्णव कवियों ने भक्ति-तत्त्व की अधिक क्रमबद्ध सूक्ष्म एव विस्तृत विवेचना की है। श्री रूप गोस्वामी श्री जीवगोस्वामी एव कृष्णदास कविराज आदि वैष्णव आचार्यों ने भजन भेद से रति भेद से, साधन भेद से इष्ट के स्वरूप ज्ञान से भक्ति के विभाजन किये हैं। कृष्णदास कविराज ने भक्तों की दास्य भावना सख्य भावना वात्सल्य भावना और शृगार भावना के आधार पर भक्ति के चार प्रकार बतलाये हैं। इनमें सभी अपनी अपनी भावना को श्रेष्ठ मानते हुए उसी भावना से कृष्ण सुख का आस्वादन करते हैं।[3] सूरदासजी ने भी भक्ति को बहुरूपा कहा है। जिस प्रकार

---

१ श्रवण बिना धुनि सुनय नैन बिन रूप निहारय।
रसना बिन उच्चरय प्रशसा बहु विस्तारय॥
नृत्य चरण बिनु करय हस्त बिनु ताल बजावे।
अग बिना मिलि सग बहुत आनन्द बढ़ावे॥ —वही २८।४।

२ क्वचिद् रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि
द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिका।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यज
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृता॥ —श्रीमद्भागवत ११।३।३२।

३ दास्य सख्य वात्सल्य आर जे शृगार।
चारि भावे चतुर्विधि भक्त आधार॥
निज निज भाव सबे श्रेष्ठ करि माने।
निज भावे करे कृष्ण सुख आस्वादने॥ —चै० च०, आदि लीला परि० ४, पृ० २३।

पानी में कई रंग मिलने से वह कई रंग का हो जाता है उसी प्रकार माना भक्ति के भावना नुसार सतोगुणा रजोगुणी तमोगुणा और शुद्धा चार भेद हो जाते हैं।[1] इनमें शुद्धा भक्ति सर्वोपरि *मानी गई है, क्योंकि इसमें सभी कामनाओं का विसर्जन कर केवल कृष्णानुशीलन* किया जाता है। यह कृष्ण प्रेम की उन्नायिका है।[2]

रति भेद के अनुसार भक्ति के भेद

भक्तों के रूप भेद से कृष्ण के प्रति रति में भी भेद है। कुछ भक्त-वैराग्य भाव से कुछ दास्य भाव से कुछ शृंगार भाव से कुछ सखा भाव से और कुछ पुत्र भाव से भगवान की उपासना करते हैं। इस प्रकार कृष्णत्व के प्रति भक्तों की भावना या रति के अनुसार शान्त दास्य सख्य वात्सल्य और मधुर—ये पाँच प्रकार की भक्ति माना जाता है।[3] इनमें मधुर भक्ति को प्रेम भक्ति की संज्ञा दी गई है। सभी भाव की भक्तियों में यह मधुर भक्ति अथवा प्रेम भक्ति सर्वश्रेष्ठ है। श्री रूपगोस्वामी ने भी भक्तिरसामृतसिंधु में भक्ति के सामान्य और उत्तमा दो भेद बतलाए हैं जिनमें उत्तमा भक्ति के भेद—साधन भक्ति भाव भक्ति और प्रेम भक्ति को सर्वोपरि स्थान दिया है।[4] उत्तमा भक्ति भोगवासना और मोक्षवासना से सर्वथा स्वतंत्र ज्ञान तथा कर्म से मुक्त उत्कृष्टतम भक्ति है।[5] क्लेशघ्नत्व शुभदत्व मोक्षलघुताकारित्व सुदुर

१ माता भक्ति चारि परकार।
सत रज तम गुन सुद्धासार॥
भक्ति एक पुनि बहुविधि होइ।
ज्यों जल रंग मिलि रंग सु होइ॥
—सूरसागर ३।१३ पृ० १३३।

२ एइ शुद्ध भक्ति इहा हैते प्रेम हय।
पंचरात्र भागवते ए लक्षण कय॥—च च मध्यलीला परि १९ पृ २८१।

३ भक्त भेदे रति भेद पंच परकार।
शांत रति दास्य रति सख्य रति आर॥
वात्सल्य रति मधुर रति पंच विभेद।
रति भेदे कृष्णभक्ति रस पंचभेद।
शान्त दास्य सख्य वात्सल्य मधुर रस नाम॥
—च च मध्यलीला परि १९, पृ २८२।

४ आद्या सामान्य भक्त्याद्या द्वितीया साधनात्मिका।
भावात्मिका तृतीयान्त तुर्या प्रेमनिरूपिका॥ —भ र सि पृ १।७
सा भक्ति साधन भाव प्रेमाचेति त्रिधोदिता। —भ र सि पृ २।१

५ अन्याभिलाषिता शून्य ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥
—व ी ५ १।६
अन्यवाञ्छा अन्यपूजा छाडि ज्ञान कर्म।
आनुकूल्ये सर्वेन्द्रियकृष्णानुशीलन॥
भक्ति मुक्ति आदि वाञ्छा यदि मने हय।
साधन करिले प्रेम उत्पन्न ना हय॥
—चै च मध्य० परि १९, पृ २८१
कृष्णदास कविराज द्वारा शुद्ध भक्ति का परिचय।

भक्त सान्द्रानन्द की विशेषात्मना म प्रति समपना और श्रीकृष्णाकर्षण व और कृष्णवशीकरण अथवा श्रीकृष्णाकर्षिणी शक्ति—य उत्तमा भक्ति के छ गुण हैं।[1] साधन भक्ति भक्ति की प्राथमिक अवस्था है। इसके द्वारा चित्त प्रमग्लि होकर जब अनन्तता का प्राप्त होता है तब पराभक्ति नामक भक्ति की चरमावस्था उपस्थित होती है।

भावभक्ति साधनभक्ति म विकसित होती है। यह भाव भक्ति आन्तरिक भाव के फल स्वरूप होती है। यह 'साधनाभिनिवेशज' या 'कृष्णप्रसादज' या 'कृष्णभक्त प्रसादज' होती है।[2] यह प्रेममयी तो नहीं है किन्तु 'प्रेम-सूर्यांशु-साम्य भाक' अर्थात् प्रेम भक्ति उत्पन्न करने वाली है। भाव भक्ति अथवा साध्य भक्ति जो नसर्गिक और भावावेग की अवस्था है किसी प्रकार क साधन अथवा प्रयत्न क द्वारा साध्य नहीं है। सच्चा भावावेग उत्पन्न नहीं किया जा सकता। वह तो पहले से ही विद्यमान रहता है। उसे सिर्फ व्यक्त करने की आवश्यकता होती है। इष्टदेव क प्रति चित्त की अविच्छेद्य स्वाभाविक अनुरक्ति ही प्रेमभक्ति कहलाती है। व्रजवल्लभाओं का कृष्ण प्रेम इसका सर्वोत्कृष्ट दृष्टान्त है।

शान्त भाव म विरक्ति सख्य-सख्य भाव म अनुवृत्ति सख्य भाव म प्रीति और वात्सल्य म स्नेह की प्रधानता है। मधुरभाव म इन सबका समावेश हो जाता है। इसके अतिरिक्त इसमें प्रियतम का सुमधुर रति प्रकाश करने की विशेषता रहती है। शृङ्गार रस म सर्वाधिक माधुरी होने के कारण मधुरभक्ति अर्थात् प्रेमभक्ति सर्वश्रेष्ठ है। सूर तुलसी आदि भक्तों ने भी बार-बार प्रेमभक्ति की सर्वश्रेष्ठता की उद्घोषणा की है।[3] प्रेम भक्ति 'भाव भक्ति-परिपाक' है। भाव परिपक्व होकर 'सान्द्रात्मा' हो जाता है तब भाव प्रेम म परिवर्तित हो जाता है और चित्त सम होकर 'अनन्य ममतावान्' हो जाता है। श्रद्धा साधु संग, भजन क्रिया अनर्थनिवृत्ति निष्ठा रुचि आसक्ति और भाव प्रेमभक्ति के उदय क क्रमिक सोपान हैं।[4]

प्रेम भक्ति का स्वरूप अनिर्वचनीय है। यह गुण रहित है कामना रहित है प्रतिक्षण बढ़ने वाला है विच्छेद रहित है सूक्ष्म स भी सूक्ष्मतर है और स्वसंवेद्य है। इसे प्राप्त कर प्रेमी प्रेम

---

१ क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा॥

—भा० र० सि० पू० १।१२

२ प्रेम भगति बिनु मुकुति न होइ।
नाथ कृपा करि दीजै सोइ॥

—सूरसागर

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई।
अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥

—रा० च० मा०

३ साधनाभिनिवेशेन कृष्णतद्भक्तयोस्तथा।
प्रसादेनातिधन्यानां भावो द्वेधाभिजायते॥

—भा० र० सि० १०, ३।५

४ सम्यङ् मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते॥

—भा० र० सि० १० ४।१

को ही देखना है, प्रेम को ही सुनना है प्रेम का ही वर्णन करता है और प्रेम का ही चिन्तन करना है। पूर्वोक्त ग्यारह प्रकार की आसक्तियाँ इसके विभिन्न प्रकार हैं।

साधन भेद से भक्ति के भेद

उपास्य के परत्व अर्थात् ऐश्वर्य और सौम्य अथात् माधुर्य दो मुख्य गुण हैं। इन्ही के आधार पर वैधी और रागानुगा साधनभक्ति के दो रूप माने गये हैं।

वैधी भक्ति

वैधी भक्ति में स्वामी सेवक भाव विधि निषेध का विचार षोडशोपचार नवधा भक्ति का समावेश वैदिक क्रिया-कलाप वर्णाश्रम की मान्यता आदि प्रमुख तत्व हैं। शरणागति गुरुसेवा श्रवण कीर्तन स्मरण पादसेवा अर्चना वन्दन दास्य सख्य और आत्म निवेदन इसके एकादश अंग माने गये हैं। अन्यत्र इसके चौंसठ भेद बताये गये हैं।[1] कृष्णदास कविराज ने वैधी भक्ति को हीन कोटि की भक्ति मानते हुए भी कहा है कि इससे निष्ठा उपजती है और प्रेम की उत्पत्ति होती है।[2] मुख्यरूप से वैधी भक्ति वैष्णव शास्त्रों में निर्धारित उपासना विधियों से अनुशासित है। इसमें राग स्थिति तक पहुंचने की व्यवस्था नहीं है।[3]

रागभक्ति रागानुगा और रागात्मिका

प्राणों के स्वतःस्फूर्त आवेग से भगवान के रूप गुण लीला माधुर्य की बातें सुनकर मन में यदि लालसा का उदय होता है प्रियतम प्रभु के प्रति नैसर्गिक रसमयी आविष्ठता दीख पड़ती है तो उसे रागमयी भक्ति कहते हैं। जैसे विषयी पुरुषों का स्वभावतः ही विषयों के प्रति विषय-संसर्ग की इच्छा से युक्त आकर्षण होता है जैसे आँखों की सौंदर्य के प्रति और कानों की मधुर स्वर के प्रति प्रगाढ़ वांछा होती है उसी प्रकार जब भक्त का भगवान के प्रति आकर्षण या तृष्णा उत्पन्न होती है तब उसे राग कहते हैं।[4]

---

१ चै० च० मध्यलीला परि० २२ पृ० २८८ द्रष्टव्य।

२ एक अंग साधे केह साधे बहु अंग।
निष्ठा हैले उपजय प्रेमेर तरंग॥
—चै० च० मध्यलीला परि० २२ पृ० २८८।

३ यत्र रागानवाप्तत्वात् प्रवृत्तिरुपजायते।
शासनेनैव शास्त्रस्य सा वैधी भक्तिरुच्यते॥
—भ० र० सि० पू० २५

४ तत्र विषयिणः स्वाभाविको विषय संसर्गेच्छामयः प्रेमाराग यथा चक्षुरादीनां सौन्दर्यादौ तादृशएव भक्तस्य श्रीभगवत्यपि राग इत्युच्यते।'
—भक्तिसन्दर्भ (श्री रूपगोस्वामी)

रागानुगा कामानुगा और सम्बन्धानुगा

रागभक्ति के रागानुगा और रागात्मिका दो भेद बतलाये गये हैं। रागानुगा भक्ति के कामानुगा और सम्बन्धानुगा दो भेद माने गये हैं।[1] पुनः कामानुगा रागभक्ति के सम्भोगेच्छा मयी और तत्तद्भावेच्छामयी दो अवान्तर भेद बतलाये गये हैं। केलि-सम्बन्धी अभिलाषा युक्त भक्ति सम्भोगेच्छामयी कहलाती है तथा यूथेश्वरी व्रजदेवियों के भाव और माधुर्य प्राप्ति विषयक वासनामयी भक्ति को तत्तद्भावेच्छामयी कहा जाता है। जो लोग व्रजवासियों के समान अर्थात् दास-दासी, सखा-सखी, माता पिता आदि के भाव से अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण को भजते हैं वे रागानुगाभक्ति के साधक कहे जाते हैं। जो भक्ति रागात्मिका भक्ति के अनुकरण के लिए होती है तथा उसी प्रकार के भाव की ओर साधक को परिचालित करती है वही रागानुगा भक्ति है। रागानुगा की प्रकृति यह है कि उसका साधक लोभ से व्रजवासियों के भावों का अनुगमन करता है। वह शास्त्र और युक्ति पर ध्यान नहीं देता।[2]

रागानुगाभक्ति का साधक साधक रूप से उपास्यदेव का श्रवण-कीर्तन करता है और सिद्ध रूप से मन में अपनी सिद्ध-देह की भावना करता है। वह श्री कृष्ण और उनके जनों का स्मरण करता है। अपने में उनमें से अन्यतम गुणों की भावना करता है और सदा सर्वदा व्रज में रह कर श्रीकृष्ण-सेवा करता है।[3] 'सनत्कुमार तन्त्र' में कहा गया है कि जो लोग मधुर रस रागानुगीय साधक हैं वे श्री ललिता विशाखा, श्रीरूप मंजरी आदि की आज्ञा से श्री राधा माधव की सेवा करें तथा स्वयं श्रीकृष्ण का आकर्षण करने वाले वेश में सुसज्जित तथा श्री राधिका के निर्माल्य रूप वसनाभूषण से भूषित सखियों का संगिनी के रूप में अपनी मनोमयी मूर्ति का

---

१ विराजन्तीमभिव्यक्तं व्रजवासिजनादिषु।
रागात्मिकामनुसृता या सा रागानुगोच्यते॥
रागानुगा विवेकार्थमादौ रागात्मिकोच्यते।
इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत्॥
तन्मयी या भवेद्भक्तिः सात्र रागात्मिकोदिता।
सा कामरूपा सम्बन्धरूपा चेति भवेद्द्विधा॥

—भ० र० सिं०, पू० २।१३१ १३२।

२ तत्तद्भावादिमाधुर्ये श्रुते धीर्यदपेक्षते।
नात्र शास्त्रं न युक्तिञ्च तल्लोभोत्पत्तिलक्षणम्॥

लोभे व्रजवासीर भावे करे अनुगति।
शास्त्र युक्ति नाहि माने रागानुगार प्रकृति॥

—चैतन्य चरितामृत।

३ सेवा साधकरूपेण सिद्धरूपेण चात्र हि।
तद्भावलिप्सुना कार्या व्रजलोकानुसारतः॥
कृष्णं स्मरन् जनं चास्य प्रेष्ठं निजसमीहितम्।
तत्तत्कथारतश्चासौ कुर्याद् वासं व्रजे सदा॥

चिन्तन करें।[१] सारांश यह है कि व्रजभाव अर्थात् सखीभाव की प्राप्ति के लोभ का ही नाम रागानुगा है।[२] इस साधना में सखीभाव या राधाभाव को ग्रहणकर तद्वत् लीला का स्वभाव का आचरण आनन्दोल्लास मग्नता स्मरण की प्रगाढ़ता आवश्यक है। इसी प्रकार भाव-योग द्वारा साधक का इष्टदेव से आन्तर मिलन (Mystic union with the beloved) सम्भव होता है जो मधुर रस का मुख्य प्रतिपाद्य है। भाव भेद के अनुसार रागानुगा भक्ति में क्रमशः शान्त दास्य में दास्य सख्य में सख्य वात्सल्य में परिवर्तित हो जाता है। पुनः प्रमा परा और प्रौढ़ा रागानुगा के तीन भेद किए गए हैं। प्रमा में प्रमाधार के प्रति स्नेह भाव का उदय होता है परा में आत्मविस्मरणशीलता तथा रति स्थिरता होती है और प्रौढ़ा में प्रियतम परमात्मा का साक्षात्कार होता है। श्री सनातन गोस्वामी के बृहद् भागवतामृत में श्री जीवगोस्वामी के संकल्पकल्पद्रुम में श्री रघुनाथ गोस्वामी के विलास-कुसुमाञ्जलि में तथा पुष्टिमार्गी श्री हरिव्यास के सिद्धान्त रत्नाञ्जलि की टीका में श्री बलदेव विद्याभूषण के गोविन्द भाष्य में एवं अन्यान्य वैष्णव भक्तिशास्त्र विषयक ग्रन्थों में विस्तार-पूर्वक इसका विवेचन किया गया है।

रागात्मिका-भक्ति

रागानुगा भक्ति के बाद ही मधुर रसमयी रागात्मिका भक्ति का प्रादुर्भाव होता है जिसमें केवल व्रजवल्लभाओं का ही प्रवेश है। यह मधुर रसमयी रागात्मिका भक्ति सहजरूपेण आन्तरिक भावों का प्रवाह है हृदय की साधना है। इसमें भक्त के हृदय में भगवान के लिए और भगवान के हृदय में भक्त के लिए स्वाभाविक रुझान और अनन्यासक्ति होती है। अतएव यह परमगुह्य एवं अत्यन्त गोपनीय है।[३] रागमयी रागात्मिका भक्ति के उदय होने ही प्रियारूपी जीवात्मा और प्रियतम रूपी परमात्मा का चिद्विलास पुण्यविहार का परात्परतम दर्शन होने लगता है। उपनिषद में इसी को आत्मरति आत्मक्रीडा आत्ममिथुन आत्मरमण आत्माराम की स्थिति की संज्ञा दी गयी है। इसमें सब-कुछ नारायणार्पित हो जाते हैं और आत्मनिवेदन की पूर्ण विवृति होती है।[४]

---

१ भासमान चिन्तयेत्तत्र तासां मध्ये मनोरमाम्।
रूपयौवनसम्पन्नां किशोरीं प्रमदाकृतिम्॥

—सनत्कुमार तन्त्र।

२. 'व्रजलीला परिकरस्था शृङ्गारादि भावमाधुर्ये श्रुते इदं ममापि भूयात् इति लोभोत्पत्तिकाले शास्त्र युक्त्यपेक्षा न स्यात्।

—विश्वनाथ चक्रवर्ती।

३ गोपनीयं गोपनीयं गोपनीयं च सर्वदा।
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥

—श्री हनुमत्संहिता ७५।

४ कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुध्यात्मना वानुसृत स्वभावात्।
करोमि यद् यद् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥

इष्ट वस्तु मे प्रगाढ़ तृष्णा—बलवती लालसा राग का स्वरूप-लक्षण है और इष्ट म परमाविष्टता इसका तटस्थ-लक्षण बतलाया गया है।[1]

रागात्मिका के भेद कामरूपा और सम्बन्धरूपा

रागात्मिका भक्ति ही उत्तमा भक्ति है। कामरूपा और सम्बन्धरूपा इसके दो भेद हैं। भगवान् को सुखी बनाने की एकान्तिक कामना को ही भक्ति-शास्त्र म काम कहा गया है।[2] अत कामरूपा भक्ति म केवल काम प्रेममयी सेवा के द्वारा भगवान् को सुखी करने की वासना ही प्रबल है। मधुर भाव भावित श्री व्रजसुन्दरियाँ इसम केवल कृष्ण सौख्यार्थ उद्यम शील रहती हैं। सम्बन्धरूपा म पारिवारिक सम्बन्ध विशेष का अभिमान ही भगवत्सेवा का प्रयोजन है। रागात्मिका म सिद्ध-देह से नित्य वृन्दावन म लीलास्वादन होता है। इसम मजरी द्वारा लीला प्रवेश होता है। मजरी ही गुरु है। मजरी के द्वारा ही सखी देह की प्राप्ति होती है। सखी देह का काय-व्यूह ही श्री राधा हैं।

उपर्युक्त विचार बिन्दुओं से यही निष्कर्ष निकलता है कि भगवत्साधना का एकमात्र प्रयोजनतत्त्व प्रेम है। यही परम पुरुषार्थ प्रेम महाभाव क्रमश रति, प्रेम, प्रणय मान स्नेह राग अनुराग भाव और महाभाव के रूप म वर्द्धमान होता हुआ परमोत्कर्ष को प्राप्त होता है। इस प्रकार प्रेम शब्द ईश्वर भक्ति म परिवर्तित होने पर ही वास्तविक प्रेम-शब्द-वाच्य होता है। इसी का नाम तब भक्तिरसराज मधुर रस हो जाता है जो समस्त रसों का मधुर निर्यास एव समस्त सौन्दर्य का सौन्दर्य है। इस मधुर रस के आनन्दातिरेक से साधक भक्त आत्मसपृक्त और परसपृक्त भाव भावनाओं से सर्वथा असपृष्ट और निरा चिदानन्दमय हो जाता है।

कहा जाता है कि चैतन्य महाप्रभु ने राय रामानन्द से वास्तविक साध्य बतलाने के लिए कहा। इस पर राय रामानन्द ने क्रमश स्वधर्माचरण, विष्णुभक्ति स्वधर्मत्याग ज्ञान मिश्रभक्ति ज्ञान शून्य भक्ति प्रेमभक्ति दास्यप्रेम, सख्यप्रेम और वात्सल्य प्रेम को साध्य

न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवादी न भक्तिमाँस्त्वच्चरणारविन्दे।
अकिञ्चनो नान्यगति शरण्य त्वत्पादमूल शरण प्रपद्ये।।

—स्तोत्ररत्न २२।

१ इष्टे गाढ़ तृष्णा राग एइ स्वरूप लक्षण।
इष्ट आविष्टता एइ तटस्थलक्षण।।
रागमयी भक्तिर हय रागात्मिका नाम।।

—चै० च० मध्य २२।८६

यस्य पूर्वोक्त रागविशेषे रुचिरेव जातास्ति न तु रागविशेष एव स्वय तस्य तादृश रागसुधाकर कराभास समुल्लसित हृदय स्फटिक मणे शास्त्रादिषु त सु माद्रश्या रागात्मिकाया भक्ते परिपाटीष्वपि रुचिर्जायते।

—भक्ति सन्दर्भ श्री जीवगोस्वामी।

२ प्रेमैव गोपरामाणा काम इत्यगमत् प्रथाम।"

—गौतमीय तन्त्र।

चिन्तन करें। [१] साराश यह है कि व्रजभाव अर्थात् सखीभाव की प्राप्ति के लोभ का ही नाम रागानुगा है।[२] इस साधना में सखीभाव या राधाभाव को ग्रहण कर तद्वत् लीला वेश स्वभाव का आचरण आनन्दोल्लास मग्नता स्मरण की प्रगाढ़ता आवश्यक है। इसी प्रकार भाव-योग द्वारा साधक का इष्टदेव से आन्तर मिलन (Mystic union with the beloved) सम्भव होता है जो मधुर रस का मुख्य प्रतिपाद्य है। भाव भेद के अनुसार रागानुगा भक्ति में क्रमश शान्त दास्य में दास्य सख्य में सख्य वात्सल्य में परिवर्तित हो जाता है। पुन प्रमा परा और प्रौढा रागानुगा के तीन भेद किए गए हैं। प्रमा में प्रमाधार के प्रति स्नेह भाव का उदय होता है परा में आत्मविस्मरणशीलता तथा रति स्थिरता होती है और प्रौढा में प्रियतम परमात्मा का साक्षात्कार होता है। श्री सनातन गोस्वामी के बृहद् भागवतामृत में श्री जीवगोस्वामी के सकल्पकल्पद्रुम में श्री रघुनाथ गोस्वामी के विलास-कुसुमाजलि में तथा पुष्टिमार्गी श्री हरिव्यास के सिद्धान्त रत्नाजलि की टीका में श्री बलदेव विद्याभूषण के श्रीगोविन्द भाष्य में एव अनेकानेक वैष्णव भक्तिशास्त्र विषयक ग्रन्थों में विस्तार-पूर्वक इसका विवेचन किया गया है।

रागात्मिका-भक्ति

रागानुगा भक्ति के बाद ही मधुर रसमयी रागात्मिका भक्ति का प्रादुर्भाव होता है जिसमें केवल व्रजवल्लभाओं का ही प्रवेश है। यह मधुर रसमयी रागात्मिका भक्ति सहजरूपेण आन्तरिक भावों का प्रवाह है हृदय की साधना है। इसमें भक्त के हृदय में भगवान् के लिए और भगवान के हृदय में भक्त के लिए स्वाभाविक स्थान और अनन्यासक्ति होती है। अत एव यह परमगुह्य एव अत्यन्त गोपनीय है।[३] रागमयी रागात्मिका भक्ति के उदय होते ही प्रियारूपी जीवात्मा और प्रियतम रूपी परमात्मा का चिन्विलास पुण्यविहार का परात्परतम दर्शन होने लगता है। उपनिषद में इसी को आत्मरति आत्मक्रीडा आत्ममिथुन आत्मरमण आत्माराम की स्थिति की सज्ञा दी गयी है। इसमें सब-कुछ नारायणार्पित हो जाते हैं और आत्मनिवेदन की पूर्ण विवृति होती है।[४]

---

१ आत्मान चिन्तयत्तत्र तासां मध्ये मनोरमाम्।
रूपयौवनसम्पन्नां किशोरीं प्रमदाकृतिम्॥

—सनत्कुमार तन्त्र।

२. 'व्रजलीला परिकरस्था शृङ्गारादि भावमाधुर्ये श्रुते इद ममापि भूयात् इति लोभोत्पत्तिकाले शास्त्र युक्त्यपेक्षा न स्यात्।

—विश्वनाथ चक्रवर्ती।

३ गोपनीय गोपनीय गोपनीय च सर्वदा।
राजविद्या राजगुह्य पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगम धर्म्यं सुसुख कर्तुमव्ययम्॥

—श्री हनुमत्सहिता ७५।

४ कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुध्यात्मना वानुसृत स्वभावात्।
करोमि यद् यद् सकल परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तद्॥

इष्टवस्तु में प्रगाढ़ तृष्णा—बलवती लालसा राग का स्वरूप-लक्षण है और इष्ट में परमाविष्टता इसका तटस्थ-लक्षण बतलाया गया है।[1]

रागात्मिका के भेद कामरूपा और सम्बन्धरूपा

रागात्मिका भक्ति ही उत्तमा भक्ति है। कामरूपा और सम्बन्धरूपा इसके दो भेद हैं। भगवान को सुखी बनाने की एकान्तिक वासना को ही भक्ति-शास्त्र में काम कहा गया है।[2] अतः कामरूपा भक्ति में केवल काम प्रेममयी सेवा के द्वारा भगवान् को सुखी करने की वासना ही प्रबल है। मधुर भाव भावित श्री व्रजसुन्दरियाँ इसमें केवल कृष्ण-सौख्यार्थ उद्यम शील रहती हैं। सम्बन्धरूपा में पारिवारिक सम्बन्ध विशेष का अभिमान ही भगवत्सेवा का प्रयोजन है। रागात्मिका में सिद्ध-देह से नित्य वृन्दावन में लीलास्वादन होता है। इसमें मंजरी द्वारा लीला प्रवेश होता है। मंजरी ही गुरु है। मंजरी के द्वारा ही सखी-देह की प्राप्ति होती है। सखी देह का काय-व्यूह ही श्री राधा हैं।

उपर्युक्त विचार बिन्दुओं से यही निष्कर्ष निकलता है कि भगवत्साधना का एकमात्र प्रयोजनतत्त्व प्रेम है। यही परम पुरुषार्थ प्रेम महाधन क्रमशः रति प्रेम प्रणय मान स्नेह राग, अनुराग भाव और महाभाव के रूप में वर्द्धमान होता हुआ परमोत्कर्ष को प्राप्त होता है। इस प्रकार प्रेम शब्द ईश्वर भक्ति में परिवर्तित होने पर ही वास्तविक प्रेम शब्द-वाच्य होता है। इसी का नाम तत्र भक्तिरसराज मधुर रस हो जाता है जो समस्त रसों का मधुर निधान एवं समस्त सौंदर्य का सौंदर्य है। इस मधुर रस के आनन्दातिरेक में साधक भक्त आत्मसंपृक्त और परसंपृक्त भाव भावनाओं से सर्वथा असंपृक्त और निरा चिदानन्दमय हो जाता है।

कहा जाता है कि चैतन्य महाप्रभु ने राय रामानन्द से वास्तविक साध्य बतलाने के लिए कहा। इस पर राय रामानन्द ने क्रमशः स्वधर्माचरण विष्णुभक्ति स्वधर्मत्याग ज्ञान मिश्राभक्ति ज्ञान शून्य भक्ति प्रेमभक्ति दास्यप्रेम, सख्यप्रेम और वात्सल्य प्रेम को साध्य

न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवादी न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे।
अकिंचनो नान्यगतिः शरण्य त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये॥

—स्तोत्ररत्न २२।

१ इष्टे गाढ़ तृष्णा राग एइ स्वरूप लक्षण।
इष्ट आविष्टता एइ तटस्थलक्षण॥
रागमयी भक्तिर हय रागात्मिका नाम॥

—चै० च०, मध्य २२।८६

यस्य पूर्वोक्त रागविशेषे रुचिरेव जातास्ति न तु रागविशेष एव स्वयं तस्य तादृश रागसुधाकर कराभास समुल्लसित हृदय स्फटिक मणेः शास्त्रादिषु तासु साम्प्रया रागात्मिकाया भक्तेः परिपाटीष्वपि रुचिर्जायते।

—भक्ति सन्दर्भ श्री जीवगोस्वामी।

२ 'प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।'

—गौतमीय तन्त्र।

कहा। किन्तु चैतन्यदेव ने इन सबको बाह्य प्रमाणित कर कोई महत्त्व नहीं दिया। तब राय रामानन्द ने बतलाया कि कान्ताभाव सर्वसाध्यसार है। इसी दाम्पत्य प्रेम अथवा कान्ता भाव से इष्टदेव कृष्ण की सम्पूर्ण रूप से प्राप्ति होती है। कृष्ण का रूप और माधुर्य व्रजदेवियों के सान्निध्य-संयोग से अत्यधिक बढ़ जाता है। राधा का यही प्रेम साध्य शिरोमणि साध्यावधि है।[1] यह दाम्पत्य-परक राधाकृष्णलीला अति गूढ़तर है। दास्य वात्सल्यादि भाव की भक्तियों से यह अप्राप्य है। केवल व्रजदेवियों को इसका अधिकार है और उन्हीं से इस लीला का—विलासेच्छा का विस्तार होता है।[2] इस मधुरभाव की साधना का मूलाधार गोपीभाव है। इसी गोपीभाव को अंगीकार करके साधक अहर्निश राधाकृष्णविहार का रसास्वादन करने में समर्थ होता है।[3] अतएव गोपीभाव की रागमयी भक्ति ही श्रेष्ठ है।

गोपीभाव की रागमयी भक्ति पूर्णतः निष्काम प्रेम है। अतएव यह अहेतुकी भक्ति है। इसका प्रथम और अन्तिम लक्ष्य कृष्ण को सुख देना है। इसमें गोपियाँ सब कुछ परित्याग कर कृष्ण सुख के हेतु ही प्रेम का सेवन करती हैं।[4] अतएव गोपियों के इस सहज प्रेम को प्राकृत काम नहीं कहा जा सकता। यद्यपि उनकी क्रीड़ा में काम क्रीड़ा से कुछ साम्य अवश्य प्रतीत होता है। गोपीप्रेम का रूढ़ नाम भाव है। इसमें आत्मेन्द्रिय प्रीति की इच्छा नहीं होती। जिसमें कृष्णेन्द्रिय प्रीति की इच्छा होती है वह कदापि काम नहीं है। गोपियों के प्रेम में निजेन्द्रिय-सुख की वांछा का सर्वथा अभाव है। जिससे कृष्ण को सुख मिले वे वैसा ही संगम विहार करती हैं।[5]

---

१ चैतन्य चरितामृत, मध्यलीला परि ८ पृ० १४४४६ द्रष्टव्य।

२ राधाकृष्ण लीला एइ अति गूढ़तर। दास्य वात्सल्यादि भावे ना हय गोचर॥
सबे एक सखिगणेर इहा अधिकार सखी हैते हय एइ लीलार विस्तार॥
—चै च मध्यलीला परि ८ पृ १५१।

३ अतएव गोपीभाव करि अंगीकार। रात्रिदिन चिन्ते राधाकृष्णेर विहार॥
—चै च मध्य परि ,पृ १५३।

४ सर्वत्याग करि करे कृष्णेर भजन।
कृष्णसुख हेतु करे प्रेमेर सेवन॥
—चै च आदिलीला परि ४ पृ २८।

५ सहजे गोपीरप्रेम नहे प्राकृत काम।
कामक्रीड़ा साम्ये तार कहि काम नाम॥
—चै० च आदिलीला परि ८ पृ १५२।

गोपीगणेर प्रेमेर रूढ़भाव नाम।
शुद्ध निर्मल प्रेम कभु नहे काम॥
आत्मेन्द्रिय प्रीति इच्छा तारे बलि काम।
कृष्णेन्द्रिय प्रीति इच्छा धरे प्रेम नाम॥
—चै च आदिलीला परि ४ पृ २८।

निजेन्द्रिय सुख हेतु कामेर तात्पर्य। कृष्णसुखेर तात्पर्य गोपीभाववर्य॥
निजेन्द्रिय सुखवांछा नाहि गोपीकार। कृष्णे सुख दिते करे संगमविहार॥
—चै च मध्य०, परि ८ पृ १५२।

कृष्ण के स्वरूप-ज्ञान से भक्ति के भेद

कृष्ण के दो स्वरूप हैं—ऐश्वर्यवान और ऐश्वर्यहीन। दोनों प्रकार के स्वरूपज्ञान से कृष्ण रति की उत्पत्ति होती है। कृष्ण के ऐश्वर्यज्ञान से उत्पन्न भक्ति को ऐश्वर्य ज्ञानमिश्रा भक्ति और ऐश्वर्यहीन प्रेममय कृष्ण के स्वरूप ज्ञान से उत्पन्न भक्ति को केवला भक्ति कहते हैं।[1] ऐश्वर्य ज्ञानमिश्रा भक्ति में ऐश्वर्य का आतंक रहता है किन्तु 'केवला भक्ति' में ऐश्वर्य के आतंक का सर्वथा तिरोभाव हो जाता है और उसमें शुद्ध प्रेम होता है।[2] शान्त और दास्य रस में ऐश्वर्य ज्ञान की प्रधानता रहती है किन्तु वात्सल्य सख्य में क्रमशः ऐश्वर्य ज्ञान का संकोचन होते हुए मधुर रस में उसका सर्वथा अभाव हो जाता है। इष्टदेव के ऐश्वर्य ज्ञान का यही संकोचन और तिरोभाव उपर्युक्त भक्ति भेदों की पारस्परिक श्रेष्ठता के आधार हैं।

शान्तभक्ति में इष्टदेव के परम ब्रह्मत्व, परमात्मत्व और ज्ञान प्रवीणत्व के अनुभव से इष्टदेव के प्रति निष्ठा होती है। अर्थात् शान्त भक्ति में केवल ऐश्वर्य-स्वरूप का ज्ञान होता है। दास्य भक्ति में शान्त भक्ति के गुणों के अतिरिक्त सेवा भाव की विशेषता रहती है। इष्टदेव के पूर्णैश्वर्य के ज्ञान के फलस्वरूप भक्त में संभ्रम और गौरव की भावना का उदय होता है और उसमें सेवा भाव के उत्पन्न होने से ममत्व की भावना आती है। अर्थात् शान्त भक्ति की अपेक्षा दास्य भक्ति में सेवा या ममता का गुण अधिक रहता है। सख्य भक्ति में शांत के गुण और दास्य के सेवा भाव के साथ-साथ विश्वासपूर्ण मैत्रीभाव का आविर्भाव हो जाता है। अर्थात् सख्य भक्ति गौरव-संभ्रमहीन और विश्रम्भ प्रधान है। इसमें इष्टदेव के प्रति समकक्षता का ज्ञान होने में ममताधिक्य होता है। वात्सल्य भक्ति में शांत के गुण, दास्य के सेवा भाव, सख्य की गौरव-संभ्रमहीनता एवं असंकोच के साथ साथ ममता की और अधिक प्रगाढ़ता होती है। मधुर भक्ति में शान्त की निष्ठा, दास्य का अतिसेवा, सख्य की गौरव संभ्रमहीनता, वात्सल्य की ममता और लालन के साथ-साथ कान्ता भाव की स्नेह-सेवा और निरतिशय प्रेम प्रगाढ़ता के कारण सभी भावों का समाहार हो जाता है।[3] इन्हीं विशेषताओं के कारण मधुर रस की भक्ति श्रेष्ठतम मानी गई है।

सारांश यह है कि साधन भक्ति से रति का आविर्भाव होता है। रति ही प्रगाढ़ होकर प्रेम की संज्ञा प्राप्त करती है। प्रेम क्रमशः बढ़ता हुआ स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव के रूप में अभिहित होता है। ये सभी मधुर रस के स्थायी भाव माने

---

१ पुन कृष्णरति हय दुइ त प्रकार।
ऐश्वर्यज्ञान मिश्रा केवला भेद आर॥
गोकुले केवलारति ऐश्वर्यज्ञानहीन।
पुरीद्वये वैकुण्ठाद्ये ऐश्वर्य प्रवीण॥
—चै० च०, मध्य, परि० १९, पृ० २५२

२ केवलार शुद्ध प्रेम ऐश्वर्य ना जाने।
ऐश्वर्य देखिले निज सम्बन्ध ना माने॥
—चै० च० मध्य परि० १९, पृ० २५२-५३

३ चैतन्यचरितामृत, पृ० २५४।

जाते हैं। युक्त विभाव अनुभावादि के सयोग से ये ही अमृत के समान आस्वाद्य मधुर रस की अवतारणा करते हैं। इसी को कृष्णभक्ति रस की भी सज्ञा दी गई है। इस तरह भक्ति के रस की कोटि म पहुंचने की यही पृष्ठभूमि है। शान्त दास्य सख्य वात्सल्य और मधुर ये पाँच प्रधान रस भक्त के मन म स्थायी रूप से रहते हैं। हास्य अद्भुत वीर करुण रौद्र वीभत्स और भयानक—ये सप्त गौण रस तो कारण पाकर ही प्रकट होते हैं।[1] भक्ति की रस रूपता के सम्बन्ध म प्राय सभी तत्वज्ञ एकमत हैं। भक्ति परमप्रेमस्वरूपा है अमृतस्वरूपा है[2] भक्ति अन्तर्मानस का उल्लास विशेष है भक्ति ईश्वर के प्रति परानुरक्ति है भक्ति समाधिजन्य ब्रह्मानन्द सदृश अथवा उससे बढ़कर है आदि उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि परमात्मा म परमासक्ति परमानुराग ही भक्ति है और उसे वही अमृत कहा रस और वही राग शब्द से भी अभिव्यजित किया जाता है।

भक्ति की रस रूपता पर प्रकाश डालते हुए यतिवर नारायण तीर्थ ने कहा है कि भगवान विष्णु अथवा भगवान शकर के चरणारविन्द के मकरन्द की मन्दाकिनी म अवगाहन करने वाले मन का उल्लास ही राग भाव अथवा प्रेम शब्द से अभिहित होता है। वही आत्मानन्द को प्रकट करता हुआ हरि अथवा हरिभक्तरूप आलम्बन विभाव नामक तथा माहात्म्य गुणादिकों का श्रवण-कीर्तन एव वृन्दावनादि भूमि रूप उद्दीपन विभाव नामक कारण अश्रु रोमाचादि अनुभावरूप कार्य तथा हृप निर्वेदादि सहकारी लिंगों से अभिव्यक्त मोक्ष को भी पराजित करने वाला रसरूप रति नामक स्थायी भाव ही फलभक्ति है।[4]

---

१ साधन भक्ति हते हय रतिर उदय। रति गाढ़ हइले तार प्रेम नाम कय॥
प्रेमवृद्धि क्रमे नाम स्नेह मान प्रणय। राग अनुराग भाव महाभाव हय॥
एइ सब कृष्ण भक्तिरस स्थायी भाव। स्थायी भावे मिलि जदि विभाव अनुभाव॥
सात्विक व्यभिचारी भावेर मिलने। कृष्णभक्ति रस हय अमृत आस्वादने॥
शान्त दास्य सख्य वात्सल्य मधुर रस नाम। कृष्णभक्ति रसमध्ये ए पच प्रधान॥
हास्याद्भुत वीर करुण रौद्र वीभत्सभय। पचविध भक्त गौण सप्त रस हय॥
पचरस स्थायी व्यापि रहे भक्त मने। सप्तगौण आगन्तुक पाइये कारणे॥
—चै च मध्य परि १९ पृ २५

२ सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा।—ना भ सू।२।
अमृत स्वरूपा च।   वही—।३।

३ भक्तिमानस उल्लास विशेष।१।
रसस्तु तन्मामगीत उत्पत्ते।४।
—भक्ति मीमासा सूत्र।

४ सा परानुरक्तिरीश्वरे।
—शाण्डिल्य भक्तिसूत्र।
तत्संस्थस्यामृतत्वोपदेशात्।३।—वही।
द्वेषप्रतिपक्षभावाद् रस शब्दाच्च राग।६।—वही।

५ तथा च श्रीमन्मुकुन्दमदनचरणारविन्द मकरन्द मन्दाकिनीमवगाहमानस्य मनस समुल्लासो राग भाव प्रेम शब्दाभिधेय एव स्वानन्दमाविर्भावयन् कार्यकारण लिंगैरभिव्यक्तो रसरूपो रत्याख्य स्थायी भावो मोक्षमपि तिरस्कुर्वन् फलभक्तिरिति सिद्धम्।
—भ च —नारायणतीर्थ।

यह सम्पूर्ण सृष्टि आनन्दमय है। आनन्द सृष्टि के आदि में भी है और अन्त में भी है। 'रसो वै सः', 'मधु वै सः' आदि उपनिषद् वाक्यों द्वारा उस सर्वाधिष्ठान परमपुरुष को परमानन्द-स्वरूप ही कहा गया है। यही कारण है कि लौकिक आनन्दों में भी रस-स्वरूप भगवान की ही आंशिक अभिव्यक्ति होती है। रस तो सनातन पवित्र एवं नित्य है। विषय और आश्रय की मलिनता से शुद्ध रस में भी मलिनता का आ जाना स्वाभाविक है। विषय और आश्रय की निर्मलता से लौकिक रस में भी पवित्रता और दिव्यता की प्रतीति होने लगती है। इस पर विस्तार के साथ विचार करते हुए श्री मधुसूदन सरस्वती ने 'भक्ति रसायन' में लिखा है कि विषयावच्छिन्न चैतन्य ही द्रवावस्थापन्न अन्तःकरण की वृत्ति पर उपारूढ़ होकर भावरूपता को प्राप्त होता है तथा पीछे वह रस-स्वरूप हो जाता है। लौकिक रस परमानन्द-स्वरूप नहीं हो सकता। किन्तु भक्ति रस में अनवच्छिन्न विज्ञानानन्दघन भगवान् की स्फूर्ति होती है। अतएव वह परमानन्द-स्वरूप है। इसीलिए श्रीकृष्ण विषयक रति को रस रूप न मानकर भाव रूप मानना समीचीन नहीं प्रतीत होता। श्रीकृष्ण से भिन्न देवता विषयक रति ही भाव रूपा होती है। श्रीकृष्ण तो परमानन्द स्वरूप हैं। अतएव कृष्ण विषयक रति की रसता परिपुष्ट होती है। इससे भिन्न लौकिक कान्ताविषयक रति की रसता वैसी परिपुष्ट नहीं हो सकती। परिपूर्ण भक्तिरस के सामने अन्य रस वैसे ही तुच्छ हैं जैसे सूर्य के जाज्वल्यमान प्रकाश के सामने खद्योतगण।[1]

रति विशुद्ध रस-स्वरूपा हो इसके लिए विषय और आश्रय दोनों में से किसी एक का रसात्मक होना आवश्यक माना गया है। समृद्धिमान एवं उद्बुद्ध सम्प्रयोग और विप्रयोग शृंगाररस के सार-सर्वस्व भगवान् ही मनोवृत्ति में विशिष्ट रसभाव को प्राप्त करते हैं। राधा और कृष्ण का प्रेम मदानन्द रस-स्वरूप है। यद्यपि यहाँ विषय और आलम्बन दोनों ही रस स्वरूप हैं। अन्यत्र विषय आश्रय आदि विजातीय होने के कारण रस-स्वरूप नहीं होते। इसी प्रकार भगवान की लीला लीलाभूमि लीला-परिकर और उद्दीपनादि सामग्री भी रस-स्वरूप ही होती हैं। भगवान श्रीकृष्ण निखिल रसामृत मूर्ति हैं और श्री राधा भी महाभाव-स्वरूपा है। शृंगार रस की अंगिता और उज्ज्वलता अनौपचारिक रूप से राधाकृष्ण में ही है। कृष्ण विषयक काम क्रोधादि का भी पर्यवसान कृष्ण प्राप्ति में ही होता है। जैसे कोई दीपबुद्धि से चिन्तामणि ग्रहण करने में प्रवृत्त होता है तो उसे चिन्तामणि की ही प्राप्ति होती है वैसे ही जारादि भावना से भी जो भगवान श्रीकृष्ण में प्रवृत्ति होती है उसमें भगवत् प्राप्ति ही होती है। लौकिक जारधर्म परलोकादि को नष्ट करता है और निखिल रसामृत मूर्ति भगवान पंचपर्वा अविद्या एवं काम क्रोधादि को नष्ट करते हैं।[2] जैसे कच्चा फल पक कर फल का

---

१ परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रतिः ।
खद्योतेभ्य इवादित्यप्रभेव बलवत्तरा ॥

—भक्ति रसायन २।७६ मधुसूदन सरस्वती।

२ तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि संगताः ।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः ॥
कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव वा ।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥

—श्रीमद्भागवत।

कारण होता है वसे ही अनिमित्ता भक्ति भी अनिमित्ता भक्ति का कारण होती है। अत सच्चिदानन्द रस स्वरूप परमात्मा का रसात्मक प्रेम रसस्वरूप ही है क्योंकि विषय और आश्रय चाहे वे राधा और कृष्ण के रूप में हों या कान्ताभाव भरित भक्त और भगवान के रूप में—दोनों रसात्मक होते हैं।

कहा जाता है कि स्वाधिष्ठान प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परमात्मा के साक्षात्कार से सभी तरह के भेद भावों से रहित होकर जिसका चित्त आत्मानन्द में आप्यायित है उसे अपने से भिन्न भगवान की स्फूर्ति नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में उसमें रागोद्भव की संभावना कहाँ से हो सकती है? किन्तु ऐसा कहना समीचीन नहीं प्रतीत होता। क्योंकि ऐसे आत्माराम परमनिष्काम पूर्णकाम मुनीन्द्र के चित्त में स्वारसिक प्रेम से भेद का आहार्यज्ञान होता है। इसी आहार्यज्ञान द्वारा राग और भक्ति सम्भव है। भक्तजन प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न परमब्रह्म को जानकर अतिशय प्रीति से अभिसंधि विहीन होकर आहार्यज्ञान द्वारा भेद भाव की कल्पना करके अत्यन्त तत्परता से स्वाभावतः भगवान में स्वरसिकी भक्ति करते हैं।[1]

पारमार्थिक सत्ता के अद्वैत ज्ञान होने पर यदि भजनोपयोगी द्वैत मानकर भगवान में भक्ति की जाती है तो ऐसी भक्ति सैकड़ों मुक्तियों से भी बढ़कर है। प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न परमब्रह्म का विज्ञान होने के पूर्व द्वैतज्ञान या द्वैतभाव जीव के बन्धन का कारण होता है किन्तु विज्ञान के बाद भेद मोह के नष्ट हो जाने पर भक्ति के लिए भावित द्वैतभाव अद्वैत से भी उत्तम है। कान्ताभावपरक भक्ति भाव का यही रहस्य है। कबीर आदि निर्गुणमार्गी सन्तों का माधुर्यमय रहस्यवाद या भावभगति अद्वैतज्ञान के बाद भावित द्वैत की ही मधुर अभिव्यक्ति है।[2] परमेश्वर अखिलात्मा है। अखण्ड ब्रह्मज्ञानी तत्त्वदर्शी पुरुषों के चित्त में भी हठात् उनकी स्फूर्ति होती है। जिसे योगीजन कठिन साधना के उपरान्त क्षणमात्र देख पाते हैं या नहीं उसे धर्मनिष्ठ उपासक अपने मन प्राण घर प्रांगण सर्वत्र क्रीडारत देखते हैं।[3]

परम ब्रह्म तत्त्वतः निर्गुण निराकार हैं। किन्तु इसका तात्पर्य यह है कि उनमें प्राकृत गुणगण का अभाव है। निर्गुण शब्द अप्राकृत गुणगण का निषेधक नहीं है। वस्तुतः ब्रह्म

---

१ यत्सुभक्तैरतिशयप्रीत्या कैतववर्जनात्।
स्वभावस्य स्वरसतो ज्ञात्वापि स्वाद्वयपदम्।
विभेदभावमाहृत्य सेव्यतेऽत्यन्त तत्परैः॥

—त्रिपुर सुन्दरी रहस्य (ज्ञानखण्ड)

२ पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतं भजनहेतवे।
तादृशी यदि भक्तिः स्यात्सा तु मुक्तिशताधिका॥
द्वैतं मोहाय बोधात्प्राक् जाते बोधे मनीषया॥

—वही।

३ ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किंचन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दी पुलिनेषु यत्किमपि तन्नीलं महो धावति॥
अद्वैतवीथी पथिकैरुपास्याः स्वराज्यसिंहासन लब्धदीक्षाः।
शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन॥

—मधुसूदन स्वामी

निगुण ही हैं और अचिन्त्य दिव्यलीला शक्ति से अप्राकृत गुणगणों को स्वीकार करते हैं। इसी लिए ब्रह्म को सगुण भी कहते हैं। इस प्रकार अप्राकृत गुणगण-युक्त परमब्रह्म को ही भक्तजन अपने भाव भेद या रति भेद के अनुसार भजते हैं। इसी के आधार पर भक्ति के सामान्य भक्ति साधनाभिधा भक्ति भावाभिधा भक्ति तथा प्रेम निरूपिका भक्ति—ये चार भेद निर्धारित किये गये हैं और अन्याभिलाष शून्य तथा ज्ञान-कर्मादि से अनावृत रहकर अनुकूलतापूर्वक इष्टदेव के अनुशीलन को उत्तमा भक्ति की संज्ञा दी गई है।

मधुर रसात्मक प्रेम रस-स्वरूप ही है। वह अपने प्रादुर्भाव-काल में जरा भी हेतु की अपेक्षा नहीं करता। इसके स्वरूप में अपराध-परम्परा से हानि और प्रणाम-परम्परा से वृद्धि नहीं होती। वह अपने रसास्वाद के सामने अमृत-स्वाद को भी तुच्छ करने वाला है तथा विरह के तापों का समूल विनाश करने वाला है। ऐसे अनिर्वचनीय मधुर रसात्मक प्रेम को वाणी का विषय बनाकर ओछा नहीं किया जा सकता।[1]

जिस प्रकार धन का मुख्य प्रयोजन भोग है उसी प्रकार प्रेम का मुख्य प्रयोजन कृष्ण सुख है। अनिर्वचनीय प्रेम-तत्त्व वाणी का विषय बनकर नगण्य बन जाता है। दो रसिकजनों का प्रेम दीपक के समान उनके हृदयागार को निरन्तर रूप से प्रकाशित करता रहता है। यदि उसे वाणी के द्वार से बाहर कर दिया जाय तो या तो वह बुझ जाता है या मन्द हो जाता है।[2]

भगवद्धर्म से द्रुतचित्त में प्रविष्ट स्थिर गोविन्दाकारता ही भक्ति है। चित्तद्रुति के अनेक कारण हैं और उन्हीं के भेद से भक्ति में भी भेद होता है।[3]

शरीर-सम्बन्ध विशेष की स्पृहा होने पर सन्निधान-असन्निधान भेद से काम दो प्रकार का होता है। उससे द्रुतचित्त में आकृष्णनिष्ठा ही संभोग विप्रलम्भाख्य रति है। इसी प्रकार क्रोध स्नेह हर्षादिजन्य चित्तद्रुति में भी रति जाननी चाहिए।[4] सुखाभिव्यंजक होने से रजस्तमोविहीन भगवद्विषयक मति ही रति है। भगवद्विषयक मति की रजस्तमोविहीनता के तारतम्य से ही रति-तारतम्य होता है।[5]

श्रीमधुसूदन सरस्वती आदि ब्रह्मविद्-वरिष्ठों ने उस स्वतः भासमान स्वारसिक अनतिशय प्रेम-स्वरूप परमात्मा के प्रति अपने अन्तरंग प्रेम की मधुर अभिव्यंजना की है।

---

1 प्राग्भावं दिने न येन गणितो हेतुस्तनीयानपि
क्षीयेतापि न चापराधविधिना नत्या न यो वर्द्धते।
पीयूषप्रतिवादिनस्त्रिजगतीं दुःखद्रुहः साम्प्रतं
प्रेम्णस्तस्य गुरोः किमत्र करवै वाङ्निष्ठतालाघवम्॥

— श्रीमद्भागवत।

2 प्रमादयो रसिकयोरपि दीप एव
हृद्वेश्म भासयति निश्चलमेव भाति।
द्वारादयं वदनतस्तु बहिष्कृतश्चेत्
निर्वाति शीघ्रमथवा लघुतामुपैति॥

—वही।

3 विशद ते कारणाना भेदाद्भक्तिषु भिद्यते।
4 कामक्रोधौ भयस्नेहौ हर्षशोकौ दयादयः।
उत्साहो युधि दाने च भगवद्विषया मताः॥
5 विरहे यादृशं दुःखं तादृशी स्मर्यते रतिः।

एकभक्तिर्विशिष्यते' से भी इसी की पुष्टि होती है। प्रेम में व्यवधान सहन की क्षमता नहीं होती इसीलिए दूरस्थित में या व्यवहित में स्वाभाविक स्वारसिक अकैतव प्रेम नहीं होता। इसीलिए तो भगवान को सर्वान्तर परमसन्निहित या प्रत्यगात्मा कहा गया है। यह अकैतव प्रेम मनुष्य लोक में अत्यन्त दुर्लभ है।[1] नाम वियोगी ना जिये जिये तो बाउर होय की उदघोषणा द्वारा सन्त कबीर ने इसी अकैतव प्रेम की दुर्निवार गति का संकेत किया है।

आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति रसो वै सः आदि श्रुतियों का तात्पर्य रसात्मक प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परब्रह्म में ही पर्यवसित होता है। अन्य विषयक अनुरागाधीन विषयता प्रेम की गौणता का सूचक है तथा अन्यविषयक अनुरागाधीन विषयता ही प्रेम की मुख्यता है। यही प्रेम का ऊर्ध्व धरातल है। प्रेम के इस प्रमुख रूप की अभिव्यक्ति आत्मा में ही सम्भव है। क्योंकि वहाँ प्रेम दूसरे के लिए नहीं है। अतएव आत्मा सुख रूप है और सुख आत्म रूप है।

विषयजन्य सुख को प्रायः दुःख मिश्रित माना गया है। यह वैषयिक सुख विष मिश्रित मधुर मनोहर पक्वान्न के समान दुःख मिश्रित है ऐसा नैयायिकों का मत है। किन्तु एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति इत्यादि श्रुतिवाक्य लौकिक वैषयिक सुख को भी उसी सुख-स्वरूप आत्मा का अंश बतलाते हैं। अपने अनुकूल विषय की प्राप्ति में अन्तःकरण की प्रवृत्ति शान्त निश्चल एवं अन्तर्मुखी रहती है। यह वस्तुतः सत्त्वोद्रेक की स्थिति के समान है। इस प्रकार वहाँ भी स्वात्मानन्द ही अभिव्यक्त होता है। विषय निबन्धन तथा वृत्तिरोध के क्षणिक होने से उस सुख को वैषयिक तथा क्षणस्थायी कहा जाता है। अन्यथा वैषयिक सुख भी सुख-स्वरूप आत्मा का ही अंश है।

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन इत्यादि श्रुतिवाक्य द्वारा तत्त्व साक्षात्कार मूलक परिणाम के कारण दुःख से अमिश्रित सुख होने से ब्रह्मात्म-सुख प्राप्ति कही गयी है। इसमें यही निष्कर्ष निकलता है कि आत्मा ही रस है। यहाँ पर आत्मा शब्द से प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परब्रह्म का ही स्पष्ट संकेत मिलता है। क्योंकि उसीमें उपक्रम उपसंहार आदि द्वारा रसात्मबोधक वचनों का तात्पर्य निश्चय होता है।

परमात्मा अखिल प्रेम रसानन्द मूर्ति हैं। वे नित्य रस-स्वरूप हैं नित्य प्रेम-स्वरूप हैं तथा नित्य आनन्द-स्वरूप हैं। सूर्य की किरण के समान अग्नि के स्फुलिंग के समान जीव इस अखिल प्रेम रस-आनन्द-स्वरूप ईश्वर का ही अंश है। अतएव विशुद्ध प्रेम रस-आनन्द ही जीव का प्रकृत स्वरूप या स्वभाव है। आनन्द ही ब्रह्म है। इस आनन्द से ही जीवों की उत्पत्ति होती है और आनन्द में ही जीवों का लय होता है।

भगवान के गुणगण-श्रवण से उत्पन्न मानसवृत्ति की रचना में भगवदाकारता प्रविष्ट

---

१ कैतवरहितं प्रेम न तिष्ठति मानुषलोके।
यदि भवति कस्य विरहो विरहे भवति को जीवति॥

२ आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।
आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
आनन्देन जातानि जीवन्ति।
आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।

—तैत्ति० उ०, भृ० व०, षष्ठोऽनुवाक।

होने पर विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के संयोग से रस रूपता होती है। यहाँ भगवान् ही आलम्बन विभाव, तुलसी चन्दनादि उद्दीपन विभाव, नेत्र विक्रियादि अनुभाव और निर्वेदादि व्यभिचारी भाव से व्यज्यमान भगवदाकारता रूप रस ही स्थायी भाव है। भक्त तथा परमानन्द साक्षात्कारात्मक दुःखासंस्पृष्ट सुखरूप भक्तियोग ही परमपुरुषार्थ है। एक बार भगवद् भावना से भावित द्रवावस्थापन्न अन्तःकरण में भगवान् के प्रविष्ट होने पर अन्यवस्तु ग्रहण-काल में भी भगवान् का ही भान होता है। बाह्य वस्तुओं के ग्रहण में उसमें कोई व्यवधान नहीं आता। रूप-परिवर्तन चाहे जैसा हो, भगवद्भावना के रंग में कोई भेद नहीं आ सकता। उदाहरणतः लाक्षा को लिया जा सकता है। कठिन लाक्षा अग्नि आदि तापक द्रव्य के संबंध से जल के समान पिघल जाय और मखमल पत्ते के चौनागुक में छान दी जाय, फिर उसमें हिंगुल आदि कोई रंग मिला दिया जाय, तो वह रंग लाक्षा के सर्वांश में प्रविष्ट होकर स्थिर हो जाता है। इसके बाद लाक्षा फिर कठोर हो जाय या तरल बन जाय, वह रंग उससे कभी पृथक् नहीं होता। लाक्षा या रंग यदि पृथक् होना चाहें भी तो वैसा वे नहीं हो सकते। ऐसी ही स्थिति [illegible] निर्विशेष भगवद्रसावस्था की होती है।

इसी प्रकार भगवद्विषयक काम, क्रोध, भय, स्नेह, हर्ष, शोक, दया आदि तापक भावों में से किसी के भी सम्पर्क से चित्तरूपी लाक्षा गंगाजल प्रवाह के समान द्रुत हो और मखमल पत्ते के चौनागुक में छान दी जाय, फिर उसमें सर्वांश प्रविष्ट परमानन्दस्वरूप भगवान् स्थायीभाव बनकर रस-स्वरूप हो जाते हैं। द्रवावस्था प्रविष्ट भगवदाकारता कभी पृथक् नहीं हो सकती। यदि स्वयं कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुमसमर्थ भगवान् भी वहाँ से अलग होना चाहें तो वे अलग नहीं हो सकते हैं।[1]

विषयविच्छिन्न चैतन्य ही द्रुत अन्तःकरण की वृत्ति में उपारूढ़ होकर स्थायीभाव और रस-स्वरूप हो जाता है। कान्तादि विषयक लौकिक रस भी परमानन्द रूप ही है। केवल उसमें जड़ के सम्पर्क से न्यूनता आ जाती है। भक्ति में अनवच्छिन्न चिदानन्दघन भगवान् का स्फुरण होने से उसकी परमानन्दरूपता प्रस्फुटित हो जाती है।

मनुष्य जीवन की तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु निरन्तर यत्नशील रहता है। किन्तु सम्पूर्ण जीवन की शाश्वत आवश्यकता क्या है? जीवन का मुख्य प्रयोजन तत्व क्या है? जीवन की अन्तिम परम प्रयोजनीय वस्तु क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रीमन्महाप्रभु ने सनातन गोस्वामिपाद से कहा था कि पुरुषार्थ शिरोमणि प्रेम महाधन की प्राप्ति ही जीवन का मुख्य प्रयोजन तत्व है। जीवन के इस मुख्य प्रयोजन-तत्व — प्रेमसम्पदन की उपलब्धि के बाद सारी समस्याएँ अपने-आप निवृत्त हो जाती हैं। प्रेम के बिना भगवान् के

---

[1] विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्—
हरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः ।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः
स भवति भागवतप्रधान उक्तः ॥
हृदयाद् यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते ।
(हृदय से जब जाहुगे मरद बखानौं तोहि ।)

—सूरदास।

पास रहकर भी उसे नही पा सकते । और यदि प्रेम है तो दूर से भी दौड़कर भगवान को पास आना होगा । प्रेम के अभाव में कंस शिशुपाल आदि भगवान् कृष्ण के समीप रहकर भी उन्हें नही पा सके । परन्तु प्रेम है और कृष्ण नही आये हैं—ऐसा एक भी दृष्टान्त नही मिलता । अपने प्राप्तव्य को आकर्षित करना प्रेम का अनिर्वचनीय स्वभाव है । किन्तु इस प्रेमोदय के लिए भगवान की कृपा परमावश्यक है । परमपुरुष जिसको कृपा करके वरण करते हैं वही उनको प्राप्त कर सकता है ।[1]

प्रेम की पूर्वावस्था का नाम भाव या रति है । साधन भक्ति के परिपाक में अथवा भगवान की कृपा से भाव भक्ति का उदय होता है । प्रीति के कारण जब इष्टदेव में मन संलग्न रहना चाहता है तब भाव ही रति नाम से अभिहित होता है । यह भाव मन के अवस्था विशेष का नाम है । विषय रस निमग्न व्यक्ति का चित्त जब भगवदुन्मुख होता है तथा भगवद् भाव से विभावित होता है भगवान के चिन्तन करने में रस आता है तब कहना पड़ेगा कि उसके अन्दर भाव उत्पन्न हो गया है । भाव चित्त को रंजित करके उसकी कठोरता को दूर करके उसे कोमल बनाता है । यह ह्लादिनी शक्ति का वृत्ति विशेष है और इसका अपना कान्तिगुण आनन्दरूप आह्लादिनी शक्ति के सार रूप वृत्ति को रति कहते हैं । इसी भावदशा में प्रेमांकुर उत्पन्न होता है । प्रेमांकुर उत्पन्न होने के पूर्व क्षान्ति अव्यर्थकालत्व विरति मान शून्यता आशाबंध समुत्कण्ठा नाम-स्मरण में रुचि भगवद् गुणाख्यान में आसक्ति भगवद् वासभूमि में प्रीति—ये नौ लक्षण उपस्थित होते हैं । ममत्व की अधिकता होने पर यही रति प्रेम कहलाती है । यही प्रेम क्रमशः बढ़ता हुआ प्रणय मान स्नेह राग अनुराग भाव और महाभाव में रूपान्तरित हो परमावधि को प्राप्त होता है ।

सारांश यह कि ईश्वर के प्रति मधुर मनोराग (Sweet Sentiments) का नाम भक्ति है । जब यह उदित होकर भक्त के सुनिर्मल अंतर में सुप्रकाशित होती है तभी भगवान के साथ अनन्त आनन्दमय मधुर मंगल सम्बन्ध का समारम्भ होता है अन्यथा नहीं ।[2]

पराशान्ति और परमानन्द रूप पराशक्ति प्रेमरसमय है ।[3] भगवान का ही दूसरा नाम आनन्द प्रेम है ।[4] परम प्रेममय परमात्मा जीवात्मा रूप से जीवदेह में विराजमान है । फलतः जीवमात्र के आन्तर और बाह्य संस्कारों में भी उसी प्रेम का विकास दृष्टिगोचर होता है । यह विशुद्ध प्रेम-ज्योति आवरण रूप समस्त संस्कार जाल को भेदकर अन्नमय स्थूल देह के बहिर्भाग में प्रकाश होने में संस्कारयुक्त होती है । चूंकि संस्कार मात्र कामनामय होता है अतः प्रेम जब

१ यमेवैष वृणुते तेन लभ्य ।

—वेद मंत्र ।

२ नित्यसिद्ध कृष्णप्रेम साध्य कभू नय ।
श्रवणादि शुद्धचित्ते करये उदय ।

—चैतन्य चरितामृत ।

३ शान्तिरूपा परमानन्दरूपाच ।

—नारदभक्ति सूत्र ६

४ आनन्द ब्रह्म—श्रुति
God ! Thou art Love I build my faith on that

—Browning

सस्कार जाल से होकर बाहर आता है तब वह कामगधयुक्त होता है और कामगधयुक्त होने के कारण ही फिर इसे 'प्रेम' न कहकर 'काम' कहते हैं। ऐसी स्थिति में विशुद्ध प्रेम-ज्योति का मलिन हो जाना स्वाभाविक है। जिस प्रकार मेघावृत्त सूर्य किरण घन पटलों को भेद कर जब बाहर निकलती है तब भी उसकी मलिनता बनी ही रहती है उसका विशुद्ध तेज दिखाई नही पडता उसी प्रकार काल कर्म, स्वभाव के द्वारा प्रभावित होने के कारण विशुद्ध प्रेम-ज्योति भी मलिन हो जाती है। किन्तु जिस प्रकार मेघाच्छन्न आकाश में विद्यमान सूर्य रश्मि सूर्य की ही है उसी प्रकार काल कर्म स्वभाव के सस्कार-जाल से निकलकर चरितार्थ होने वाला प्रकृत प्रेम भी प्रेममय परमात्मा की प्रेम-ज्योति ही है। मेघयुक्त आकाश में जिस प्रकार सूर्य रश्मि अपने विशुद्ध तेज से दीप्त हो उठती है उसी प्रकार जीवात्मा के सस्कार मुक्त होने पर सारी लौकिक प्रेमच्छटा अलौकिक दिव्य प्रेम प्रकाश के रूप में परिणत हो जाती है। कामनायुक्त होने से काम और कामनामुक्त होने से वही वस्तु प्रेम कहलाती है।[1] पुरुषार्थ शिरोमणि प्रेम महाधन को श्रद्धावान् जन ही भगवद प्रेम-लाभ की व्याकुलता—श्रद्धा से प्राप्त करते हैं।

नारद का मत है कि स्वकृत समस्त कर्म भगवान को अर्पित करना और उनका विस्मरण होने पर चित्त में व्याकुलता का होना ही भक्ति है।[2]

परमात्मा ही परम प्रियतम है। वह पुत्र की अपेक्षा अधिक प्रिय है वित्त की अपेक्षा अधिक प्रिय है अन्य सब प्रियों की अपेक्षा अधिक प्रिय है सबकी अपेक्षा अधिक प्रिय है। वह प्रियतम है।[3] भगवान् से अनुराग विषय से विराग है। प्रकृति की विकृति का त्याग ही वैराग्य है। प्रकृति की सस्कृति ही अनुराग है।

वासना का मूल क्या है? कामना का उदभव कहा से होता है? महाभारत में इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहा गया है कि वासना की सृष्टि भगवान से ही होती है। वासुदेव की वासना से ही विश्व की सृष्टि होती है। वासना से ही भगवान वासुदेव रूप से त्रिभुवन में सब प्राणियों के अन्दर निवास करते है। अत वासना उन्हीं की है। मेरी वासना मेरी चाह ऐसा मनुष्य अहभाव के कारण कहता है। अतएव यह वासना, कामना उन्हीं को लौटा देना ही परम करणीय है। वासना को लौटाने का तात्पर्य है अपने मन को भी उसी में लय कर देना। फिर मन का कोई दूसरा काम रह ही नहीं जाता है। गोविन्द की वस्तु को गोविन्दार्पण कर देना ही परा शान्ति है।[4] इस स्थिति में जीव में कर्तृत्वाभिमान नही रहता। वह मुक्त होने पर भी कर्मरत रहता है किन्तु उसका वह कर्म बालक्रीडावत उन्मत्त नृत्यवत ही होता है।

---

१ आत्मेन्द्रिय प्रीति इच्छा तारे नाम काम।
कृष्णेन्द्रिय प्रीति इच्छा धरे प्रेम नाम॥

—चैतन्य चरितामृत।

२ 'नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।'

—नारदभक्ति सूत्र, १६।

३ 'प्रेय पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरतर यदयमात्मा।'

—बृहदारण्यक उ १।४।८

४ वासनाद् वासुदेवस्य वासित भुवनत्रयम्।
सर्वभूतनिवासोऽसि वासुदेव नमोऽस्तु ते॥

—महाभारत।

वास्तव म काम और प्रम का पाथक्य प्रयोग भेद के कारण है और प्रयोग कामना नुयायी होता है। वास्तविक बात तो यह है कि जहाँ स जो भाव आय वही उन्ह पहुँचा देन से सारी समस्याए अपने आप समाप्त हो जाती हैं प्राकृत प्रम अप्राकृत प्रम म रूपान्तरित हो जाता है। अपने सारे विकारो को भगवद उन्मुखी बना दन मात्र से ही प्राणी भगवन्मुखी होकर प्रम म तन्मयता को प्राप्त होता है।[1]

कभी-कभी भगवान भक्त को अपनी ओर आकृष्ट करन के लिए अहतुकी कृपा करत हैं। फलत कुछ काल के लिए प्राणी का सस्कारावरण हट जाता है और वह नाना तेज देवी ज्योति आदि ऐश्वय रूप स भगवान के दशन करन लगता है। किन्तु पुन उस पर पर्दा पड जाता है और चतुर्दिक उसे अन्धकार ही व्याप्त दिखलाई पडता है। ऐसी स्थिति म आशा ही उसकी सिद्धि का कारण है। ईश्वर इस तरह का विधान प्राणी के ईश्वरोन्मुख प्रेम का प्रदीप्त करन के लिए ही करते है। प्रममय भगवान प्रमी भक्त को मिलन रूपी अमृतबिन्दु का परममधुर आस्वादन क्षणभर क लिए कराकर वियोग की अवस्था उत्पन्न कर देते हैं। इससे प्रेमी भक्त क अन्तर मे विरहाग्नि प्रज्वलित हो उठती है और वह विरहाकुल हो उठता है। विरहाग्नि म उसकी प्राकृत वासना जल जाती है और केवल तन्मुखी वासना — तन्मयी वासना रह जाती है। इसी स्थिति म अनन्त वियोग अनन्त सयोग म परिणत हो जाता है और प्रमी अखण्डानन्द के सागर म निमज्जित हो जाता है। उसके लिए सवत्र एक प्रम और केवल प्रम ही रह जाता है। अन्तत प्रमी प्रमरस सिन्धु म निमग्न हो जाता है। उसकी समस्त सासारिक सत्ताए समाप्त हो जाती हैं। उसकी क्या अवस्था होती है इस स्वय प्रमी जानता है कि नही नही कहा जा सकता। प्रमी भक्तो एव सन्तो ने इस अनिवचनीय स्थिति विशेष का भूरिश वणन किया है।[2]

आत्मज्ञान साधना का सोपान है। आत्मज्ञान प्राप्त करने पर ही साधक साध्य को जानन म समथ होता है और उन्हे अपनी वासना समर्पित कर देता है। आत्मज्ञान लाभकर अपनी वासना उन्हे समर्पित कर चक्र पर भगवदिच्छा म चालित होन के लिए जो साधना की जाती है वही भक्ति है। इस भक्ति के द्वारा भगवत्प्रम की प्राप्ति होती है। इसीको कबीर ने राम रसायन या रामरतन की सज्ञा दी है। इसको पाकर साधक को ऐसा लगत है जस उसन सब कुछ पा लिया। जिसकी खोज म वह हैरान था वह एकाएक प्रत्यक्ष हो उठा।

'प्रम के द्वारा प्रेममय की सवा हा प्रेमी का एकमात्र लक्ष्य हाना है। इस प्रम क नाना रूप हैं। इसीस इनक नाना नाम और आख्यान हैं। प्रेममय म ही प्रेम क द्वारा ससार की सृष्टि होती है, प्रेम ही विश्व का धारण-कत्ता है प्रेम म ही विश्व का लय हाना है। प्रेम क द्वारा ही जाव अथवा जीवश्रेष्ठ मानव का उत्पत्ति हानी है, प्रम ही जीव का आश्रय है प्रेम म ही जीव विलीन हा जाना है। अनादिकाल म अनन्त प्रेममय की सृष्टि स्थिति प्रलय लीला होती चली आई है और आगे भी हानी रहगी। काल कम और स्वभाव स प्रभावित होकर अनन्त जलराशि, महासमुद्र से जलबिन्दु वाष्पाकार म उडकर मघाकार को प्राप्त हाने और वृष्टि-रूप स धरती पर बरसत हैं पीछे छाटे-छाटे निझर आदि का सहयोग पाकर वगवती स्रोतस्विनी क आकार म स्वभावत प्रधावित हाकर महासागर म जाकर फिर मिल जात हैं। इसकी गति म जस काई विराम नहा हाना, वस ही प्रेममय का सृष्टि स्थिति प्रलय लीला का भी कोइ अन्त नहीं हाना। नद-नदी के मिलन स अनन्त महासमुद्र म जिस प्रकार काई ह्रास-वृद्धि नहा होती विश्व-सृष्टि स्थिति प्रलय म भी अनन्त प्रममय की सत्ता उसी प्रकार अनन्त ही बनी रहती है। महासमुद्र म नदी का जसा मिलन हाना है परमात्मा के साथ जीवात्मा का मिलन भी वसा ही है।'[1] जीवात्मा और परमात्मा का यही मधुर मिलन और तज्जन्य महासुख की उपलब्धि मधुर रस-साधना का चिर साध्य है।

---

१ कल्याण का भक्ति विशेषांक, पृ० ३३५ ३३६।

द्वितीय खण्ड

मधुर रस का मनोवैज्ञानिक विवेचन

मधुर रस मनोराग का उत्कृष्टतम स्वरूप है

मधुर रस भगवान के प्रति भक्त के मनोराग का उत्कृष्टतम स्वरूप है। यह भगवान् के प्रति भक्त के रागात्मक सम्बन्ध का सर्वाधिक कोमल कमनीय संस्थान है। यह मन-वाणी से परे, स्वानुभवगम्य अनुपम तत्व है[1] जिसका रहस्य अधिकारी जन को ही ज्ञात है। ईश्वर के प्रति माधुर्य भाव की उपासना मन की वह सहज वृत्ति है जिसमें स्व-सुखीभाव का सर्वथा विलोप हो जाता है और इसके बदले में तत्सुखीभाव अर्थात् अपने प्रियतम इष्टदेव के सुख में सुखी होने की वांछा ही सर्वोपरि होती है।[2] इसकी गति उमड़ती हुई सरिता के दुर्दमनीय प्रवाह की भाँति होती है जो सर्वत्र सबको आप्लावित कर देती है। ईश्वरोपासना की इस रीति को साधकों ने अत्यन्त दुष्कर बतलाया है।[3] मधुरा भक्ति की दिव्यभूमि पर संचरण करने के लिए अनाविल और विशुद्ध मन की गम्भीर शक्ति अति आवश्यक है। इसमें साधक को समस्त विषयों से मन को मोड़कर एकान्तिक रूप से अपने इष्टदेव में ही लगाना पड़ता है। साधना के क्षेत्र में मानसिक साधना का यही अभिप्राय है। साधना के क्षेत्र में जहाँ भी मानसिकता के बदले शारीरिकता का समावेश हो जाता है वहीं उसके पतन की पृष्ठभूमि तैयार हो जाती है। यही कारण है कि मधुर रस के साधक भगवान की मधुर लीलाओं के चिन्तन द्वारा अपनी स्व भावना का विलोप कर देते हैं। ऐसा हो जाने पर उनका अनाविल मन इष्टदेव में तन्मय होकर मधुर रस की अनुभूति करने लगता है। ईश्वरोपासना का यह राग मार्ग जितना ही सहज है उतना ही कठिन भी है। हजारों व्यक्तियों में कहीं कोई विरला मनुष्य सिद्ध होता है और उन सिद्धजनों में भी इसके तत्व को जानने वाले कोई-कोई ही होते हैं।[4]

मधुर रस और मनोविज्ञान का सम्बन्ध

इससे स्पष्ट है कि मन की चंचल वृत्तियों के निरोभाव अर्थात् मनुष्य की जिजीविषा सहित सभी लौकिक इच्छाओं को ईश्वरोन्मुख कर देने के उपरान्त ही विशिष्ट मधुर रस-लीला

---

१ अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूप" —नारद भक्ति सूत्र, ५१।

२ नास्त्येव तस्मिंस्तत्सुखे सुखित्वं —वही सूत्र २४।

३ कठिन प्रीति रस रीति है, समुझि सको मन माँहि।
इक चकोर पावक चुगत सकहिन को मन नाँहि ।।
—बिहारिनि देव की वाणी (ब्रजभाषा के कृष्णकाव्य में माधुर्य भक्ति पृ० ११६ पर उद्धृत)

४ मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ।। —श्रीमद्भगवद्गीता अ० ७।३।

का आविर्भाव होता है। इस विशिष्ट रस-दशा के तन्मयी भाव और अनन्यता की स्थिति में मन की अन्तर्बाह्य क्रियाशीलता और सकल्प विकल्प शक्तियाँ विरमित हो जाती हैं। इस दृष्टि से मधुर रस का क्षेत्र कारण-कार्य सम्बन्ध भाव से परे हो जाता है। किन्तु मनोविज्ञान के सभी निष्कर्ष कारण-कार्य सम्बन्ध भाव पर अवलम्बित होते हैं। ऐसी दशा में मधुर रस मनोविज्ञान की सीमा से बहुत दूर का विषय सिद्ध होता है। परन्तु दूसरी दृष्टि से विचार करने पर मधुर रस के मनोवैज्ञानिक आधार की भी सार्थकता सिद्ध होती है। मधुर रस के अन्तर्गत लौकिक प्रेम प्रतीकों द्वारा अलौकिक प्रेम की प्रतीति होती है। एतदर्थ भावना सम्भावक्तुमकर्तुम अन्यथा कर्तुम् समर्थ सर्वशक्तिमान् भगवान् माधुर्य भावना के अन्तर्गत प्रेमाधार प्राणवल्लभ बन जाते हैं और भावुक भक्तगण उनको प्रियतमा बनकर उनकी मधुर लीलाओं का रसास्वादन करने लग जाते हैं। इस प्रकार भगवान् की मधुर लीलाओं में कामपरक सभी वैषयिक चेष्टाएं विद्यमान रहती हैं किन्तु वे विकार शून्य होती हैं। वैषयिक सुख और आध्यात्मिक सुख की भावना में यही मुख्य अन्तर होता है। अतएव मधुर रस का साधक लौकिक प्रेम के प्रतीकों के माध्यम से जीवात्मा और परमात्मा की अति गोपनीय एवं रहस्यपूर्ण निरंतर चलनेवाली प्रणय लीला की ही भावना करता है और उसी की चरितार्थता को अपना जीवन साफल्य मानता है।

जिन कारणों से निराकार ब्रह्म को साकार भगवान बनना पड़ता है उन्हीं कारणों से अलौकिक नित्य प्रणय-लीला रस की अभिव्यक्ति के लिए लौकिक प्रेम के प्रतीकों की भी आवश्यकता सिद्ध होती है। यही वह बिंदु है जहाँ मधुर रस के मनोवैज्ञानिक विवेचन की अपेक्षा होती है।

मनुष्य के सारे व्यापारों के मूल में आनन्द प्राप्ति की भावना ही प्रमुख रहती है। सारे साधन आनन्दोपलब्धि के लिए ही जुटाये जाते हैं। सामान्यत आनन्द की तीन कोटियाँ मानी गयी हैं—विषयानन्द काव्यानन्द और ब्रह्मानन्द। ये तीनों ही एक अखण्ड आनन्द तत्व के तीन सोपान हैं। अतएव विषयानन्द हेय नहीं है अपितु वह ब्रह्मानन्द का निम्न सोपान है। ऐसी परिस्थिति में मानव मन की मूलवृत्तियों उनके कारण-कार्य सम्बन्ध भावों उनकी प्रतिक्रियाओं और भूमिका परिवर्तन के मनोवैज्ञानिक विवेचन से मधुर रस के स्वरूप पर निर्भ्रान्त रूप से प्रकाश पड़ता है और इससे मधुर रस-साधना से सम्बन्धित अनेक अनर्गल धारणाओं का निराकरण अनायास ही हो जाता है।

मन ही बन्धन और मोक्ष का कारण है

मधुर रस-साधना में भगवत्प्रेम की तीव्रता की ओर साधक का विशेष ध्यान रहने के कारण मानसिक पक्ष को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया गया है। अतएव मधुर रस-साधना की इस मानसिकता के स्वरूप और विकास क्रम को जानने के लिए भावुक भक्तों की मानसिक प्रवृत्ति और प्रकृति के मनोवैज्ञानिक विवेचन की बड़ी आवश्यकता है। पश्चिम के मनोविज्ञान वेत्ताओं के समान यद्यपि प्राचीन भारतीय मनीषियों ने एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं किया है तथापि दार्शनिक सिद्धान्तों एवं साधना मार्गों के स्पष्टीकरण के लिए मानव मन की प्रकृति और उसकी विविध प्रवृत्तियों का यथास्थान सूक्ष्म निरूपण किया है। भारतीय तत्व चिन्तकों ने मानव इन्द्रियों के साथ साधना का प्रत्यक्ष

सम्बन्ध स्वीकार किया है और उनमें 'मन' को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है क्योंकि यह मन ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण है। मन ही शिव और शक्ति है। यह अमित संकल्प विकल्प शक्ति का आगार है तथा प्राणी मात्र के विजय पराभव का मूल संस्थान है।

मन-निरोध

मन के निरोध के सम्बन्ध में पाश्चात्य एवं भारतीय तत्वचिन्तकों की भिन्न धारणाएं हैं। पाश्चात्य मनोविज्ञान वेत्ता मन के निरोध या नियन्त्रण को दमन की संज्ञा देते हैं जो उनकी दृष्टि में अनेकानेक मानसिक ग्रन्थियों एवं विकृतियों का जनक है। किन्तु भारतीय मनीषियों ने मन के अनुशासन को 'आत्म-संयम' की संज्ञा देकर उसे ऐहिक और पारलौकिक उपलब्धियों का साधन माना है। उनकी दृष्टि में सुख प्राप्त करने के लिए आत्म-संयम परमावश्यक है।[1] आत्म-संयम से ही मन एकाग्र होकर अपने उपास्य के निर्गुण या सगुण रूप का तद्धारवत ध्यान करता है। अष्टांग-योग से भी इसी की पुष्टि होती है।

मन की चतुर्विध अवस्थाएँ

भारतीय मनीषियों ने मन की चार अवस्थाएं मानी हैं—सुषुप्तावस्था, स्वप्नावस्था, जाग्रतावस्था और तुरीयावस्था। इनमें तुरीयावस्था ही समाधि-दशा है जिसमें पहुँचकर साधक ब्रह्म-साक्षात्कार का अलौकिक महासुख प्राप्त करता है। अचेतन मन को ही सब कुछ मानकर चलने वाले पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने मन की समाधि अवस्था को भ्रम माना है। इस प्रकार वे इस तथ्य से अपरिचित रह जाते हैं कि मन की अचेतनावस्था और समाधि-अवस्था में रात और दिन का अन्तर है। अचेतनावस्था में जीव अपने को ईश्वरीय सत्ता से एकदम अलग भिन्न रहता है किन्तु समाधि-अवस्था में तो वह ईश्वरीय सत्ता के साथ एकमेक हो जाता है।[2]

मन की त्रिविध वृत्तियाँ

मनोविज्ञान के अनुसार मन की तीन प्रकार की वृत्तियाँ होती हैं—ज्ञानवृत्ति, भावनावृत्ति और क्रियावृत्ति। ज्ञानवृत्ति का आदेश है कि जो-कुछ तुम्हारे सामने प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से विद्यमान है उसे जानने का प्रयास करो। भावनावृत्ति का आग्रह है कि जिनको तुमने जाना है उनमें अपना मन लगाओ और क्रियावृत्ति की प्रेरणा है कि जिनको तुमने जान

1 Hindu Psychology by Akhilanand Page 49 52

2 So the unconscious contents and Superconscious experiences are as far apart as the two poles One is below the development of consciousness the other is above ordinary consciousness To identify the superconscious state with the unconscious state is to mix dark and light In one case man is completely oblivious of the existence of God nay identified with him

—Hindu Psychology [illegible]

गया है और जिनमें तुमने अपना मन रमा दिया है उनके जैसा ही करो। इस प्रकार इन तीन प्रमुख वृत्तियों के पुनः अनेक अवान्तर भेद हो जाते हैं। इस वृत्तित्रयी की विशेषता यह है कि किसी भी मानसिक दशा में इन तीनों का अविच्छिन्न साहचर्य रहता है और इनमें किसी एक की प्रधानता रहती है। भक्ति में भावना की प्रधानता रहती है तथा परम प्राप्तव्य के ऐश्वर्य-बोध द्वारा ज्ञान और उसके प्रति विविध शारीरिक चेष्टाओं द्वारा क्रिया का मनन सम्पृक्त बना रहता है।

साराश यह है कि समष्टि रूप से तीनों वृत्तियों का समाहार प्रत्येक मानसिक व्यापार में रहता है और व्यष्टि रूप से किसी एक वृत्ति की प्रधानता रहती है। प्रधानता के अनुसार ही अनेक वृत्तियों का वर्गीकरण तीनों मुख्य वृत्तियों के अन्तर्गत किया जाता है।

भावना के अन्तर्गत जो वृत्तियाँ पायी जाती है उनका स्थूल विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है—

१—देहात्मक वृत्ति (यथा सर्दी गर्मी भूख प्यास आदि)

२—आवेशात्मक वृत्ति (यथा भय क्रोध आदि)

३—रसात्मक वृत्ति (यथा श्रद्धा प्रेम आदि)

भावना की वृत्तियों की संख्या अन्य दो प्रधान वृत्तियों की अपेक्षा बहुत अधिक है। आवेशात्मक वृत्तियों में हर्ष विषाद भय काम क्रोध लोभ आशा ईर्ष्या घृणा गर्व दया सहानुभूति ममता आदि सम्मिलित है। इन्हीं से प्रेरित होकर व्यक्ति कार्य प्रवृत्त होता है। इनमें सबसे बलिष्ठ काम और क्रोध की वृत्तियाँ हैं। ये दोनों रजोगुण से उत्पन्न होती हैं।[1] देवजगत में काम को ब्रह्मा जी का संकल्प पुत्र माना गया है। मानसिक क्षेत्र में काम संकल्प से ही अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार काम संकल्प के पुत्र है और क्रोध उनका अनुज है। काम जब अपने पिता संकल्प के कार्य में असफलता का अनुभव करते है तब क्रोध का आगमन होता है। श्री भगवद्गीता में इसकी पुष्टि करते हुए कहा गया है कि विषयों का चिन्तन करनेवाले पुरुष की उनमें आसक्ति उत्पन्न होती है। आसक्ति से कामना का जन्म होता है और कामना से क्रोध की उत्पत्ति होती है।[2]

भावावेश तूफान की तरह आकर सम्पूर्ण शरीर मन प्राण को झकझोर डालते हैं। उन्हीं प्रतिक्रियाओं को साहित्य शास्त्र में अनुभाव कहा जाता है। प्रेम विह्वल भक्तों की भी विचित्र दशा हो जाती है। उनकी वाणी कभी गद्गद हो जाती है उनका हृदय पिघल जाता है वे कभी रोने लगते हैं कभी जोर से हँसने लगते हैं कभी लज्जा त्याग कर गाने और नाचने लग जाते हैं।[3] श्रीमद्भागवत में कई स्थलों पर प्रेम प्रभावापन्न भक्तों की दशा के बड़े ही मार्मिक चित्रण मिलते हैं।

इस सन्दर्भ में विचारणीय प्रश्न यह है कि मनुष्य के शरीर में इस प्रकार के उद्वेगजन्य लक्षण क्यों प्रकट होते हैं? दुःख में मनुष्य आँसू बहाता है और सुख में हँसता है ऐसा क्यों

१ काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। —गीता ३/३७।

२ ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
—गीता अ० २ श्लो० ६२।

३ श्रीमद्भागवत ११।१४।२४।

होना है ? इसके उत्तर के लिए भावना के आवेगों (Emotions) और रसों (Sentiments) के अन्तर में प्रविष्ट होना होगा।[1]

आवेश या आवेग भावना की माप है। यह प्राकृतिक नियम है कि मनोमय कोष में विकार होने पर उसकी प्रतिक्रिया अन्नमयकोष या स्थूल शरीर में लक्षणों द्वारा प्रकट होती है। 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि' जैसे वाक्य से भी यही सिद्ध होता है। प्रत्येक रस में अनेक आवेग अव्यक्त रूप में रहते हैं और उपयुक्त वातावरण उपस्थित होने पर वे प्रकट होते हैं। "अभिज्ञान शाकुन्तलम्" के चतुर्थ अंक में ऋषि कण्व के बाष्पाकुल कण्ठ से निकले शोकोद्गार "उत्तर रामचरितम्" में सीता के वियोग में विह्वल राम की वेदना और प्रेमयोगिनी मीरा के आकुल अन्तर की विरहानुभूति आदि से स्पष्ट है कि रस के सरोवर में आवेग की लोल लहरें क्या-क्या दृश्य दिखाती हैं ?

चराचर जगत् की तीन कोटियाँ

इस चराचर जगत की तीन कोटियाँ मानी गयी हैं—जड पदार्थ अर्द्धचेतन प्राणी और पूर्ण चेतन प्राणी। देश काल पात्र का बिना विचार किये जो अपनी पूरी क्षमता से अपना कार्य सम्पादित करे उसे जड पदार्थ की संज्ञा दी जाती है। इस कोटि में पत्थर छुरी तलवार मशीन आदि जड पदार्थ आते हैं। अर्द्धचेतन प्राणियों में पशु पक्षी की गणना होती है। पूर्ण पशुत्व प्राप्त जीवन तथा शारीरिक बल ही इनके गुण हैं। पूर्ण चेतनता मनुष्य योनि में ही सम्भव है। इसमें किसी विषय पर देश काल और पात्र के अनुसार सोचने विचारने की शक्ति है तथा अपना कार्य करने की पूर्ण क्षमता भी है। अर्द्धचेतन प्राणियों की तरह जीवन और शारीरिक बल भी है। पर सर्वोपरि है उसका बुद्धि विवेक। इसी विशिष्टता के कारण वह विधाता की सृष्टि का सर्वाधिक चेतन प्राणी माना जाता है। उसमें स्वार्थ के साथ साथ परार्थ की भावना भी काम करती है। सिर अर्थात् मस्तिष्क ही चेतनता का प्रतीक है। वृक्ष आदि जड पदार्थों के सिर नीचे और पैर ऊपर होते हैं। इसलिए उसमें चेतनता का पूर्ण तिरोभाव कहा गया है। गाय बैल आदि पशुओं के सिर उसकी पूँछ के समानान्तर होते हैं। सिर्फ मनुष्य का सिर ही ऊर्ध्वमुख रहता है जो उसकी दीपशिखा के समान ऊर्ध्वमुखी चेतनता का प्रतीक है। मनुष्य आत्मस्रष्टा है विचारक है। आत्मदर्शन द्वारा वह विश्व दर्शन और विश्व दर्शन द्वारा वह ब्रह्मदर्शन करता है। इस प्रकार आत्मोन्मुख होकर पूर्णता की प्राप्ति करना मानव जीवन का चिर साध्य रहा है। मनुष्य पूर्ण एवं स्थायी आनन्द चाहता है। वह अनन्त और अक्षय सौन्दर्य का साक्षात्कार करने का आकांक्षी है वह उसी पूर्ण एवं स्थायी आनन्द अनन्त एवं अक्षय सौन्दर्य के अन्तर्गत अपनी समस्त आशा एवं आकांक्षाओं का मधुर पर्यवसान चाहता है। इसी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के निमित्त भक्तों ने निखिल रसानन्द मूर्ति परमानन्द स्वरूप परमात्मा की कल्पना की है और उसी के प्रेम से प्रभावित होकर उन्होंने उसमें अनन्त शील और असीम शक्ति के साथ अमित सौन्दर्य की भी प्रतिष्ठा की है। इस प्रकार उससे एकत्व प्राप्त करके अक्षय सुख की प्राप्ति करना उससे एकमेव हो जाना ही भक्तजनों की साधना का शीर्षफल माना गया है।

---

1 See Expression of Emotions by Charles Darwin

सृष्टि के समस्त व्यापारों में आनन्दोपलब्धि की भावना

सृष्टि के कण-कण में उसके समस्त व्यापारों के मूल में आनन्दोपलब्धि की भावना ही प्रेरक-सूत्र के रूप में काम कर रही है। आनन्द ही सृष्टि और प्रलय है। आनन्द में ही सभी प्राणियों का प्रादुर्भाव होता है और पुनः आनन्द में ही सबका तिरोभाव हो जाता है। वैषयिक सुख से जो आनन्द मिलता है वह सन्तुष्ट और अस्थायी है। परमात्म-अनुभव-गम्य आनन्द अतुल एवं स्थायी होता है। इसीलिए आनन्द को परब्रह्म का वाचक माना गया है। वह रस ही है इस रस को पाकर पुरुष आनन्दी हो जाता है यह रस सबको आनन्दित करता है।[1]

बृहदारण्यक के अनुसार इस आनन्द के अंश मात्र के आश्रय में ही सब प्राणी जीवित रहते हैं।[2] तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है कि जगत के समस्त पदार्थों का कारण आधार और लय आनन्द ही है।[3] भारतीय तत्वचिन्तकों के मतानुसार परम विभु के अणु अंश होने के कारण जीव में सत चित और आनन्द ये तीनों तत्व पाये जाते हैं किन्तु इनमें प्रथम दो तत्व तो म्रियमाण रहते हैं किन्तु अन्तिम आनन्द तत्व का कर्म विपाक या संस्कारवश हमें आभास ही मिलता है उसकी प्रत्यक्षानुभूति नहीं हो पाती। संसार के सभी प्राणियों का एक ही चिर साध्य है—सांसारिक दुःखों का शमन अर्थात सुख की प्राप्ति। इसी सुख प्राप्ति के लिए सभी विभिन्न मार्गों का अनुसरण करते हुए दृष्टिगत होते हैं। सुख प्राप्त करने के मार्ग की बाधाओं और सुख पहुँचाने वाले साधनों की असमर्थता से निराश होकर मनुष्य महत्तम सुख साधना का अन्वेषण करता है। भक्ति भावना के उदय का यही मुख्य कारण है और इसका उत्प्रेरक आनन्द-तत्व है जो सुप्तावस्था में सदैव सभी प्राणियों में वर्तमान रहता है।

आनन्द अद्वैत है

आनन्द अद्वैत है। इस अद्वैतानुभूति में ही मनुष्य को अमरत्व का बोध होता है। वस्तुतः आनन्द मनुष्य की यथार्थ अवस्था है उसका स्वाभाविक लक्षण है। आनन्द नित्य है। सभी अवस्थाओं में इसका थोड़ा-बहुत अनुभव होता ही रहता है। अतः आनन्द नित्य स्थिर एवं अन्तानुभूति है। आनन्द के लिए सुख शब्द का प्रयोग कभी ही होते जचता है क्योंकि सुख वैषयिक होता है और आनन्द आत्मिक। सुख को आनन्द का लेश मात्र कह सकते हैं। सुख आनन्दाश्रित होता है किन्तु आनन्द स्वयं निर्भर है। संताप में सुख प्रयास है और आनन्द निःप्रयास। आनन्द का आस्वादन अनिर्वचनीय अनुभवकगम्य एवं विलक्षण होता है।

आनन्द लाभ और आत्मलाभ का साधन आत्मज्ञान है। आनन्द की उपलब्धि से ही दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति अर्थात् निर्वाण या मोक्ष है। नाना ज्ञान मार्ग से भक्त भक्ति मार्ग से तथा योगी योग-मार्ग से इसी आनन्द की उपलब्धि करते हैं। आनन्द लाभ करना ही सभी

१ रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। एष ह्येवानन्दयाति।
—तैत्तिरीयोपनिषद् २ ७ १

२ बृहदारण्यक उपनिषद् ४।३।३२

३ तैत्तिरीयोपनिषद् भृगुवल्ली षष्ठ अनुवाक।

प्रकार के साधना मार्गों का एकमात्र लक्ष्य है। सभी प्रकार के ज्ञान विज्ञान इसी के रहस्योद्घाटन में संलग्न दृष्टिगोचर होते हैं। हिन्दी का भक्ति-साहित्य सन्त साहित्य और रहस्यवादी साहित्य आनन्दवाद के सिद्धान्त को चरितार्थ करते हैं तथा आनन्दोपलब्धि की उत्कट अभिलाषा से अनुप्राणित हैं। भारतीय साहित्य शास्त्र में भी आनन्दवाद की प्रतिष्ठा की गई है तथा विशुद्ध ब्रह्मानन्द के रूप में रस की कल्पना करके काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा गया है।

सन्तों एवं भक्तों के मनोविज्ञान ने भी आनन्द के अक्षय स्रोत मधुर भक्ति रस को रसराट के रूप में सिद्ध किया है। वैष्णव रस साधना विषयक शास्त्रीय ग्रन्थों में मधुर रस का बड़ा ही सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है। अन्य साहित्य शास्त्रियों ने जहाँ देव विषयक रति अर्थात् मधुर भक्ति रस को भाव की ही संज्ञा देना उपयुक्त माना वहाँ वैष्णव आचार्यों ने विशेषकर बंगाल के गौडीय वैष्णवों ने मधुर भक्ति रस को भाव की हीन कोटि से ऊपर उठाकर रस स्थान में ही नहीं पहुँचा दिया अपितु सभी लौकिक रसों में श्रेष्ठ सिद्ध करके उसे सर्वप्रमुख रस के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया।

अहंभाव आनन्द का उपभोक्ता है

अग्निपुराण में रसोत्पत्ति पर विचार करते हुए कहा गया है कि रस रस-स्वरूप परब्रह्म के सहजानन्द की अभिव्यक्ति है। उस अक्षर सनातन विभु के सहजानन्द की अभिव्यक्ति चैतन्य चमत्कारपूर्ण और रसमय है। आनन्द का उद्रेक ही रस है। आनन्द का उपभोक्ता अहंभाव है। यही अहंभाव व्यक्तित्व का मूलाधार है। विश्वात्मा का आदिम विकार अहंभाव भुवन में व्याप्त हो जाने पर अभिमान कहलाता है। अभिमान कल्पित हो जाने पर ममत्व को प्राप्त होता है जिससे रति की उत्पत्ति होती है। तात्पर्य यह है कि ममत्व ही रति या प्रीति अथवा प्रेम का जनक है। इस प्रकार सभी रसों के मूल में ममत्व ही प्रेरक तत्त्व है। ममत्वजन्य आनन्द प्रवाह में विभिन्न प्रकार की अनुकूल एवं प्रतिकूल प्रतिक्रियाओं के कारण ही शृङ्गारादि विभिन्न रसों का उद्भव होता है।[1] रस गंगाधरकार के मतानुसार रति आदि स्थायी भाव अन्तःकरण में वासनारूप में विद्यमान रहते हैं और वे ही बार बार अभिव्यक्त होकर रसत्व को प्राप्त होते हैं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि रस अर्थात् आनन्द प्रवाह के मूल में ममत्व भाव ही प्रेरक तत्त्व है और इस रस्य आनन्द का उपभोग करने वाला मनुष्य का अहंभाव ही है।

---

१ अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम्।
आनन्द सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्ति सा तस्य चैतन्य चमत्कार रसाह्वया।
आद्यस्तस्य विकारो यः सोऽहंकार इति स्मृतः॥
ततोऽभिमानस्तत्रेदं समाप्तं भुवनत्रयम्।
अभिमानाद्रतिः सा च परिपोषमुपेयुषी॥
रागाद्भवति शृंगारो रौद्रस्तैक्ष्ण्यात् प्रजायते।
वीरोऽवष्टम्भजः सकोचभूर्बीभत्स इष्यते॥
शृंगाराज्जायते हासो रौद्रात्तु करुणो रसः।
वीराच्चाद्भुत निष्पत्तिः स्याद्बीभत्साद् भयानकः॥ —अग्निपुराण।

मनुष्य द्वारा एकत्व स्थापन की प्रवृत्ति तथा स्थायी आनन्द का अन्वेषण

विषमतामूलक सृष्टि की विधात्मक प्रक्रिया म पारस्परिक प्रयाकषण तथा एकत्व स्थापन की आशा ता सतत प्रतीत होती है। इसी दुर्निवार आकाक्षा शक्ति अप्रतिम अभिलाषा के कारण ही यह विराट जगत जाल इसके सारे व्यापार चरितार्थ हो रह है। स्त्री-पुरुष के आकपण प्रत्याकपण म एकत्व-स्थापन का यही स्वरूप दृष्टिगत होता है। एकत्व-स्थापन की इसी अप्रतिम अभिलाषा को प्रम की सज्ञा दी गई है।[1] नर और नारी प्रमी और प्रमिका के बीच एकत्व स्थापन की इसी अभिलाषा की पूर्ति मनोनुकूल सुख की प्राप्ति-दशा का नाम सयोगावस्था तथा इसकी बाधक दशा को वियोगावस्था कहा गया है। प्रम की आत्यन्तिक दशा म प्रमी को सम्पूर्ण विश्व ही प्रेममय प्रियतममय प्रतिभासित होने लगता है। ईशोपनिषद के अनुसार इस विशिष्ट भावदशा म उस सभी भूतो म आत्मप्रतीति होने लगती है।[2] अन्ततोगत्वा लौकिक प्रम अलौकिक प्रम म परिवर्तित होकर जीवोन्मुखी से ईश्वरोन्मुखी हो जाता है। इस प्रकार नर-नारी के सामान्य प्रम द्वारा असाधारण ईश्वर प्रम की पीठिका तयार होती है।

इसम दो मत नही हो सकते कि नर नारी के लौकिक प्रम के अन्तगत अनकानक घात प्रतिघात होते रहते हैं। फलत उसकी अस्थिरता एव विफलता के कारण स्थायी आनन्द की उपलब्धि नही हो पाती। इसम जहा मिलन के दो चार क्षण ही कभी सयोग स मिल पाते हैं वहाँ विरह के अपार कल्प हठात लाद दिये जाते हैं और अतत इसका फल बडा ही वेदनापूर्ण होता है।[3]

ऐसी स्थिति म स्वभावत मनुष्य एस प्रमाधार एसे आनन्द एस प्रम का अन्वषण करना चाहता है जो चिरन्तन हो जो कभी घट नही उस सुख के सुधा सरोवर म हसा चिरकाल तक कल्लोल करता रह तथा जहा मिलन के बाद विरह की वदना कभी न सताय। स्थायी आनन्दोपलब्धि की इसी प्ररणा स मनुष्य जीवोन्मुख प्रम स ईश्वरोन्मुख प्रम की ओर अग्रसर होता है। मनुष्य द्वारा शाश्वत आनन्द का अन्वषण चिरन्तन प्रमाधार की कल्पना तथा कभी न न्यून होने वाले एक रस आनन्द प्रम की उदभावना एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। मनुष्य

---

1 The Mansion of Philosophy Chap III By Durant

२ यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥

—ईशोपनिषद्।

३ ... साँसों का विधुर वियोग
छुड़ाता अधर मधुर सयोग
मिलन के पल केवल दो-चार
विरह के कल्प अपार।
× ×
गूँजते हैं सबके दिन चार
सभी फिर हाहाकार।

स्वभावतः स्थायी एवं पूर्णानन्द की प्राप्ति चाहता है। वह एक प्रेमाधार का साक्षात्कार चाहता है जो अनन्त शील, शक्ति और सौन्दर्य का आगार हो। ऐसा वह इसलिए चाहता है कि उसे उसी के माध्यम से समस्त आकांक्षाओं की पूर्ति तथा पूर्ण एवं स्थायी आनन्द की उपलब्धि का प्रत्यक्ष आश्वासन मिलता है। इसी आश्वासन या विश्वास के आधार पर भावापन्न भक्तों ने अपने-अपने स्वभावानुसार विविध मनोराज्यों की बहुविध मधुर कल्पनाएँ तथा विरह मिलन की अनन्तानन्त मधुर योजनाएँ की हैं।

रससिद्धि के लिए तन्मयता तथा हृदय की संवेदनशीलता आवश्यक

रस के मनोवैज्ञानिक व्याख्याताओं में नाट्य शास्त्र के टीकाकार अभिनवगुप्त का स्थान सर्वप्रथम है। उन्होंने सबसे पहले रस स्थिति विषयक भ्रान्तियों को दूर करके रस की मनोवैज्ञानिक व्याख्या की तथा उसके महत्त्व का प्रतिपादन किया। उनके अनुसार रस सिद्धि के लिए तन्मय होने तथा हृदय की संवेदनशीलता के भाव आवश्यक हैं जो सहृदयजन में ही सम्भव हैं।[१] तन्मयता का तात्पर्य तल्लीनता से है जिसमें आत्म विस्मृति का भाव निहित है। यह विशिष्ट भाव-दशा लौकिक अभिरुचि से सर्वथा भिन्न होती है। इसी को रस साधना में साधारणीकरण तथा योग साधना में मधुमती भूमिका की संज्ञा दी गई है। जिस व्यक्ति में अपने से भिन्न अन्य वस्तु के साथ तन्मय होने का भाव शक्ति जितनी ही अधिक तीव्र होगी उसकी अनुभूतियाँ भी उतनी ही उन्नत एवं शक्ति-सम्पन्न होंगी। ऐसा ही व्यक्ति भावमय भाषा के प्रयोग द्वारा अपने समृद्ध भावों के बल पर उनके श्रोताओं को सहज ही ऐसी शक्ति प्रदान कर सकता है कि वे दूसरों के हृदयों में भी समान भाव जगा सकें बस वही कवि एवं सच्चा कलाकार है।[२] रससिद्धि का दूसरा प्रमुख तत्त्व है हृदय की संवेदनशीलता। मनुष्य के हृदय में वासनात्मक संस्कार पहले से ही विद्यमान रहते हैं जो युक्त विभावादि से उद्बुद्ध होकर चमत्कारपूर्ण आनन्द का अनुभव कराते हैं। जिस प्रकार पहली वर्षा से धरती की सोंधी गन्ध प्रकट होकर उसकी संवेदनशीलता को अभिव्यक्त करती है उसी प्रकार तन्मयता के भाव सहृदय जनों के हृदय स्थित पूर्व वासनात्मक संस्कारों को उद्बुद्ध कर अलौकिक आनन्द का उद्रेक करते हैं। डा० राकेश गुप्त ने काव्यानन्द को व्यक्ति की अभिरुचि अनुभव और लोक व्यवहार से संबद्ध माना है तथा अभिनवगुप्त के विचारों का उल्लेख करते हुए अपनी मान्यता को परिपुष्ट करने की चेष्टा की है।[३]

---

१ येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीय तन्मयीभवनयोग्यता ते हृदयसंवाद भाजः सहृदयाः।" —अभिनवगुप्त।

२ रीतिकालीन कविता एवं शृंगार रस का विवेचन। —डॉ० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी पृ० ८१।

3 According to Abhinavagupta a Sahridaya is one who with his wide experience of the world and with his constant aquaintance with the works of the great artists has got a heart full of responsiveness to the situation s described in poetry or on the boards and is ready to identify himself with them

—Psychological Studies of Rasas Dr Rakesh Gupta

अभिनवगुप्त के बाद रस की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करने वालों में धनंजय राजा भोज और विश्वनाथ विशेष उल्लेखनीय हैं।

काव्यानन्द और आधुनिक मनोविज्ञान

रस सिद्धान्त के प्रतिष्ठापकों ने रस को काव्य की आत्मा माना है तथा रस सिद्धि को काव्यानुशीलन के शीर्षफल के रूप में स्वीकार किया है। उनके मतानुसार काव्यानन्द अलौकिक आनन्द है। अतएव इसका आस्वाद ब्रह्मानन्द के समान है।[1] रस अथवा काव्यानन्द की अलौकिकता इस बात से भी सिद्ध है कि सहृदय पाठक या श्रोता को दुःखान्त एवं करुणापूर्ण काव्य कृतियों के अनुशीलन में आनन्दानुभूति होती है। इस प्रकार शोकाकुलों के अन्तर्गत आनन्द की स्मित रेखा खींचना काव्यानन्द की अलौकिकता को सिद्ध करता है। परन्तु रसात्मकता उत्कृष्ट भाव दशा है जिसमें मनुष्य अपने क्षुद्र स्वार्थों की संकुचित परिधि से ऊपर उठकर परमार्थ पथ का पथिक बन जाता है तथा दूसरों के योग क्षेम के लिए अपना आत्मोत्सर्ग करने के लिए उद्यत हो जाता है। परमार्थ भावना से प्रेरित होने के कारण वह उस परमार्थ तत्त्व का साक्षात्कार करने में समर्थ होता है जो अलौकिक आनन्द का स्रष्टा है। अतएव काव्यानन्द यदि आनन्दानुभूति है तो वह एक अलौकिक अनुभूति है और यदि वह गहन अभिरुचि का प्रकाशन मात्र है तो वह अलौकिक कान्ति का प्रकाशन है। इस अलौकिक चमत्कार जन्य रस दशा में सहृदय का हृदय लोक हृदय के साथ साम्य प्राप्त कर विश्वात्मा के साथ तादात्म्य हो जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसी को हृदय की मुक्तावस्था की संज्ञा दी है जो रस दशा का ही दूसरा नाम है।[3] यह रसदशा अथवा काव्यानन्द का अलौकिक प्रभाव है। यह निश्चय ही कुछ समय के लिए मनुष्य को इस लोक से हटाकर आनन्द के सुधा सरोवर में निमग्न कर देता है। रस सिद्धान्त के प्रवर्तकों ने काव्यानन्द को अलौकिक चमत्कारयुक्त होने के कारण इसे ब्रह्मानन्द सहोदर माना है। दशरूपककार धनंजय ने काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द का आत्मज बतलाया है। इस मान्यता के कई कारण हैं। भारतीय साहित्य आदिकाल से ही आध्यात्मिक आकर्षण का आकांक्षी रहा है। यही कारण है कि सभी क्षेत्रों में भारतीय तत्त्वज्ञान को प्रमुखता दी गई है तथा ब्रह्मानन्द की उपलब्धि को जीवन का चिर साध्य माना गया है। फलतः रस सिद्धि और सत्त्वोद्रेक को एक साथ स्वीकार किया गया है। इसी कारण—रस शब्द में प्राणतत्त्व सार और स्वाद शब्दों का सम्मिश्रण किया गया—और परमात्मा को सृष्टि का सार और चिदानन्द रूप रसों बनाकर रस का ब्रह्मानन्द सहोदर बना दिया।[4]

सत्त्वोद्रेकादित्य के कारण रस अखण्ड स्वप्रकाशानन्द चिन्मय अन्य किसी के ज्ञान के

---

[1] तैत्तिरीयोपनिषद् ११ ७ १।

[2] रीतिकालीन कविता और शृंगार रस का विवेचन डॉ राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी पृ ८१।

[3] कविता क्या है शीर्षक निबन्ध आ रामचन्द्र शुक्ल।

[4] स्वादः काव्यार्थ सम्भेदादात्मानन्द समुद्भवः।

—दशरूपक ४ ४३।

[5] रीतिकालीन कविता और शृंगार रस का विवेचन डॉ राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी पृ ८२।

स्पर्श से शून्य ब्रह्मानन्द सहोदर होता है। लोकोत्तर चमत्कार इसका प्राण है। काव्यानन्द की इस सात्विक अवस्था में रजोगुण और तमोगुण का स्पर्श भी नहीं रहता।[1]

काव्यानन्द के सिद्धान्त

प्राच्य एवं पाश्चात्य साहित्य शास्त्रियों के काव्यानन्द सम्बन्धी जो मत प्रचलित हैं उन्हें पांच कोटियों में रखा जा सकता है।[2] प्रसिद्ध पाश्चात्य साहित्य शास्त्री प्लेटो के मतानुसार काव्यानन्द साक्षात् ऐन्द्रिय आनन्द है। वर्तमान युग में ड्यूवाय प्रभृति साहित्य मनीषियों ने इस मत को सर्वाधिक मान्यता दी है। इससे भिन्न देश विदेश के आदर्शवादी आचार्य काव्यानन्द को विशुद्ध आध्यात्मिक आनन्द मानते हैं। आत्मा सहज सौन्दर्य रूप एवं सहज आनन्द रूप है। अतः काव्यानन्द उसी सहज आत्मिक सौन्दर्य एवं सहज-आनन्द की अभिव्यक्ति है। एडीसन के मतानुसार काव्यानन्द कल्पनाजन्य आनन्द है जो मूलवस्तु और उसके काव्य में वर्णित रूप की तुलना से प्राप्त होता है। क्रोचे ने काव्यानन्द को सहजानुभूति-जन्य आनन्द माना है। प्राच्य काव्यशास्त्रियों ने काव्यानन्द को स्वतः सापेक्ष बतलाते हुए उसे सभी लौकिक आनन्दों से भिन्न एक अनुपम और अनिर्वचनीय आनन्द माना है। वर्तमान युग में ब्रडले ने इसका परिपुष्टि की है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रसों का विश्लेषण करने वाले इस प्रकार काव्यानन्द विषयक उपर्युक्त पंच सिद्धान्तों को अयथार्थ सिद्ध करते हैं। वास्तव में रस शब्द का अर्थ केवल आनन्द है जिसमें मनोरंजन और लोकरंजन दोनों तत्व सन्निहित हैं। लोक रंजन का अभिप्राय है विशालहृदयता अर्थात् संकीर्ण स्वार्थ-सम्बन्धों से ऊपर उठना। भारतीय रस सिद्धान्त की आधारशिला मानवतावाद है। अतएव वह जन-समाज के सर्वथा अनुकूल एवं उदार है। इसीलिए आवश्यकता के अनुसार इसमें नवीन तथ्यों का समावेश भी होता रहा है। इसका परिणाम है कि वात्सल्य एवं पूर्ण रस के रूप में सिद्ध किया जा चुका है तथा भक्ति साहित्य के अन्तर्गत मधुरोपासना की प्रचुर अभिव्यंजना के कारण भक्तिरस किंवा मधुररस की अवतारणा की गयी है तथा उसे एक पूर्ण स्वतन्त्र रस के रूप में स्वीकार किया गया है।

आधुनिक मनोविज्ञान और रस-कल्पना

काव्यानन्द या रस के आस्वाद के सम्बन्ध में आधुनिक मनोविज्ञान की सर्वथा भिन्न धारणा है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर नहीं मानता एवं उसकी अलौकिकता का भी खण्डन करता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने काव्य के आनन्द को वैसा ही माना है जैसा कि मनोरंजन के अन्य लौकिक साधनों से आनन्द प्राप्त होता है। रसों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए डा. राकेश गुप्त ने बतलाया है कि काव्य का आस्वाद एक मानसिक गोचर पदार्थ या क्रिया है जो काव्यानुभूति के मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया-स्वरूप

१ साहित्यदर्पण, विश्वनाथ ३, २ ३ ४।
२ रीतिकाव्य की भूमिका, डॉ नगेन्द्र, पृ ६५।

भावुक व्यक्ति के मानस म प्रादुभूत होने वाले विविध बोध द्वारा निर्मित होता है।[1] इस प्रकार के मत के अनुसार काव्यकला से प्राप्त आनन्द म और सकम देखने से प्राप्त होने वाले आनन्द म कोई अन्तर नही है। काव्यानन्द सम्बन्धी इस सिद्धान्त के आलोक म काव्यानुभूति विषयक उपयुक्त पाच सिद्धान्त खडित हो जाते हैं।

रस का अथ अभिरुचि

आधुनिक मनोविज्ञान के अन्तगत रस का अथ अभिरुचि माना गया है। मनुष्य को वही वस्तु सबसे प्यारी लगती है जिसम उसकी काफी अभिरुचि रहती है। उसी वस्तु की चर्चा म वह रस लेता है जिसम उसकी रुचि होती है। अभिरुचि के स्तर भेद से वस्तुओ से प्राप्त होने वाले आनन्द म न्यूनाधिकता का होना सवथा स्वाभाविक है।

रस या काव्यानन्द लौकिक है

इस प्रकार के विचारको का यह भी तक है कि रस सिद्धान्त के प्रवत्तक आचाय भरत मुनि के समक्ष भी रस द्वारा अलौकिक आनन्द प्राप्त करने का लक्ष्य नही था। उनके नाटय शास्त्र के प्रणयन के मूल म लोकरजन अर्थात लौकिक आनन्द प्राप्त करने की भावना प्रमुख थी।[2] अतएव उनके रस प्रतिपादन के पीछे भी अलौकिक आनन्द प्राप्त करने के बदले लौकिक आनन्दोपलब्धि का ही आग्रह दृष्टिगत होता है। नाटक का मुख्य प्रयोजन मनोरजन प्रदान करना है भरत मुनि के इस मत को उद्धत करते हुए डा राकेश गुप्त ने स्पष्टत कहा है कि रस साधना या काव्यानुभूति का लक्ष्य अलौकिक या शाश्वत आनन्द को प्राप्त करना कदापि नही है। आखिर हजारो लोग नित्य जो सिनेमागृहो म जाते हैं वे मनोविनोद अर्थात लौकिक आनन्द प्राप्त करने के लिए ही जाते है न कि अलौकिक आनन्द प्राप्त करने के लिए। इसी प्रकार रस अथात काव्यानुभूति द्वारा प्राप्त आनन्द भी सवथा लौकिक ही है।[3] रसो वै स रसो ह्येवाय लब्ध्वानन्दी भवति आदि उपनिषद-वाक्यो को सवथा अनतिहासिक बताते हुए डा शकरन ने उनकी प्रामाणिकता को ही सदिग्ध माना है।[4]

---

1 Poetic relish is a mental phenomenon and is composed of the feelings which are worked in the mind of the perceiver as a psycho logical relation to his perception of poetry Feeling thus evoked can correspond with the emotion depicted in poetry

—Psychological Analysis of Rasa Dr Rakesh Gupta P 83

२ विनोदजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति। नाट्यशास्त्र १ ११७।

3 It is definitely not in search of any Perennial Bliss that thousands of the enthusiastic cinemagoers assemble at the picture house everyday and in each city Even according to Bharat the theatre is for the sake of entertainment

—Psychological Studies of Rasa by Dr Rakesh Gupta P 41

4 Theory of Rasa and Dhwani by Dr A Shankaran —Page 3

करुण एवं दुःखान्त कलाकृतियों से प्राप्त होने वाली आनन्दानुभूति या परदुःखवात रसों के भाव का भी सर्वथा लौकिक व्यवहारगत एवं मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति का परिणाम मानते हुए डॉ० राकेश ने उसकी अलौकिकता का प्रत्याख्यान किया है। सारांश यह है कि काव्यानुभूति या काव्यानन्द विशुद्ध लौकिक वस्तु है और व्यक्ति की रुचि और लोक-व्यवहार ही इसका मुख्य आधार है। अन्य विषयों की तरह काव्य में भी जब तक अभिरुचि विद्यमान रहती है तभी तक उसमें आनन्द प्राप्त होता है। उससे चित्त भंग हो जाने पर उसके प्रति अभिरुचि भी मिट जाती है और उससे प्राप्त होने वाले आनन्द का भी तिरोभाव हो जाता है।[1]

रस या काव्यानन्द का वास्तविक आधार अभिरुचि और लोक-व्यवहार है

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के मतानुसार रस या काव्यानन्द वस्तुतः अभिरुचि और लोक व्यवहार पर आधारित है। डॉ० जेम्स ड्रेवर के मतानुसार वास्तविक अभिरुचि द्वारा काव्यानुभूति ही काव्यानन्द है।[2] इन्होंने अभिरुचि की व्याख्या करते हुए इसे उपयोगिता का भाव (Faculty of worthwhileness) कहा है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मेलोव और ड्रमोंड (Drummond) के वचनानुसार चित्त की एकाग्रता का मूल हेतु अभिरुचि ही है। चाहे सुखात्मक हो या दुःखात्मक जितनी ही अधिक अभिरुचि होगी स्वतःसिद्ध सत्य के समान स्वभावतः चित्त भी उतना ही अधिक एकाग्र या तन्मय होगा।[3] तन्मयता के अनुपात में ही उसमें रमणीयता आयगी और उसी मात्रा में आनन्दोपलब्धि भी होगी।

रुचि और आनन्द

डॉ० राकेश गुप्त ने काव्य के सन्दर्भ में 'रुचि और आनन्द' को एक-दूसरे का पर्याय माना है। तुलनात्मक दृष्टि से रुचि मानस का अधिक स्थायी संस्थान है और जब उसमें सक्रियता आती है तब वह आनन्द में रूपायित हो उठती है। अतएव आनन्द और कुछ नहीं मात्र रुचि का प्रकाशन है। अगर कोई काव्य सन्दर्भ हमें रुचता है तो उसमें हमें आनन्दोपलब्धि होगी ही और यदि काव्य-बोध हमें आनन्द प्रदान करता है तो उसमें निश्चय ही हमारी रुचि होगी।[4]

मधुर रस के स्थायीभाव, सचारीभाव, अनुभावादि की मनोवैज्ञानिक व्याख्या

उपर्युक्त विचार बिन्दुओं से यह स्पष्ट है कि काव्यानन्द या रसानुभूति मनुष्य की अन्य

1 Psychological Studies of Rasa by Dr R Gupta Page 5

2 Instinct of Man by James Drener Page 130

3 The greater the interest whether painful or pleasurable the greater the attention may be regarded as a self-evident truth
—Elements of Psychology by Mellove and Drummond Page 131

4 'The terms relish and interest are almost synonymous with each

सुख-दुःखात्मक अनुभूतियों के समान ही एक सामान्य अनुभूति है जो व्यक्ति की अभिरुचि अनुभव और लोक व्यवहार पर आश्रित है। कवि के कला-कौशल एवं अभिनेता के अभिनय नैपुण्य के प्रति आकृष्ट होकर ही लोग उससे प्रभावित और आनन्दित हो उठते हैं। ऐसी स्थिति में पूर्वजन्म के वासनागत संस्कारों के उभरने एवं अभिव्यंजित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार काव्यानन्द या रसानुभूति अन्य लौकिक आनन्द के समान ही एक सामान्य कोटि का आनन्द है और उसका सम्बन्ध व्यक्ति की अभिरुचि अनुभव और लोक व्यवहार से है।

भगवद्विषयक रति या उपास्य के प्रति उपासक के मधुर मनोराग को ही भक्ति की संज्ञा दी गई है। भक्तों के स्वभावानुसार भक्ति का एकमात्र स्थायीभाव—भगवान विषयक रति पाँच प्रकार की हो जाती है—शान्तारति प्रीतारति प्रेयसारति अनुकम्पा रति और कान्तारति। कान्तारति किस प्रकार जड़ जगत का विषय बनकर शृङ्गार नाम से अभिहित की जाती है और जड़ विषयक होने के कारण सबसे निम्नस्थ मानी जाती है एवं वही चित् जगत अर्थात भगवत्प्रेम का विषय बनकर किस प्रकार मधुर भक्तिरस राज की उपाधि से विभूषित की जाती है इसका विस्तृत चर्चा आगे चतुर्थ खंड में की गई है। अतः इस सन्दर्भ में भगवद् विषयक शृङ्गार मधुर रस राट के स्थायीभाव संचारीभाव अनुभावादि की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करना ही मुख्य प्रतिपाद्य है। मनोराग मनोभाव एवं मनोवेग का ही उच्छलन होता है। अतएव सबसे पहले भाव एवं मनोवेग का तात्त्विक विवेचन अपेक्ष्य है।

भाव और मनोवेग

सामान्यतः भाव बाह्य जगत के संवेदनों (Sensations) से मानव मन में उत्पन्न होने वाले विकारों का ही समन्वित रूप है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य की सुख दुःख परक अनुभूति को भाव (Feeling) कहते हैं। इसी सुख दुःखात्मक अनुभूति में जब तीव्रता आ जाती है तब उसे मनोवेग (Emotion) कहा जाता है। मलाव और ड्रमान्ड के मतानुसार *विशेष बाह्य स्थितियों के संवेदन अथवा स्मृति एवं कल्पना के स्वतन्त्र विचारों द्वारा जाग्रत मनोदशा को ही* मनोवेग कहते हैं। भावात्मक अनुभूति और प्रयत्न इसके दो प्रमुख गुण हैं।[1] आर० एस० वुडवर्थ के अनुसार विचारधारा के उद्वेगावस्था का सक्रिय या उद्वेलित दशा ही मनोवेग है। यह भाव की उत्तेजनापूर्ण दशा है जैसा कि व्यक्ति को स्वयं इसकी प्रतीति होती है। यह क्षुब्ध मांसपेशियों एवं स्नायु-ग्रन्थियों की क्रियात्मक अभिव्यक्ति है जैसा कि बाह्य दर्शक को इसका अनुभव होता है।[2] जीवधारी के शरीर की उत्तेजित अथवा मथित दशा ही भावदशा

other with reference to poetry Interest is comparatively a permanent disposition of the mind and becomes relish when it is in action and Relish is nothing but a manifestation of interest If a poetical piece interests us we must relish it and if we relish it its perception it must interest us —Psychological Studies of Rasa—P 81

1 Elements of Psychology by Mellove and Drummond

2 Emotion is a moved or stirred up state of the organism It is a stirred up ... of feeling—that is the way it appears to the individual himself It is a disturbed muscular and grandular activity—that is the way it appears to the external observer — Psychology R S Woodworth P 338

या मनोवेग की दशा है। बोध एवं चेतनाजन्य हलचल का अनुभव व्यक्ति को स्वयं होता है तथा उसकी मांसपेशियों एवं स्नायुओं के संचरण द्वारा दूसरे व्यक्तियों को उस मनोदशा का परिज्ञान होता है।[1] विलियम जेम्स के मतानुसार 'एक जीव का अन्य जीव के प्रति स्थिति के ज्ञान के साथ इच्छा का संयोग ही मनोवेग है'।[2]

विलियम मैक्डूगल ने मनोवेग को मानव की मूलप्रवृत्तियों (Instincts) का परिवर्द्धित स्वरूप माना है। उनके मतानुसार हमारी मूलप्रवृत्तियों द्वारा प्रेरित अनुभव और कार्य ही मनोवेग हैं।—हमारी मूलप्रवृत्ति के जाग्रत होने से उस वृत्ति की अनुकूल पेशियों और स्नायुओं में ओज का संचरण होने लगता है। ओज संचरण की यह अवस्था उत्तेजना की अवस्था होती है और प्रत्येक परिस्थिति में इस उत्तेजना में एक ऐसी विशिष्टता वर्तमान रहती है जिसके कारण हम उसे भय, क्रोध, घृणा आदि अलग-अलग नाम दे सकते हैं। मूलप्रवृत्ति की जागृति और उत्तेजना में निहित विशिष्टता दोनों भाव के मानसिक रूप हैं तथा मांसपेशियों एवं स्नायुओं में ओज का संचरण उसके शारीरिक रूप के परिचायक हैं।[3] कुछ मनोवैज्ञानिक (जेम्स, लैंग आदि) भाव के मानसिक रूप को उसके शारीरिक रूप का परिणाम मानते हैं किन्तु अधिकांश विद्वान् भाव के शारीरिक रूप को उसके मानसिक रूप का ही प्रतिफलन सिद्ध करते हैं।

इससे यह स्पष्ट है कि भाव या मनोवेगों की दशा मानव मस्तिष्क की सुनिश्चित जाग्रदवस्था है। युक्त विभावों द्वारा यह जाग्रत होता है तथा अनुभावों द्वारा बाह्य रूप में यह प्रकाशित होता है।

उपर्युक्त विचार बिन्दुओं के आधार पर मनोवेग (Emotion) के तीन प्रमुख तत्त्व निर्दिष्ट होते हैं जिनमें रस के प्रमुख तत्त्वों (स्थायी और संचारीभाव एवं अनुभाव) का साम्य [illegible] पड़ता है। यथा—

क—मनोवेग के उत्तेजक तत्त्व अर्थात् विभाव।

ख—मनोवेग के मानसिक प्रभाव अर्थात् स्थायी और संचारीभाव।

ग—मनोवेग के शारीरिक प्रभाव अर्थात् अनुभाव।

रस और मनोवेग के इस साम्य को लक्ष्य कर कुछ विद्वानों ने इन्हें पर्यायवाची मानकर समानार्थी एवं समानधर्मी सिद्ध करने का भी प्रयास किया है। किन्तु रस और मनोवेग को एक मानना इसलिए समीचीन नहीं है कि मनोवेग केवल चित्त के आवेग अथवा मस्तिष्क की उत्तेजित दशा है केवल एक जाग्रदवस्था है। रस आनन्दमय मन की एकाग्रावस्था है। जिस दृष्टिकोण से आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने मनोवेग का विवेचन किया है उसके अनुसार यह आवश्यक नहीं कि मनोवेग उद्बुद्ध हो जाने पर हमारा चित्त तन्मय होकर आनन्दावस्था को प्राप्त हो ही जाय। हमारे विचार से रस सिद्धि साध्य है और मनोवेग केवल साधन मात्र। रस मनोवेग नहीं मनोवेग का आस्वादन है।[4]

---

1 Science of Emotions by Dr Bhagawan Das

2 Psychology by William James P 376

3 An outline of Psychology by william Mc Dougall

४ रीतिकालीन शृंगार रस का विवेचन डा॰ राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी, पृ॰ ८७-८८।

मनोवेग स्थायीभाव, सचारीभाव और अनुभाव

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रति आदि स्थायीभाव स्थिर मनोवेग हैं। संस्कृत साहित्य शास्त्र मे बयालीस भावो का वर्णन किया गया है जिनमे रति आदि आठ अथवा नौ भावो को स्थायीभाव तथा निर्वेदादि तैंतीस भावो को सचारीभाव कहा गया है। इनमे निर्वेदादि भावो से रति आदि भाव अपेक्षाकृत सुस्थिर एव परिपुष्ट हैं इसलिए इन्हे स्थायीभाव की संज्ञा दी गयी है। मनोविज्ञान के विचार से सचारीभाव सचरणशील मनोवेग है। डा० राकेश गुप्त ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भावो के पाच वर्ग निर्धारित किये हैं। प्रथम वर्ग मे आठ स्थायी भावो को रखा गया है जो मानसिक प्रभाव उत्पन्न करने मे सक्षम है। द्वितीय वर्ग मे मानसिक प्रभाव उत्पन्न करने मे सक्षम चौदह सचारीभावों की गणना की गयी है। तृतीय वर्ग मे चार सचारी भाव माने गये हैं जो आवेग रहित हैं। चतुर्थ श्रेणी मे केवल शारीरिक सवेदन उत्पन्न करने मे समर्थ पाच सचारीभाव परिगणित किये गए हैं। पचम कोटि मे शेष सचारीभाव हैं जो शारीरिक या मानसिक किसी प्रकार का भाव उत्पन्न नही कर सकते।[1]

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनोवेग के शारीरिक प्रभाव अथवा शारीरिक चेष्टाओ मे परिवर्तन को अनुभाव कहते हैं। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से स्थायीभाव का अनुभव कराने वाले भाव को अनुभाव कहा गया है। अनुभाव वस्तुत भावबोधक शारीरिक चेष्टाए हैं। सात्विक कायिक मानसिक और आहार्य—इनके चार प्रकार हैं। आत्मा मे अन्तर्भूत रस का प्रकाशित करने वाला अन्त करण का धर्म विशेष सत्त्व से उत्पन्न शरीर के स्तम्भादि प्रस्वेदादि स्वाभाविक अग विकार सात्त्विक अनुभाव कहे जाते हैं। मनोभावो के अनुरूप नेत्र भ्रू हस्त आदि शरीरावयवो द्वारा की गयी चेष्टाए कायिक अनुभाव है। अन्त करण की भावना के अनुसार मन मे उठनेवाले हर्ष विषादादि भावो को मानसिक अनुभाव कहते हैं। साराश यह है कि हमारे सभी प्रकार के भावो का सम्बन्ध हमारे मनोवेगो से है जो प्रकार एव मात्रा भेद से *पृथक् पृथक् नाम से अभिहित किये जाते है।*

मनोवेग और मनोवृत्ति

मनोवेग एक सचरणशील अनुभाव है और मनोवृत्ति (Sentiment) एक स्थिर मनोदशा या वृत्ति है। मनोवृत्ति का निर्माण क्रमश अनेक मनोवेगो और मानसिक क्रियाओ द्वारा होता है। मनोवृत्ति एक प्रकार का मानसिक सस्थान है अथवा उसका एक अग है।[2] इसके अतिरिक्त मनोवेगो का सम्बन्ध मनुष्य की मूलवृत्तियो से है और इससे भिन्न मनोवृत्ति विचार-तत्त्व (Idea) से सम्बद्ध है। मनोवेगो के सम्मिश्रण उनकी आवृत्ति एव विचार-तत्त्व के क्रमिक समावेश द्वारा मनोवृत्ति का निर्माण होता है।

---

1 Psychological Studies of Rasa Dr Rakesh Gupta Page 144

2 Emotion is a feeling experience sentiment is an acquired disposition one gradually built up through many emotional experiences and activities it is an organisation or a part of total organisation

—Science of Emotions by Dr Bhagawan Das

मनोवेग के तीन भेद

सामान्यत मनोवैज्ञानिकों ने मनोवेग के तीन प्रकार निर्धारित किये है—मौलिक मनोवेग (Primary Emotions) मिश्रित या गौण मनोवेग (Blended or Secondary Emotions) और व्युत्पन्न मनोवेग (Derived Emotions) ।

मौलिक मनोवेग

मौलिक मनोवेग का सम्बन्ध मूलवृत्तियों से है । भय काम आदि मूल प्रवृत्तियाँ ही इसके अन्तर्गत आती हैं ।[1] इस प्रकार मौलिक मनोवेग हमारे मौलिक अनुभव के सर्वमान्य स्वरूप हैं ।

संस्कृत रस शास्त्र के रति आदि स्थायी भाव मनोविज्ञान के मौलिक मनोवेगों के समान हैं । अपने स्थायित्व एवं प्रभाव की व्यापकता के कारण वे मनुष्य के जीवन की मूल वृत्तियों के सदृश ही है । इनके अतिरिक्त कुछ संचारीभाव भी मौलिक मनोवेगों के समान ठहराये गये हैं ।

मिश्रित मनोवेग

मिश्रित या गौण मनोवेग एक से अधिक वृत्तियों की सहक्रिया का परिणाम है । जब एकाधिक वृत्तियाँ एक साथ ही सक्रिय होती हैं तब व्यक्ति को ऐसे मनोवेग का अनुभव होता है जिसके अन्तर्गत प्रत्येक वृत्ति से सम्बंधित मनोवेग का प्रभाव दिखाई पड़ता है । इसी ही दशा में मिश्रित मनोवेग का प्रादुर्भाव होता है । मिश्रित मनोवेग का स्वरूप सूर्य के प्रकाश के समान होता है । जिस प्रकार सूर्य के धवल प्रकाश में सूर्य किरणों के सप्तरंग मिले रहते हैं उसी प्रकार मिश्रित मनोवेग कई प्रकार की वृत्तियों की सामूहिक क्रियाशीलता के प्रभाव का परिणाम होता है । उदाहरणत दया भाव में वात्सल्य स्नेह या संरक्षण भाव और सहानुभूति के मनोवेगों का मिश्रण रहता है । इसी प्रकार अपमान या तिरस्कार के भाव में क्रोध और घृणा के भावों के साथ अहंकार के मनोवेग भी मिले रहते है । रस शास्त्र में वर्णित चिन्ता आदि संचारीभाव मिश्रित मनोवेग के समान है ।

व्युत्पन्न मनोवेग

अनेक मनोवेगों को किसी मूल प्रवृत्ति से सीधा सम्बन्ध नहीं रहने पर किसी दूसरे मनोवेग के आश्रित होना पड़ता है । किसी विशेष कारण या परिस्थिति के उत्पन्न हो जाने पर वे प्रवृत्ति जन्य कार्य के बीच में ही आविर्भूत होते हैं । इसीलिए इन मनोवेगों को व्युत्पन्न मनोवेग की संज्ञा दी गयी है । सुख-दुःख आशा निराशा हर्ष शोक विस्मयादि मनोवेग इस कोटि में आते हैं । इस प्रकार रसशास्त्र के अधिकांश संचारीभाव व्युत्पन्न मनोवेगों की कोटि में आते है ।

मनोवेगों की उपर्युक्त तीन कोटियों पर विचार करने के उपरान्त यह भी सिद्ध

1 An outline of Psychology by William Mc Dougall P 325

मनोवेग स्थायीभाव, सचारीभाव और अनुभाव

मनोवैज्ञानिक दृष्टि स रति आदि स्थायीभाव स्थिर मनोवेग हैं। सस्कृत साहित्य शास्त्र म बयालीस भावो का वणन किया गया है जिनम रति आदि आठ अथवा नौ भावो को स्थायीभाव तथा निर्वेदादि ततीस भावो को सचारीभाव कहा गया है। इनम निर्वेदादि भावो स रति आदि भाव अपेक्षाकृत सुस्थिर एव परिपुष्ट हैं इसलिए इन्हें स्थायीभाव की सज्ञा दी गयी है। मनोविज्ञान के विचार से सचारीभाव सचरणशील मनोवेग है। डा० राकेश गुप्त न मनोवैज्ञानिक दृष्टि स भावो क पाच वग निर्धारित किय हैं। प्रथम वग म आठ स्थायी भावो को रखा गया है जो मानसिक प्रभाव उत्पन्न करने म सक्षम हैं। द्वितीय वग म मानसिक प्रभाव उत्पन्न करने म सक्षम चौदह सचारीभावो की गणना की गयी है। तृतीय वग म चार सचारी भाव मान गय हैं जो आवेग रहित हैं। चतुर्थ श्रेणी म केवल शारीरिक सवेदन उत्पन्न करने म समर्थ पाच सचारीभाव परिगणित किये गए हैं। पचम कोटि म शेष सचारीभाव हैं जो शारीरिक या मानसिक किसी प्रकार का भाव उत्पन्न नही कर सकते।[1]

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनोवेग के शारीरिक प्रभाव अथवा शारीरिक चेष्टाओ म परिवतन को अनुभाव कहा हैं। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से स्थायीभाव का अनुभव करान वाले भाव का अनुभाव कहा गया है। अनुभाव वस्तुत भावबोधक शारीरिक चेष्टाए हैं। सात्विक कायिक मानसिक और आहार्य—इनके चार प्रकार हैं। आत्मा म अन्तर्भूत रस को प्रकाशित करने वाला अत करण का धर्म विशेष सत्व से उत्पन्न शरीर के स्तम्भादि प्रस्वेदादि स्वाभाविक अग विकार सात्विक अनुभाव कहे जाते हैं। मनोभावो क अनुरूप नेत्र भ्रू हस्त आदि शरीरावयवो द्वारा की गयी चेष्टाए कायिक अनुभाव है। अत करण की भावना क अनुसार मन म उठनेवाले हर्ष विषादादि भावो को मानसिक अनुभाव कहते है। साराश यह है कि हमारे सभी प्रकार के भावो का सम्बन्ध हमारे मनोवेगो स है जो प्रकार एव मात्रा भेद से पृथक्-पृथक् नाम से अभिहित किये जाते हैं।

मनोवेग और मनोवृत्ति

मनोवेग एक सचरणशील अनुभाव है और मनोवृत्ति (Sentiment) एक स्थिर मनोदशा या वृत्ति है। मनोवृत्ति का निर्माण क्रमश अनेक मनोवेगो और मानसिक क्रियाओ द्वारा होता है। मनोवृत्ति एक प्रकार का मानसिक सस्थान है अथवा उसका एक अग है।[2] इसके अतिरिक्त मनोवेगो का सम्बन्ध मनुष्य की मूलवृत्तियो स है और इसस भिन्न मनोवृत्ति विचार-तत्त्व (Idea) स सम्बद्ध है। मनोवेगो क सम्मिश्रण उनकी आवृत्ति एव विचार-तत्व के क्रमिक समावेश द्वारा मनोवृत्ति का निर्माण होता है।

---

1 Psychological Studies of Rasa Dr Rakesh Gupta Page 144

2 Emotion is a feeling experience sentiment is an acquired disposition, one gradually built up through many emotional experiences and activities it is an organisation or a part of total organisation

—Science of Emotions by Dr Bhagawan Das

मनोवेग के तीन भेद

सामान्यतः मनोवैज्ञानिकों ने मनोवेग के तीन प्रकार निर्धारित किये हैं—मौलिक मनोवेग (Primary Emotions) मिश्रित या गौण मनोवेग (Blended or Secondary Emotions) और व्युत्पन्न मनोवेग (Derived Emotions)।

मौलिक मनोवेग

मौलिक मनोवेग का सम्बन्ध मूलवृत्तियों से है। भय, काम आदि मूल प्रवृत्तियाँ ही इसके अंतर्गत आती हैं।[1] इस प्रकार मौलिक मनोवेग हमारे मौलिक अनुभव के सर्वमान्य स्वरूप हैं।

संस्कृत रस शास्त्र के रति आदि स्थायी भाव मनोविज्ञान के मौलिक मनोवेगों के समान हैं। अपने स्थायित्व एवं प्रभाव की व्यापकता के कारण वे मनुष्य के जीवन की मूल वृत्तियों के सदृश ही हैं। इनके अतिरिक्त कुछ संचारीभाव भी मौलिक मनोवेगों के समान ठहराये गये हैं।

मिश्रित मनोवेग

मिश्रित या गौण मनोवेग एक से अधिक वृत्तियों की सहक्रिया का परिणाम है। जब एकाधिक वृत्तियाँ एक साथ ही सक्रिय होती हैं तब व्यक्ति को उस मनोवेग का अनुभव होता है जिसके अन्तर्गत हरएक वृत्ति से सम्बन्धित मनोवेग का प्रभाव दिखाई पड़ता है। ऐसी ही दशा में मिश्रित मनोवेग का प्रादुर्भाव होता है। मिश्रित मनोवेग का स्वरूप सूर्य के प्रकाश के समान होता है। जिस प्रकार सूर्य के धवल प्रकाश में सूर्य किरणों के [illegible] हैं, उसी प्रकार मिश्रित मनोवेग कई प्रकार की वृत्तियों की सामूहिक क्रिया [illegible] का परिणाम होता है। उदाहरणतः दया भाव में [illegible] या [illegible] के मनोवेगों का मिश्रण रहता है। इसी प्रकार अपमान या [illegible] घृणा के भावों के साथ अहंकार के मनोवेग का मिश्रण रहता है। [illegible] आदि संचारीभाव मिश्रित मनोवेग के समान हैं।

होना है कि प्रम' कोई एक मनावग (Emotion) नहा अपितु एक मनावृत्ति (Sentiment) या व्यवस्थित मनान्गा है। प्रम का मनान्गा का निर्माण मौलिक तथा मिश्रित मनावगा के साथ व्युत्पन्न मनावगा के सुदर सम्मिश्रण स हाता है। न्या ग्रस्पण आदि काद भी मनोवग प्रारम्भ हाकर अय सहायक मनावगा का सहयोग प्राप्त करता रहता है। किसी के प्रति आकर्षित हो जाने पर आत्म प्रतिष्ठा समपण सामाजिकता आदि विभिन्न प्रकार क भावा की सृष्टि होती रहती है और उनक साथ आनाका चिता स्मृति, हप नाव आदि विभिन्न व्युत्पन्न मनोवगा का सयाग हाता रहता है। इस प्रकार विभिन्न प्रकार क मनावगा का विभिन्न प्रकार स सयाग होत रहन स हमारे हृदय म एक विचित्र आनन्दायिनी मनान्गा की प्रतिष्ठा हो जाती है जिस हम प्रम कहत हैं।[1]

प्राणियो की मूल प्रवृत्तिया

प्राणिमात्र क भीतर कुछ जन्मजात मूल प्रवत्तिया होती हैं जिनम उनके समस्त कार्यों का परिचालन हाता रहता है। इन मूल प्रवत्तिया का क्रिया स्वन हाता रहता है। आँख क सामन एकाएक हाथ के हिलाने म सहसा पलका का बन्द हो जाना अचानक भयावह दृश्य को देखकर चिल्लाने लगना या भाग खडा होना किसी खतरनाक सुअर या नार को सामन देखकर मन म डरत हुए भा उसस लडा क लिए उद्यत हाना किसा सुन्दर दश्यावली अथवा अनुपम रूप को देखकर उसकी आर सहसा आकर्षित होना आदि-आदि इनक अनकानक उदाहरण दिये जा सकते है। प्रवत्ति क साथ उपार्जित ज्ञान (Intelligence) क सम्मिश्रण क कारण एक स अधिक वत्तिया (Instincts) एक साथ कायशील हा जाती है।[2] बन्दरघुडकी इसका सुन्दर उदाहरण है जिसम बन्दर द्वारा एक ही साथ अपन का लाठी स बचान तथा लाठी वाले की आर घुडककर उस डरान धमकान के दाना काय सम्पादित किय जाते है।

पशु जगत एव मानव जगत की सहज प्ररक प्रवत्तिया म अन्तर पाया जाता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि पशु-जगत क सार काय सहज प्रवत्ति क अनुसार होते हैं। किंतु मनुष्य चतन प्राणा है उसम बौद्धिकता है। अत मनुष्य अपन नित्य व्यवहार एव जीवन में बहुविध अनुभवा क समावश द्वारा अपनी सहज प्ररक प्रवत्तिया को अधिकाधिक बौद्धिक बना दता है। प्राणिमात्र के अन्तगत अपन इसा बुद्धि वशिष्टय क कारण मनुष्य सवश्रेष्ठ माना गया है। आहार निद्रा भय मथुन आदि सहज प्रवत्तिया पशुआ एव मनुष्या म समान ही हैं किन्तु धम का अधिकाधिक विशषता अथात बुद्धितत्त्व क समावश हो जान स उनम परिष्कृति आ जाता है।[3]

प्राणिया का जावन रहस्या का आगार है। इसा प्रकार उनका जीवनदशाआ एव व्यापारा का प्रत्य त एव अप्रत्यक्ष रूप म प्रभावित एव परिचालित करन वाली प्ररक प्रवत्तिया का सख्या भा अगणित है। किंतु मनावज्ञानिका का दृष्टि म प्राणी मात्र के अतगत मूल

1 रीतिकालीन कविता और शृगार रस का विवचन डा रा प्र चतुर्वेदी पृ ८८।

2 An outline of P ycholo y by William Mc Dougall P 13

3 आहार निद्रा भय मथुन च सामा यमतत् पशुभि नराणा।
धर्मो हि तेषामधिको विशषो धर्मेण हीन पशुभि समान ॥

सोलह मूल प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं। इनमें प्रथम तेरह मुख्य तथा शेष तीन गौण मूल प्रवृत्तियाँ मानी गयी हैं। नीचे प्रत्येक मूल प्रवृत्ति तथा उससे सम्बद्ध मनोवेग (Emotion) का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है—

१ अपत्यस्नेह वृत्ति अथवा आत्म संरक्षण की वृत्ति (Parental or protective instinct)। वात्सल्य (Love) और त्याग (Sacrifice) इस प्रवृत्ति से सम्बद्ध मनोवेग हैं।

२ संघर्ष की वृत्ति (The instinct of combat)। जब प्राणी की अभीप्सित वस्तु अथवा मनोवांछित कार्यक्षेत्र में किसी प्रकार की विघ्न बाधा डाली जाती है तब यह संघर्ष वृत्ति क्रियाशील हो उठती है। भोजनोपार्जन और मैथुन में व्यवधान पहुँचने पर यह संघर्ष वृत्ति अत्यधिक उग्र हो जाती है। इस वृत्ति से सम्बद्ध मनोवेग क्रोध है जिसके स्तर भेद से तीन स्वरूप हो जाते हैं—क्रोध (Anger) रोष (Rage) रोषोन्माद (Fury)।

३ जिज्ञासा की वृत्ति (The instinct of curiosity)। नये विस्मयोत्पादक एवं अज्ञान रहस्यपूर्ण विषयों के सम्बन्ध में ज्ञानद्वारा प्राप्त करना इस वृत्ति का प्रमुख उद्देश्य है। अभीष्ट सिद्धि में सहायक साधनों को प्राप्त करने एवं सम्भावित संकटों से बचने की अवस्थाओं में यह वृत्ति सर्वाधिक सक्रिय होती है। इस वृत्ति के सजग होने पर मनुष्य की विचार शक्ति एवं विवेक-बुद्धि का उदय होता है। औत्सुक्य तथा विस्मय इस वृत्ति से सम्बन्धित मनोवेग हैं।

४ क्षुधानिवृत्ति अथवा भोजनोपार्जन की वृत्ति (The instinct of Food Seeking)। क्षुधा निवृत्ति के लिए भोजनोपार्जन की वृत्ति अनिवार्य है। मनुष्य से लेकर पशु-पक्षी यहाँ तक कि स्थावर पेड़ पौधों आदि में भी यह वृत्ति प्रकट रूप में विद्यमान है। अन्य सभी वृत्तियों की अपेक्षा यह अति व्यापक एवं सर्वाधिक प्रभावशाली है। इस वृत्ति का मनोवेग क्षुधा (Appetite) है जो जड़ चेतन सब में समान रूप से पायी जाती है। क्षुधा निवृत्ति के लिए पेट को भरने के लिए प्राणी क्या-क्या नहीं करता कौन-कौन नाच नहीं नाचता?

५ निषेध की वृत्ति (The instinct of Repulsion avoidance or disgust)। मनुष्य जिसे नहीं चाहता उससे वह दूर रहने का प्रयत्न करता है। यहाँ तक कि वह उसे देखना तक नहीं पसन्द करता। वह अरुचिकर पदार्थों की उपेक्षा करना चाहता है और उसका यह उपेक्षा भाव शनैः शनैः अपकर्षण में परिणत हो जाता है। घृणा जुगुप्सा (Hatred) इस वृत्ति के मनोवेग हैं।

६ पलायनवृत्ति (The instinct of escape)। भय अथवा खतरे से बच निकलने अथवा भागने की प्रवृत्ति सभी जीवों में समान रूप से पायी जाती है किन्तु अशक्त और दुर्बल प्राणियों में यह वृत्ति अधिक सजग रहती है। इस वृत्ति का मनोवेग भय है। इसमें आत्म रक्षण के भाव की प्रधानता रहती है।

७ सामाजिक वृत्ति (The gregarious Instinct)। अपनी सुरक्षा तथा प्रतिकूल वर्ग पर सामूहिक रूप से आक्रमण करना ही इस वृत्ति का उद्देश्य है। जगत के जीव-जन्तु भी झुण्ड बनाकर रहना पसन्द करते हैं। मनुष्य तो चेतन प्राणी है। अतः उसमें सामाजिकता का भाव अधिक तीव्र रूप में रहता है। इस वृत्ति से सम्बद्ध मनोवेग सहानुभूति है।

८ आत्म प्रतिष्ठा की वृत्ति (The instinct of self assertion)। इस वृत्ति के

अन्तगत निज वनिष्ठ्य प्रतिपादन की भावना प्रमुख है। यह वृत्ति मानव समाज म अत्यधिक महत्वपूर्ण है। अहकार गव और दम्भ इससे सम्बन्धित मनोवेग हैं।

९ समपण की वृत्ति (The instinct of surrender or Submission)। भय पारस्परिक सदव्यवहार समस्याओ का शान्तिपूर्ण समाधान प्रमोपलब्धि महानुभूति अजन और सुख सुविधा की प्राप्ति करने की भावना इस वृत्ति के मूल म पायी जाती है। स्नेह उत्सग अधीनता दीनता इस वृत्ति के मनोवेग है।

१० प्रजनन वृत्ति (The Mating Pairing or the Sex instinct)। विपम लिंग के साथ सभोगेच्छा इस वृत्ति का प्रमुख उद्देश्य है। काम पूर्ति विषय-सुख की इच्छा मथुन की अभिलाषा इस वृत्ति के प्रमुख मनोवेग हैं जो जड चेतन सबम समान रूप से विद्यमान हैं। क्षुधा निवृत्ति और काम-तृप्ति की अभिलाषा सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रभावशाली एव दुर्निवार हैं। विश्व जीवन के हृत्स्पन्दन क य ही अनिवाय प्रेरक-तत्व हैं।

११ परिग्रह वृत्ति (The acquisitive Instinct)। इस वृत्ति का उद्देश्य भविष्य के लिए आत्मरक्षा की व्यवस्था करना है। अधिकार भावना (Ownership) इसका मनोवेग है।

१२ निमाण वृत्ति (The constructive Instinct)। जीव मात्र म सुचारु रूप से जीवन यापन की भावना पायी जाती है। इसके लिए प्राणी मात्र अपनी बुद्धि एव क्षमता के अनुसार सृजनशील रहता है। पशु पक्षी कीड मकोडे तक म भी यह प्रवृत्ति पायी जाती है। सृजन का आनन्द या उत्साह इस वृत्ति के मनोवेग ह।

१३ चित्ताकषण अथवा विनयावेदन की वृत्ति (The Instinct of Appeal)। गुरजनो स सहायता सुख-सुविधा की प्राप्ति करना ही इस वृत्ति का उद्देश्य है। दैन्य अथवा कापण्य इसके मनोवेग हैं।

१४ क्रीडा की वृत्ति (The Instinct of Play)। इसका मनोवेग विनोद है।

१५ अनुकरण की वृत्ति (The Instinct of Imitation)। इसका मनोवेग प्रदर्शन है।

१६ हास्य की प्रवृत्ति (The Instinct of Laughter)। इसका मनोवेग हास्य है।

आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि म उपयुक्त सोलह मूल वृत्तियो स सम्बन्धित मनोवेगो म स काम (रति) हास्य भय घृणा औत्सुक्य वात्सल्य अहकार कापण्य और सहानुभूति—

कामभाव और रतिभाव

व्यापक भाव में 'रति' और 'काम' एक दूसरे के समानार्थी माने जा सकते हैं। 'मनुष्य जो भी कर्म करता है वह काम की चेष्टा है।'[१] इस प्रकार भारतीय शास्त्रों में काम की सार्वभौम सत्ता एवं व्यापकता का अनेक स्थलों पर स्पष्ट रूप में उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद में कहा गया है कि 'हे काम! तू सबसे पहले उत्पन्न होकर देव, पितर और मर्त्य सबको प्राप्त हुआ। तुमसे कोई बचा नहीं है। इसलिए इस विश्व में तू व्यापक और सबसे महान है। हे काम! मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ।'[२] इतना ही नहीं काम को सृष्टि उत्पत्ति के पहले मन की सर्वव्यापिनी बुद्धि के मूल तत्व के रूप में स्वीकार किया गया है।[३] अथर्ववेद में काम की विराटता एवं व्यापकता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'काम ने ही काम को दिया है। काम ही दाता है और काम ही प्रतिग्रहीता है। यह सब-कुछ काम का ही है। इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि काम से ही सचालित हो रही है।'[४] इस प्रकार व्यापक अर्थ में काम मूल वासना, इच्छा, आकांक्षा, सृजनादगार सृजन सुख तथा प्रेम का ही पर्याय सिद्ध होता है। आगे काम के विभिन्न तत्वों पर विस्तार के साथ विचार किया जायगा। काम के समान ही रति व्यापक अर्थ रखने वाला शब्द है। पीछे अग्निपुराण के आधार पर कहा जा चुका है कि सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान विभु के सहजानन्द की अभिव्यक्ति यदा कदा हो जाती है जो चिद शक्ति सम्पन्न, चमत्कारपूर्ण एवं रसमय होती है। उसके आदि विकार अहंभाव में भुवन व्याप्त अभिमान (ममता) का आविर्भाव होता है और ममता-समन्वित अभिमान से शृंगार रस की जननी 'रति' की उत्पत्ति होती है। रति के अनेक अर्थ हैं यथा—स्मरप्रिया कामपत्नी, अनुराग आसक्ति, क्रीडा रमण सन्तोष[५] प्रीति प्रेम सुहृज्जन[६] मनोनुकूल अर्थों में सुख संवेदन[७] स्त्री पुरुष में काम वासनामय हृदय का पारस्परिक रमणेच्छा[८] प्रियवस्तु में मन की प्रेमपूर्ण उन्मुखता[९] ईश्वर के प्रति परानुरक्ति अर्थात भक्ति[१] आदि-आदि।

---

१ 'यद् यद्धि क्रियते कर्म ... ।' मनुस्मृति।

२ कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा,
आपुः पितरो न मर्त्याः।
ततस्त्वमसि ज्यायान विश्वहा महांस्ते
कामनम इति करोमि। —अथर्ववेद ९ २ १९।

३ कामस्तदग्रे समवर्तत मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्॥ —अथर्व १९ ५२ १।

४ क इदं कस्मा अदात् कामः कामायादात्।
कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामः समुद्रमा विवेश।
कामेन त्वा प्रति गृह्णामि कामैतत्ते। —अथर्व० ३ २९ ७।

५ मइतिवा[illegible] पृ ८१२।

६ हिन्दी शब्दसागर, पृ २८६३।

७ 'रतिस्तु मनोनुकूलेष्वर्थेषु सुख संवेदनम —प्रदीपकार।

८ स्मरकरविलासात दम्पत्यो स्त्रीपु मयो परस्पर रिरंसा रति स्मृता।"
—सुधासागर।

९ 'रतिर्मनोनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्।' —सा दर्पणकार।

१ 'सा परानुरक्तिरीश्वरे'' —भक्तिशास्त्र।

अन्तर्गत निज-वर्चस्व प्रतिपादन की भावना प्रमुख है। यह वृत्ति मानव समाज में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। अहंकार, गर्व और दम्भ इसके सम्बन्धित मनोवेग हैं।

९ समर्पण की वृत्ति (The instinct of surrender or Submission)। भय पारस्परिक सद्व्यवहार समस्याओं का शान्तिपूर्ण समाधान प्रमोत्पन्न सहानुभूति-अर्जन और सुख सुविधा की प्राप्ति करने की भावना इस वृत्ति के मूल में पायी जाती है। स्नेह उत्सर्ग अधीनता दीनता इस वृत्ति के मनोवेग हैं।

१० प्रजनन वृत्ति (The Mating Pairing or the Sex instinct)। विषम लिंग के साथ सम्भोगेच्छा इस वृत्ति का प्रमुख उद्देश्य है। काम पूर्ति विषय-सुख की इच्छा मैथुन की अभिलाषा इस वृत्ति के प्रबल मनोवेग हैं जो जड़ चेतन सब में समान रूप से विद्यमान हैं। क्षुधा निवृत्ति और काम-तृप्ति की अभिलाषा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रभावशाली एवं दुर्निवार हैं। विश्व जीवन के हृत्स्पन्दन के ये ही अनिवार्य प्रेरक-तत्व हैं।

११ परिग्रह वृत्ति (The acquisitive Instinct)। इस वृत्ति का उद्देश्य भविष्य के लिए आत्मरक्षा की व्यवस्था करना है। अधिकार भावना (Ownership) इसका मनोवेग है।

१२ निर्माण वृत्ति (The constructive Instinct)। जीव मात्र में सुचारु रूप से जीवन यापन की भावना पायी जाती है। इसके लिए प्राणी मात्र अपनी बुद्धि एवं क्षमता के अनुसार सृजनशील रहता है। पशु पक्षी कीड़े मकोड़े तक में भी यह प्रवृत्ति पायी जाती है। सृजन का आनन्द या उत्साह इस वृत्ति के मनोवेग हैं।

१३ चित्ताकर्षण अथवा विनयावेदन की वृत्ति (The Instinct of Appeal)। गुरुजनों से सहायता सुख-सुविधा की प्राप्ति करना ही इस वृत्ति का उद्देश्य है। दैन्य अथवा कार्पण्य इसके मनोवेग हैं।

१४ क्रीडा की वृत्ति (The Instinct of Play)। इसका मनोवेग विनोद है।

१५ अनुकरण की वृत्ति (The Instinct of Imitation)। इसका मनोवेग प्रदर्शन है।

१६ हास्य की प्रवृत्ति (The Instinct of Laughter)। इसका मनोवेग हास्य है।

आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि में उपर्युक्त सोलह मूल वृत्तियों से सम्बन्धित मनोवेगों में से काम (रति) हास्य भय घृणा औत्सुक्य वात्सल्य अहंकार कार्पण्य और सहानुभूति— ये दस ही सहज वृत्तिमूलक मनोवेग माने गये हैं। इनमें अहंकार को छोड़कर शेष सभी संस्कृत साहित्य शास्त्र में स्वीकृत स्थायीभाव ही हैं। कार्पण्य और सहानुभूति को 'शोक' के अन्तर्गत आसानी से रखा जा सकता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि कुछ विद्वानों ने मनोविज्ञान के मनोवेग और संस्कृत साहित्य शास्त्र के स्थायीभाव को समानार्थी नहीं मानने पर जोर दिया है। वे शृंगार के स्थायीभाव रति और मनोविज्ञान के काम में अन्तर बतलाते हैं। उनके विचार से रति में काम वात्सल्य आत्मसमर्पण सामाजिकता आत्मरक्षा संचय आदि का अद्भुत मनोवेगों का सम्मिश्रण पाया जाता है। अतः काम और रति समानार्थी हैं या एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं इस पर संक्षेप में विचार कर लेना आवश्यक है।

कामभाव और रतिभाव

व्यापक भाव में 'रति' और 'काम' एक दूसरे के समानार्थी माने जा सकते हैं। 'मनुष्य जो भी कर्म करता है, वह काम की चेष्टा है।'[1] इस प्रकार भारतीय शास्त्रों में काम की सार्वभौम सत्ता एवं व्यापकता का अनेक स्थलों पर स्पष्ट रूप से उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद में कहा गया है कि 'हे काम! तू सबसे पहले उत्पन्न होकर देव, पितर और मर्त्य सबको प्राप्त हुआ, तुमसे कोई बचा नहीं है, इसलिए इस विश्व में तू व्यापक और सबसे महान है। हे काम! मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ।'[2] इतना ही नहीं, काम को सृष्टि-उत्पत्ति के पहले मन की सर्वव्यापिनी बुद्धि के मूल तत्व के रूप में स्वीकार किया गया है।[3] अथर्ववेद में काम की विराटता एवं व्यापकता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'काम ने ही काम को दिया है। काम ही दाता है और काम ही प्रतिग्रहीता है। यह सब-कुछ काम का ही है। इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि काम से ही संचालित हो रही है।'[4] इस प्रकार व्यापक अर्थ में काम मूल-वासना, इच्छा, आकांक्षा, सृजनोद्गार, सृजन-सुख तथा प्रेम का ही पर्याय सिद्ध होता है। आगे काम के विभिन्न तत्त्वों पर विस्तार के साथ विचार किया जायगा। काम के समान ही रति व्यापक अर्थ रखने वाला शब्द है। पीछे अग्निपुराण के आधार पर कहा जा चुका है कि सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान विभु के सहजानन्द की अभिव्यक्ति यत्र-तत्र हो जाती है, जो चिद्शक्ति सम्पन्न, चमत्कारपूर्ण एवं रसमय होती है। उसके आदि विकार अहंभाव से भुवन व्याप्त अभिमान (ममता) का आविर्भाव होता है और ममता-संवलित 'अभिमान' से शृंगार रस की जननी 'रति' की उत्पत्ति होती है।[5] रति के अनेक अर्थ हैं, यथा—रतिक्रिया, कामपत्नी, अनुराग, आसक्ति, क्रीड़ा, रमण, सन्तोष,[6] प्रीति, प्रेम, सुरत,[6] मनोनुकूल अर्थों में सुख संवेदन,[7] स्त्री-पुरुष के काम वासनामय हृदय की पारस्परिक रमणेच्छा,[8] प्रियवस्तु में मन की प्रेमपूर्ण उन्मुखता,[9] ईश्वर के प्रति परानुरक्ति अर्थात् भक्ति[10] आदि आदि।

---

१ यद् यद्धि क्रियते कर्म … । मनुस्मृति।

२ कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा,
आपुः पितरो न मर्त्याः।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्ते
काम नम इत् कृणोमि। —अथर्ववेद ९, २, १९।

३ कामस्तदग्रे समवर्तत मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्॥ —अथर्व० १९, ५२, १।

४ क इदं कस्मा अदात् कामः कामायादात्।
कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामः समुद्रमा विवेश।
कामेन त्वा प्रति गृह्णामि कामैतत्। —अथर्व० ३, २९, ७।

५ प्रकृतिवाद पृ० ८११।

६ हिन्दी शब्दसागर, पृ० २८६३।

७ 'रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनसः सुखसंवेदनम्' —प्रदीपकार।

८ 'स्मरकर्म्भविनोदन करणे स्त्रीपुंसयोः परस्पर रिरंसा रतिः स्मृता।' —सुधासागर।

९ 'रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्।' —सा० दर्पण ३।

१० 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' —भक्तिशास्त्र।

श्री जयशंकर प्रसादजी ने कामायनी में काम और उसके आगमन का विवेचन करते हुए रति को अनादि वासना के रूप में सिद्ध किया है।[1] सृष्टि की रचना में इसी अनादि वासना रति या काम की प्रधानता है क्योंकि यह मनोजात वृत्ति है। अतः रति काम की अपनी प्रिया रति के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति करता है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि रति और काम अपने व्यापक अर्थ में तत्वतः समानार्थी ही हैं। रति और काम दोनों का अंतश्चेतना प्रेम है जो जन्म के साथ ही मनुष्य के हृदय में अंकुरित होता है तथा जीवन की अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियों के अनुरूप अनेक रूपों में चरितार्थ होता रहता है। सभी रसों और उनके स्थायी भावों के मूल में भी प्रेम का ही चमत्कार परिलक्षित होता है। रति अथवा प्रेम ही शृंगार रस का स्थायीभाव है जो जड़ चेतन सबमें समान रूप से अपना व्यापक प्रभाव फैलाये हुए है और जिसके अमोघ सूत्र में बंधकर सभी परस्पर मिलन की आशा से आन्दोलित हैं।[2] संसार में जड़ चेतन कोई भी पदार्थ एकाकी रहना नहीं चाहता। सब अपने युग्म के साथ प्रेम-तन्तु में बंधकर मधुर मिलन का महोत्सव मना रहे हैं या उसकी प्राप्ति के प्रयास में संलग्न हैं। झरना सरिता से सरिता सागर से सागर धरती से धरती आकाश से और आकाश में सचरण करने वाले पवन एक मधुर भाव लिए हुए परस्पर मिल रहे हैं। इस प्रकार विश्व प्रपंच का मूलाधार प्रेमी और प्रेमिका का पारस्परिक आत्मसमर्पण एवं मधुर मिलन ही है। इसके अभाव में विश्व में फैली हुई मधुरिमा रस की उमड़ती हुई धारा निस्सार है।[3] काम और रति के पारस्परिक सम्बन्ध और महत्ता पर प्रकाश डालते हुए आ हरिऔध जी ने लिखा है कि कमनीयता जितनी सौन्दर्य में मिलती है अन्य गुणों में नहीं। जितना आकर्षण और हृदयग्राहिता रूप में

---

[1] जो आकर्षण बन हँसती थी
रति थी अनादि वासना वही।
—कामायनी, प्रसाद। १

[2] भुजलता पड़ी सरिताओं की
शैलों के गले सनाथ हुए
जलनिधि का अंचल व्यजन बना
धरणी के दो दो साथ हुए।
कोरक-अंकुर सा जन्म रहा
हम दोनों साथी झूल चले
हम भूख-प्यास से जाग उठे
आकांक्षा तृप्ति समन्वय में।
रति काम बने उस रचना में
जो रही नित्य यौवन वय में

— —

यह लीला जिसकी विकस चली
वह मूल शक्ति थी प्रेमकला।
उसका सन्देश सुनाने को
संसृति में आयी वह अमला।
—कामायनी [illegible]।

[3] Love's Philosophy William Shelley

होती है जितना मोहक वह होता है, दूसरा नहीं। इसीलिए काम लावोत्तर कमनीय और कुसुमायुध है। उसकी सहधर्मिणी रति है जो प्रेममयी, आसक्तिमयी रमणीया और क्रीडा कला-पुतलिका है। काम यदि माल्य-सम्मोहन है तो वह उसकी मामा काम यदि राका मयंक है तो रति उसकी कौमुदी शृंगार रस का दोनों के साथ आधार-आधेय का सम्बन्ध है।

शृंगार रस शिशु का एक जनक है और दूसरा जननी। मानव-हृदय काम रति-परायण है अतएव उसके प्रांगण में प्राय शृंगार रस शिशु रमा करता रहता है जिसका परिणाम व चरित कथाएँ हैं, जिनसे सारा धरातल आनन्दमूल है।"[1]

नाना अनुकूलताओं एवं प्रतिकूलताओं के मध्य एक प्राणी को दूसरे प्राणी—मनुष्य को मनुष्य के निकट लाने का प्रयास सनातन काल से चलता रहा है। जीवन की इस जय-यात्रा में मानव ने जहाँ एक ओर लोक-कल्याण के पथ को प्रशस्त करने का प्रयास किया है वहाँ दूसरी ओर उसने आत्मकल्याण' की भूमि को भी स्वच्छ बनाने का प्रयत्न किया है। जिस युग में इन दो पक्षों का तादात्म्य नहीं हो पाता उस युग का काव्य विवेक और हृदय के असामंजस्य के कारण रागात्मक भूमि बनाने में अक्षम हो जाया करता है। जब क्रिया और चिन्तन का सम्यक् स्वावलम्बन और परावलम्बन होता है तब श्रद्धा और आस्था का जन्म होता है जिससे साधारणीकरण होता है। इस रागात्मक सम्बन्ध की अवस्थाएँ मनुष्य की आयु के अनुसार परिवर्तित होती रहती हैं किन्तु रति सक्षम होती है। रति' का व्यापक रूप मानवीयता है। उसकी यही विशिष्टता काव्य के स्थायीत्व और प्रियता का आधार है।

रति और भक्ति

नारी की मूल भूमि सृष्टि है और सृष्टि का आधार अनादि वासना—रति है। मन की रति के दो ही क्षेत्र हैं—नारी या अपनी आत्मा। श्रद्धा वात्सल्य, स्नेह और काम—इन सारा मनोवेगों की समष्टि ही रति है। रति के आकर्षण का केन्द्रबिन्दु नारी है। रति की प्राप्ति केवल नारी से ही संभव है। रति रूप आकर्षण जब नारी से हटकर अपने ही चैतन्य केन्द्र में समाविष्ट हो जाता है तब इसी मधुर परिवर्तन को भक्ति की संज्ञा दी जाती है। भक्ति दशा में मनुष्य उस महान देव के प्रति उसी प्रकार आकृष्ट होता है जैसे पति जाया के प्रति आकृष्ट होता है।[2]

रति और काम का जो स्वाद है कुछ वैसा ही मधुर भक्ति रस का भी स्वाद है। किन्तु अध्यात्म जगत का यह स्वाद भौतिक स्वादों से सर्वथा भिन्न एवं अनिर्वचनीय है। यह अनुपम अध्यात्मरस स्वादिष्ट है मधुर है तीव्र है जब इसका नशा चढ़ जाता है तब गहरा रंग लाता है।[3]

राग और द्वेष-भाव

राग और द्वेष प्राणी मात्र के दो मौलिक भाव हैं। मानवमात्र में अनुकूल या प्रतिकूल

---

१ रसकलश हरिऔध पृ ८७।

२ पतिरिव जायामभि नो न्येतु धर्ता दिवः सविता विश्ववारः। — ऋग्वेद, १/११/१४६/४।

३ स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम्। — ऋग्वेद, ६/४७/१।

वृत्ति प्राय सभी कालो म होती रहती है। ये ही राग और द्वेष की उत्पादिका हैं। अनुकूल म राग होता है और प्रतिकूल म द्वेष होता है। काम से राग और क्रोध स द्वेष का उद्भव होता है। प्रियजन के मिलन म हर्ष और वियोग म विषाद सफलता स उल्लास और विफलता से निराशा अनुकूलता के प्रति राग और प्रतिकूलता के प्रति द्वेष, रोष आदि आवेगो की अनुभूति होती है। प्रेमरस इन आवेगो का अक्षय स्रोत है स्थायीभाव है और आवेग अनुभाव हैं जो प्रियजन की परिस्थिति के अनुसार आते जाते रहते हैं। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक ए० एफ० शॅड रस को किसी व्यक्ति या वस्तु म केंद्रित आवेगात्मक प्रवृत्तियो का ग्रथि या पद्धति (System) मानते हैं।[१]

राग और द्वेष मानव आत्मा के मूलभूत गुण हैं और इनका ऋजु सम्बन्ध मनुष्य के मौलिक भावो (Elemental passions) से है। दार्शनिक दृष्टि से मानव आत्मा की प्रथम अभिव्यक्ति अस्मिता या अहकार है। इसी को मनोविश्लेषण शास्त्र म अह (Ego) या आत्माभिव्यक्ति (Self assertions) के रूप के स्वीकार किया गया है। राग और द्वेष अथवा आनन्द और विषाद इन्ही दो रूपो म अह या अहकार की अभिव्यक्ति होती है।[२] इन्हा म से राग को प्रेम करने की प्रवृत्ति (Libido) तथा द्वेष को नाश करने की प्रवृत्ति (Thantos) की सज्ञा दी गई है। साराश यह है कि राग और द्वेष अर्थात सुख और दुख के भाव ही मानव-जीवन के मूल प्रेरक भाव हैं। डा भगवानदास के मतानुसार संस्कृत साहित्य के सभी स्थायी भावो का इन्हा दो मूल भावो राग और द्वेष के अन्तर्गत समाहार हो जाता है। रति हास उत्साह और विस्मय साधारणत अस्मिता के उपकारक होने के कारण राग के अन्तर्गत आ जाते हैं तथा शोक क्रोध भय और जुगुप्सा अस्मिता के विरोध अथवा अपकारक होने के कारण द्वेष के अन्तर्गत आ जाते हैं। निर्वेद म इन दोनो का सामजस्य हो जाता है। उसम अस्मिता की समरसता की अवस्था होती है। पहले चार भाव मधुर हैं अत सुख की अभिव्यक्ति करते हैं अन्य दुख की अभिव्यक्ति करते है तथा कटु हैं।[३]

मनुष्य का सहज विस्तार-भाव

मानव स्वभाव से ही विस्तारवादी होता है। वह सर्वात्म को आत्म म और आत्म को सर्वात्म म देखना चाहता है। अतएव कुछ विद्वानो के मतानुसार विस्तार भाव ही जीवन की एकमात्र प्रधान वासना है।[४] इस विस्तार भाव के मूल म केवल प्रेम भाव है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डी सती के मतानुसार प्रेम या राग मानव जीवन का मौलिक भाव है। प्रेम या राग

1 See A F Shand s Character of Emotions

2 Pleasure and Pain are by common consent the true types of feel ines others are blended

—William Mc Dougall

3 See the Science of Emotions Chap X by Dr Bhagwan Das

4 See The Science of Emotions by Dr Bhagwan Das Chap II Page 130

वे मौलिक भाव से ही प्रेरित होकर वच्च साथी की खोज करते है और बाह्य मण्डली को पाकर अत्यन्त प्रमुदित हो उठते है। जीवनेच्छा के विचार में बालकों का यह सखा प्रेम नैसर्गिक एवं सहजात होता है। साथी की आवश्यकता की यही भावना आगे जाकर क्रमशः प्रौढ़ बनकर पितृप्रेम दाम्पत्य प्रेम आदि अनेक रूपों में चरितार्थ होती है। इसी में बाधा या असफलता होने पर निराशा एवं घृणा की उत्पत्ति होती है जो द्वेष की जननी है। इस प्रकार राग का पराभव अथवा प्रेम की विफलता ही घृणा या द्वेष का कारण है। जिस प्रकार अन्धकार की अपनी कोई स्वतन्त्र स्थिति नहीं होती, वह प्रकाश के अभाव का ही दूसरा नाम है उसी प्रकार घृणा या द्वेष प्रेम या राग के अभाव की ही अपर संज्ञा है।[1]

मनुष्य की प्रेम भावना सामाजिक अनुबन्धों के नित्य नये मार्ग का अन्वेषण करती रहती है। यौवन में व्यक्ति अपने राग क्षेत्र को प्रेम परिधि को अत्यधिक विस्तार देता रहता है। यहीं से सभ्यता और संस्कृति का प्रारम्भ समझना चाहिए। युवावस्था में ही मनुष्य की बोध वृत्तियाँ पूर्ण रूप से सचेष्ट एवं सजग हो जाती हैं।

इस तरह राग, स्व विस्तार भाव या पारस्परिक संयोग की इच्छा ही मानव-जीवन की प्रमुख सहजात मौलिक वासना है। मनोविश्लेषकों ने इस परस्पर संयोगेच्छा को पूर्णत्व प्राप्ति की इच्छा या अपने वियुक्त भाग की खोज की संज्ञा दी है। इस प्रकार जीवन का एक मात्र मौलिक भाव राग ही फ्रायड का काम है।[3]

संयोगेच्छा अथवा प्रजनन-वृत्ति

सृष्टि में नर-नारी के संयोग का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। सृष्टि के कण-कण में यह पारस्परिक कामुक आकर्षण—पारस्परिक मिलन की उत्कट आकांक्षा तीव्रतम रूप में विद्यमान है। संसार में जो कुछ है वह सब एक दूसरे के साथ मिलनातुर है एक-दूसरे के साथ अदृश्य प्रेम सूत्र से आबद्ध है। यह सम्बन्ध मानव-बुद्धि से परे भले ही हो किन्तु इस सम्बन्ध द्वारा कहीं ज्ञात और कहीं अज्ञात रूप से संसार के सृजनादि समस्त मंगलमूलक कार्य यथाकाल होते रहते हैं।[४] विश्व की सभी वस्तुएँ चाहे वे दूरस्थ हों या सन्निकट एक शाश्वत शक्ति के द्वारा अलक्षित ढंग से एक-दूसरे से संयुक्त हैं। एक सितारे को प्रभावित किये बिना एक फूल को भी नहीं तोड़ा जा सकता।[५]

1 Origins of Love and Hate by Jan D Suttie Chap IV

2 See An Outline of Psychology, Page 120

3 Each of us then separated is out indenture of a man and he is always looking for his other half The desire and pursuit of the whole is called Love

—The Mansions of Philosophy by Will Durant Chap III

४ रसकलश हरिऔध, पृ ६०।

5 All things by immortal power
To each other linked are
Near or Far That Thou can t Stir a Flower
Hiddenly without troubling of a star'

—रसकलश हरिऔध पृ० ६० से उद्धृत।

ससार अथवा प्रकृति की विशाल रगशाला म सवत्र पारस्परिक सयोगेच्छा अथवा प्रजनन प्रवत्ति की विराट लीला देखी जा सकती है। भ्रमर पुष्पो पर गूजता फिरता है कभी उन पर बठता है कभी उनका रस ग्रहण करता है और कभी एक पुष्प का रज वहन करके दूसरा तक पहुचा आता है। तितलिया नाचती फिरती हैं चूम चूमकर फूलो की बलाए लेती हैं। उनसे गले मिलती हैं अपने रग मे उन्ह और उनके रग म अपने को रगती हैं और फिर न जाने कहा चक्कर काटती हुई चली जाती हैं। मधुमक्खी चुपचाप आती है फूलो के साथ विहार करती है उनस रस-सचय करती है कुछ का पा जाती है और कुछ का लिये सभलती बचती न जाने कहाँ स कहाँ पहुँच जाती है। —प्राणी ही नही यदि हम अन्तदृष्टि स काम लें तो पेडो और लता-बल्लियो म क्या, फूल-पत्तो तक मे हम कामदेव के साथ रति देवी विहार करती मिलेंगी।[1]—मजन सम्बन्धी प्ररणाओ से जाग्रत होकर ही मदान अपनी सजी निख लाते है फूल अपने सौदय और सुगध को प्रकट करते हैं पक्षीगण अपने चमकीले-से चमकीले पर धारण करते हैं तथा मधुर-से मधुर गीत गाते हैं। झिल्ला की झकार कोयल की कूक अपने जोडे क आह्वान के अतिरिक्त और कुछ नहा है। मदान और वना की निस्तब्धता को भग करने वाले जो इन नाना प्रकार के पक्षियो के कलरव सुनाई पडते हैं ये सब प्रेम के ही असख्य गीत है।[2]

भक्त शिरोमणि तुलसीदास ने भी इस शाश्वत मिलन वाछा का बडा ही सजीव चित्रण किया है। उनकी दृष्टि म भी सबके हृदय म मदन की अभिलाषा मिलनोत्कण्ठा सयोगेच्छा शाश्वत है। वृक्षा की तरुण शाखाओ को निहारकर लताए उनम लिपटने क लिए झुक जाती है। सागर से मिलन के लिए ही सरिता बडे वेग के साथ प्रवाहित हो रही है। ताल तलया म भी यह सगम-व्यापार चलता रहता है। जहा जड पदार्थों का यह हाल है वहाँ सचेतन प्राणी की निरन्तर चलने वाली प्रणय-लीला का वणन कौन कर सकेगा ?[3]

विश्व क सभी क्रिया-कलाप पारस्परिक सौन्दर्याकषण सयोगेच्छा अथवा प्रजनन *प्रवत्ति क सहारे ही चल रहे हैं। ससार के सभी पदाथ अपने युग्म के साथ सयुक्त होन के*

१ रसकलश हरिऔध पृ ८८६।

2 It is under the awakening of reproductive life that the fields put on their verdure the flowers unfold their beauty and fragrance the birds put on their brightest plumage and sing their sweetest song while the chirp of the cricket the note of the Katydid is but the call to its mate for the many tounged voices which break the still ness of field and forest are but myriad notes of love

—रसकलश हरिऔध पृ ६९ मे उद्धृत।

३ सबके हृदय म न अभिलाषा। लता निहारि नवहि तरुसाखा॥
नदी उमगि अबुधि कहँ धाई। सगम करहि तलाव तलाई॥
जहँ अस दसा जड़न कै बरनी। को कहि सकहि सचेतन करनी॥
देव दनुज नर किन्नर व्याला। प्रेत पिशाच भूत बैताला॥
इनकी दसा न कहेउँ बखानी। सदा काम के चेरे जानी॥

—रामचरितमानस।

लिए विकल होकर अपने साथी की खोज में संलग्न हैं। प्रसिद्ध आंग्ल कवि विलियम शैली ने पुरुष और प्रकृति के लीला विलास की अद्भुत रंगस्थली—विश्व के विराट रंगमंच पर सतत होने वाले प्रेम-अभिनय निरंतर मनाए जाने वाले मिलन महोत्सव का बड़ा ही मधुर चित्रण किया है। यहाँ सर्वत्र प्रतिपल प्रीति पर्व मनाया जा रहा है। निर्झर सरिताओं से और सरिताएँ समुद्र में जा मिलती हैं। व्योमविहारी पवन एक मधुर भाव लिए हुए परस्पर मिले रहते हैं। इस संसार में कोई भी अकेला नहीं है। दैवी विधान ही कुछ ऐसा है कि सभी वस्तुएं एक शक्ति से मिलकर उसमें एक-दूसरे से संयुक्त होकर लीन हो जाती हैं। फिर क्या न मैं तुम से मिलूं? पर्वत आकाश का आलिंगन करते हैं, समुद्र की लहरें एक-दूसरे को चूम रही हैं। प्रत्येक पुष्प पारस्परिक प्रेम-पाश में आबद्ध है। सूर्य की किरणें धरती को चूम रही हैं और चन्द्रकलाएं सागर को आलिंगन-पाश में बाँधे हुई हैं। विश्व में चतुर्दिक उमड़ती हुई यह मधुरिमा किस काम की यदि तुम मेरा चुम्बन न करो।'[1]

सारांश यह है कि प्रेमी प्रेमिका-गत पारस्परिक सौंदर्याकर्षण, पारस्परिक संयोगेच्छा एवं मधुर मिलन की बलवती आकांक्षा ही संसार के सारे कार्यक्रम के प्रेरक तत्त्व हैं। काम सिद्धान्त के प्रवर्तक फ्रायड ने भी संयोग प्रवृत्ति का प्रतिपादन करते हुए बतलाया है कि संयोगेच्छा की यह शाश्वत प्रवृत्ति सिर्फ विषम लिंगियों में ही नहीं दिखलाई पड़ती है वरन समलिंगी में भी चरितार्थ होता है। ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं जहाँ पुरुष स्त्री को छोड़कर पुरुष की ओर आकर्षित होते हैं और स्त्रियाँ पुरुषों का परित्यागकर स्त्रियों की ओर पुरुषत्व द्वारा आकृष्ट होती हैं। समलिंगियों के इस आकर्षण में भी दूसरे भाग द्वारा संयोग प्राप्त कर पूर्णत्व प्राप्त करने का आनन्द ही मुख्य लक्ष्य रहता है।

---

1 The fountains mingle with the river,
And the rivers with the ocean
The Winds of Heaven mix for ever
With a sweet emotion,
Nothing in the world is single
All things by a law divine
In one another s being and mingle
Why not I with Thine ?
See the mountains kiss high Heaven
And the waves clasp one another,
No sister flower would be forgiven
If it disdained its brother
And the sunlight clasps the earth
And the moonbeams kiss the sea
What are all these kissings worth
If thou kiss not me ?
—Love's Philosophy William Shelley

काम का प्रादुर्भाव

काम प्राणी मात्र का मूल प्रेरक भाव है और इसका प्रादुर्भाव शरीर के साथ ही होता है। इसे अनंग इसीलिए कहा गया है कि यह सूक्ष्म रूप में समस्त प्राणियों में रमा हुआ है। काम जन्मजात वृत्ति है इसलिए इसकी शिक्षा के लिए किसी गुरु की आवश्यकता नहीं होती अपनी कान्ता के साथ रमणोपाय की शिक्षा देने के लिए पशु-पक्षियों का कोई गुरु नहीं होता।[1]

बहुत प्राचीन काल से ही जीवन के प्रबलतम मनोवेग— प्राणीमात्र की जन्मजात मौलिक वृत्ति—काम के सम्बन्ध में विचार एवं दार्शनिक चिन्तन करते रहे हैं। जनश्रुति के अनुसार इस विषय के प्रथम पुरस्कर्ता महादेव के अनुचर नन्दिकेश्वर हैं। किन्तु इनका कोई शास्त्र साक्ष्य नहीं मिलता। कुछ लोगों ने उद्दालक ऋषि के पुत्र श्वेतकेतु को काम शास्त्र का प्रथम रचक माना है। इनके अतिरिक्त इस विषय पर विचार करने वालों में बाभ्रव्य चारायण सुवर्णनाभ घोटकमुख गोनर्दीय गोणिकापुत्र दत्तक सुकुमार आदि उल्लेखनीय हैं। काम को सर्वप्रथम शास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक पद्धति से व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय महर्षि वात्स्यायन को है। प्रसिद्ध चन्द्रगुप्त के राज्यकाल में इन्होंने एतद्विषयक प्रसिद्ध ग्रन्थ काम सूत्र की रचना की।

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के समान वात्स्यायन ने भी काम को सर्वाधिक व्यापक प्राणी मात्र के समस्त कार्य-कलाप का उत्प्रेरक जीवन का जन्मजात मौलिक भाव माना है। काम की व्याख्या करते हुए उन्होंने बतलाया है कि काम ही प्रेम है काम ही सुख है और काम ही दाम्पत्य आनन्द की प्राप्ति एवं संतुष्टि है। —पंच ज्ञानेन्द्रियों के योग का नाम काम है। इस योग में मस्तिष्क एवं हृदय (अंतरात्मा) सहायक होते हैं। इस योग में इन्द्रियों एवं भोग्य पदार्थ के बीच एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इस सम्बन्ध में एक विशेष प्रकार के आनन्द की अनुभूति प्राप्त होती है। इसी आनन्दानुभूति का नाम काम है।[2] आत्म संयुक्त मन द्वारा अधिष्ठित कान त्वक् नेत्र जिह्वा और नासिका की अपने अपने विषय में अनुकूल प्रवृत्ति का नाम काम है।[3] वात्स्यायन ने इसे सामान्य काम की संज्ञा दी है। उनके मतानुसार स्त्री या पुरुष के स्पर्श विशेष को लक्ष्य करके आभिमानिक सुख से अनुविद्ध फलवान विषय प्रतीति ही प्रधान काम है।[4]

---

१ शरीरस्थिति हेतुत्वादाहारसधर्माणो हि कामा।
फलभूतश्च धर्मार्थयो।

—कामसूत्र वात्स्यायन, अ० २ सूत्र ३७।

२ रीतिकविता और शृंगार रस का विवेचन, डा० रा० प्र० चतुर्वेदी, पृ० ११ से उद्धृत।

३ श्रोत्रत्वक् चक्षु जिह्वा घ्राणानामात्मसंयुक्तेन
मनसाधिष्ठितानां स्वेषु स्वेषु विषयेष्वानुकूल्यतः प्रवृत्ति काम।

—कामसूत्र अ० २ सूत्र ११।

४ स्पर्श विशेष विषयत्वस्याभिमानिक सुखानुविद्धा
फलवत्यर्थ प्रतीति प्राधान्याद् काम॥

—कामसूत्र, अ० २, सूत्र ११

न्यायशास्त्र के अनुसार 'काम आत्मा के साथ सर्वदा विद्यमान रहने वाला एक नित्य मौलिक भाव है, क्योंकि आत्मा में इच्छा, राग द्वेष आदि भाव निरन्तर विद्यमान रहते हैं।

योग-दर्शन में 'आत्मा काम है' कहकर आत्मा के साथ काम के एकात्मभाव की उद्घोषणा की गई है। सामान्यतः जीवनेच्छा इच्छा-मात्र काम है। जैसा पहले कहा जा चुका है विशिष्ट अर्थ में "स्त्री पुरुष के परस्परकृत स्नेह को भाव-बन्धन को 'काम' कहते हैं।[1]

प्राचीन वैदिक एवं औपनिषदिक ग्रन्थों में भी सर्वप्रथम काम का ही प्रादुर्भाव बतलाया गया है। किसने यह किसको दिया है? काम ने काम को दिया है। काम ही दाता है और काम ही प्रतिग्रहीता है। काम ही समुद्र में प्रवेश करता है। हे काम! काम से मैं तुझे स्वीकार करता हूँ क्योंकि यह सब तेरा ही है।'[2]

अन्यत्र कहा गया है कि प्रारम्भ में काम था जो मन का प्रथम वीर्य था। जगत् के आरम्भ में यही काम (इच्छाशक्ति) सक्रिय हुआ। इसकी प्रेरणा से जगत् की उत्पत्ति हुई।[3] यह काम बल के साथ प्रतिष्ठित हुआ है। यह मित्र के समान आचरण करने वाले के लिए सखा और प्रभावशाली है।[4] बृहदारण्यकोपनिषद् में भी 'काममय एवायं पुरुषः'[5] आदि वचनों द्वारा मानस में सर्वप्रथम काम के उद्भव की पुष्टि की गई है।

काम का यथार्थ स्वरूप

नाट्य शास्त्र के प्रणेता एवं रस सिद्धान्त के प्रवर्तक भरत मुनि ने शृंगार रस की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'लोक में जो कुछ पवित्र, उत्तम, उज्ज्वल एवं दर्शनीय है वह शृंगार रस है।[6] साहित्य दर्पणकार ने इसकी पुष्टि करते हुए लिखा है कि 'काम के अंकुरित होने का कारण अधिकांश उत्तम प्रकृति से युक्त शृंगार रस है।'[7] इससे यह सिद्ध होता है कि

१ स्त्रीषु जातो मनुष्याणां स्त्रीणां च पुरुषेषु वा।
परस्परकृतः स्नेहः काम इत्यभिधीयते॥
—शारंगधर १ ६।

२ क इदं कस्मा अदात् कामः कामायादात्।
कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामः समुद्रमा विवेश।
कामेन त्वा प्रतिगृह्णामि कामैतत् ते॥
—अथर्व ३।२९।७।

३ कामस्तदग्रे समवर्तत मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
स काम कामेन बृहता सयोनी रायस्पोषं यजमानाय धेहि॥
—अथर्व १९, ५२, १।

४ त्वं काम सहसासि प्रतिष्ठितो विभुर्विभावा
सखा आ सखीयते।
—अथर्व० १९, ५२ २।

५ अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति।
—बृहदारण्यक ४, ५।

६ यत्किंचिल्लोके शुचिमेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तच्छृंगारेणोपमीयते।
—नाट्यशास्त्र।

७ शृंगं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमन हेतुकः।
उत्तम प्रकृतिप्रायो रसः शृंगार इष्यते॥
—साहित्यदर्पण।

मनमथोद भेद का मुख्य कारण हृदय की सकामता है। यही मूल मानसिक प्रवृत्ति काम का यथार्थ स्वरूप है जिससे यह जीवन चक्र नित्य प्रपंच क्रियमाण है। नर नारी का पारस्परिक सहजाकर्षण रमणेच्छा इसी मानसिक प्रवृत्ति का प्रतिफलन है हृदय की सकामता की ही प्रक्रिया है। इसमें विश्व की सारी शुचिता उत्कर्षता उत्तमता और दमनीयता का संयोग है। यह वह रहस्यमय शिव संकल्प है जिस पर आत्मोत्सर्ग कर काम अनंग बन गया। और उसकी सहधर्मिणी रति ने स्त्री पुरुष को एक सूत्र में बाँध दिया। दोनों की परस्पर सम्मिलनेच्छा स्वाभाविक है—नियति का अनुल्लंघनीय विधान है। इसीसे इसका आधार उत्तम प्रकृति से युक्त शृंगार रस है।'[1]

स्त्री और पुरुष जिस शक्ति की प्रेरणा से आनन्दमय पावन परिणय सूत्र में बँध जाते हैं वही इन मधुर प्रभावों की स्थिति और उत्पत्ति का कारण है जिनसे सर्वाधिक पवित्र भव्य एवं निःस्वार्थ भावनाओं तथा कर्मों का शक्ति और अस्तित्व मिलता है। इन मधुर प्रभावों द्वारा पूर्ण आदर्श प्रकृतियों का परिष्करण होता है तथा उनमें भव्यता आती है। इनमें उन अमोघ बन्धनों की सृष्टि होती है जो प्रत्येक विराट एवं पवित्र महदाकांक्षा की पूर्ति के निमित्त मनुष्यता को बाँधे रहते हैं।[2] तात्पर्य यह है कि काम का यथार्थ स्वरूप भोग विलास का सम्मोहन और नग्न वासनाओं की उन्मादना नहीं है अपितु हृदय की सकामताजन्य अथवा मानसिक प्रवृत्तिजन्य वह पवित्र उत्तम उत्कर्ष और आनन्दमय मधुर प्रभाव है जो संसार की सृजन शक्ति का उत्स है।

काम की व्यापकता

यह सम्पूर्ण सृष्टि काममय है। यह संसार गोचर अगोचर सभी उस व्यापक कामदेव के ही क्रिया कलाप हैं। काम ही कर्ता है और वही क्रिया भी है। वह दाता भी है और प्रतिग्रहीता भी है। जो कुछ है सब काम के ही रूप है क्योंकि यह सृष्टि काम से ही चल रही है। इसीलिए वेद में भी कहा गया है कि हे काम! मैं काम से ही तुझे स्वीकार करता हूँ क्योंकि यह सब तेरा ही है।[3] अथर्ववेद में काम की व्यापकता की उद्घोषणा करते हुए कहा गया है कि हे काम! तू सर्वप्रथम उत्पन्न होकर देव पितर और मनुष्य सबको प्राप्त हुआ तुममें

१ रसकलश हरिऔध पृ ८२।

2 The purest noblest and most unselfish aspirations and purposes derive their strength and being from the sweet influences which have their beginning and continuance in this power which draws men and women together in happy and holy wedlock By these sweet influences the most perfect natures are moulded and ennobled By them are performed the strongest ties that hold humanity to the accomplishments of every high and holy endeavour

—रसकलश, हरिऔध पृ ८२ से उद्धृत।

३ कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता काम समुद्र मा विवेश।
कामेन त्वा प्रतिगृह्णामि कामैतत्ते।

—अथर्व ३।२९।७।

कोई बड़ा नहीं, इसलिए इस विश्व में तू व्यापक और सबसे महान् है। मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ।[2] भरत मुनि ने भी लोक में जो कुछ पवित्र, उत्तम, उज्ज्वल और दर्शनीय है उसे शृंगार रस अर्थात काम के अन्तर्गत माना है। अपने मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि आचार सिद्ध, हृदयग्राही और उज्ज्वलवेशात्मक होने के कारण शृंगार को रस कहते हैं।[1] श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान कृष्ण ने कहा है कि मैं सब भूतों में धर्म के अविरुद्ध काम हूँ।[3] मनुस्मृतिकार ने तो सभी कर्मों को काम की चेष्टा कहकर स्पष्ट शब्दों में काम की व्यापकता को स्वीकार किया है।[4] कामशास्त्र के प्रणेता वात्स्यायन ने लिंग सुख में ही काम को सीमित न कर उसके अन्तर्गत जीवन के सम्पूर्ण कलापक्ष को अन्तर्भूत करके उसके क्षेत्र को बड़ा ही व्यापक बना दिया है। इतना ही नहीं उन्होंने कामात सुखम प्रजात्पतिश्च कहकर काम को धर्म और अर्थ से सम्बद्ध कर दिया है और इस प्रकार काम को गार्हस्थ्य जीवन के व्यापक परिवेश में उपस्थित किया है। कामसूत्र के प्रथम अध्याय में ही अपने मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए वात्स्यायन ने लिखा है कि इस शास्त्र का ज्ञाता धर्म, अर्थ काम तथा अन्य लोगों के विश्वास पर ध्यान कर कार्य करेगा राग के वश होकर नहीं।[5]

इतना ही नहीं काम में संयम, सात्विकता एवं सद्गुणों का समावेश करके उसके उज्ज्वल रूप को ही नहीं उपस्थित किया गया है वरन उसे मोक्ष प्राप्त करने का एक साधन भी माना गया है। यहाँ तक कि ब्रह्मा विष्णु और महेश भी कामदेव के ही विभिन्न स्वरूप बतलाये गये हैं। संसार के सभी पदार्थों का उद्भव काम से ही होता है और पुनः सभी उसी में विलीन भी हो जाते हैं।[6]

---

१ 'एवमेष आचारसिद्धो हृद्योज्ज्वलवेशात्मकत्वाच्छृंगारो रसः।'

—नाट्यशास्त्र (भरत)।

२ कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा
आपुः पितरो न मर्त्याः।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते
काम नम इत्कृणोमि॥

—अथर्व ९ २ १९।

३ 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।'

—गीता, ७।११।

४ यद् यद्धि कुरुते किंचित् तत्तत्कामस्य चेष्टितम्। —मनुस्मृति।

५ धर्ममर्थं च कामं च प्रत्ययं लोकमेव च।
पश्यत्येतस्य तत्त्वज्ञो न च रागात्प्रवर्तते॥४३॥

६ पुरुषः परमेशानः प्रकृतिः परमेश्वरी। —कामसूत्र अ० २ (सप्तममधिकरणम्)
शंकरः पुरुषाः सर्वे स्त्रियः सर्वा महेश्वरी॥
विषयी भगवानीशो विषयः परमेश्वरी।
सर्वभूतात्मभूतास्या त्रिलिंगा विश्वरूपिणी॥
कामस्यैषापि सा मूर्तिः ब्रह्मा विष्णोश्वरात्मिका।
भूता वा वर्तमाना वा नित्या वापि सर्वशः॥
कामात् सर्वं प्रवर्तन्ते लीयन्ते वृद्धिमागताः।
कामः सर्वमयः पुंसां स्वसंकल्पसमुद्भवः॥
न मर्तुं शक्यते यश्च परचातु परंचयत्।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से काम जीवन की मौलिक वृत्ति एवं अनिवार्य तत्त्व है और एक विशेष क्रम के अन्तर्गत फूल पत्ते लता वल्लरी पेड़ पौधे पशु पक्षी आदि प्रत्येक पदार्थ में काम भावना विद्यमान रहती है जो विशिष्ट सामयिक परिस्थितियों में उद्दीप्त होती रहती है। पेड़ पौधों में फूल और फल लगने सूर्य चन्द्र के उदय और अस्त होने आदि क्रियाओं के मूल में यथासमय उद्दीप्त होने वाली काम भावना का ही चमत्कार और इसकी व्यापकता दृष्टिगत होती है।[1] मनोवैज्ञानिक दृष्टि से काम सिद्धान्त के प्रवर्तक फ्रायड ने भी प्राणी मात्र के सभी कार्यों के मूल में यौन भावना को स्वीकार कर स्पष्टतः काम के क्षेत्र को बहुत ही विशाल एवं व्यापक बना दिया है।

काम का प्रभाव

काम का प्रभाव अत्यन्त व्यापक है। जड़ चेतन सब में कामोद्भव के चमत्कार व्यापक रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। मानव और मानवेतर जगत में सर्वत्र काम के प्रभाव की विजय दुन्दुभी सुनाई पड़ती है। ललितकला के विविध रूपों एवं अनेकानेक भाव लोकों की सृष्टि करके मनुष्य अपने हृदय की सकामता को ही चरितार्थ करता है और उनमें अनुरक्त होकर अपने जीवन को सरस मधुर एवं आनन्दमय बनाता है। काम के प्रभाव से ही मुग्ध होकर पशु पक्षियों के जोड़े परस्पर सौन्दर्याकर्षण के मधुर बन्धन में बंधकर एक दूसरे की ओर आकृष्ट होते हैं एक-दूसरे का मुख चूमते हैं और परस्पर ग्रहण करते हुए नानाविध कामक्रीड़ाओं में प्रवृत्त होते हैं। राग रंजित उषा को दिनमणि की कनक रश्मियों से मण्डित देखकर प्रमुदित

ध्यान दाग़त दि य पर मह्य त्वयते ॥
परमात्मेति जापयुक्त विशारत क ममशित ।
सुप्ताना जागृता वा सर्वेषा यो हृदि स्थित ॥
नाना विधानि कर्माणि कुरुते मह्य तन्मदह् ।
निराकार मनाघोर रससव परम् ब्रम् ॥
त्रिवृद मह्य ततो विश्व कामश्च-द्वापयद्गतम् ।
स्यन्दी भ्रमरास्या म युक्त वा काममकल्प एव हि ॥

—शिव पुराण धर्मसंहिता पाठ ८।

[1] Throughout the vegetable and animal worlds the sexual functions are periodic from the usually annual period of flowering in plants *with its play of operen cell and germ cell and consequently seed* production upto the monthly effervescence of the generative organism in woman seeking not without the shedding of blood for the qualification of its reproductive function from first to last we find unfailing evidence of the periodicty of sex At first the sun and then as some have thought the moon have marked throughout a rhythmic impress on the phenomena of sex

—Studies in the Psychology of Sex
Vol II Havelock Ellis

विहगो के कलकण्ठ से स्वर्गीय संगीत की स्वर लहरियाँ थिरकने लग जाती हैं, खिले हुए कुसुमो को देखकर भ्रमरो की टोलियाँ उमड पडती हैं वसंत के वैभव विलास को देखकर कोयल रात रात भर कूक भरती रहती है आकाश मे उमडती मेघमाला को देखकर मयूर मत्त होकर नर्तन करने लग जाता है और वीणा की स्वर माधुरी मे मुग्ध होकर मृग व्याध के बाण का शिकार बन जाता है। आखिर ये सभी सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान कामदेव के प्रभाव के ही परिणाम तो हैं। इतना ही क्या प्राकृतिक जड-पदार्थ मे भी काम के प्रभाव के मधुर दृश्य दिखलाई पडते हैं। मूल शक्ति 'प्रेम-कला' की लीला सर्वत्र चरितार्थ हो रही है। सौन्दर्य सौकुमार्य प्रेम और सम्मोहन के अधिष्ठाता, योगियो के चिर-आराध्य कामदेव के प्रभाव के सामने देव दनुज मनुज जड और चेतन सभी विनत हैं। काम के व्यापक प्रभाव का उल्लेख करते हुए गोस्वामी तुलसीदास ने स्पष्ट लिखा है कि पुष्पधन्वा काम ने सभी लोको को अपना वशवर्ती बना लिया है। काम के मोह ने किस किसको नहीं अन्धा बना दिया ? जग मे ऐसा कौन है जिसको काम ने नहीं नचाया ?[१]

सुर प्रवृत्ति कामदेव ने भगवान शकर की समाधि भंग करने के लिए अपनी पूरी शक्ति का विस्तार किया था जिसके परिणाम-स्वरूप जड चेतन सब मे काम-कला का अद्भुत उद्वेलन होने लगा। काव्यग्रन्थो मे इस प्रसग का बडा ही उत्कृष्ट वर्णन किया गया है जिसमे काम की दुर्निवार गति उसके अप्रतिहत आवेग एव व्यापक प्रभाव का परिचय मिलता है। महाकवि कालिदास ने कुमार सम्भव मे उस मनोहर प्रसग का वर्णन करते हुए लिखा है कि 'भ्रमरगण अपनी-अपनी प्रिया का अनुगामी बनकर पुष्पपात्र मे मधुपान करने लगे कृष्णसार मृग अपने सीगो से हरिणियो के शरीर को सहलाने लगे जिनके मधुर स्पर्श सुख मे विमोहित होकर हरिणियो ने अपनी आख बन्द कर ली। हाथियो ने पद्म पराग से सुरभित सरोवर-सलिल को अपने करो द्वारा हथिनियो को पिलाया और चक्रवाक ने कमल नाल का एक अश लेकर आधा स्वय खाया और अर्द्धभाग अपनी प्रिया चक्रवाकी को खिलाया। इतना ही नहीं प्रभूत पुष्प-स्तबक स्तन और प्रवालोपम अधर पल्लव से सुशोभित लता-वधूटियो से वायु से विनत शाखा रूपी बाहु के मधुर पाश मे पादप पुंज को सस्नेह आलिंगन करने लग गया।'[२]

भक्त शिरोमणि तुलसीदास ने भी इस मधुर मादक प्रसग का बडा ही मार्मिक चित्रण किया है। काम के व्यापक प्रभाव एव उद्दाम शक्ति विस्तार के कारण चर-अचर सब मे सगमेच्छा प्रबलतम रूप मे प्रस्फुटित हो उठी। सबके हृदय मे मदन-अभिलाषा" अधिक हो

१ 'काम कुसुम धनु सायक लीन्हे।
सकल भुवन अपने बस कीन्हे।'

—रामचरितमानस बालकाण्ड।

२ मधुद्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः ।
शृंगेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः ॥३६॥
ददौ रसात् पंकजरेणुगन्धि गजाय गण्डूषजलं करेणुः ।
अर्द्धोपभुक्तेन बिसेन जायां सम्भावयामास रथांगनामा ॥३७॥
पर्याप्त पुष्पस्तबकस्तनाभ्यः स्फुरत्प्रवालौष्ठ मनोहराभ्यः ।
लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुर्विनम्रशाखा भुजबन्धनानि ॥

—कुमारसंभव कालिदास, तृतीय सर्ग

अनेक कामरूपा केलि क्रीडाओं में चरितार्थ होने लग गयी। समुद्र में मिलने के लिए सरिताएं उमगती हुई प्रधावित होने लगी। ताल-तलयों का संगम होने लगा। पशु पक्षी, नभचर जलचर और पृथ्वी के सभी जीव-जन्तु समय की मर्यादा को तोड़कर काम विमुग्ध हो गये। सारे लोक मदनांध हो व्याकुल हो उठे और अपनी-अपनी सुध बुध खो बैठे। इतना ही नहीं जो सिद्ध महामुनि विरक्त योगेश्वर तपस्वी विश्व को ब्रह्ममय मानते थे वे अब काम विमोहित होकर उसे नारीमय समझने लगे। स्त्रियाँ जग को पुरुषमय समझने लग गयी तथा पुरुषगण संसार को नारीमय मानने लग गये। इस प्रकार सबके मन को मथने वाले मनसिज ने सबको काम विमुग्ध करके विचलित कर दिया।[1]

सारांश यह है कि इस संसार में जो कुछ है सब ज्ञात और अज्ञात एवं दृश्य-अदृश्य रूप से एक-दूसरे के साथ मधुर भाव बन्धन में आबद्ध है एवं एक-दूसरे के परस्पर सौन्दर्याकर्षण सम्मिलन आदि नानाविध प्रेम व्यापारों द्वारा काम का व्यापक प्रभाव ही सर्वत्र चरितार्थ हो रहा है।

काम रति मनुष्य की नैसर्गिक इच्छा है

मनुष्य की इच्छाओं का कोई अंत नहीं है। किन्तु सामान्यतः वे सात कोटियों में विभक्त की जा सकती हैं —

१ दीर्घजीवी होने की इच्छा।
२ रति शृंगार और आनन्द की इच्छा।
३ जीवन यापन विषयक आवश्यक उपकरणों को प्राप्त करने की इच्छा।
४ यश और सम्मान की इच्छा।
५ विद्या ज्ञान विज्ञान प्राप्त करने की इच्छा।

---

१ जे सजीव जग अचर चर नारि पुरुष अस नाम।
ते निज निज मरजाद तजि भए सकल बस काम॥
सब के हृदय मदन अभिलाषा। लता निहारि नवहिं तरु साखा॥
नदीं उमगि अंबुधि कहुँ धाई। संगम करहिं तलाव तलाई॥
जहँ असि दसा जड़न्ह कै बरनी। को कहि सकइ सचेतन करनी॥
पसु पच्छी नभ जल थल चारी। भए काम बस समय बिसारी॥
मदन अंध ब्याकुल सब लोका। निसि दिनु नहिं अवलोकहिं कोका॥
देव दनुज नर किंनर ब्याला। प्रेत पिसाच भूत बेताला॥
इन्ह कै दसा न कहेउँ बखानी। सदा काम के चेरे जानी॥
सिद्ध बिरक्त महामुनि जोगी। तेपि कामबस भए बियोगी॥
भए कामबस जोगीस तापस पावँरन्हि की को कहै।
देखहिं चराचर नारिमय जे ब्रह्ममय देखत रहे॥
अबला बिलोकहिं पुरुषमय जगु पुरुष सब अबलामय।
दुइ दंड भरि ब्रह्मांड भीतर कामकृत कौतुक अयं॥
धरी न काहूँ धीर सबके मन मनसिज हरे।
जे राखे रघुबीर ते उबरे तेहि काल महुँ॥
—रामचरितमानस।

६ अपने प्रति न्याय की इच्छा ।

७ मोक्षप्राप्ति की इच्छा ।

फ्रीनालाजी के अनुसार मस्तिष्क म ध्यान मान, अय काम आयु विज्ञान और न्याय धम क प्रमुख सात स्थान बतलाये गए हैं। अय स्थान तो इही के अतगत हैं। इससे स्पष्ट है कि ये इच्छाएँ नसर्गिक हैं।

कामेच्छा मन मे बीज रूप से है। सबसे पहले इसी की उत्पत्ति हुई। अथववेद म कहा गया है कि हे काम ! तूने बहुत बडे काम का विस्तार कर लिया है। अत अब उसकी पूर्ति के लिए धन द।[1] इस प्रकार मन और रेत अथात रति ही काम का मूल है। इस काम से ही विविध कामनाएँ उत्पन्न होती हैं। मनुष्य विश्व के अय विषयो से भले ही अपना मन हटा ले पर स्त्री स पुरुष को और पुरुष से स्त्री को अपना मन हटाना बडा ही दुस्तर है। स्त्रियो म पुरुषो का और पुरुषो म स्त्रियो का जो परस्पर स्वाभाविक स्नेह है उसी को 'काम कहते हैं।[2] स्त्री और पुरुष के इस पारस्परिक स्नेह-व्यापार और सहज स्वाभाविक आकषण के दो मुख्य कारण हैं। पहला कारण यह है कि मनुष्य अनत जम-जमातरो से अनेक योनियो म स्त्री और पुरुष शक्ति क सम्मेलन द्वारा हो पदा होता हुआ और उसी सम्मेलन के द्वारा अय जीवो को पदा करता हुआ चला आ रहा है। दूसरा कारण यह है कि वीय म पडे हुए जीवो के भोग जीवो के बाहर निकलने और नवीन शरीर धारण करने की प्रेरणा देते हैं। इही दोनो कारणो से स्त्री पुरुषो म एक-दूसरे के प्रति विलक्षण आकषण होता है और मनुष्य रति क्रिया के लिए विवश होता है।[3]

काम-सिद्धि

काम सिद्धात क तात्त्विक विवेचक वात्स्यायन न काम सिद्धि को जीवन के अनिवाय तत्त्व क रूप म स्वीकार किया है। जिस प्रकार क्षुधा निवृत्ति के लिए भोजनोपाजन करना जीवन की अनिवाय आवश्यकता है उसी प्रकार प्राणियो के लिए काम की सिद्धि भी परमावश्यक है। पच ज्ञानेद्रियो द्वारा प्राप्त सुख रूप रस गध शब्द और स्पश काम की सिद्धि के सहायक उपकरण हैं। काम सिद्धि का शापफल स्त्री-पुरुष समागम से प्राप्त आनद है। स्त्री पुरुष सयोग जय सुख अय लौकिक अथवा वषयिक सुखो म सर्वाधिक सम्मोहनकारी सर्वोत्कृष्ट एव मधुर है। काम की सिद्धि के लिए सौन्दय, यौवन स्वास्थ्य विद्या आदि गुण अपेक्षित हैं। इनके अभाव मे लोक-कल्याणकारी सृजनात्मक प्रेरणाए ही कुण्ठित हो जाएगी और जगत के सारे क्रम-कलाप ठप्प पड जाएँगे।

---

१ स काम कामेन बृहता सयोनी रायस्पोष यजमानाय धेहि ।
—अथव १९।५२।१।

स्त्रीषु जातो मनुष्याणा स्त्रीणा च पुरुषेषु वा ।

२ परस्परकृत स्नेह काम इत्यभिधीयते ।
—शा द मयद ३१ ।

३ वैदिक सम्पत्ति प० रघुन दन शर्मा शास्त्री पृ० ७२३ ७२४ ।

काम के द्विविध रूप वासनामूलक और परमार्थ-मूलक

काम के द्विविध रूप हैं—निम्नवासना मूलक और परमार्थ मूलक। इन्हीं को दूसरे शब्दों में क्रमशः वासना और प्रेम की भी संज्ञा दी गई है। काम जब वैयक्तिक सुख निम्न वासना का रूप ग्रहण कर लेता है तब वह निम्न स्तर का हो जाता है। ऐसी दशा में वह प्राणियों को क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति तथा अधःपतन के मार्ग पर ही अग्रसर करता है। यह निकृष्ट काम-दशा वस्तुतः प्राणियों की मोह दशा है जिसमें व्यक्ति नाना स्वार्थों एवं विविध सुखों की वासना के बीच निमग्न हो जाता है[1] और उसका अन्तर क्षुद्र विषयोपभोग के आवेगों से अहर्निश आन्दोलित होता रहता है। इस निकृष्ट काम-दशा में दूसरे पक्ष के शोषण (Squeeze out) करने की प्रवृत्ति ही प्रमुख रहती है। इसके परिणामस्वरूप विषयासक्ति, क्रोध, घृणा, द्वेष, प्रतिशोध, सन्देह, भय, दम्भ, अहंवादिता, उग्रता, स्वार्थान्धता आदि निकृष्ट भावों की उत्पत्ति होती है जो व्यक्ति और समाज के विकास के लिए घातक हैं। काम का दूसरा रूप परमार्थ मूलक है। यह काम का उत्कृष्ट रूप है जिसमें काम पुरुषार्थ का रूप धारण कर मनुष्य को ऊर्ध्वमुख करता है तथा विकास के पथ पर अग्रसर होने की नव्य एवं भव्य प्रेरणा प्रदान करता है।

काम वृत्ति का स्थायी भाव 'रति' है तथा उसका व्यावहारिक रूप 'प्रेम' कहलाता है। प्रेम एक स्थिर मनोदशा है जिसमें वात्सल्य भाव (Tender Feeling) काम भाव (Lust) आत्म समर्पण (Submission) तथा आत्म प्रतिष्ठा (Self Assertion) का मधुर सम्मिश्रण रहता है। काम भाव में आत्म समर्पण आदि सुकुमार भावों के मधुर संयोग से ही प्रेम का निर्माण होता है। जिस प्रकार समुद्र में अगणित तरंगें उठती एवं लीन होती रहती हैं उसी प्रकार जहाँ सभी रस एवं भाव उन्मज्जित निमज्जित होते रहते हैं उसी को प्रेम कहते हैं।[2]

पात्र भेद से इसी प्रेम के तीन रूप हो जाते हैं। छोटों के प्रति स्नेहाकर्षण वात्सल्य भाव है। समान लोगों के प्रति अर्थात् स्त्री पुरुष के पारस्परिक स्नेहाकर्षण को दाम्पत्य भाव कहा जाता है तथा गुरुजनों के प्रति होने वाले स्नेहाकर्षण को दैन्य एवं आत्म-समर्पण भाव पूरित होने के कारण पूज्य अथवा श्रद्धा भाव की संज्ञा दी जाती है। उच्च स्तर पर पहुँच जाने पर यही पूज्य भाव भक्ति में परिणत हो जाता है। लौकिक प्रेम जब अलौकिक प्रेम का रूप धारण कर लेता है जीवोन्मुखी प्रेम जब ईश्वरोन्मुखी प्रेम में परिणत हो जाता है तब रागमयी भक्ति भावना का उदय होता है।

दाम्पत्य प्रेम में प्रेमभाव का पूर्ण स्फुरण तथा काम भाव का उन्नयन हो जाता है। इसमें स्वार्थ की गौणता तथा परार्थ की प्रधानता रहती है। इस प्रकार मनुष्य के हृदय में कोमल भावनाओं का उदय होता है जिसकी चरम परिणति मधुर रस-साधना में होती है।

---

१ नाना स्वार्थों विविध सुख की वासना मध्य डूबा।
भावेगों से बलित ममतावान् है मोह होता॥
—प्रियप्रवास, हरिऔध।

२ सर्वे रसाश्च भावाश्च तरंगा इव वारिधौ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति यत्र स प्रेमसंज्ञकः॥
—रीतिकविता और शृंगार रस का विवेचन डॉ० रा० प्र० चतुर्वेदी, पृ० ८ से उद्धृत

काम की इस उत्कृष्ट दशा को प्रेम-दशा कहते हैं जिसमें निष्कामता सात्विकता शुचिता एवं आत्मोत्सर्ग की चरम सीमा होती है।[1] इसमें शारीरिक पक्ष की गौणता तथा मानसिक पक्ष की प्रधानता होती है। काम के इस उत्कृष्ट रूप में लौकिक प्रेम शरीरोत्तर प्रेम में रूपान्तरित हो जाता है। वयक्तिक सुख के निम्न धरातल से ऊपर उठकर व्यक्ति जैसे-जैसे पारमार्थिक सुख के सोपान पर आरूढ़ होता जाता है वैसे-वैसे उसके काम भाव के साथ बौद्धिक तत्त्व के समावेश हो जाने से उसका उन्नयन होता जाता है। अन्ततः व्यक्ति के काम मनोवेग का पूर्ण उन्नयन हो जाने पर उसके हृदय में सात्विक एवं कोमल भावों का प्रादुर्भाव हो जाता है। प्रेम में इन्हीं सात्विक एवं कोमल मनोभावों का प्राणमय प्रकाशन होता है जो उत्तरोत्तर विकसित होते हुए परम प्रेमस्वरूपा भक्ति में रूपायित हो उठता है।

प्रेम अथवा रति का भक्ति में रूपान्तर

प्रेम अथवा रति भाव अपने विशुद्ध रूप में भक्तिभाव में रूपान्तरित हो जाता है। इस प्रकार काम भावना का परिष्कृत रूप ही भक्ति भावना कहलाती है। इसीलिए भावुक भक्तों ने ब्रह्म और उसकी शक्ति परमात्मा और जीवात्मा को दाम्पत्य स्नेह-सम्बन्ध-सूत्र में आबद्ध कर आध्यात्मिक परिणय की अभिनव कल्पना की है एवं उनके विश्व विमुग्धकारी अनुपम सौन्दर्य और नित्य-स्वरूप के चिरन्तन की अभिलाषा की है। अखिल विश्व में व्याप्त ब्रह्म के प्रति सरसता अथवा रति भाव की अनुभूति ही भक्ति की सर्वप्रमुख विशेषता है।

प्रेम मनुष्य की संस्कृति का सारांश है। अद्यावधि मनुष्य इसको अनेक प्रयोगों से अनुभूत करता आया है। प्रेम अनेक रूपों में अपने को चरितार्थ कर रहा है। स्त्री-पुरुष के परस्पर सौन्दर्याकर्षण और संयोगेच्छा को ही इस समाज में प्रेम कहा जाता है क्योंकि अन्य प्रकार के आकर्षणों के लिए वात्सल्य और भक्ति की संज्ञा दी जाती है। स्त्री और पुरुष के प्रेम की उत्कट तीव्रता यौवनकाल में ही प्रायः होती है। इसका मूल कारण प्रजनन अथवा सृजनशील प्रेरणाओं का प्राकृतिक नियम है। मनुष्य की सभ्यता और संस्कृति ने स्त्री-पुरुष के भाव-बंधन को प्रजनन प्रवृत्ति की अनगम्यता मात्र से ऊपर उठाकर उसे उदात्त से उदात्त बनाने का यत्न किया है। फलतः प्रेम कभी व्यक्तिपरकता में समाप्त नहीं हो जाता क्योंकि प्रेम का परिणाम सृष्टि का विकास है। जहाँ प्रेम सृष्टि विकास के स्थान पर सामाजिक जीवन की समाप्ति की जाती है वहाँ प्रेम भक्ति के ही स्वरूप में अपने को परिवर्तित कर लेता है।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैक्डूगल प्रत्येक आवेग का किसी-न-किसी सहजात वृत्ति से (Instinct) घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं।[2] भय का आवेग तभी आता है जब आत्म रक्षा की नैसर्गिक प्रवृत्ति का प्रतिबंध प्रतीत होता है। इसीलिए प्राणी यन्त्रवत् व्यवहार करने लग जाता है। आवेग में आकर महान व्यक्ति भी विचित्र व्यवहार करने लग जाते हैं। प्रेम में आवेग की तीव्रता सर्वोपरि होती है। इसीलिए भक्ति के लिए प्रेम अनिवार्य तत्त्व माना गया

---

१ निष्कामी है प्रणय शुचिता मूर्ति है सात्विकी है।
होती सीमा चरम इसमें आत्मोत्सर्ग की है॥
—प्रियप्रवास हरिऔध।

2 See Social Psychology by William Mc Dougall

है। नारद ने भक्ति को प्रेम-स्वरूपा अथवा स्नेहोभक्तिरिति कहकर इसी सत्य को चरितार्थ किया है।

अनन्य प्रेमदशा सर्वोत्तम भक्ति की मनोदशा है

प्रेम आदान नहीं प्रदान है। वह भोग विलास का मादक स्वप्न नहीं है और न वासनाओं का उन्माद ही है। ये सब प्रेम नहीं कहला सकते। वस्तुत भव्यता शान्ति और सदाचरण ही प्रेम है। यह ससार का सर्वोत्तम पदार्थ है तथा चिरन्तन है।[1] समुद्र में लहरों के समान जिसमें सभी रस और भाव उठते और लीन होते रहते हैं उसी को प्रेम की सज्ञा दी जाती है।[2]

प्रेम द्वैत में अद्वैत भाव उत्पन्न करने वाला अमोघ साधन है। प्रेमी प्रेमिका नर-नारी पति पत्नी प्रेम के भाव-बन्धन में आबद्ध होकर परस्पर पानी और शक्कर के समान घुल मिल कर एक हो जाते हैं। प्रेमोत्सर्ग से प्रसूत आत्मोत्सर्ग का भाव क्रमश विकसित होते हुए विश्व प्रेम और विश्वकर्त्ता के प्रेम में परिणत हो जाता है। प्रेम का यह उन्नयन ही भक्तिरस का उद्रेक है।

अनन्य प्रेमभाव एक व्यापक मनोवृत्ति है क्योंकि वह कई प्रकार के मनोवेगों के सम्मिश्रण उनकी पुनरावृत्ति और क्रमिक बौद्धिक तत्त्व के समावेश का प्रतिफल है। प्रेम मन की वह स्थिर दशा है जिसमें समस्त मूल वृत्तियाँ अपत्य-स्नेह सघर्ष जिज्ञासा भोजनोपार्जन निषेध पलायन आत्म प्रतिष्ठा सामाजिकता आत्म समर्पण काम निर्माण आर्त प्रार्थना क्रीड़ा अनुकरण तथा हास्य तथा उनसे सम्बद्ध समस्त मनोवेगों वात्सल्य क्रोध उत्सुकता क्षुधा घृणा भय सहानुभूति गर्व उत्सर्ग काम परिग्रह सृजनोत्साह आदि का मधुर सयोग रहता है।

प्रेम या कामभाव सृष्टि का मूल तत्त्व है। यही कारण है कि नर या नारी के मनोभावों में काम-वासना या प्रेम भावना का अत्यन्त ही महत्वपूर्ण स्थान माना गया है। इस वासना में अपने प्रिय के लिए जो राग होता है हृदय में जो भावाकुलता होती है तथा उसके मधुर मिलन की जो तीव्र आकाक्षा होती है वही कामानुगा भक्ति है। इस विशिष्ट भाव दशा में प्रेमी अपनी प्रेयसी के लिए अपने व्यक्तित्व का सर्वांग-समर्पण स्वेच्छया प्रसन्नतापूर्वक करता है। इस प्रकार के आत्म विलयन (Self annihilation) अथवा सर्वात्म-समर्पण में अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है। प्रेम की यह अनन्य दशा अनिर्वचनीय है। भक्त जन इसी को अपना आदर्श मानकर सदा इसके लिए लालायित रहते हैं।[3]

---

1 Love is not getting but giving not a wild dream of pleasure and a madness of desire Oh no love is not that It is goodness and peace and pure living Yes love is that and it is the best thing in the world and the thing that lives longest

—रसकलश हरिऔध पृ ८ भू० प्र०।

२ रसिक उद्धरण सख्या—१ ५।

३ कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरतर प्रिय लागहु मोहि राम॥　　　—मानस तुलसीदास

चित्त की यह भावाकुलता जब किसी प्राकृत जन के लिए न रहकर प्रेम रूप और तृप्ति की समष्टि या किसी दिव्य तत्त्व या राम के लिए हो जाए तो यही सर्वोत्तम भक्ति की भावना है। इस स्थिति में मानवात्मा किसी लौकिक विषय वस्तु में सुख की खोज नहीं करती वरन जिस चेतन्य तत्त्व से उसका प्रादुर्भाव और विकास हुआ है उसी से एकमेक हो जाने के लिए वह कामासक्त मन के समान तीव्र आकुलता प्राप्त करता है। यही अनन्य प्रेम या भावना सर्वोत्तम भक्ति का स्वरूप है।

भारतीय एवं पाश्चात्य मानस-शास्त्र का दृष्टिकोण

अध्यात्मवाद भारतीय चिंतन का आधार स्तम्भ रहा है। यही कारण है कि समस्त भारतीय चिंतन विधाओं पर आध्यात्मिकता का गहरा रंग दिखलाई पड़ता है। इसके ठीक विपरीत पाश्चात्य चिंतन-पद्धति सदैव भौतिक दृष्टिकोण को अपनाकर आगे बढ़ती रही है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि पश्चिम में भक्ति भावना का सर्वथा अभाव ही है। बाइबिल में अनेक ईसाई संतों के ईश्वर प्रेम तथा भगवान् के मधुर मिलन का स्वानुभूति का बड़ा ही मनोरम वर्णन मिलता है। कबीर आदि संतों के समान ही ईसाई संतों ने भी आध्यात्मिक सुखाभिव्यक्ति की है तथा आध्यात्मिक परिणय का मधुर वर्णन किया है। किन्तु भारतीय भक्ति साधना में स्वतन्त्र रूप से लीलारस का जैसा परिपाक हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। फलतः भारतीय तथा पाश्चात्य मानसशास्त्र के क्षेत्रों में दृष्टि वैषम्य का होना सर्वथा स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि अधिकांश पाश्चात्य मनोविज्ञान-वेत्ताओं ने केवल भौतिक आधार पर ही मनुष्य के दिव्य मनोराग की मीमांसा करने का प्रयास किया है और आज के विशुद्ध भौतिकवादी युग में उनके इस प्रकार के विचार दर्शन को ही सर्वाधिक प्रश्रय भी दिया जाता है। किन्तु आज भी ऐसे विद्वानों का अभाव नहीं है जो मधुर रस जैसे गूढ़ विषयों के अध्ययन की पूर्णता के लिए मात्र भौतिक दृष्टिकोण के अपनाए जाने की व्यर्थता का अनुभव करते हैं तथा इसके लिए आध्यात्मिक दृष्टिकोण के अपनाए जाने को आवश्यक ही नहीं अनिवार्य मानते हैं। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों के अध्ययन का मूलाधार अचेतन मन है जहाँ नेपथ्य में अनजाने ही मनुष्य की अवदमित काम वासना अहर्निश नाना क्रीडा-कौतुक की रचना करती रहती है। भारतीय मानसशास्त्रियों की दृष्टि में यह मन की निम्नतम अवस्था है जो मनुष्य के मोहाच्छन्न मानस की परिचायिका है। मन की सर्वाधिक उच्चतम अवस्था तो समाधिदशा है। किन्तु आज के युग में उन्हीं बातों को सबसे अधिक मान्यता दी जाती है जो भौतिक दृष्टियों से तर्कसम्मत सिद्ध हो सकें। परमसत्ता के प्रति मनुष्य का दिव्य मनोराग अर्थात् मधुर भक्ति भावना मनुष्य की जन्मजात वृत्ति है या किन्हीं अन्य प्रवृत्तियों के घात प्रतिघात अथवा सहयोग से उसका आविर्भाव होता है तथा मानव की सहज वृत्तियों में उसका क्या स्थान है—इन सारे विषयों पर पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने भी विचार किया है। एतदर्थ मधुर रस के स्वरूप को समझने के लिए पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों के एतद्विषयक दृष्टिकोण एवं मान्यताओं का विवेचन आवश्यक है।

पाश्चात्य मानस शास्त्र के तीन सस्थान

पाश्चात्य मानसशास्त्र का विकास तीन सस्थानो म हुआ है। प्रथम सस्थान के प्रव त्तक विद्वान डा० वाटसन है जिन्होने मानव मन क अस्तित्व को न स्वीकार कर मानव व्यापारो को ही अपना मुख्य प्रतिपाद्य माना है। डा० वाटसन और उनके अनुयायियो की दृष्टि म मनुष्य क सारे व्यापार यन्त्रवत होत रहत हैं। सामारिक विषयो का उपभोग ही जीवन का लक्ष्य है तथा ईश्वर केवल आलसी मनुष्यो द्वारा उत्पन्न भ्रम है। ऐसी स्थिति म मधुर रस के स्वरूप क विवचन की दृष्टि से यह विचारधारा सवथा निरथक है।

पाश्चात्य मानस शास्त्र क द्वितीय सस्थान क प्रवत्तक विद्वान प्रसिद्ध मनोविज्ञानवत्ता डा० सिगमण्ड फ्रायड एडलर और युग हैं। इन तीनो के सिद्धान्तो म यद्यपि थोडी-बहुत विषमता दष्टिगत होती है तथापि इनके सिद्धान्त मूलत मन की अचेतन अवस्था पर ही आधारित हैं। इनके मतानसार काम वृत्ति सभी वृत्तियो का मूल है तथा धम कला आदि म इसी का उन्नयन हो जाता है। अथात ईश्वर प्रम (God Love) यौन प्रम (Sex Love) का ही परिष्कृत रूप है। इस प्रकार ईश्वर क प्रति जो मधुरोपासना की जाती है वह अवदमित काम भावना का ही उदात्त रूप है।

पाश्चात्य मानसशास्त्र के तीसरे सस्थान क प्रवत्तक समाजशास्त्री विद्वान विलियम मैग्डूगल है। इनके मतानसार समाजप्रिय मनष्य के सारे व्यापारो म सहेतुक प्ररणा का अत्य धिक महत्त्व है। इसी के आधार पर इस कोटि क विद्वानो ने मनुष्य की सहज प्ररणा (Instinct) भावना (Emotion) और स्थिर वृत्ति की विशद विवचना की है। विलियम मैग्डूगल ने फ्रायड के समान कामवृत्ति की प्रमुखता को स्वीकार करते हुए भी सभी प्रकार के प्रम सम्बन्धो म काम भाव (Sex Feeling) की मान्यता को अस्वीकार किया है। उनकी दष्टि म काम भाव और प्रम की स्थिर वृत्ति को एक मान लेने की भ्रान्ति के कारण ही सारे प्रम-सम्बन्धो म कामभाव को स्वीकार किया जाता रहा है।[2] सामाजिक कल्याण तथा उच्च सस्कृति की दृष्टि स काम भाव का उदात्तीकरण अति आवश्यक है।[3] विलियम मैग्डूगल के सिद्धान्त की विशेषता यह है कि उसने अन्य वत्तियो क साथ-साथ भक्ति वत्ति (Religious sentiments)

---

1 Theodor Schroder in American Journal of Psychology Quoted by Thouless in his book Introduction to Psychology of Religion Page 128

2 I have already indicated the fallacy of one piece of reasoning advanced in support of the Freudian view namely the acceptance of all manifestation of personal love or affection as evidence of sexuality for this as was said is due to the confusion of the sexual instinct with the sentiment of love

—Introduction to Social Psychology Page 351 by William Mc Dougall

3 Introduction to Social Psychology Pa e 358 59

पर भी विचार किया है तथा मानवी सत्ता को केवल अचेतन अवस्था तक ही परिसीमित न करके सामाजिक दृष्टि से भी उसका विवेचन किया है। अतएव ईश्वर की मधुरोपासना की दृष्टि से इनके सिद्धान्तों का विशेष महत्त्व है।

मनोवैज्ञानिकों के काम-सिद्धान्त-विषयक तीन मत

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के काम सिद्धान्त विषयक मत तीन प्रकार के हैं। प्रथम पहला है फ्रायड का मत जो काम को जीवन की मूल वृत्ति मानते हुए रतिवृत्ति अथवा योनि भावना पर आधारित है। दूसरा मत है आल्फ्रेड एडलर का जो हीन भाव अथवा क्षति-पूर्ति को लेकर चलता है। तीसरा है युग का सिद्धान्त जो उक्त दोनों को जीवनेच्छा या स्ववर्गता अस्मिता के पोषण की शाखाएं मानता हुआ जीवनेच्छा को मूल मानता है। इन तीन सिद्धान्तों में कोई मौलिक अंतर नहीं है क्योंकि तीनों सिद्धान्त राग, आकर्षण संयोगेच्छा अथवा स्वत्व रक्षा पर आधारित हैं और ये सभी प्रेम के ही व्यापार हैं। मनोविश्लेषण शास्त्र के अनुसार प्रेम आत्म रक्षा का ही रूप है। उसमें अपूर्ण की पूर्णता का भाव सन्निहित है। यौन-आकर्षण में भी अपूर्ण द्वारा पूर्णता प्राप्त करने का ही प्रयास होता है। स्त्री और पुरुष के पारस्परिक आकर्षण का कारण है एक विशेष में दो योनियों का विकास। पुरुष में स्त्री के और स्त्री में पुरुष के अभाव की पूर्ति हो जाती है। यही नर-नारी के नित्य आकर्षण का मूल कारण है।

फ्रायड का काम-सिद्धान्त और भक्तिभाव

अचेतन मन के विशद एवं गम्भीर अध्ययन तथा कामवृत्ति को जीवन की मूलवृत्ति सिद्ध करने के कारण मनोविज्ञान-जगत में सिगमण्ड फ्रायड का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। फ्रायड के अनुसार मन के तीन विभाग हैं—चेतन (Conscious) पूर्वचेतन (Preconscious) और अचेतन (Unconscious)। मन के इन तीन विभागों में से फ्रायड ने 'अचेतन मन' को सबसे महत्त्वपूर्ण माना है क्योंकि उसकी दृष्टि में मनुष्य के चेतन मन की समस्त भावनाएँ किसी-न किसी रूप में अचेतन मन की भावनाओं द्वारा नियन्त्रित एवं परिचालित होती रहती हैं। फ्रायड के अनुसार मानव-मन में विभिन्न प्रकार की इच्छाओं एव प्रेरणाओं को उत्पन्न करनेवाली मूलशक्ति कामवृत्ति (Libido) है जो अचेतन मन में विद्यमान रहती है। यह कामवृत्ति या राग-क्षुधा आदि सहज वृत्तियों के समान मूलतः नैसर्गिक है। जिस प्रकार पोषण की सहज वृत्ति क्षुधा द्वारा अपनी अभिव्यक्ति करती है उसी प्रकार यह नैसर्गिक यौनवृत्ति भी सदा अपनी अभिव्यक्ति करती रहती है।[1] सृष्टि विधान में इस यौन-वृत्ति की ही प्रधानता है। इसी आदि वासना से प्रेरित एवं ने अनन्त रूपों में अपना आत्म विस्तार किया है।

मनुष्य चेतन एवं सामाजिक प्राणी है। अतः वह अनुचित इच्छाओं का निरोध करके निरोध द्वारा प्राप्त शक्ति का प्रयोग कला भक्तिभाव अथवा अन्य श्रेष्ठ दिशाओं में उच्चतर कार्यों के लिए करता है। इसी को फ्रायड ने कामभाव के उन्नयन या उदात्तीकरण की संज्ञा दी है जिसके लिए नैसर्गिक वृत्तियों के निरोध या दमन को वह व्यक्ति के स्वास्थ्य के लिए

1 Introductory Lectures of Psycho analysis Freud P 263

श्रेयस्कर एव अनुचित मानता है।[1]

वात्स्यायन आदि प्राचीन भारतीय मनीषियो के समान पाश्चात्य मनोविज्ञानवेत्ताओ ने भी कामवासना को जन्मजात माना है तथा जीवन की इस मूल वासना की व्याख्या कई प्रकार से की है। फ्रायड के मतानुसार जीवन के समस्त व्यापारो को नियंत्रित एव परिचालित करनेवाली कामवृत्ति सामान्यत चार रूपो म चरितार्थ होती है—आत्म-काम (Auto Erotism) अर्थात अपने आप के प्रति प्रेम मातृकाम (Oedipus complex) अर्थात पुत्र का अपनी माता के प्रति कामुक प्रेम अथवा पितृकाम (Electra complex) अर्थात पुत्री का अपने पिता के प्रति कामुक प्रेम समकाम (Homo sexual) अर्थात पुरुष का पुरुष के प्रति या स्त्री का स्त्री के प्रति कामुक प्रेम एव विषमकाम (Hetro sexual) अर्थात नर का नारी के प्रति और नारी का नर के प्रति कामुक प्रेम। इस प्रकार मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन ही काम वासना से आच्छादित माना गया है। फलत फ्रायड की दृष्टि म प्रेमभाव या कामभाव म कोई अन्तर नही है। दोनो म यदि थोडा अन्तर माना भी जा सकता है तो यही कि प्रेम म यौन आवेगो के आधारभूत शारीरिक या ऐद्रिक पहलू की आवश्यकताओ को छोडकर या कुछ काल के लिए भुलाकर उसके मानसिक पहलू पर ही जोर दिया जाता है।[2] बच्चा म क्षुधावृत्ति के समान यौनभावना या कामवृत्ति जन्मजात होती है। मैथुन अथवा प्रजनन की वृत्ति (Pairing Mating or Reproduction) प्राणि मात्र की मूल वृत्तिया म एक प्रधान वृत्ति है। अतएव मैथुन वृत्ति से सबद्ध मनोवेग काम (Lust) एक मौलिक मनोवेग (Primary Emotions) है। फ्रायड के मतानुसार बालक का स्तन चूसना अगूठा चूसना आदि क्रियाए बाल कामभाव की ही परिचायिका हैं। मनुष्य म तीन चार वर्ष की अवस्था म ही मैथुन मनोवेग का उदय होता है जो यौवनकाल म अत्यधिक उग्र हो जाता है। इसी कामभाव से उत्प्रेरित होकर बालक अपनी माता से प्रेम करता है। आगे चलकर अपनी माता से वियुक्त हो जाने पर बालक अपने खोये हुए प्रेम को प्राप्त करने के लिए ही दूसरे व्यक्तियो से प्रेम करने लगता है। इस प्रेम व्यापार म किसी प्रकार की बाधा हो जाने पर उसके मन म क्रोध उत्पन्न होता है जो फिर घृणा और द्वेष म परिणत हो जाता है।[3]

फ्रायड ने मैथुनवृत्ति की व्यापकता पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि मनुष्य के प्रेम एव स्नेह के मूल म यौन भावना ही प्रेरक शक्ति है। उनकी दृष्टि म मनुष्य यौन भावना का एक मल्ल है। अन्य सभी मनोवेग तथा उत्पन्न होते हैं जब वायलर म वाष्प के समान यौन भावना बहिर्भूत होता है।[4] फ्रायड ने यह भी माना है कि शैशव कामवृत्ति के उद्भव

1 Introductory Lectures of Psycho-analysis Freud P 362

2 Introductory Lectures of Psycho analysis Freud P 277

3 Sexuality is a means or restoring the best sense of union with the Mother for sexual intercourse and suckling are alike and unique in this respect that neither should there be any difference or conflict of interest between th parents

—Basic Writings of Sigmund Freud

4 Basic Writings of Sigmund Freud Contribution I

के साथ ही-साथ उसके निरोध या दमन की मानसिक प्रक्रिया भी शुरू हो जाती है और अपने यौन उद्देश्यों के आंशिक ज्ञान से मनुष्य रहित हो जाता है।[1] तात्पर्य यह है कि कामवृत्ति के उन्नयन के साथ साथ उन्नयन की पृष्ठभूमि तैयार हो जाती है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर फ्रायड ने बोध, वृत्ति ज्ञान और भक्ति भावना का कामवृत्ति के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास किया है। उनके विचार में भक्तिभाव नैतिकता और सामाजिकता आदि उच्चादर्श कामवृत्ति के ही रूप से आविर्भूत होते हैं जिसे सामान्य तौर पर 'मातृकाम' और 'पितृकाम' की संज्ञा दी जा सकती है।[2]

फ्रायड के मतानुसार ईश्वर की कल्पना के मूल में प्राकृतिक शक्तियों से सुरक्षा का उपाय सोचने की वृत्ति तथा भावुकता की वृत्ति सक्रिय है जो बालमनोवृत्ति से ही संबद्ध हैं, जिसके अनुसार मनुष्य प्राकृतिक शक्तियों से सम्बन्ध स्थापित करके उन्हें संतुष्ट करने का प्रयास करता है।[3]

सारांश यह है कि भक्तिभाव का मूल कामवृत्ति है और यह शैशव की अपने को असहाय माननेवाली वृत्ति का पुनरावर्तन है। अतः फ्रायड की दृष्टि में भक्ति भावना चित्त की भ्रांति है कल्पना विलास है जिसका कोई वास्तविक आधार नहीं है।[4]

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि फ्रायड के सारे सिद्धांत अचेतन मन की महत्ता, जीवन में कामवृत्ति की सर्वव्यापकता और बाल कामभाव पर आधारित हैं जिनका प्रत्याख्यान स्वयं फ्रायड के अनुयायी कहे जाने वाले एडलर और युग प्रभृति विद्वानों ने किया है। एडलर के मतानुसार मनुष्य के सारे व्यापार कामवृत्ति द्वारा नहीं अपितु प्रभुत्व की इच्छा अथवा आत्माभिव्यक्ति की भावना द्वारा प्रेरित होते हैं। अतएव मनुष्य के मानसिक व्यापार कामवृत्ति के निरोध के कारण नहीं वरन् प्रभुत्व की इच्छा या आत्माभिव्यक्ति के दमन के कारण पैदा होते हैं।[5] एडलर और युग के विचार में मानव मन की कुत्साओं के विश्लेषण और नग्न चित्रण के बदले उचित शिक्षा द्वारा उनके निराकरण का उपाय करना

---

1 Introductory Lectures of Psycho analysis Freud P 277

2 Religion morality and a social sense—the chief elements of what is highest in man—were originally one and the same thing According to the hypothesis which I have put forward in To Tem and Tabu they were acquired phylogenetically out of the father complex religion and moral restraint by the actual process of mastering the Oedipus Complex itself, and social feeling from the necessity for overcoming the rivalry that then remained between the members of the younger generation'

—The Ego and Id P 49

3 The Future of an Illusion Freud P 38

4 The Future of an Illusion Freud P 42 and 55

5 Hindu Psychology Akhilanand Page 70

कही श्रयस्कर है।[1] फ्रायड के सिद्धात की दूसरी त्रुटि यह है कि उसने रुग्ण मानस के विश्लेषण के आधार पर ही सामान्य सिद्धान्तों की स्थापना की है जो स्वस्थ मन का मनोविज्ञान नही होने के कारण एकागी एव अपूर्ण है। इसके अतिरिक्त फ्रायड ने विशुद्ध भौतिक दृष्टि अपनाने के कारण अनुभवो को समझने मे भारी भूल की है।[2] उन्हे अपनी इस भूल का अनुभव कुछ ताप मे हुआ भी था। फलत उन्होने बोधात्मा (Ego) अबोधात्मा (Id) और प्रबोधात्मा *(Super Ego) की सत्ता को स्वीकार कर भौतिक धरातल से ऊपर उठकर* आध्यात्मिक ऊर्ध्वभूमि की ओर सचरण करने का प्रयास किया था।

मग्डगल प्रभृति विद्वानो ने फ्रायड के वाल कामभाव के सिद्धात का भी खण्डन करते हुए बतलाया है कि माता पिता का सन्तान के प्रति और सन्तान का माता पिता के प्रति स्वाभाविक प्रेम होता है। अतएव उसके अन्तर्गत कामुकता का समावेश करना उचित नही कहा जा सकता।[3] इसी तरह भक्ति भाव को मानव की मनोवृत्ति का पुनरावतन मानने वाले सिद्धात को भी अनुमानाश्रित होने के कारण अस्वीकार किया गया है।[4] किन्तु फ्रायड के सिद्धान्तो की उपयुक्त त्रुटियो के रहते हुए भी उनसे तथा विशेषकर उदात्तीकरण के सिद्धान्त से मधुर रस के स्वरूप को समझने मे जो सहायता मिलती है वह कम महत्त्वपूर्ण नही है।

काम-वृत्ति का उदात्तीकरण

फ्रायड के मतानुसार कामवृत्ति जीवन की मूल प्रेरणाशक्ति है। किन्तु सामाजिक नियमो की मर्यादा या अन्य परिस्थितियो के दबाव के कारण सहज कामवृत्ति का निरोध या दमन भी करना पडता है जिससे अनेक प्रकार की मानसिक ग्रन्थियाँ उत्पन्न होती हैं और मनुष्य विकारग्रस्त हो जाता है। अत उन मानसिक विकारो से परित्राण पाने तथा कामवृत्ति को समाज-सम्मत रूप प्रदान करने के उद्देश्य से उसके भूमिका परिवर्तन की आवश्यकता पडती है। कामवृत्ति के इसी भूमिका परिवर्तन को फ्रायड ने काम भाव के उन्नयन या उदात्तीकरण की सज्ञा दी है।[5] अपने मायिया या ईश्वर के प्रति कामवृत्ति के इस भूमिका

1 The investigator may see in the mud puddle a world full of wonders *but to the ordinary man it is something upon which he prefers to* turn his back But habits are only won by exercise and appropriate education is the sole means to this end
—Modern Man in Search of Soul C G Yung P 51 52

2 Ibid Page 134 135

3 Introduction to the social Psychology Macdougall P 339

4 Social Psychology Thouless Page 358

5 The energy of the instinctual sexual forces is turned aside from its sexual goal and diverted towards other ends no longer sexual though psychologically related and socially more valuable
—Introductory Lectures Freud P 290

परिवर्तन द्वारा व्यक्ति का मानस जहा उद्वेग रहित हो जाता है वहा उसे सन्ताप, शान्ति और आनन्द की भी उपलब्धि होती है।[1] तात्पर्य यह है कि फ्रायड के अनुसार कामवृत्ति का तिरोभाव नही हो जाता है अपितु भक्ति भाव या दूसरा कोई रूप धारण कर वह प्रकट होती है। दैवी शक्ति या आध्यात्मिकता म आस्था नही होने के कारण ही फ्रायड ने भक्ति भाव को काल्पनिक क्रिया भ्रमजाल माना है। किन्तु दैवीशक्ति तथा आध्यात्मिकता म आस्था रखने वाले युग केनिथवाकर प्रभृति विद्वानो ने फ्रायड के उदात्तीकरण के सिद्धात का खण्डन करते हुए स्पष्ट शब्दो म कहा है कि यह पूर्णत सत्य नही है कि सामाजिक परिस्थितियो से विवश होकर अपनी काम वासना को स्पष्ट रूप म चरितार्थ न करने के कारण ही मनुष्य भक्ति भाव को ग्रहण करता है और अपने असफल लौकिक प्रेम को अलौकिक प्रेम का आवरण देकर अभिव्यक्त करता है।[2] ईश्वर के प्रति दिव्य मनाराग का उदय काम-वासना की तीव्रता के कारण नही अपितु विषय विराग तथा आध्यात्मिक अनुराग की प्रबलता से होता है। अनेकानेक सतो एव भक्तो के जीवन-वृत्त इसके प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त उदात्तीकरण की वृत्ति को काम वृत्ति के अतिरिक्त अन्य सहज वृत्तियो के सन्दर्भ म भी लागू किया जा सकता है। अत मधुर रस के स्वरूप के स्पष्टीकरण की दृष्टि से फ्रायड के उदात्तीकरण के मूलभाव परिवर्तन को स्वीकार किया जा सकता है। इसी को युग ने रूपान्तर कहा है।

कामभाव का रूपान्तर

फ्रायड के उदात्तीकरण के सिद्धात से यह अवश्य ज्ञात होता है कि कतिपय कारणो से मनुष्य की सहज काम-वृत्ति भक्ति भाव म परिवर्तित हो जाती है। रूपान्तर (Conversion) के सिद्धान्त मूल भावना की दृष्टि से उदात्तीकरण के सिद्धान्त से विशेष भिन्न नही होते हुए भी प्रक्रियात्मक रूप से एक दूसरे से भिन्न हैं। दोनो की दशाओ म परिवर्तन होता है किन्तु उदात्तीकरण का परिवर्तन जहा बाह्य तथा अस्थायी होता है वहाँ रूपान्तर का परिवर्तन एक नूतन सृष्टि के समान है जिसके अन्तर्गत पुरानी वैषयिक वृत्तियाँ भूजे हुए बीज के समान सत्त्व हीन हो जाती हैं और आह्लादित करने वाली भक्ति भावना अनाविल हृदय म परिव्याप्त हो जाती है। युग कनियवाकर, विलियम प्रट विलियम जेम्स टी० मर्सिस डब्ल्यू० की सेल्वी प्रभृति मनोवैज्ञानिको ने इसी कोटि के परिवर्तन को रूपान्तर की सज्ञा दी है। 'रूपान्तर' के परिवर्तन म दैवी भावना दिव्यात्मा के दर्शन अथवा उच्च मानसिक वृत्ति से प्रभावित होकर मनुष्य की निम्न वृत्तियाँ ऊर्ध्वमुखी हो जाती हैं और इस प्रकार उनका पूर्णत कायाकल्प ही हो जाता है। ऐसी दशा म मनुष्य सबसे मुह मोडकर भगवद् प्रेम म लीन हो जाता है। विलियम प्रट के मतानुसार कभी-कभी किसी नाजुक घडी म किसी व्यक्ति विशेष के प्रेम सूत्र म आबद्ध हो जाने या देश प्रेम के कारण भी काया पलट हो सकता है किन्तु वास्तविक रूप म काया पलट

1 All the cost of sublimation converting sexuality into love of his fellows and self assertion into various self assertion through God—he thereby obtains peace of mind

2 The Psychology of Sex Oswald Schwartz, P 23

की महती शक्ति भक्ति भाव है जिसके समक्ष अन्य सभी कारण नगण्य हैं क्योंकि जीवन के गम्भीर प्रश्नों तथा सर्वाधिक शाश्वत मूल्यों से सम्बन्ध रखने वाला एकमात्र भक्ति भाव ही सभी प्रकार से असहाय और निराश व्यक्तियों को निश्चित रूप से परित्राण देनेवाला है।[1]

रूपान्तर की मुख्यत तीन अवस्थाएँ होती हैं। प्रथमावस्था में व्यक्ति अपने भौतिक दुखों का अनुभव करता है और उनसे मुक्त होने में अपने को विवश पाता है। अपनी वास्तविक दशा का ज्यों ज्यों उसे कटु अनुभव होता जाता है त्यों-त्यों वह उससे परित्राण पाने के लिए विकलता का अनुभव करता है। इसके लिए वह धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन शास्त्राचार का अनुगमन तथा महात्माओं के सत्सग द्वारा दुखों की आत्यन्तिक निवृत्ति का उपाय करने लगता है। दुख निरोध के उपाय का अनुसन्धान करना रूपान्तर की दूसरी अवस्था है। उपयुक्त साधना द्वारा व्यक्ति का जैसे जैसे सासारिक विषयों से विराग होता जाता है वैसे वैसे ईश्वर के प्रति उसका अनुराग बढ़ता जाता है और अन्त में ईश्वरोन्मुख प्रेम पूर्णता पर पहुँचकर सासारिक विषयों को आत्मसात कर लेता है। उसे सर्वत्र उसी एक निखिल सौन्दर्य रसानन्द स्वरूप परम प्रियतम परमेश्वर के सहज प्रेम की स्वानुभूति होने लगती है। ईश्वर प्रेम की यह अद्वयावस्था रूपान्तर की चरमावस्था है जिसमें भक्ति भावापन्न साधक सासारिक विषयोपभोग की पूर्व क्रियाओं के समान ही अपने मन में ईश्वर प्रेम की सहजानुभूति करने लगता है। डी० सक्टिस द्वारा निर्दिष्ट उपयुक्त तीन प्रक्रियाओं अर्थात दुख का अनुभव और दुख निरोध की भावना दुख की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त करने के उपाय तथा भगवत्प्रेम की परिपक्वता—इन्हीं तीन दशाओं के समन्वित रूप द्वारा पाश्चात्य मनोविज्ञानवेत्ताओं ने रूपान्तर की सम्पूर्ण प्रक्रिया को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। रूपान्तर वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा खण्डित और निरानन्द मानवात्मा भक्ति के भावों और प्रेरणाओं से पूर्ण एव आप्तकाम बन जाती है।[2] इस प्रकार दुखों और पापों से मुक्त होने के सकल्प को लेकर अनन्त भगवत्प्रेम में मग्न हो जाना ही भारतीय एव पाश्चात्य मनीषियों की भक्ति

---

1 Falling in love at a critical moment can sometimes do this Patriotism may but as a fact the great power for the transformation of life that dwarf all others combined is religion For religion deals with the deepest questions and the most abiding values and it holds out to the desperate man who has lost all hope in himself or in human help the promise of supernatural and unfailing assistance

—Religious Consciousness William Pratte P 158



—The Varieties of Religious Experiences William James P 186

2 Conversion may be described as the process by which the self hitherto divided and unhappy becomes unified and satisfied under the impulse of religious ideas and motives

—The Psychology of Religion W B Selbie P 187

विषयक दृष्टिकोण है। पाश्चात्य विद्वानो के मतानुसार तरुणावस्था ही रूपान्तर की प्रवृत्ति का आविर्भावकाल है क्योकि इस अवस्था मे विचारोत्तेजन के कारण व्यक्ति मे मानसिक सघर्ष की तीव्र भावना का उदय होता है।[1] कामवृत्ति को मानसिक सघर्ष का मूल कारण मानने के कारण पाश्चात्य मनोवैज्ञानिको ने रूपान्तर को युवावस्था की घटना की भी सज्ञा दी है। डा० फार्सीथ के अनुसार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह भक्त्यात्मक रूपान्तर पूर्णोत्कर्ष प्राप्त सहजानुक्रम मे निरुद्ध कामभाव के अभिनव प्रबल आवेग के अतिरिक्त और कुछ नही है।[2] किन्तु रूपान्तर की प्रक्रिया मे काम भाव के उन्नयन के महत्त्व को स्वीकार करते हुए मनुष्य की अन्य सहजवृत्तियो के सहयोग की अवमानना नही की जा सकती। दूसरी विचारणीय बात यह है कि सासारिक विषयोपभोग की इच्छा मनुष्य की जन्मजात कामना है और इसका उदय जीवन के आरम्भकाल मे ही हो जाता है। अत रूपान्तर की प्रक्रिया के प्रादुर्भाव के लिए कोई वयगत सीमारेखा नही खीची जा सकती।

थाउलेस के विचार मे अधर्मी का धर्मात्मा बन जाना तथा धर्मात्मा का परमहस बन जाना रूपान्तर की साधारण और असाधारण दो कोटियाँ है और ये दोनो ही भक्तिमार्ग मे काम भाव (Libido) के उदात्तीकरण के सुपरिणाम हैं। किन्तु दूसरे प्रकार के रहस्यात्मक रूपान्तर मे लिबिडो की उस आंशिक शक्ति का ही उन्नयन नही होता जो कामुकता प्रधान हैं अपितु सासारिक जीवन के क्रिया-कलाप एव सारे स्नेह-सूत्रो को परिचालित करने वाली उसकी सभी शक्तियो का उदात्तीकरण हो जाता है।[3] अर्थात असाधारण कोटि का रूपान्तर मानव की सभी प्रकार की सहजवृत्तियो का भक्तिभाव मे मधुर पर्यवसान है। इस विशिष्ट दशा मे सभी ऐहिक भाव समाप्त हो जाते हैं और साधक भगवत्प्रेम के मधुर रस का आस्वादन कर परम सुख का अनुभव करने लगता है।

रूपान्तर मे भगवल्लीला की निष्पत्ति

मनुष्य मे सासारिक विषयोपभोग की आकाक्षा सर्वथा स्वाभाविक मानी गयी है। मानव मन को इन विषयो से विमुख करना बडा ही कठिन है। इसके लिए योग ज्ञान और

1 The Psychology of Religion W B Selbie P 192

2 Psychologically the phenomenon (Religious Conversion) is none other than the new strong tide of sexual feeling that accompanies puberty being choked in its usual course and deflected into religion

—Psychology and Religion Forsyth P 135

3 Both are the result of subllmation of the libido into religious channels but in mystical conversion it is not only that part of the libido specialised in the sex instinct that is sublimated but the whole of the libido employed in the activities and affections of this world life

—Introduction to the Psychology of Religion Thouless, P 224

भक्ति तीन साधन बतलाए गए हैं। इनमें भक्ति का मार्ग ही सर्वजनसुलभ माना गया है। क्योंकि इसमें विषयों का वर्जन नहीं परिष्करण हो जाता है मानसिक वृत्तियों का दमन अवलम्बन नहीं रूपान्तरण हो जाता है। मन को सांसारिक विषयों से अलग करके ईश्वर की ओर लगा दिया जाता है और अन्त में केवल वही रह जाता है। यही रूपान्तर की पूर्णावस्था है। पाश्चात्य भक्ति भावना में भगवल्लीला का सन्निवेश न होने के कारण वहाँ के सन्तों की मधुरोपासना उनका रहस्य भावना का ही परिचय देती है। वहाँ रूपान्तर का अर्थ जीसस क्राइस्ट से प्रेम करने लगता है। हिन्दी के निर्गुनिया सन्तों ने भी इसी प्रकार जीवात्मा को प्रेयसी और परमात्मा को प्रियतम मानकर मधुर रस साधना की स्रोतस्विनी प्रवाहित की है। भगवल्लीला रस के पिपासु सगुणोपासक भक्तों के लिए रूपान्तर का यह रूप अधिक सहज एवं स्पृहणीय है। गोस्वामी तुलसीदास ने विषयिन्ह कहँ पुनि हरि गुन ग्रामा। श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा के द्वारा इसकी महत्ता की स्पष्ट घोषणा की है। क्या निर्गुण क्या सगुण सभी प्रकार के भक्तों में रूपान्तर की यह प्रक्रिया चरितार्थ होती है। इसमें भक्ति भावापन्न साधक का मन अपनी भावनाओं में रमण नहीं करता अपितु भगवत्प्रेम में रमण करने लगता है।

तात्पर्य यह है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उपासक अपने कामभाव को अपने उपास्य में ही नियोजित कर देता है। इस प्रकार लौकिक प्रेम के अलौकिक प्रेम में रूपान्तरित हो जाने पर उसे मधुर रस का आस्वादन होने लगता है और एक बार इस महारस के पान कर लेने के बाद फिर किसी और रस की कोई इच्छा ही शेष नहीं रह जाता।

भक्ति भाव की मनोवैज्ञानिक व्याख्या

आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि में मनुष्य की निम्नलिखित प्रवृत्तियों के परिणाम स्वरूप भक्ति भावना का आविर्भाव होता है —

१ मनुष्य की काम-वृत्ति।

२ मनुष्य में सर्वमान्य और सर्वाधिक आनन्द प्रदायक पदार्थ के अन्वेषण करने की प्रवृत्ति।

मनुष्य में एकत्व-स्थापन अथवा पूर्णत्व प्राप्त करने की प्रवृत्ति।

४ मनुष्य में आत्मावाद की प्रवृत्ति।

५ *मनुष्य में आत्मप्रतिष्ठा और आत्मरक्षण की प्रवृत्ति।*

६ असफल दाम्पत्य जीवन के कारण अभुक्त काम-वासना की प्रवृत्ति।

मनुष्य की कामवृत्ति

काम एक जन्मजात मौलिक मनोवेग है तथा मैथुन अथवा प्रजनन प्रवृत्ति (Pairing or mating instinct) से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है इसकी चर्चा पीछे की जा चुकी है। इस कामवृत्ति का स्थायीभाव रति है तथा उसका व्यावहारिक रूप प्रेम कहलाता है। प्रेम एक स्थिर मनोदशा है जिसमें वात्सल्य भाव (Ferder Feeling) कामभाव (lust) आत्म-समर्पण (Submission) एवं आत्मनिष्ठा के भाव का मधुर सम्मिश्रण रहता है।

कामभाव में आत्मसमर्पण आदि सुकुमार भावों के मधुर संयोग से ही प्रेम का निर्माण होता है। इसीलिए कहा गया है कि जिस प्रकार समुद्र में अगणित तरंगें उठती एवं विलीन होती रहती हैं उसी प्रकार जहाँ सभी रस एवं भाव उन्मज्जित निमज्जित होते रहते हैं उसी को प्रेम कहते हैं।[1] पात्र भेद से इसी प्रेम के तीन रूप हो जाते हैं। छोटों के प्रति जो स्नेहार्पण होता है उसे वात्सल्य भाव कहते हैं। बराबर वालों के प्रति अर्थात स्त्री पुरुष में जो पारस्परिक स्नेहार्पण होता है उसे दाम्पत्यभाव कहा जाता है। बड़ों के प्रति होनेवाले स्नेहार्पण में दैन्य एवं आत्मसमर्पण के भाव सन्निहित रहते हैं। इसी को पूज्य या श्रद्धाभाव की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार उच्च स्तर पर पहुँचकर यही पूज्य भाव भक्ति में रूपान्तरित हो जाता है। लौकिक प्रेम जब अलौकिक प्रेम का रूप धारण कर लेता है, जीवोन्मुखी प्रेम जब ईश्वरोन्मुखी प्रेम में परिणत हो जाता है तब रागमयी भक्ति की पक्की पृष्ठभूमि तैयार हो जाती है।

दाम्पत्य प्रेम में प्रेमभाव पूर्ण स्फुरण तथा काम का उन्नयन हो जाता है। इसके अन्तर्गत स्वार्थ की गौणता एवं परार्थ की प्रधानता हो जाती है। फलतः मनुष्य के हृदय में कोमल भावनाओं का उद्भव होता है जिसकी चरम परिणति ही मधुर रति-साधना है।

मनुष्य द्वारा सर्वसत्य और सर्वाधिक आनन्द प्रदायक पदार्थ की खोज

लौकिक प्रेम व्यवहार में मनुष्य को अनेकानेक बाधाओं एवं विषमताओं का कटु अनुभव करना पड़ता है। जीवन में जहाँ मिलन सुख के दो ही चार क्षण बड़े संयोग से मिल पाते हैं वहाँ चिरकाल तक आशा के सामने असफलता निराशा और वियोग वेदना की विस्तृत बालुका राशि फैली रहती है। अतः मनुष्य ऐसे प्रेमाधार की खोज करना चाहता है जो पूर्ण हो स्थायी हो अनन्त एवं अक्षय सौन्दर्य रसानन्द-स्वरूप हो।

जगजीवन की क्षणभंगुरता एवं लौकिक प्रेम व्यापार की असफलता एवं विषमता से खिन्न तथा विरक्त होकर मनुष्य ऐसे प्रेम की खोज में संलग्न हो जाता है जो शाश्वत हो, जो कभी कम न हो और जहाँ सुख ही सुख हो जहाँ मिलन के बाद कभी वियोग की वेदना न सताए। ऐसी स्थिति में वह इहलोक का अतिक्रमण कर ऐसे शाश्वत प्रेम और चिरन्तन प्रेम पात्र की खोज में निकल पड़ता है जहाँ उसे पूर्ण और स्थायी आनन्द की उपलब्धि होगी जहाँ उसे अनन्त और अक्षय सौन्दर्यनिधि से साक्षात्कार होगा जहाँ उसकी सभी मनोकामनाओं की पूर्ति का आश्वासन मिलेगा। इन्हीं भावनाओं से प्रेरित होकर भक्तों एवं संतों ने अपने प्रेमाधार में अनन्तशील अनन्त शक्ति और अनन्त सौन्दर्य की प्रतिष्ठा की है।

जागतिक पदार्थों की नश्वरता तीव्र बनकर कभी कभी मानव मन पर ऐसी गहरी चोट देती है कि वह अक्षय एवं सर्वसत्य पदार्थ का पता पाने उसे प्राप्त करने के लिए विकल हो उठता है। उसे ऐसा विश्वास बद्धमूल हो जाता है कि उस सर्वसत्य पदार्थ को प्राप्त करके

---

[1] सर्वे रसाश्च भावाश्च तरंगा इव वारिधौ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति यत्र स प्रेमसंज्ञकः ॥
—रीति कविता और शृंगार रस का विवेचन डॉ० रा० प्र० त्रि० पृ० ८ से उद्धृत।

शील रहने का यही रहस्य है। अधनारीश्वर के रूप म भगवान शिव की कल्पना का भी सभवत यही आधार है।

मनुष्य मे आदशवाद की प्रवृत्ति

मनुष्य द्वारा आदश की कल्पना करना उसका अन्वेषण करना एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। मानव स्वभाव की दो प्रवृत्तिया होती हैं—यथाथवादी और आदशवादी। जीवन का जो भाव है वही उसका यथाथ है और जो अभाव है वही उसका आदश है। यथाथ के बिना जीवन जीवन रहित बन जाता है इसी तरह आदश के अभाव म वह गति रहित बन जाता है। *अत मानव जीवन के सम्यक विकास के लिए यथाथ और आदश दोनो का सामजस्य* अपरिहाय है। यही कारण है कि मानव समाज आदश का चिर-आकाक्षी रहा करता है। यथाथ जीवन म प्राप्त होने वाला आनन्द अपूण एव अस्थायी होता है। इसीलिए मनुष्य ऐसे आदश आनन्द की कल्पना एव उसे प्राप्त करने का प्रयास करता है जो पूण तथा चिरस्थायी हो। यथाथ जीवन का प्रेम पात्र नश्वर एव क्षण क्षण क्षय होने वाला है उसका यौवन-कुसुम जीवन-वृन्त से झडने के पहले ही कुम्हलाकर मिट्टी म मिल जाता है। अतएव प्रेमीजन ऐसे *आदश प्रम-पात्र की कल्पना एव खोज करते हैं जो निखिल सौन्दय रसानन्द मूर्ति हो शाश्वत* हो जिससे उसे समस्त आशा आकाक्षाओ की पूर्ति का विश्वास प्राप्त हो। यथाथ जीवन म दुख ही दुख है। इस नश्वर ससार म सुख और शान्ति कहा? अगर सौभाग्य से कभी सुख और शान्ति के दो चार क्षण मिल भी जाते हैं तो अपरिमित पीडा को और अधिक घनीभूत बनाने के लिए ही।[१]

ऐसी स्थिति म यह सवथा मनोवैज्ञानिक है कि मनुष्य ऐसे आनन्द महासुख की कल्पना और सधान करे जो कभी रीता न हो। वह ऐसे महामिलन की मधुर योजना करे जिसको कभी वियोग की दुखद छाया छू न सके। राजकुमार सिद्धाथ महावीर तीथकर आदि महा प्राण साधको ने राज पाट घर द्वार माता पिता पत्नी पुत्र आदि को त्यागकर ऐसे ही आदश जीवन के अनुसधान के लिए महाभिनिष्क्रमण किया था जहा राग शोक जरा और मरण न हो। वे ऐसे ही परमतत्त्व के साक्षात्कार के लिए विकल थे जो सदा एकरस निखिल सौन्दय रसानन्द-स्वरूप एव सनातन हो।

साराश यह है कि धम भावना के मूल म काम भावना के साथ-साथ मनुष्य की आदश भावना भी एक महत्त्वपूण प्रेरक-तत्त्व के रूप म काम करती है। मनुष्य के जीवन म इस आदशवादी प्रवृत्ति का इतना व्यापक प्रभाव है कि अक्षय सौन्दय अनन्त आनन्द अमर प्रम और अविनाशी प्रम पात्र की प्राप्ति की आशा म मनुष्य स्वेच्छया सारी सुख-सुविधाओ को तिलाजलि देकर अकिचन बन जाता है और उसी अकिचनता म उसे सन्तोष भी मिलता है।

---

१ हाय री दुबल भ्रान्ति ! कहाँ नश्वर जगती में शान्ति !
सृष्टि ही का तात्पय अशान्ति —स्वप्न है यहाँ विराम ॥
—सुमित्रानन्दन पत गुञ्जन पृ ५८।

आत्म-रक्षण और आत्म-प्रतिष्ठा की प्रवृत्ति

मनोविश्लेषण शास्त्र के पण्डितों के मतानुसार काम जीवन का सर्वाधिक प्रबल एवं व्यापक मनोवेग माना गया है क्योंकि प्राणी मात्र के सभी क्रिया-कलाप के मूल में किसी-न किसी प्रकार काम का ही प्रभाव परिलक्षित होता है। किन्तु व्यापक अर्थ में आत्मरक्षण (Self Preservation) की मूल वृत्ति ही सर्वोपरि सिद्ध होती है। क्योंकि भय भोजनोपार्जन पलायन और संघर्ष की वृत्तियाँ वर्तमान की आत्मरक्षा के विचार से उत्प्रेरित होकर काम करती हैं तथा मैथुन अथवा प्रजनन और आत्मप्रतिष्ठा की वृत्तियाँ भविष्य की आत्म रक्षा के विचार में क्रियाशील रहती हैं।[1] 'पुत्र प्रयोजनाद्दारा' अर्थात् 'स्त्री पुत्र के प्रयोजन के लिए है' आदि सिद्धान्त-वाक्यों द्वारा भविष्य की आत्मरक्षा योजना की ही पुष्टि की गयी है। मनुष्य युग-युग तक अपनी निशानी रखना चाहता है। यही कारण है कि पुत्र या पुत्री के अभाव में लोग मन्दिर, मसजिद, कुआ तालाब विद्यालय आदि लोक-कल्याणकारी एवं धार्मिक कृत्यों द्वारा अपने को अमर बनाना चाहते हैं। आत्मरक्षण की प्रवृत्ति की प्रेरणा से ही ये सारे कार्य किये जाते हैं। सृजन प्रणाली की रक्षा के लिए ही विवाह-बन्धन अथवा दाम्पत्य सम्मिलन का विधान किया जाता है तथा संतानोत्पत्ति को पुण्य-कार्य माना जाता है। मनु ने कहा है कि मनुष्य पुत्र से सभी लोकों को जीतता है पौत्र से दीर्घकाल पर्यन्त स्वर्ग सुख पाता है और प्रपौत्र से सूर्यलोक को प्राप्त करता है। पु नाम नरक का है उससे पुत्र पिता का त्राण करता है इसीलिए स्वयं ब्रह्मा ने उसको पुत्र की संज्ञा दी है।[2]

देव ऋषि और पितृ ऋण से मुक्त होने के लिए भी संतानोत्पत्ति को आवश्यक माना गया है। मनुष्य ब्रह्मचर्य धारण द्वारा ऋषि ऋण से यज्ञ द्वारा देव ऋण से और संतानोत्पत्ति द्वारा पितृ ऋण से मुक्त होता है।[3] प्रसिद्ध मनोविज्ञानवेत्ता मैक्डूगल ने अपत्य स्नेह वृत्ति को दान और सदाचार की जननी कहा है।

सारांश यह है कि भगवन्मयी सृष्टि के संरक्षण के मूल में आत्म-संरक्षण की भावना ही उत्प्रेरक शक्ति है। भय भोजनोपार्जन संघर्ष आदि वृत्तियों का सम्बन्ध वर्तमान की आत्मरक्षा से है तथा प्रजनन वृत्ति का सम्बन्ध भविष्य की आत्म रक्षा से है। भक्ति भावना के मूल में भी इसी आत्म रक्षण वृत्ति अथवा स्व विस्तार भाव की प्रेरणा काम करती है।

---

१ "स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति।"

—बृहदारण्यक उपनिषद् २।४॥

२ पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते।
अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम् ॥१॥
पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात् त्रायते पितरं सुतः
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा ॥२॥

—मनुस्मृति।

३ "जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवा जायते ब्रह्मचर्येणर्षिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य इति।

—बोधायनस्मृति।

मनुष्य आत्म प्रेम, आत्म प्रेम पात्र और अनन्तशील शक्ति-सौन्दर्यनिधि परमात्मा को प्राप्त कर परमानन्द सुख लाभकर अजरामर हो जाना चाहता है।

आधुनिक मनोविश्लेषकों के मतानुसार प्रेम भी आत्मरक्षा का ही एक रूप है। विलियम डयूरान्ट ने कहा है कि पूर्णत्व की प्राप्ति और अन्वेषण का नाम ही 'प्रेम' है। भक्ति भावना में भी अपूर्ण की पूर्णता का भाव ही विद्यमान रहता है।

मनोविश्लेषण शास्त्र-वेत्ताओं की यह भी धारणा है कि व्यक्ति अपना नाम अक्षुण्ण रखने के विचार से ही भगवत्प्रेम की ओर अग्रसर होता है। व्यक्ति का विश्वास है कि भक्त हो जाने के बाद वह संसार में अमर हो जायगा। लोग उसे प्रातःस्मरणीय मानकर उसके प्रति श्रद्धा भाव दिखलाएंगे और उसे पूज्य मानकर सदा स्मरण करेंगे। ऐसी स्थिति में मनुष्य के मन में आत्म प्रतिष्ठा (Self Assertion) द्वारा आत्म रक्षण (Self Preservation) की मौलिक वृत्तियां (Instincts) ही कार्य करती रहती हैं। इनके परिणामस्वरूप मनुष्य वैषयिक सुख से मुंह मोड़कर आध्यात्मिक सुख की खोज में संलग्न हो जाता है और इसके बिना संसार को दुःखद तथा अपने जीवन को व्यर्थ समझने लगता है। भगवद्दर्शन के लिए परमात्मा के अनन्त मधुर संयोग के अक्षय सुख को प्राप्त करने के लिए वह सब कुछ करने सहने के लिए तत्पर हो जाता है।

आत्मरक्षा की प्रवृत्ति

कुछ मनोवैज्ञानिकों ने काम सिद्धान्त का निरूपण करते हुए आत्मरक्षा की मूल वृत्ति (The Instinct of Self Preservation) को सर्वाधिक प्रबल सिद्ध करने का प्रयास किया है तथा संयोगेच्छा अथवा प्रजनन की प्रवृत्ति या काम के मनोवेगों के मूल में आत्म रक्षा की वृत्ति को स्वीकार किया है। उनके मतानुसार भय तथा भोजनोपार्जन की वृत्तियाँ वर्तमान की आत्मरक्षा के विचार से कार्य करती हैं तथा प्रजनन और आत्म प्रतिष्ठा की वृत्तियाँ भविष्य की आत्मरक्षा के विचार से कार्य करती हैं।[1] बृहदारण्यक उपनिषद[2] तथा महाभारतादि[3] ग्रन्थों में भी आत्मरक्षा की वृत्ति का समर्थन किया गया है।

क्या भक्ति-भावना एक सहज (स्वतन्त्र) वृत्ति है?

भक्ति भावना के सम्बन्ध में पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों के सामान्यतः तीन मत हैं। कुछ विद्वान् भूर्ग, प्लाम आदि के सदृश भक्ति भाव को सहज वृत्ति मानते हैं। इससे भिन्न विचार रखने वाले विद्वानों ने भक्ति भाव को कई वृत्तियों का मिश्रित रूप माना है। कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं जो भक्ति भाव को काम भावना का ही रूप स्वीकार करते हैं किन्तु उनके मत प्रायः अमान्य ही सिद्ध हुए हैं।

---

१ रीतिकालीन काव्य में शृंगार रस का विवेचन डा० रा० ... प्र० ... पृ० १८।

२ स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति—।

—बृहदारण्यक १।४।८॥

३ आत्मनैव जनित पुत्र स्मृत वै सुरी।

—महाभारत।

भक्ति भाव को एक स्वतन्त्र वत्ति मानने वाले पाश्चात्य मनोवनानिक प्रो० स्टारबक प्रो० हार्किंग प्रो० मारिस जस्टो डा० किंग आदि के मतानुसार भक्ति भाव क्षुधा आदि भावो के सदृश मानव-हृदय की एक सुस्थिर सहज वत्ति है। यह मनुष्य का जन्मजात भाव है जो मनुष्य के चेतना सस्थान को निरन्तर प्रभावित एव उत्प्रेरित करता है।[1] किन्तु वनानिक मानसशास्त्र की पूणता के लिए सहज वत्तियो की सख्या को सीमित रखने के अभिलाषी मनोवनानिको की दृष्टि म भक्तिभाव को एक सहज वत्ति के रूप म स्वीकार करना समीचीन नहा है क्योकि यह क्रोध या प्रेम के समान मनुष्य का सहज प्रेरित भाव नही है। इसके अतिरिक्त भक्ति भाव को यदि सहज वत्ति के रूप म स्वीकार किया जाएगा तो फिर अन्य भावों को कसे छोडा जाएगा ?

भक्ति-भावना को विभिन्न सहजवत्तियो का मिश्रित रूप मानने वाले मनोवनानिक ल्यूबा मेग्डूगल विलियम जेम्स थाउलस और जेम्स और जेम्सप्रट के मतानुसार भय काम यूथ वत्ति दृढता, प्रायना शरणागति श्रद्धा और आदर भक्ति भावना के मूलभाव हैं।[2] डा० मग्डूगल के कथनानुसार, भक्ति भावना म श्रद्धा भय और आदर के साथ आश्चय, शरणागति (आत्महानता) दयालुता और जिज्ञासा आदि प्राथमिक भावनाएँ मिश्रित रहती हैं।[3] इतने विभिन्न भावो का मिश्रित रूप होने के कारण ही भक्ति-भाव व्यापक बनकर दास्य सख्य वात्सल्य और मधुर जस शुद्ध प्रेम का आकर बन जाता है। विश्वजनीन और व्यापक भाव होने के कारण ही भक्ति भाव को स्थिरवत्ति के रूप म मान्यता दी गई है।[4]

साराश यह है कि भक्ति-भाव एक स्वतन्त्र सहज वत्ति न होकर कई विभिन्न भावो का मिश्रित रूप है। इसलिए जीवन म भक्ति भाव का अत्यधिक महत्त्व है। भक्ति-भाव के परिपाक म सयुक्त भावो की अवस्थिति के कारण किसी भी अवस्था विशेष म मनुष्य को भक्ति भावना की स्वानुभूति हो सकती है। अतएव स्वतन्त्र और सहज वत्ति न होने हुए भी जीवन म कामादि सहज वत्तियो के समान ही भक्तिभाव का पर्याप्त महत्त्व है। दुर्भाग्यवश फ्रायड न अवचेतन अन्य शक्तियो म पर इस ओर ध्यान ही नही दिया। मनुष्य को सदा ही आध्यात्मिक साहाय्य की आवश्यकता रही है और वह उस अपना धम या भक्ति-भाव से प्राप्त होता रहता है।[5]

---

1 Quoted from Introduction to the Psychology of Religion Thouless P 124 and The Study of Religion Prof Morris Jastro P 161 163

2 Psychology & Religious Quest R B Cattel, P 38

3 Introduction to Social Psychology William MacDougall Chap 13 Page 260

4 It s origin is not probably to the fact that many primitive instincts work in such a way as to point to a religious interpretation of the universe and of life and so to give rise to a religious sentiment

—W B Selbie The Psychology of Religion P 31

5 Freud has unfortunately overlooked the fact that man has never yet been single handed to hold his own against the powers of dark

भक्तिभाव और कामुकता

भक्तिभाव और कामुकता को एक ही रूप स्वीकार करने वाले थिएडोर श्रोडर, स्विगर डाक्टर फारमीथ प्रभृति विचारकों के मतानुसार ईश्वर प्रेम' सामान्य काम प्रवृत्ति प्रेम का प्रच्छन्न रूप है और ईश्वर और कुछ नहीं कामीजनों द्वारा परिकल्पित अपने प्रिय का रूप ही है।[1] इसी प्रकार स्विगर ने भक्तिभाव को आदर्शपूर्ण काम भाव के रूप में स्वीकार करते हुए बतलाया है कि चूंकि *कामवृत्ति मनुष्य की सभी सहजवृत्तियों में सर्वाधिक शक्तिशाली है* और उसीके ऊपर जातीय विकास की परम्परा निर्भर करती है इसलिए धर्म में आदर्शपूर्ण काम भाव का पूर्ण सन्निवेश तो होना ही चाहिए।[2] भक्ति के क्षेत्र में प्रचलित लिंगोपासना तथा भक्त-कवियों के सरस प्रेमोद्गार इसके प्रमाण बतलाये जाते हैं। किन्तु इस प्रकार की धारणा रखने वाले विद्वान प्राय यह भूल जाते हैं कि काम भाव और भक्तिभाव की मूल चेतना में आकाश पाताल का अन्तर है। वस्तुत दोनों एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न और असबद्ध हैं।[3] डा० मैग्डुगल ने कामभाव को सभी प्रकार के सामाजिक प्रेम सम्बन्धों का मूल भाव मानने से अस्वीकार किया है[4] *तथा थाउलेस ने भी भक्ति भाव को कामुकता का विकास मात्र नहीं* माना है।[5]

साराश यह है कि भक्तिभाव को कामुकता का रूप मानना तथ्यों के प्रतिकूल है।

---

ness that is of the unconscious Man has always stood in need of the spiritual help which each individual s own religion held out to him

—*Modern Man in Search of Soul C G Yung P 277*

1 All religion in its beginning is mere misinterpretation of sex ecstasy and the religion of to-day is only the essentially unchanged evolutionary product of Psycho sexual perversion Thus literally may we say God is Love —Sex Love sometimes in disguise and indistinctly recognised as such by the lover whose love sick longings even now create a God to take the place of undiscovered and much craved by human lover

—Introduction to Psychology of Religion Thouless P 128

2 Since sex instinct is the strongest of all instincts the one upon which the perpetuation of the race depends it is to be expected that religion should be full of idealised sex-emotion

—The Psychology of religion *W B Selbie P 11*

3 The Varieties of Religious Experience William James P 13

4 *Introduction* to Social Psychology by Mac Dougall Page 339

5 Introduction to the Psychology of Religion by Thouless Page 130 & 134

यद्यपि भक्ति-भाव के स्वरूप निर्माण में कामुक वृत्ति का सयाग स्वीकार किया जा सकता है किन्तु उसे ही भक्ति मान लेना सर्वथा अनुचित है।

कामदशा और भक्तिदशा

कामी पुरुष की कामिनी में आसक्ति और भक्त की भगवान में आसक्ति एवं इन दोनों के आकर्षण का स्वरूप समान है। किन्तु प्रकृत जन की कामना बहिर्मुखी रहती है और साधक की कामना अन्तर्मुखी रहती है। साधक जब अपनी इन्द्रियों को अन्तर्मुखी बनाकर विश्व प्रपंच का ध्यानपूर्वक अवलोकन करता है तब वह सर्वत्र उसी चैतन्य तत्त्व को चरितार्थ होते हुए पाता है। सामान्य कामदशा में व्यक्ति किसी बाह्य केन्द्र की ही प्रदक्षिणा करता रहता है किन्तु भक्ति की विशिष्ट भावदशा में अपने ही चैतन्य-केन्द्र—उद्गम स्थान से मिलकर शनैः शनैः उसके गुणों को ग्रहण करता जाता है। दूसरे शब्दों में भक्ति-दशा राग की दिव्यावस्था है जिसमें सारे चराचर जगत का समावेश हो जाता है। लौकिक प्रेम का पारलौकिक प्रेम में परिवर्तित हो जाने का यही रहस्य है।[1] इस प्रकार व्यक्ति का मोह ही क्रमशः उदात्त होते हुए भक्ति के रूप में परिणत हो जाता है।[2]

काम अथवा आसक्ति जीवन की सर्वप्रमुख और शक्तिशाली मौलिक वृत्ति है। अतएव भगवद् भक्ति में भी किसी-न-किसी रूप में उसका सम्बन्ध विद्यमान रहता है। भगवान् के अतुलित सौन्दर्य की तुलना कामदेव से करने का यह भी एक विशेष कारण है। आकर्षण और आसक्ति सौन्दर्य के दो अमृतफल हैं। आकर्षण को चिर स्थायित्व प्रदान करनेवाला सौन्दर्य, प्रेम और सम्मोहन का अधिष्ठाता काम अन्ततोगत्वा मोक्ष का कारण बन जाता है।

धर्म का लैंगिक उद्भव

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के मतानुसार धर्म भाव का सबसे बड़ा स्रोत योनि भाव है। ईश्वर प्रेम और दाम्पत्य प्रेम दोनों ही मनोदशाएँ समान हैं तथा दोनों समान रूप से ही मानव जीवन को प्रभावित करती हैं। आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध आत्मा और परमात्मा का तादात्म्य उनके तादात्म्यजन्य सच्चिदानन्द की अनुभूति और उसकी रहस्यात्मक अभिव्यंजना ईश्वर का अस्तित्व-बोध आदि कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जिनका समाधान अनेक प्रकार से किया गया है। ईश्वर के अस्तित्व और उसके उद्बोधन की भी कई प्रकार से व्याख्या की जाती रही है। जीव जगत और जगत्-कर्ता से सम्बन्धित इस शाश्वत समस्या पर कई प्रकार से विचार किये गए हैं और एतद्विषयक निष्कर्षों को सामने रखा गया है। मनोविज्ञान शास्त्र ने इन निष्कर्षों के अनुसार धर्म का उद्भव लैंगिक (Phallic) माना गया है, क्योंकि इसकी दृष्टि में मनुष्य के भावात्मक (Emotional) जीवन का मूलाधार काम (Sex) है। यह मान्यता धर्म

---

१ 'लोभ और प्रीति' शीर्षक निबन्ध आ० रामचन्द्र शुक्ल।

२ जे किछु आनन्द आछे दृश्ये गन्धे गाने।
तोमार आनन्द रबे तार माझखाने,
मोह मोर मुक्तिरूपे उठिबे ज्वलिया
प्रेम मोर भक्तिरूपे रहिबे फलिया।

—गीतांजलि, रवीन्द्र रवीन्द्र, पृ० १०-।

प्राण भावुक व्यक्तियो को हतप्रभ करनेवाली है किन्तु इस तथ्य को अस्वीकार नही किया जा सकता कि मनुष्य की आदिम वृत्तियाँ स्वभावत पाशविक (Animal) एव अपरिष्कृत (Savage) हैं। शनै शनै सभ्यता के सोपान पर चलते हुए मानव ने उन आदिम एव अपरिष्कृत वत्तियो को अवचेतन के गह्वर म डाल दिया है। यही कारण है कि उनकी उपस्थिति से प्राय मनुष्य अनवगत रहता है। मनुष्य के भाव-जगत म जब कोई बहुत बडी क्रान्ति होती है तब वे अवचेतन म पडी हुई प्रच्छन्न वत्तिया मनुष्य के मानसिक सतुलन को अस्त-व्यस्त करके उभर कर प्रत्यक्ष होती हैं।[1]

इससे स्पष्ट है कि एतदविषयक समस्त मनोवैज्ञानिक तथ्य मानव-जीवन के ऐतिहासिक विकास की परम्परा की दष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। क्या धर्म क्या कला आदिम मानव जीवन के विभिन्न रूप और उनके परिवर्तन की स्थितियाँ धर्म के लिंगिक उदभव के इस तथ्य को अभिव्यक्त करती हैं। यह एक विशुद्ध ऐतिहासिक तथ्य है इससे परे अन्य कुछ नही।[2]

लिंगोपासना का सूत्रपात

विश्व की विभिन्न जातियो के प्राचीन इतिहास म लिंगोपासना विषयक पर्याप्त इतिवृत्त मिलते हैं। उपलब्ध तथ्यो के आधार पर यह कहना अनुचित नहा होगा कि उवरत्व की वृद्धि की भावना स ही देवो मानवो और पशुओ की जननेन्द्रियो के पूजन की प्रथा को विशेष प्रश्रय मिला होगा। उसीसे प्ररित होकर सूर्योपासना का भी सूत्रपात हुआ होगा ऐसा कुछ विद्वानो का अनुमान है। उवरत्व की वद्धि के उद्देश्य को लेकर लिंगोपासना का सूत्रपात होना मिस्र देश की प्रसिद्ध ओसरिस कथा से भी सिद्ध होता है। ओसेरिस मिस्र का राजा था जो भूमि की उवरता बढाने का बहुत बडा हिमायती था। एक बार उसकी अनुपस्थिति स

1 That religion had a Phallic origin and that our emotional life has a sex basis are concepts highly offensive and even shocking to sensa tive souls To these it must be pointed out that the primitive in its very nature is animal and savage that we are in nowise to blame for carrying along with us inpedimenta that belong essentially to a savage state of existence since these things inhere in the Unconscious and are not accessible to waking consciousness through conscious mental effort that is we are not aware of their existence anymore than a man is aware that he has a vermiform appendix until like an inflamed appendix they create some disturbance and throw us off our mental balance

—Religion and new Psychology P XI XII Swisher

2 Primitive life in all its phases reveals a phallic origin But what of that? We need not blush to own it. It is a historical fact no more no less

—Religion and new Psychology by Swisher, P XII

अनुचित लाभ उठाकर उसके भाई टायफान ने षड्यन्त्र करके एक घन भाण्ड के अन्दर उसे बन्द करवा दिया और उस पर पिघला हुआ शीशा उडलकर नील नदी में फेंक दिया। संयोग वश ओसेरिस की पत्नी आइसिस' को किसी तरह वह घन भाण्ड मिल गया, जिसे पुन 'टायफोन ने हस्तगत कर ओसरिस के शव के छब्बीस टुकडे करके फेंक दिए। बाद में पति की मृत्यु से शोक सतप्त आइसिस को शिश्नवाला अंश छोडकर सारे टुकडे मिल गये जिनके अलग-अलग स्मारक बनवा दिये गए। शिश्नवाला अंश न मिलने के कारण आइसिस' ने अजीर के काष्ठ का एक लिंग बनवाया, जिसे फलस (Phallus)[१] कहकर उसकी पूजा का विधान किया गया।

फलत ईसा की चौथी सदी तक बिना किसी अनौचित्य-बोध के लिंगोपासना की परम्परा मिस्र के धार्मिक जीवन में चलती रही।[२] इसका प्रचार ग्रीस, रोम असीरिया बेबिलोन, अरब और ईरान तक में बहुत काल तक रहा और बिना कामुक प्रवृत्ति या अपवित्र विचार के लिंग-पूजा ने धार्मिक रूप ग्रहण कर लिया। कृषि-काय के आरम्भिक दिनों में जिन देशों में मातृकुल की प्रथा प्रचलित थी वहा स्त्री योनि को ही प्रमुख उपादान मानकर उसके अनुरूप कौडी की पूजा का सूत्रपात हुआ तथा कौडी को दैवी शक्तियों से युक्त माना जाने लगा। इसके बाद ही लिंग पूजा प्रचलित हुई।[३] भारतवर्ष में भी बच्चों और दुधारू पशुओं को कौडी पहनाना, लक्ष्मी-पूजा के अवसर पर कौडी का रखा जाना उपयुक्त तथ्यों को पुष्ट करते हैं।

ऋग्वेद में भी कहीं कहीं शिश्नदेवा शब्द का प्रयोग मिलता है[४] जिसके आधार पर यही कहा जा सकता है कि वैदिक युग में लिंगोपासना प्रचलित थी। मोहजोदडो और हडप्पा की खुदाई से प्राप्त सामग्री के आधार पर कहा जा सकता है कि सिन्धु-सभ्यता वाले प्राचीन भारतीयों का लिंग-पूजा का ज्ञान अवश्य था क्योंकि पत्थर के जो अडाकार बडे लिंग वहाँ प्राप्त हुए हैं वे नि सन्देह ऐसी पूजा में व्यवहृत होते रहे होंगे।[५] उसी खुदाई में पकी हुई छोटी छोटी स्त्री मूर्तियाँ भी मिली हैं जिनका सम्बन्ध पुरुष देवता के साथ भी दिखलाया गया है। इससे विदित होता है कि सिन्धु घाटी में देवी-उपासना के साथ-साथ पुरुष-देवता की भी उपासना प्रचलित थी। उस पुरुष-देवता को बेबिलोनिया की देवी 'इश्तर के सहचर ताम्बुज के समान भी माना जा सकता है।' इस प्रकार जब इस देवता का वैदिक रुद्र के साथ आत्म सात् हुआ तब इस लिंगोपासना का रुद्र की उपासना में समावेश हो गया।[६] स्त्री-योनि के प्रतीक अर्घे के ऊपर मध्य में शिव लिंग की स्थापना होने लगी और उन्हे भगवान् शंकर का प्रतीक माना जाने लगा। कालान्तर में शिव लिंग धारण करने वालों का एक लिंगायत सम्प्रदाय ही उठ खडा हुआ।

इन तथ्यों से भी धर्म के लैंगिक उद्भव की मान्यता को पुष्टि मिलती है।

१ Phallus शब्द मूलत इमानी का हिब्रू जान पडता है, जिसका अर्थ 'वह फोडकर निकलता है' या भन्दर घुसेडता है' कहा जाता है।

2 See 'A short History of Sex Worship' by H Cutner Pp 7 8

3 See Marriage and Morality by Bertrand Russell p 32

४ ऋग्वेद, ७-२१ ५ तथा १०-९९ ३।

५ 'हडप्पा' प केदारनाथ शास्त्री पृ० ६४ (आत्माराम एंड सन्ज दिल्ली, १९५६ ई)।

६ 'शैवमत', डॉ यदुवंशी बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, १९५८, पृ० ३१।

आदिम धर्मभाव में कामवासना की उद्दाम अभिव्यक्ति

आदिम धर्मभाव का रूप अत्यधिक संवेगात्मक है। उसमें पाशविक उद्दाम वासनाओं का गहरा रंग दिखलाई पड़ता है। उसके अंतर्गत नैतिक तत्वों का अभाव है क्योंकि उसमें किसी प्रकार के आन्तरिक और नैतिक द्वन्द्वों का नितान्त अभाव परिलक्षित होता है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि आदिम जीवन कार्य-कारण-बुद्धि से रहित है जिसमें अन्ध-वासना अर्थात् काम वासना मार-काटकर खाने की आकांक्षा हत्या एवं संघर्ष की प्रवृत्ति एवं बच्चे तथा स्त्री समेत वैयक्तिक सम्पत्ति की सुरक्षा की प्रवृत्ति ही केवल जाग्रत है। ये सारी प्रवृत्तियाँ और कुछ नहीं केवल काम-वासना के ही विभिन्न रूप हैं।[1]

आदिम मानव में भय की भावना और रहस्यमयी शक्ति की कल्पना

इसके अतिरिक्त आदिम मानव में भय की भावना भी दिखलाई पड़ता है। वह अपने सहचरों को लड़ाई में जाते हुए देखता है और वह यह भी देखता है कि उसके सहचर का सम्पूर्ण शरीर क्षत विक्षत है एवं उसमें खून की धारा बह रही है। कुछ ही क्षण पूर्व जिसमें प्राण चेतना और शक्ति लहरा रही थी वह एकाएक निस्पन्द कैसे हो गया? उसकी साँसें क्यों बन्द हो गई? दिन रात गरजते हुए जलप्रपातों तीव्र कड़कती चपला एवं दुर्दान्त तरंगों से आलोड़ित अम्बुधि को देखकर जो उसकी छोटी-सी नौका को पलक मारते निगल जाने वाला है उसने अनुभव किया कि उसकी नन्ही भुजाओं की शक्ति से परे प्राकृतिक जगत में कुछ ऐसी शक्तियाँ मौजूद हैं जो क्षण मात्र में मृत्यु और सर्वनाश को ला सकती हैं। इससे वह भयभीत हो गया। भय की इसी भावना[2] के परिणामस्वरूप उसने अनेकानेक भूत पिशाचों देवी देवताओं की परिकल्पना की और उन क्रूर प्राकृतिक शक्तियों को सन्तुष्ट करने की आवश्यकता का भी उसने अनुभव किया क्योंकि उनमें उसका सम्पूर्ण जीवन आवृत्त था। इसी कारण आदिम धर्मभाव में जादू-टोना—सम्मोहन स्तम्भन देवताओं को सन्तुष्ट करने के लिए बलिदान पर्व-उत्सव आदि धार्मिक कृत्यों की विस्तृत पद्धतियों का सूत्रपात हुआ।[3] क्रुद्ध देवता

---

1 The Primitive is conscious only of blind desire Sex desire desire to kill and eat desire to fight and murder to protect personal property including wife and child All of these are but some form of sex desire
—Religion and the New Psychology SWISHER P 4

2 He views the thundering cataract the sharp lightening-stroke the overwhelming waves of the sea that may swallow his frail boat in an instant of time He recognizes that there are forces in nature stronger than his own puny arm mysterious forces that may deal out death and destruction
—Religion & the New Psychology SWISHER P 4

3 Man feels impelled to propitiate these ruthless intelligences of which his world is full Hence arise the elaborate systems of primitive religion with their fetishism taboo propitiatory sacrifices ceremonials feastings and ablutions
—Religion and the New Psychology by SWISHER P 4

का प्रसन्न करने के लिए नर-बलि की प्रथा चली, जो कालान्तर म सभ्यता और संस्कृति क विकास के साथ साथ पशु-बलि के रूप म परिवर्तित हो गई। पशुओं म भी उसी पशु की बलि देने की प्रथा चल पड़ी है जिसका अङ्गभङ्ग न हुआ हो।

धर्म-सम्प्रदायो के लगिक प्रतीक

सभी धम-सम्प्रदायों से सम्बधित दन्त-कथाओं म किसी-न किसी रूप म सप विषयक प्रतीको की प्रधानता दृष्टिगत होती है। बहुत-से सम्प्रदायो म सप-पूजन की प्रथा भी प्रचलित है। यूनान म कतिपय त्यौहारो म एक लिंग अथवा सप को पिटारी म रखने की प्रथा थी। हेती और लूसियाना के हब्शियो म प्रचलित सप-पूजन-सम्प्रदाय का रूप निश्चय ही लगिक है।[1] इस प्रकार धार्मिक इतिहास के व्यापक क्षेत्रो म सप के प्रतीक के रूप म लगिक भाव की प्रमुखता दिखाई पडती है।

मनोविश्लेषण शास्त्र के प्रवतक फ्रायड ने इडन क उद्यान की स्वर्गीय पवित्रता को नष्ट करने वाली इच्छा को लगिक भावना का ही प्रतीक माना है। आदम और 'ईव विषयक दन्त-कथा प्रकारान्तर से काम-कथा का ही आदि-रूप है। ईव द्वारा आदम' को दिया गया फल या फूल उसके कौमार्य का प्रतीक है। उस फल को दोनों का साथ मिलकर खाना दाम्पत्य-सभोग का पर्याय है। फ्रायड के मतानुसार स्वप्नो एव दन्तकथाओ म फल खाने या फूल सूघने का तात्पर्य रतिक्रिया ही है।[2]

जसा ऊपर कहा जा चुका है इडेन क उद्यान की स्वर्गिक पावनता को नष्ट करने वाली इच्छा लिंग (या सप) का ही प्रतिरूप है। दोनो की दाम्पत्य क्रिया पाप और पुण्य या अच्छे-बुरे की आरम्भिक उभय ज्ञान-दशा की अभिव्यक्ति है जो काम चेतना को जगाती है। 'ईव' का पुष्पदान लिंग द्वारा उसके कौमार्य भग का द्योतक है। प्राय देखा जाता है कि स्नायविक रोग से ग्रस्त मरीजो के सपने अनेक प्रकार के सप विषयक विचारो एव घटनाओ से भरे होते हैं, जो और कुछ नहीं उनके जीवन के असफल प्रणय-व्यापार के ही प्रतीक हैं। इन प्रतीकात्मक रूपो क द्वारा मनुष्य की अवदमित काम वृत्ति की ही अभिव्यक्ति होती है।[3]

---

1 'The Phallic significance of the serpent runs through wide stretches of religious history Dieterich relates that in Greece on certain feasts a phallus or a serpent was placed in a chest The serpent cult of the negroes of Haiti and Louisiana bears a phallic character The mother of Augustus dreamed that she was impregnated by Apollo changed into the form of a serpent and has borne since the figure of a serpent on her thigh

—Psycho analytic Method Pfister p 286 287

2 Since bed and board constitute marriage, the former are often put for the better in the dream and as far as practicable the sexual presentation complex is transposed to the eating complex

—Freuds—Interpretation of Dreams p 247

3 'Desire in the form of a serpent or phallus disturbs the paradisiacal

उन्नत सांस्कृतिक दशा एवं कामवृत्ति का उन्नयन

सभ्यता और संस्कृति के क्रमिक विकास के साथ-साथ मनुष्य की आकांक्षाओं एवं वृत्तियों में भी परिष्करण हुआ है। अपनी सभ्यता की आरम्भिक दशा में मनुष्य पूर्णत आत्म केन्द्रित था। इहलोक को छोडकर उसने परलोक की कभी कल्पना भी नहीं की थी। उसमें पाप पुण्य की भावना का भी उदय नहीं हुआ था। किन्तु आत्मचेतना के विकास के साथ-साथ उसमें समष्टि चेतना का आविर्भाव हुआ। आदिम मानव को पाप पुण्य नैतिकता अतद्वन्द्व पारलौकिकता अथवा पारमार्थिकता का कोई ज्ञान नहीं था। वह अपने चतुर्दिक फैले हुए सारे रूप व्यापारों को अपने वैयक्तिक सुख भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति एवं आत्मतुष्टि की क्षुद्र सीमा में ही ग्रहण करता था। किन्तु उच्च सांस्कृतिक विकास एवं इच्छाओं के परिष्करण के कारण उसमें दशगत जीवन के भाव नैतिक आचारादि उन्नत विचार-दशाओं का सूत्रपात हुआ। अब वह मात्र अपने क्षुद्र स्वार्थों एवं अपरिष्कृत उद्दाम वासनाओं की पूर्ति तक ही सीमित नहीं रहा। वैयक्तिक स्वार्थों एवं सामूहिक स्वार्थों में एक प्रकार की द्वन्द्वात्मक स्थिति उत्पन्न हो गई। पारस्परिक सम्पर्कजन्य दबाव के कारण वैयक्तिक आवश्यकताओं एवं सामूहिक जीवन की आवश्यकताओं में संघर्ष होने लगा। फलत वह अब दूसरों के योग क्षेम के सम्बन्ध में सोचने लगा। इसके लिए उसे अपने वैयक्तिक सुख-स्वार्थों का बहुत अंशों में परित्याग करना पड़ा। किन्तु मानसिक क्रान्ति की इस दशा में मनुष्य ने अपनी आदिम वृत्तियों का परित्याग नहीं कर दिया वरन अनेक सामाजिक कारणों से उसे उनका अवदमन अथवा नियन्त्रण करना पड़ा। इस अवदमन क्रिया से काम भाव और संघर्ष वृत्ति का विलोप नहीं हो गया अपितु वे अवचेतन में जाकर गर्क हो गई। इस प्रकार मूल रूप से वे चेतन जीवन से विच्छिन्न हो गई तथा अवचेतन में जाकर उन्होंने स्वतन्त्र रूप से अपना आसन जमा लिया। उसी अवचेतन से वे मूल वृत्तियाँ समय समय पर संवेगात्मक विप्लव के रूप में प्रकट होती रहती हैं।[1]

serenity of the Garden of Eden The conjugal act reveals to the primal pair knowledge of good and evil that is to say it awakens sex-consciousness Eve is deflowered through the instrumentality of the phallus Dreams of nervous patients are likely to be full of various sorts of snakes which are symbols of the thwarted love life of the patient The repressed sex instinct of the individual comes to expression in this symbolized form

—Religion and New Psychology by Swisher p 8 9

1 The group life evolves to a higher plane His individual demands conflict with the demands of the group life a pressure effected by contiguity Meanwhile man retains all of his primitive instincts but with this difference whereas in the savage state instinct exists only to be satisfied in the more highly organised group life for various social reasons these instincts must be repressed Immedi-

मानव की अवदमित आदिम वृत्तियां निरंतर अपनी अभिव्यक्ति चाहती हैं किन्तु समाज के नैतिक नियमों एवं अन्य आचारों के कारण उन्हें ऐसी सुविधा नहीं प्राप्त होती। इसके परिणामस्वरूप मनुष्य आन्तरिक उत्पीडन द्वन्द्व एवं खण्डित व्यक्तित्व के भावों का अनुभव करने लगता है। इसी दशा में मनुष्य अपने चतुर्दिक फैले हुए वातावरण से सर्वथा विच्छिन्न होकर तीव्र मानसिक पीड़ा का शिकार बन जाता है। फ्रॉयड ने इसी दशा को मनुष्य के पाप-बोध की दशा के रूप में स्वीकार किया है। फ्रायड के मतानुसार पापबोध की यह दशा हत्या से सम्बन्धित है। यदि ईश्वर-पुत्र ने पूर्व पाप से मानवता के परित्राण के लिए आत्म-बलिदान किया था तब प्रतिशोध के नियम के अनुसार यह पाप अवश्य हत्या-कृत्य ही रहा होगा। प्रायश्चित्त से किसी प्रकार प्राण को लौटाया नहीं जा सका होगा। अतएव यदि पूर्वपाप परमपिता ईश्वर के प्रति पाप था तो मानव-समाज का सबसे पुरातन पाप पितृ हत्या का पाप था, आदिम मानव समुदाय के आदि पिता के खून करने का पाप था। कालान्तर में पितृ हत्या का स्मृति चित्र ही देवता के रूप में परिवर्तित हो गया।[1]

साहित्य, कला और धर्म में वृत्तियों का परिष्करण

असभ्य मानव समाज में जो वृत्तियाँ अपने नग्न रूप में चरितार्थ होती थीं वे सभ्य मानव समाज में आकर प्रतीकात्मक एवं परिष्कृत हो गई हैं। साहित्य कला और धर्म के विभिन्न रूपों में इसीलिए प्रतीकों का बाहुल्य है।[2] यही कारण है कि आदिम धर्म लैंगिक प्रतीकों से ओतप्रोत है। किन्तु आधुनिक धर्म में इसके विपरीत स्थूल भाव-मूर्ति एवं परिष्कृत प्रतीकों का विधान किया गया है। आधुनिक धर्म के वे रूप जिनमें इस प्रकार के प्रतीकों का प्राचुर्य रहता है सर्वाधिक भावपूर्ण तथा लोकप्रिय सिद्ध होते हैं क्योंकि उनकी यह भावात्मकता आदिम जीवन से सम्बद्ध है तथा इन प्रतीकों के द्वारा अवचेतन को यदि पूर्ण और तात्त्विक नहीं तो कम से कम एक प्रकार के समुत्पन्न आनन्द या सन्तोष की उपलब्धि अवश्य होती है।[3]

ately a conflict ensues b tween the demands of the individual and *the code of a group Sex desire the fighting instinct are not des*troyed by this repression they are submerged in the Unconscious *At length they are severed from conscious life and in the Unconscious* lead an autonomous life whence they emerge from time to time as emotional disturbances

—Religion and New Psychology Swisher, p 11

1 See Religion and New Psychology by Swisher Pages 12 13

2 Poetry and painting as well as literature are full of such symbolism That which was literal in the life of the savage becomes symbolized and refined in the life of civilized man

—*Religion and New Psychology by Swisher, p 15*

3 ' Primitive religion reeks with phallic symbolism *Modern religion* retains the imagery and refines the symbol Those forms of modern

कामवृत्ति का धर्मभाव पर व्यापक प्रभाव

मनुष्य की सभी आदिम वृत्तियां एवं मौलिक मनोवेगों में कामवृत्ति और मनोवेग सर्वाधिक प्रबल हैं। इन्हीं के ऊपर मानव-जाति की अक्षुण्णता निर्भर करती है। अतः ऐसी आशा करना सर्वथा स्वाभाविक ही है कि धर्मभाव में उन्नत तथा आदर्श काम-मनोवेगों का प्राचुर्य रहना चाहिए। इसके आधार पर यह ऐकान्तिक रूप से सम्भाव्य है कि सभी धर्मों का उद्भव लैंगिकता के आधार पर ही हुआ है। अतः अनुन्नत मस्तिष्क के लिए लैंगिक प्रतीक स्वभावतः अत्यन्त व्यापक प्रतीत होंगे तथा संसारोत्पत्ति विषयक दन्तकथाओं के समान सृष्टि परक प्रतीक भी लैंगिक आकार प्रकार को ग्रहण करेंगे। यही कारण है कि आदिम धार्मिक कृत्य स्पष्टतः नग्न काम प्रतीकों से भरे पड़े हैं।[1]

धर्म मूलतः भावनात्मक है। अतएव व्यापक अर्थ में यह काम संभूत है। ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए क्योंकि जीवन को यदि उसके यथार्थ परिवेश में देखा जाए तो यह मानना अनुचित नहीं होगा कि जीवन के अन्य विषयों की तरह काम वृत्ति और उसके मनोवेगों में भी उदात्तता एवं भव्यता है। यह विकृत मस्तिष्क का ही काम है कि सर्वत्र गन्दगी-ही-गन्दगी देखता है। इस सन्दर्भ में एक और बात जो महत्त्वपूर्ण है वह यह है कि यदि इस प्रकार के धार्मिक विधानों से अवचेतन को समुद्भूत (Derived) आनन्द या तृप्ति मिल जाती है तो कम-से-कम इससे मनुष्य को घोर पाशविकता के प्रलोभनों के गर्त में गिरने से परित्राण मिल जाता है।

भावात्मकता के अतिरिक्त धर्म का एक दूसरा वैचारिक पक्ष भी है। धर्म का यह वैचारिक पक्ष सामान्य जन समुदाय को प्रभावित नहीं कर सकता। धर्म का यह रूप दार्शनिकों एवं ब्रह्मवादी वेदान्तियों के लिए उपयुक्त हो सकता है। मानव जीवन के पुनरुत्थान के लिए धर्म की प्रामाणिकता इससे सिद्ध नहीं होती है कि उसमें समझाने बुझाने की कितनी शक्ति है धर्मसिद्धान्तों के निर्मम तार्किक प्रतिपादन की क्षमता कैसी है तथा तर्कसम्मत विश्वास की दिशा में वह कितनी दूर आगे है अपितु धर्म की प्रामाणिकता और सार्थकता कायापलट

---

religion which are richest in symbolism make the widest appeal because their appeal is to the primitive From this symbolism the unconscious obtains a sort of derived if not perfect and essential satisfaction —The Same p 15 16

1 It is extremely likely that all religion has a phallic origin Phallic symbols would naturally be the most comprehensible symbols to the savage mind and symbols of creation like creation myths would naturally take a phallic form The rites of Primitive religion are full of an obvious s x symbolism —The same p 17 18

× × ×

All certain myths are really symbolization of an individual birth process applied to cosmic birth-processes e g the water is really the amnotic liquor —Coriat p 148

करने वाले महान भावात्मक उत्थाना तथा सार्वलौकिक प्रतीक व प्रयोग द्वारा प्राप्त्भूत दिव्य सत्ता के प्रति श्रद्धा भक्ति में ही सन्निहित है। इसकी अच्छाई मनुष्य के भावात्मक जीवन म सन्निहित है [1] जो क्रियमाण होने पर मनुष्य के चरित्र को पूर्णत रूपान्तरित कर देती है और मनुष्य यदि बुद्धिमत्ता स इसका उपयोग करे तो वह अपने अन्तर के सारे द्वन्द्वो से मुक्त हो सकता है तथा वास्तविक आदर्श जीवन के समकक्ष अपने को ला सकता है।

भक्तिभाव के मूल में अभुक्त वासना

प्रसिद्ध मनोविज्ञानवेत्ता सिगमड फ्रायड, हैवलाक एलिस आदि कई आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने अभुक्त काम-वासना को ही मनुष्य के सारे व्यापारो के मूल म माना है। उनके मतानुसार अभुक्त काम-वासना ही जीवन के विविध क्षेत्रो म मनुष्य को काम करने के लिए उत्प्रेरित करती रहती है। इस दृष्टि म भक्ति भावना के मूल म भी अभुक्त काम-वासना अथवा असफल दाम्पत्य-जीवन की कुण्ठा का ही रूपान्तरण होता है। क्योंकि यह स्पष्ट है कि प्रेम और धर्म अन्योन्याश्रित हैं और ये दोनो मानव-जीवन के सर्वाधिक शक्तिशाली और व्यापक मौलिक मनोवेग हैं। जीवन का जन्मजात कामवृत्ति यदि अवसर पाकर धर्म भाव म रूपान्तरित हो जाती है तो यह सर्वथा स्वाभाविक परिणति है।

काम के उन्नयन का व्यावहारिक रूप दाम्पत्य-प्रेम तथा आदर्श रूप ईश्वर प्रेम है

काम के उन्नयन का व्यावहारिक रूप दाम्पत्य प्रेम है तथा उसका आदर्श रूप ईश्वर प्रेम है। काम को जीवन के मौलिक भाव के रूप म स्वीकार करते हुए काम शास्त्र के प्रणेता वात्स्यायन ने भी दाम्पत्य आनन्द की उपलब्धि एवं सन्तुष्टि को काम की संज्ञा दी है तथा आनन्दानुभूति ही काम है ऐसा कहकर उन्होंने काम को केवल लैंगिक सुख तक ही परिसीमित न कर उसके क्षेत्र को अत्यन्त विस्तृत एवं व्यापक बना दिया है। दाम्पत्य प्रेम म जब काम का उन्नयन हो जाता है तब प्राणी केवल अपने क्षुद्र स्वार्थोपभोगो तक ही सीमित नहीं रहता वरन उनसे ऊपर उठकर अपने प्रेमपात्र तथा सन्तानादि के योग-क्षेम की भी अभिलाषा

1 Religion is primarily emotional and therefore is in the broadest sense of sex origin There is the rationalistic side of religion, but this makes no appeal to people in general This aspect of religion is well left to the philosopher and the theologian The validity of religion for the regeneration of human life lies not in its power to convince not in the cold blooded and logical statement of dogma in which the inquirer is urged to believe it does not be at all in the field of rationalized belief but in the great emotional upheavals of conversion and the reverence for the Divine engendered through the use of the universal symbol

—Religion and the New Psychology by SWISHER p 19

बनकर परमार्थ भाव पूरित हो जाता है।[1] उसके हृदय म सुकुमार एव सात्विक भावनाओ का प्रादुर्भाव होता है जिनका चरम परिणति भक्ति भावना म दष्टिगत होती है। भावयोग की विशिष्ट दशा म व्यक्ति सबको आत्मवत मानते हुए सबके अभ्युदय की कामना करता है।

इस प्रकार दाम्पत्य प्रम क मूल म अपन प्रम-पात्र के साथ एकमेक हो जाने की उत्कट अभिलाषा ही उदग्र रहती है। द्वत म अद्वत स्थापन की यही भावना कालान्तर म ईश्वर प्रेम के रूप म चरितार्थ हो जाती है। बृहदारण्यकोपनिषद म कहा गया है कि जिस प्रकार अपनी प्रियतमा क प्रगाढालिंगन म अनुरक्त होकर पुरुष अपना सुध-बुध खो देता है उसी प्रकार परमात्मा क सायुज्य द्वारा जीवात्मा क अस्तित्व का सवतोभावेन विलोपन हो जाता है।

दाम्पत्य प्रेम ईश्वर प्रेम की भावात्मक अभिव्यक्ति है

यह ससार पुरुष और प्रकृति का क्रीडास्थल है। जगजीवन म इसलिए पुरुष और स्त्री के परस्पर आकषण और सम्मिलन का बडा ही महत्त्वपूण स्थान है। नर-नारी का सयोग सृष्टि रचना विधान का अदभुत कौशल है। यही कारण है कि नर और नारी को किसी एक के अभाव मे अपूण कहा गया है। सृष्टि के अस्तित्व का आधार ही दाम्पत्य प्रम की कल्पना है। दाम्पत्य भाव ही शृगार का मूल है और शृगार के अभाव मे सृष्टि और साहित्य दोनो ही नीरस एव अपूण हैं। दिनकर के शब्दो म काव्य का विकास अधनारीश्वर के आशीर्वाद से होता है। हलाहल क पान करनेवाले नीलकठ का अद्ध अर्धांग अमतपूण है यह कल्पना ही मानो काव्य को अपनी पूणता की याद दिलाती है।[2] इसम आनन्द लौकिक सीमा का उल्लघन कर अलौकिकता को प्राप्त हो जाता है। 'दो का एक' भेद म अभेद का यह उत्कृष्ट उदाहरण है।[3]

मानव जीवन म जितने प्रकार क सम्बन्ध सम्भव हैं, सबम घनिष्ठ सम्बन्ध दाम्पत्य प्रम का ही माना गया है। दाम्पत्य प्रेम ही चरम विकास को प्राप्त कर ईश्वर प्रेम म परिवर्तित हो जाता है। भक्तो और सन्तों की मधुरोपासना का यही मूलाधार है।

भक्ति साधना में दाम्पत्य मधुर-भाव बन्धन का प्रयोजन

मनुष्य क अनुभवो म दाम्पत्य प्रम ही आध्यात्मिक अनुभवो क सन्निकट है। यही कारण है कि आध्यात्मिक प्रमानुभूति को अभिव्यक्त करन क लिए दाम्पत्य प्रम सूत्र का सहारा

---

1 He is no longer to live for himself but for his wife and children and in a larger sense for his decendents He is to continue by transmitting himself that life may remain when he is gone Love is to conquer selfishness He is to rise above himself and the present good and future happiness of others are to constitute his well being —रसकलस हरिऔध, पृ ८८ मे उद्धृत।

२ रसवन्ती की भूमिका पृ ७।

३ नवरस बाबू गुलाबराय हि म पृ १११।

लेना पड़ता है तथा शृंगार के आवरण में उसका निरूपण किया जाता है। प्रत्येक देश और प्रत्येक काल के भक्त एवं संत कवियों ने भगवद्प्रेम को अभिव्यक्त करने के लिए प्रायः दाम्पत्य भाव सूत्र को ग्रहण किया है। भारतवर्ष के सन्त एवं भक्त कवियों ने परमात्मा को प्रियतम के रूप में तथा अपने-आपको उसकी प्रियतमा के रूप में मानकर ईश्वर प्रेम की बड़ी ही मार्मिक अभिव्यंजना की है। सूफी फकीरों ने उसी परमात्मा को माशूक तथा साधक को आशिक के रूप में परिकल्पित कर आध्यात्मिक प्रेम पीर का बड़ा ही मर्मस्पर्शी चित्रण किया है। ईसाई सम्प्रदाय के अन्तर्गत भी आध्यात्मिक परिणय (Spiritual marriage) की योजना द्वारा भक्ति भावना का मधुर वर्णन किया गया है। सोलोमन (Soloman) के श्रेष्ठ गीत दाम्पत्य प्रेम भाव से ओत प्रोत हैं। इस प्रकार लौकिक शृंगार अर्थात् दाम्पत्य प्रेम पारलौकिक मधुर रस की अभिव्यंजना के लिए एक आवश्यक एवं अपरिहार्य पृष्ठभूमि है। भक्ति साधना के क्षेत्र में दाम्पत्य मधुर भाव-बन्धन का यही प्रयोजन है।

दाम्पत्य-भाव की व्यापकता

दाम्पत्य भाव अत्यन्त व्यापक एवं उदात्त भाव है। विश्व के सारे कार्यक्रम दाम्पत्य भाव अथवा युग्म भावना से सचालित हो रहे हैं। प्राणी जगत की कौन कहे, जड़-जगत में भी यह युग्म भावना परिलक्षित होती है। संसार की सभी वस्तुओं में सगमेच्छा मिलनोत्कण्ठा की वृत्ति व्यापक रूप में दृष्टिगत होती है। जड़ चेतन सभी मिलनाभिलाषा से आन्दोलित एवं सचालित हैं। सौंदर्य, सौकुमार्य और सम्मोहन के अधिष्ठाता रतिदेव का प्रभाव कहाँ नहीं है?

सृष्टि की उत्पत्ति और स्थिति का मूलाधार दाम्पत्य भाव ही है। यह आत्मविस्तार अथवा भावी आत्म रक्षा के लिए सन्तानोत्पत्ति का विधान है। दाम्पत्य प्रेम भाव में प्रजनन के अतिरिक्त प्रमोत्सर्ग आत्मोत्सर्ग आदि कोमल एवं उदात्त वृत्तियों का अद्भुत चमत्कार दिखलाई पड़ता है। इसमें नर और नारी नमक और पानी की तरह मिलकर एक हो जाते हैं। अतएव इसमें द्वैत में अद्वैत भाव उत्पन्न करने की विलक्षण शक्ति है। दाम्पत्य प्रेम में आत्म-समर्पण, अपत्य स्नेह आदि सुकुमार भावों का पूर्ण प्रस्फुरण होने के कारण 'काम' भाव की कामुकता और विलासिता का तिरोभाव हो जाता है। अतः दाम्पत्य भाव का प्रेम-प्रवाह ही क्रमशः विकसित एवं परिष्कृत होते हुए विश्व प्रेम तथा अन्ततोगत्वा ईश्वर प्रेम में परिणत हो जाता है। इस प्रकार अपने प्रियतम को विश्व-रूप में [illegible] प्रेम में ही देखा जा सकता है। सगुणमार्गी भक्तों [illegible] को देखने से यह स्पष्ट है कि हमारे अनुभवों में [illegible] निकट पहुँचता है। [illegible] का द्वार है। प्रकृति के [illegible] करते रहते हैं। प्रकृति और पुरुष के इस चिर वियोग का अनुभव ही मानव जीवन [illegible] अनेक साधनाओं का सर्वोपरि फल है।[1] तात्पर्य यह है कि दाम्पत्य भाव [illegible] के तादात्म्य भाव का व्यक्त रूप है। यही कारण है कि भारतीय [illegible]

---

1 रीतिकालीन कविता और शृंगार रस का विवेचन, डॉ० रा० प्र० [illegible], पृ० 11 [illegible]

कल्पना पुरुष रूप में तथा आत्मा की कल्पना स्त्री रूप में की गई है। सृष्टि करने की इच्छा से ही उस परमात्मा ने अपने को पुरुष और स्त्री रूप में प्रकट किया।[1] सारांश यह है कि पुरुष और नारी का परस्पर आकर्षण और सम्मिलन आत्मा परमात्मा के परस्पर आकर्षण और सम्मिलन की लौकिक अभिव्यक्ति है। इसी भावना से प्रभावित होकर कबीर आदि सन्तों ने हरि को पीव और अपने को उनकी बहुरिया के रूप में परिकल्पित करके आध्यात्मिक प्रेमानुभूति, अमर प्रेमवारुणी और उसके प्रभाव की बड़ी ही मार्मिक अभिव्यंजना की है क्योंकि पारलौकिक प्रेम का पथ भी इसी लौकिक प्रेम मार्ग से होकर जाता है। अपने प्रियतम में उस परम प्रियतम परमात्मा की झलक पाकर ही उसके वास्तविक स्वरूप के दर्शन किये जा सकते हैं।

दाम्पत्य-भाव का आध्यात्मिक स्वरूप एवं उसकी अवतारणा

दाम्पत्य भाव आत्म रूप पुरुष और अनात्म रूपा नारी के चिर साहचर्य भाव का प्रतिबिम्ब है। विश्व की एकमात्र सत्ता ब्रह्म अर्थात् पुरुष है। जीव और प्रकृति उसी चरम सत्ता के दो रूप हैं। इन्हीं को आत्म और अनात्म की संज्ञा दी गई है। आत्मा सक्रिय होकर निष्क्रिय अनात्म को अधिकृत करता है और उसके संयोग से अपना विस्तार करता है। इसीलिए पुरुष को आत्मा और नारी को अनात्म माना गया है। आत्म रूप पुरुष द्वारा स्व विस्तार के लिए की जाने वाली क्रियाओं में प्रजनन वृत्ति की ही प्रमुखता रहती है। यही कारण है कि आत्मरूप पुरुष अनात्म रूपा नारी के मधुर संयोग की सतत आकांक्षा करता है। इससे सिद्ध होता है कि दाम्पत्य भाव आत्म रूप पुरुष और अनात्म रूपा नारी के मधुर संयोग से सम्पादित होनेवाले स्व विस्तार की आध्यात्मिक क्रिया का भव्य प्रतीक है, आत्मा और परमात्मा विषयक लोकोत्तर प्रेम का लौकिक संस्करण है। *बृहदारण्यकोपनिषद् में भी कहा गया है कि* वह एक में नहीं रम सका। अतः उसने पति और पत्नी रूप में अपने को विभक्त कर दिया।[2]

हिन्दी की निर्गुणमार्गी और सगुणमार्गी धाराओं के सन्त एवं भक्त कवियों ने दाम्पत्य स्नेह-सम्बन्ध-सूत्र के सहारे आत्मा और परमात्मा के पावन परिणय, तादात्म्य भाव एवं मधुर मिलन से सम्बन्धित विविध प्रसंगों का बड़ा ही सजीव और मर्मस्पर्शी चित्रण किया है। आत्मा और परमात्मा के आध्यात्मिक परिणय, मिलन प्रसंग आदि मधुर भाव दशाओं को लेकर *कबीर आदि सन्त कवियों ने जिस प्रकार के उत्कट माधुर्यमय रहस्यवाद की अवतारणा की है, वह अत्यन्त दुर्लभ है।* राजा राम को अपना पिउ और अपने को उनकी बहुरिया के रूप में परिकल्पित करके संयोग एवं विप्रलम्भ मधुर भक्ति रस की विविध भाव-दशाओं का जैसा प्राणमय प्रकाशन सन्त कवियों ने किया है वैसा किसी अन्य ने नहीं। सन्त कवियों ने अन्योक्ति-पद्धति का अवलम्ब लेकर राम की बहुरिया के पूर्वराग, मिलनाकांक्षा

१　द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्।
　　अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः॥

—मनुस्मृति।

२　एकाकी न रमते आत्मानं द्वैधा
　　अत एव पतिश्च पत्नी चाभवताम्॥

—बृहदारण्यकोपनिषद्।

प्रणय निवेदन, विरहानुभूति आदि विविध प्रेम दशाओ की जो मधुर उदभावनाए की हैं, वे अपूव हैं। सन्तो की दाम्पत्य भाव की उपासना हृदयग्राहिणी एव माधुयमयी है। इसकी विरह वदनाएँ ममस्पर्शिनी हैं। इसीलिए उनम मधुर रस का बडा ही उत्तम परिपाक पाया जाता है।

भक्ति भाव और दाम्पत्य भाव का सवस्व दास्य सख्य और आत्मनिवेदन है। सन्तो की वाणी म इन तीन भावा का बडा ही सुदर सामजस्य दिखलाई पडता है। सन्तो ने इन तीनो रूपा मे परमात्मा का स्मरण किया है। सन्तो ने जहाँ विरहिणी आत्मा के प्रणयोद्गारो एव विरह-वेदनाओं का वणन किया है, वहाँ आत्मनिवदनासक्ति चरमोत्कप पर पहुची हुई प्रतीत होती है। प्रिय मिलन की आशा म किसी-न किसी तरह अपने प्राण को रोककर रखने वाली कबीर की विरहिणी आत्मा के आकुल अन्तर के य प्रणयोदगार दशनीय हैं—

बिरहिन दय सदेसरा सुनो हमारे पीव।
जल बिन मच्छी क्यो जिए पानी म का जीव॥
अखियाँ तो झाइ परी पथ निहार निहार।
जीहडिया छाला पडा नाम पुकार पुकार॥
बिरहिन उठि उठि भुइ पर दरसन कारन राम।
मूए पाछ दहुग सो दरसन केहि काम॥
मूए पाछ मत मिलो कहे कबीरा राम।
लोहा माटी मिल गया तब पारस केहि काम॥
सब रग ताँत रबाब तन बिरह बजावें नित्त।
और न कोई सुन सके कै साइ कै चित॥

— — —

पिया मिलन की आस रहौं कब लौं खरी।
ऊचे नहि चढि जाय मने लज्जा भरी॥
पाँव नही ठहराय चढू गिरि गिरि परूँ।
फिरि फिरि चढहुँ सम्हारि चरन आगे धरू॥
अग-अग थहराय तो बहुविध डरि रहूँ।
करम कपट मग घरि तो भ्रम म परि रहू॥
बारी निपट अनारि तो झीनी गल है।
अटपट चाल तुम्हार मिलन कस होइ है॥
अन्तर पट दे खोल सब्द उर लाव री।
दिल बिच दास कबीर मिलें तोहिं बावरी॥

विरहिणी के आत्मरस से अभिसिंचित इन पक्तिया के प्रत्यक वाक्य म आत्म निवेदन अथवा आत्मोत्सग के भावा की कसी मधुर एव मार्मिक अभिव्यजना हुई है यह सुस्पष्ट है।

जब ईश्वर प्रेम विषयक मधुरारति स्थायीभाव निखिल सौदय रसानन्दस्वरूप परमात्मा रूपी आलम्बन विभाव को पाकर, रोमाच अश्रुपात आदि अनुभावों तथा हष आवेग औत्सुक्य आदि सचारी भावो के सहारे मधुरा भक्ति म परिणत होता है उस समय भक्ति भावापन्न सहृदयो म जिस अलौकिक मधुर रस का उद्रेक होता है वह कितना चमत्कारपूण, लोकोत्तर

तथा दवी विभूति सम्पन्न एव आस्वाद्य होता है इसका प्रमाण मधुर भक्तिरस का विपुल साहित्य भण्डार ही है। इसीलिए तो भागवतकार ने कहा है कि तुम्हारे साक्षात्करण आह्लाद के विशुद्ध समुद्र म स्थित होने के कारण मुझ समस्त सुख गोष्पद-समान प्रतीत होत हैं।[1]

प्राचीन और मध्यकालीन साधना साहित्य म आत्मा और परमात्मा के रहस्यमय माधुयभाव की साधना नर और नारी के परस्पर आकषण प्रम मिलन के उदात्तीकरण क ऊपर ही निर्मित है। इससे यही निष्कष निकलता है कि मनुष्य जब स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर हुआ तब उसने काम या प्रमभाव का परित्याग नहीं किया वरन उसन उसका उदात्तीकरण किया। वष्णव-साधना के राधा माधव तथा निरगुनिया सन्तो के हरि मेरा पिउ मैं राम की बहुरिया की रहस्यपूण माधुय भावना के उदभव का यही रहस्य है।

ऊपर जिन सिद्धान्ता क विवचन किये गय हैं उनके फलस्वरूप निम्नलिखित निष्कष निकलत हैं—

१ *सृष्टि की निखिल प्रसूतियो म पारस्परिक प्रत्याकषण की प्रवत्ति शाश्वत है तथा* आनन्दोपलब्धि की भावना सृष्टि के सारे व्यापारो क मूल मे है।

२ आनन्द का उद्रक रसत्व है तथा उसका उपभोक्ता अहभाव है। भव्य आनन्द ही रस है।

३ आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि म काव्यानन्द अलौकिक नहा लौकिक है।

४ प्रम या राग मानव जीवन का एकमात्र मौलिक भाव है तथा राग स्व विस्तार अथवा परस्पर सगमच्छा जड चेतन सबम विद्यमान है और यही राग फ्रायड का काम है।

५ मथुन या प्रजनन प्रवत्ति (Pairing Mating or Reproduction) मनुष्य की मूल प्रवत्तियो (Primary instincts) म एक प्रबल वत्ति है तथा काम एक अति व्यापक मनोवग है।

६ भक्तिभाव क मूल म मनुष्य का कामवत्ति सवमय और सर्वाधिक आनन्दप्रदायक पदाथ के आकषण की प्रवत्ति एकत्व स्थापना अथवा पूणता प्राप्त करने की प्रवत्ति आत्मदान की प्रवत्ति आत्मप्रतिष्ठा और आत्मरक्षण की प्रवत्ति एव असफल दाम्पत्य-जीवन क कारण अभुक्त काम-वासना की प्रवत्ति प्रेरक तत्वा क रूप म काम करनेवाली हैं।

७ धमभाव का सबस बडा स्रोत यानि भाव है और उसका उदभव सवथा लौकिक है।

८ काम का उन्नयन दाम्पत्य-आनन्द का स्वरूप है तथा दाम्पत्य प्रम और ईश्वर प्रम की मनोदशाए समान हैं। काम क उन्नयन का व्यावहारिक रूप दाम्पत्य प्रम तथा आत्मिक रूप ईश्वर प्रम है।

९ दाम्पत्य प्रम अत्यन्त व्यापक एव आत्मा परमात्मा क तादात्म्य का प्रतीक है। नर-नारी क रूप में दो हृदयो की अभिन्नता अखिल विश्व-जीवन की एकता क अनुभव पथ का द्वार है।

१० दाम्पत्य भाव का आध्यात्मिक स्वरूप ही मधुर भक्तिरस का उत्स है।

---

१ 'त्वत्साक्षात्करणाह्लाद विशुद्धाब्धि स्थितस्य मे।
सुखानि गोष्पदायन्ते ॥' —भागवत।

तृतीय खण्ड



मधुर रस का दार्शनिक विवेचन

(क) वैष्णव दर्शन

अनुभूति और दर्शन

मधुर रस का घनिष्ठतम संबंध धार्मिक तथा आध्यात्मिक अनुभूतियों से है जो सूक्ष्म एवं रहस्यपूर्ण परिणति, तथ्य अथवा उपस्थिति की प्रतीति है और जिसे जीवन के समस्त मूल्यों का आधार समझा जाता है। इस प्रकार धार्मिक या आध्यात्मिक जीवन उक्त रहस्यपूर्ण सत्ता की सापेक्षता में जिया जाता है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि धार्मिक आध्यात्मिक चेतना तथा जीवन में संबंधित उक्त तथ्य या सत्ता के स्वरूप का अस्पष्ट आभास ही मिलता है और वह उन समस्त मूल्यों का आधार है जिनकी खोज मनुष्य करता है। मनुष्य ने धार्मिक और आध्यात्मिक चेतना के उक्त तत्त्व की उपासना कभी एक ईश्वर और कभी अनेक देवी-देवताओं के रूप में की है।

मनोविज्ञान के अनुसार धार्मिक अथवा आध्यात्मिक अनुभूति का विषय मनुष्य के अवचेतन अथवा उपचेतन मन का प्रक्षेप होता है। धार्मिक-आध्यात्मिक अनुभूति का संबंध मनुष्य के संपूर्ण चेतनामूलक जीवन तथा अनुभूति से होता है। वस्तुतः वह अनुभव मनुष्य की संपूर्ण अर्थवती अनुभूतियों की प्रतीयमान एकता रूप होता है। इस दृष्टि से देखने पर यह जान पड़ेगा कि दर्शन तथा धार्मिक आध्यात्मिक अनुभूति में घनिष्ठ संबंध है। धर्म चेतना में जिस एकता की धुंधली प्रतीति होती है उसे दर्शन तर्काश्रय तथा अन्य मूल्यों के आधार में समझने का प्रयत्न करता है।[1] अनेकानेक दार्शनिक मतवाद इसी प्रयत्न के परिणाम हैं।

ईश्वर का अस्तित्व बोध और आनन्द-लाभ

प्रसिद्ध जर्मन विचारक फेक्नर और अंग्रेज दार्शनिक समुएल अलेक्जेंडर ने ईश्वर के अस्तित्व-बोध की प्रामाणिकता पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि 'मनुष्य अपने भीतर किसी की उपासना करने की आवश्यकता का अनुभव करता है। जिस तरह भोजन, पान, कामवासना आदि मूल वृत्तियों से संबंधित आवश्यकताएँ उन्हें पूरा करने वाले पदार्थों की सत्ता को सिद्ध करती हैं उसी तरह उपासना की आवश्यकता का अनुभव यह सिद्ध करता है कि कोई उपास्य सत्ता या देवता है जिसके साथ उपासक अपने स्वभाव, रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार अनेक रूपों में अपना भावात्मक संबंध स्थापित करता है। जिस प्रकार विभिन्न

---

१ संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, डॉ॰ देवराज पृ॰ ३२७-३२८।

मधुर रस का दार्शनिक विवेचन

(क) वैष्णव दर्शन

अनुभूति और दर्शन

मधुर रस का घनिष्ठतम संबंध धार्मिक तथा आध्यात्मिक अनुभूतियों से है जो मूलतः एक रहस्यपूर्ण परिणति लक्ष्य अथवा उपलब्धि का प्रतीति है और जिसे जीवन के समस्त मूल्यों का आधार समझा जाता है। इस प्रकार धार्मिक या आध्यात्मिक जीवन उक्त रहस्यपूर्ण सत्ता की सापेक्षता में जिया जाता है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि धार्मिक आध्यात्मिक चेतना तथा जीवन से संबंधित उक्त लक्ष्य या सत्ता के स्वरूप का अस्पष्ट आभास ही मिलता है और वह उन समस्त मूल्यों का आधार है जिनकी खोज मनुष्य करता है। मनुष्य ने धार्मिक और आध्यात्मिक चेतना के उक्त तत्त्व की उदभावना कभी एक ईश्वर और कभी अनेक देवी देवताओं के रूप में की है।

मनोविज्ञान के अनुसार धार्मिक अथवा आध्यात्मिक अनुभूति का विषय मनुष्य के अवचेतन अथवा उपचेतन मन का प्रक्षेप होता है। धार्मिक-आध्यात्मिक अनुभूति का संबंध मनुष्य के सम्पूर्ण चेतनामूलक जीवन तथा अनुभूति से होता है। वस्तुतः वह अनुभव मनुष्य की सम्पूर्ण अथवा अनुभूतियों का प्रतीयमान एकता रूप होता है। इस दृष्टि से देखने पर यह जान पड़ेगा कि दर्शन तथा धार्मिक आध्यात्मिक अनुभूति में घनिष्ठ संबंध है। धर्म चेतना में जिस एकता की धुंधली प्रतीति होती है उसे दर्शन तर्कशास्त्रीय तथा अन्य मूल्यों के आलोक में समझने का प्रयत्न करता है।[1] अनेकानेक दार्शनिक मतवाद इसी सत्यान्वेषण के परिणाम हैं।

ईश्वर का अस्तित्व बोध और आनन्द-लाभ

प्रसिद्ध जर्मन विचारक फक्नर और अंग्रेज दार्शनिक समुएल अलेक्जेंडर ने ईश्वर के अस्तित्व बोध की प्रामाणिकता पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि मनुष्य अपने भीतर किसी की उपासना करने की आवश्यकता का अनुभव करता है। जिस तरह भोजन पाजन, कामवासना आदि मूल वृत्तियों से संबंधित आवश्यकताएं उन्हें पूरा करने वाले पदार्थों की सत्ता को सिद्ध करती हैं उसी तरह उपासना की आवश्यकता का अनुभव यह सिद्ध करता है कि कोई उपास्य सत्ता या देवता है जिसके साथ उपासक अपने स्वभाव रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार अनेक रूपों में अपना भावात्मक संबंध स्थापित करता है। जिस प्रकार विभिन्न

---

[1] संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, डॉ॰ देवराज, पृ॰ ३२७-३२८।

प्रकार एक ही वस्तुस्थिति तथा भाव रूपों के संदर्भ में विभिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ व्यक्त करते हैं और वे सभी यथार्थ और प्रामाणिक होती हैं उसी प्रकार एक उपास्य सत्ता या परमेश्वर की अनेक रूपों में की गई ज्ञान वाली उद्भावनाएँ भी तात्त्विक दृष्टि से यथार्थ और प्रामाणिक हैं। अतः मनुष्य अपनी जन्मजात सृजनात्मक संभावनाओं के अनुरूप परम तत्त्व की कल्पना अनेक रूपों में कर सकता है और वे सभी रूप विश्वसनीय और प्रामाणिक माने जा सकते हैं। अनेकता में एकता का यही उद्घाटन सर्वोत्कृष्ट है। जिस प्रकार प्रेम और सौन्दर्य की अनुभूति अपरिमित है उसी प्रकार धार्मिक आध्यात्मिक अनुभूतियाँ भी अमाप हैं और इनके मूल या आधार परमतत्त्व का भी अनेक रूपों में परिकल्पन किया जा सकता है। इससे सिद्ध होता है कि एक उपास्य सत्ता की अनेक रूपों में उद्भावना करना तत्त्व का ह्रास नहीं है विकास है।

सांसारिक तापों पर विजय पाना ही आध्यात्मिक साधना का मूल प्रयोजन माना गया है। भारतीय मनीषियों के आनन्दवाद के सिद्धान्त का भी यही रहस्य है। भारतीय दर्शन के अनुसार जीव में सत् चित् और आनन्द ये तीनों तत्त्व पाए जाते हैं जिनमें सत् और चित् के क्रियाशील होने के कारण मनुष्य उनकी प्रत्यक्षानुभूति कर सकता है किन्तु आनन्द तत्त्व के सुषुप्तावस्था में रहने के कारण उसका केवल आभास ही मिलता है प्रत्यक्षानुभूति नहीं हो पाती। संसार के सभी प्राणी दुःख निवृत्ति अर्थात् सुख प्राप्ति के लिए विभिन्न साधनों का अवलम्बन करते हैं। आनन्द-तत्त्व ही उन्हें सुख की प्राप्ति के लिए सतत उत्प्रेरित करता रहता है। अध्यात्म के क्षेत्र में मधुरभाव की साधना का यही मूल कारण है जिसका आविर्भाव मनुष्य के कर्मों या संस्कारों के अनुरूप होता है। भारतीय मनीषियों के विचार में मनुष्य के *हृदय स्थित मधुरभाव का अभिप्राय आनन्द-तत्त्व से ही है* जो मधुरोपासना के परिणाम स्वरूप ही प्रकट होता है।

मानव चेतना के विकास से सम्बन्धित कुछ मूल प्रश्न

मानव चेतना के विकास का इतिहास कुछ मूलभूत प्रश्नों से आरम्भ होता है। वे प्रश्न हैं सृष्टि की उत्पत्ति का क्या कारण है? जड़ और चेतन का क्या भेद है? विश्व और जीवन की उत्पत्ति किससे है? चेतना में भौतिक तत्त्वों की उत्पत्ति है या भौतिक तत्त्वों से चेतना की उत्पत्ति है? यह जगत क्या है? इसका स्रष्टा कौन है? जीव क्या है और जरा मरण के भय से त्राण पाने का उपाय क्या है? इन सबके कारणों का जो कारण है उसे प्रत्यक्ष करने की क्या युक्ति है? ये कुछ ऐसे शाश्वत प्रश्न हैं जो चिरकाल से मानव चेतना को आन्दोलित करते आए हैं तथा उनके मस्तिष्क वाले मनीषियों के आत्म मंथन के विषय बनते रहे हैं। इन्हीं प्रश्नों के उत्तर में मानव ज्ञान विज्ञान का उदय हुआ है। इसी प्रकार की जिज्ञासाओं के ऊहापोह का नाम दर्शन है और इस ऊहापोह के अन्तिम उत्तरों को ही उपनिषद् कहा गया है। सृष्टि की उत्पत्ति और विनाश के कारणों का अन्वेषण करना तथा उन कारणों का प्रत्यक्ष कराने वाले साधना का उपयोग करना ही वेदान्त-दर्शन के उभय रूप हैं।

औपनिषदिक ज्ञान की तीन शाखियाँ हैं—आत्मज्ञान विश्वज्ञान और ब्रह्मज्ञान। इसमें

सबसे पहले आत्म-ज्ञान को आदेश दिया गया है क्योंकि आत्म ज्ञान से ही विश्व-ज्ञान और विश्व दर्शन से ही ब्रह्म दर्शन सम्भव है। उपनिषदों में ज्ञान की ये तीन परिणतियाँ अपने स्वाभाविक रूप में दृष्टिगत होती हैं। यही कारण है कि अध्यात्मविद्या के जिज्ञासुओं ने सबसे पहले उत्तम पुरुष अर्थात् मैं कौन हूँ को जानने की चेष्टा की थी और अहं ब्रह्मास्मि अर्थात मैं ब्रह्म हूँ यह आत्मबोध हो जाने के बाद उन्होंने मध्यम पुरुष अर्थात तुम कौन हो को जानने का प्रयास किया। तत्वमसि अर्थात तुम भी वही हो ऐसा जान लेने के उपरान्त अन्य पुरुष को जानने की जिज्ञासा प्रबल हुई उसी ओर उन्होंने अनुभव किया कि सर्व खल्विदं ब्रह्म अर्थात यह सारा विश्व ही ब्रह्म रूप है। इस प्रकार मानव ने अपने आन्तरिक और बाह्य जगत को जान लेने के बाद आत्मा और परमात्मा की अनुभूति प्राप्त की आत्म-बोध के द्वारा विश्व-बोध और विश्व बोध के द्वारा परमात्म-बोध की प्राप्ति की। उसने सृष्टि के अणु अणु में व्याप्त विश्वात्मा के दिव्य दर्शन किये और उसकी अनन्त सृजन शक्ति तथा उसके अलौकिक मातृरूप का साक्षात्कार किया। यह मानव चेतना की बहुत बड़ी विजय थी, क्योंकि मानव चेतना की इसी सर्वोत्तम उपलब्धि पर उसकी सभ्यता संस्कृति कला, विज्ञान धर्म दर्शन आदि की इतनी बड़ी विचार विचार सम्पदा का उद्भव और विकास हुआ है।

मानव चेतना का स्वरूप

मनुष्य का आविर्भाव (Advent) और अभ्युदय (Evolution) कब और कैसे हुआ, यह विवादास्पद विषय है। किन्तु उस क्षण का महत्त्व मानव जीवन के इतिहास में एक चमत्कारपूर्ण अविस्मरणीय घटना है जब उसने पहली बार इस जगत जाल का प्रकृति के नाना रूपों और व्यापारों को देखा और अपने आपको उस विराट सत्ता के अविनाशी स्वर में सह-गुंजित पाया। शिशु मानव प्राकृतिक तत्वों के भीषण परिवर्तन प्रत्यावर्तन का वेग पर भय और विस्मय की प्रतिक्रिया में मानव चिंतन और मानव विचार का जन्मदाता बना होगा। ये समस्त तत्त्व किसके रूप हैं? ये समस्त शक्तियाँ क्या हैं? ये सभी किसके इंगित पर ताण्डव-नर्तन रत हैं? इस अनबूझे प्रश्न उस शिशु मानव के आत्म मंथन चिन्तन के विषय बनते रहे होंगे और वह उनके समाधान को पाने के लिए हजारों हजार वर्षों तक सोचता विचारता रहा होगा।

पदार्थ विश्व चेतना का सक्रिय रूप है

आज का मानव पृथ्वी की शिशु-अवस्था से बहुत आगे चला आया है। नवोत्थित पृथ्वी के उस वाष्पाकुल वातावरण में तत्त्वों के उस ताण्डव नर्तन में वह व्यवहारतः अपरिचित है फिर भी ज्ञान, विज्ञान और दार्शनिक उपलब्धियों के द्वारा आज उसने विश्व चेतना का ज्ञान प्राप्त कर लिया है उसने सूक्ष्म में स्वर विराट रूप का परिचय पा लिया है। आज पदार्थ उसके लिए कोई पहेली बनकर उपस्थित नहीं है क्योंकि उस पदार्थ का रहस्य ज्ञात है। वह जानता है कि पदार्थ अविनाशी है अनादि है और अनन्त है। यह पदार्थ

परिवतनशीलता के कारण नाना रूपो मे परिवर्तित किया जा सकता है। उसका क्षय नही होता मात्र रूपान्तर होता है।

पदार्थ (Matter) गति और क्रियाहीन भी नही है। वह सकल ब्रह्माण्ड मे व्याप्त होकर सक्रिय है। वह प्रत्येक क्षण अबाध रूप से नवीन सृजन मे संलग्न है और इस प्रकार जीवन की प्रगति का कारण है। पदार्थ विश्व चेतना का सक्रिय रूप है।

पदार्थ-चेतना और जीवन की सपृक्तता

विज्ञान के अनुसार पदार्थ और जीवन सपृक्त हैं। दोनो का साथ ही अभ्युदय हुआ है। कुछ वैज्ञानिक दार्शनिको के अनुसार जीवन पदार्थ का ही गुण है। वे दोनो अविभाज्य हैं। वृहत नक्षत्रो से लेकर सूक्ष्मतम अणु तक सभी सचेतन और सक्रिय हैं। नवीनतम अनुसधानो से ज्ञात हुआ है कि इलेक्ट्रान वास्तव मे कोई भौतिक इकाई नही है। वह केवल एक विद्युत पुज है जो गतिमान है और इच्छा शक्ति भी रखता है। अणु की यही इच्छा शक्ति वैज्ञानिको को उलझन मे डाल देती है क्योकि वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भौतिक पदार्थ (Inorganic matter) मे इच्छा या चेतना का होना असगत है। उनकी दृष्टि मे यह इच्छा शक्ति तो केवल जीव पदार्थ (Organic) मे ही होनी चाहिए।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनी भौतिक मान्यताओ की सीमा मे इस इच्छा तत्त्व को असगत समझे लेकिन यह चेतना ही वास्तव मे विश्व चेतना का प्रतिरूप है। मानव-दर्शन भी किसी पदार्थ को चेतना विहीन नही मानता। ये असख्य नक्षत्र और नक्षत्र भी जो इस अनन्त क्रीडामय चेतना के प्रतिबिम्ब मात्र हैं किसी निष्क्रिय पदार्थ से नही बनते। प्रसिद्ध दार्शनिक बर्गसा की धारणा है कि चेतन-तत्त्व से जीवन का अभ्युदय होता है। पदार्थ (Matter) मे ही जीवन की इच्छा निहित है। यह इच्छा शक्ति बाह्य नही आतरिक है जो निरन्तर उर्ध्वगामी है। मनुष्य मे यही इच्छा चेतना के स्तर पर पहुच गई है। सभी रूप आकारो मे यही इच्छा प्रगतिशील जीवन की जननी है। यही ब्रह्म का मातृरूप है।

नवीनतम वैज्ञानिक अनुसधानो के परिणामस्वरूप अन्तरिक्ष (Space) मे बिखरी वैश्विक (Cosmic) शक्ति की जिन नई प्रवृत्तियो का पता चला है उनसे यह सिद्ध होता है कि विश्व मे असीम सक्रियता है और वह अणु-अणु और कण-कण मे पुलकित हो रही है। मानव जगत की तो बात ही क्या वनस्पति जगत मे भी सृष्टि की यह अदभुत क्रीडा दृष्टिगत होती है। प्रकृति किस तरह फूलो मे रग गध आकर्षण भरकर भ्रमरो को आकर्षित करती है ताकि सृष्टि के लिए आवश्यक पराग परिवाहन नियमित रूप से होता रहे और अनन्त सृजन क्रिया आगे बढ़ती रहे।

सृजन आनन्द सृष्टि का प्रेरक तत्त्व

जीव-जगत मे यही सृजन क्रिया उच्चतर चेतन स्तर पर है। अनुकूल ऋतु के आगमन के साथ ही जीवो मे नया रक्त प्रवाह होने लगता है। सहवास-सुख की इच्छा तीव्र हो उठती है और विषम लिंगी प्राणी सृष्टि की क्रीडा मे रत हो जाते हैं। मानव-जगत मे भी सृष्टि की यही अविरल क्रीडा यही शक्ति रूपाकर्षण साज शृगार और प्रेम-व्यापार के अन्तर्गत अपना

कार्य करती जाती है और उस अपनी उपस्थिति का भान तक भी नहीं होने देती है। इससे स्पष्ट है कि मानव अनुभूति में सृजन का आनन्द जीवन का सर्वोत्तम आनन्द है और यही सृष्टि का प्रेरक तत्त्व है।

विश्व-चेतना का मातृ रूप और संहार-रूप

विश्व चेतना मातृ रूप में अनन्त सृजन में संलग्न है। सृजनशील चेतना शक्ति अविनाशी है। जीवविज्ञान जीवन अंकुरों के अध्ययन के आधार पर सिद्ध करता है कि जीवों में जीवन-तत्त्व का नाश नहीं होता। यह जीवन अंकुरों के साथ ही पीढ़ी-दर-पीढ़ी निरन्तर सञ्चरित होता रहता है। फलतः जीवन और जाति शाश्वत और अनन्त हैं। हर नए अंकुर में अतीत जीवन ग्रहण करता है।

विश्व चेतना का दूसरा रूप संहार का है। सृजन शक्ति में स्खलित तत्त्वों को यह चेतना समेटती चलती है। जो सृष्ट होता चलता है वह ऊर्ध्वमुखी होकर बाहर आता चलता है और जो मृत होता चलता है वह अन्तर्मुखी होकर विश्व चेतना में विलीन होता चलता है। धरती से उठते हुए अंकुर आकाश की ओर बढ़ते चलते हैं और गिरती हुई पत्तियाँ मिट्टी में विलीन होती जाती हैं। सभी तत्त्व अपने अपने विराट में लीन हो जाते हैं केवल चेतना रह जाती है। यह चेतना जीवन के भौतिक बन्धन काल और स्थान से मुक्त रहती है। यह नित्य नवीन सृजन करने वाली चेतना अविरल अनासक्त और आकांक्षा रहित है। यही सृष्टि का और जीवन का मातृ रूप है यही ब्रह्म है समस्त जीवन इसी से गतिशील है।

सभी तत्त्व एक ही विराट् चेतना के स्वरूप हैं

सभी तत्त्व एक ही विराट चेतना के विभिन्न रूप हैं यह सिद्ध करने में वैज्ञानिकों को जो भी समय लगे किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि इस सत्य को ब्रह्मज्ञानियों ने बहुत पहले ही आत्म-दृष्टि से देख लिया था। उन्होंने अपने अन्तर्मन में उस विराट शक्ति अनन्त चेतना का आत्म साक्षात्कार कर लिया था। उस विराट शक्ति उस अनन्त चेतना को जानने का मानदण्ड भौतिक नहीं आन्तरिक आध्यात्मिक अनुभूति ही है। पदार्थ और जीवन की एकात्मता तथा ईश्वर जीव और जगत की अद्वैतता से बढ़कर दूसरा कोई विशिष्ट ज्ञान नहीं है। भौतिक तत्त्व और आत्मिक जीवन-तत्त्व दोनों की स्थिति अद्वैत और संयुक्त है।

सृष्टि का कारण

ऋग्वेद में सृष्टि के कारण पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि तीन अनादि स्वयंभू पदार्थों अर्थात् परमेश्वर जीव और प्रकृति के संयोग से सृष्टि का आविर्भाव होता है।[1] ये ही तीन पदार्थ सृष्टि के उद्भव और विनाश के कारण हैं। परमात्मा ने अपनी ईक्षण शक्ति से प्रकृति में प्रेरणा का संचार किया। प्रेरणा से गति और गति से आकर्षण

---

१ द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

—ऋग्वेद, म १/१६४/२०

उत्पन्न हुआ। आकर्षण से प्रकृति परमाणुओं ने परस्पर मिलकर रात्रि के समान एक गम्भीर स्थिति धारण की। वह स्थिति चक्राकार गति से घूमकर सघन हो गई और उसके चतुर्दिक आकाश उत्पन्न हो गया। उस रिक्त स्थान (आकाश) में वायु का समुद्र भर गया और वायु समुद्र में ही सूर्य उत्पन्न हुआ जिससे मेघ, वर्षा, नक्षत्र, पृथ्वी, दिन और रात उत्पन्न हुए। इस प्रकार जीवों का कर्म और परमेश्वर की न्याय व्यवस्था ही इस सृष्टि के मुख्य कारण हैं।'[1] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सृष्टि के मूल में ईश्वर शक्ति, प्रेरणा, आकर्षण और परस्पर सम्मिलन की मधुर भावना सन्निहित है।

मैथुनी सृष्टि का सूत्रपात

यह सृष्टि प्रजात्मा एवं पुरुष के पारस्परिक दाम्पत्य अनुरंजन का परिणाम है। ऋग्वेद में एक स्थल पर प्रजात्मा और पुरुष की इस अलौकिक प्रणय लीला पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि 'अपने पति के प्रति प्रेमासक्त अनिंद्य पत्नी की भाँति[2] अथवा पति की प्रसन्नता तथा उसके आकर्षण के निमित्त जिस प्रकार कोई कामिनी अपने को सुन्दर शृंगारों द्वारा सुसज्जित किया करती है उसी प्रकार प्रजात्मा पुरुष को अनुरंजित करती है।[3] ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों के अनुसार सारा जगत शक्ति की रचना है। स्रष्टा ने विश्व निर्माण की इच्छा से अपने को ब्रह्म और शक्ति इन दो रूपों में प्रकट किया और दोनों के संयोग से सृष्टि का आविर्भाव हुआ। ऋग्वेद के रात्रिसूक्त, देवीसूक्त तथा श्रीसूक्त में तथा अथर्ववेद के कई स्थलों में देवी शक्ति की भक्ति और पूजा का विकसित रूप मिलता है। यही शक्ति ब्रह्म की त्रिगुणात्मिका प्रकृति है। ब्राह्मण और आरण्यक उपनिषद सरस्वती, गायत्री और सावित्री के रूप में विश्व रचना करने वाली शक्ति का गुणगान करते हैं। बौद्ध एवं जैन सम्प्रदायों में भी शक्ति की महिमा के बहुविध वर्णन मिलते हैं। पुराणों में भी देवी कथा प्रचलित है। अन्यान्य देशों में भी शक्ति मातृकाओं की पूजा के प्रचुर प्रमाण मिलते हैं। मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा की खुदाई से प्राप्त देवी मूर्तियाँ तथा अन्य प्राचीन मिश्री मन्दिरों आदि में उत्कीर्ण शक्ति प्रतिमाएँ यह सिद्ध करती हैं कि अति प्राचीन काल से लेकर अद्यावधि सृष्टि की निर्मात्री के रूप में शक्ति उपासना की एक प्रशस्त परम्परा रही है। चराचर विश्व का आदि अन्त वही महाशक्ति है। उस महाशक्ति के बिना सब-कुछ निष्क्रिय है। प्रतिक्षण उसी के विविध रूप दिखाई पड़ते हैं जो चित्-तत्त्व और शक्ति-तत्त्व के मधुर-संयोग से प्रसूत हैं।

प्रजापति की सृष्टि रचना सम्बन्धी मूलप्रवृत्ति की विवेचना करते हुए बृहदारण्यक उपनिषद के एक मन्त्र में कहा गया है कि 'वह रममाण नहीं हुआ, जैसे एकाकी पुरुष भी रममाण नहीं होता और उसने किसी दूसरे की इच्छा की। वह जिस प्रकार परस्पर-आलिंगित स्त्री-पुरुष होते हैं वैसे ही परिमाण वाला हो गया और उसने अपनी देह को दो भागों में

१ ऋग्वेद १/१६/१२ १/१ /३
यजुर्वेद ३१/८ ३१/६ ३१/ ३१/११ ३१/७।

२ पुरः सद शर्मसदो न वीरा अनवद्या पतिजुष्टेव नारी।
—ऋग्वेद १.७३.३।

३ पतिं न पत्नीरुशतीरुशन्तं स्पृशन्ति त्वा शवसावन् मनीषा।
—ऋग्वेद १.६२.११।

विभक्त कर डाला जिसमें पति और पत्नी के दो रूप हो गए। फिर वही उस स्त्री में संयुक्त भी हुआ और इस प्रकार मानव जाति की सृष्टि हुई।[1] इसी प्रकार क्रमशः इतर जीवों की सृष्टि के प्रसंग उपस्थित किए गए हैं। वेदोपनिषद में भी इस विचार का समर्थन मिलता है। ब्रह्म विश्व की एकमात्र सत्ता है। वही अपने-आपको पुरुष और प्रकृति में विभक्त कर लेता है। इन्हीं को आत्म और अनात्म कहा गया है। आत्म सक्रिय है और अनात्म निष्क्रिय है। आत्म अनात्म का अधिष्ठान कर ही अपना विस्तार करता है। आत्म और अनात्म का यही सुन्दर मधुर संयोग सृष्टि का रहस्य है। इसीलिए पुरुष को आत्म और नारी को अनात्म रूपा बतलाया गया है। पुरुष रूप आत्म स्व विस्तार के लिए अनात्मरूपा नारी के साहचर्य का आकांक्षी है। दोनों के मधुर संयोग से ही स्व विस्तार की यह प्रक्रिया सम्पादित होती है। दाम्पत्य भाव इसी आध्यात्मिक क्रिया का प्रतिबिम्ब है। इसीलिए कहा गया है कि वह एक में नहीं रमा। अतएव पति और पत्नी रूप में उसने अपने दो भेद कर लिए।[2] श्रीमद्भगवद्गीता के चतुर्दश अध्याय में प्रकृति और पुरुष के संयोग से समस्त जगत की उत्पत्ति बतलाते हुए श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा है कि मेरी महत्-ब्रह्मरूप मूलप्रकृति सम्पूर्ण भूतों की योनि है अर्थात् गर्भाधान का स्थान है और मैं उस योनि में चेतन समुदाय रूप गर्भ का स्थापन करता हूँ। उस जड़ चेतन के संयोग से सब भूतों की उत्पत्ति होती है। नाना प्रकार की सब योनियों में जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीरधारी प्राणी उत्पन्न होते हैं प्रकृति तो उन सबकी गर्भ धारण करने वाली माता है और मैं बीज का स्थापन करने वाला पिता हूँ।[3] सत्त्वगुण रजोगुण और तमोगुण प्रकृति से उत्पन्न होने हैं और अविनाशी जीवात्मा को शरीर में बाँधते हैं।[4] सांख्य-दर्शन ने भी भिन्न गुण वाले पुरुष और प्रकृति के संयोग से ही सृष्टि की स्थिति मानी है। पुरुष समस्त पदार्थों में विद्यमान रहता हुआ भी अलिप्त है। पुरुष प्रकृति से सदा अनासक्त रहता है पर प्रकृति अपनी प्रपंच रचना द्वारा पुरुष को नित्य ही बंधन में डालने का प्रयत्न करती है।[5]

---

1 "स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्। स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधापातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवतां—ततो मनुष्या अजायन्त।"

—बृहदारण्यकोपनिषद् अ० 1, ब्रा० 4, मं० 3।

2 'एकाकी नारमत आत्मानं द्वेधा,
व्यभजत् पतिश्च पत्नीचाभवत्।"

—वेदोपनिषद्।

3 मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥4॥

—श्रीमद्भगवद्गीता 14वाँ अध्याय।

4 सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥5॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, 14वाँ अध्याय।

5 जडप्रकाशयोगात्प्रकाशः (?) — जड़व्यावृतो जड़ं प्रकाशयति चिद्रूपः।

—सांख्यसूत्र, अ० 1 सू० 5।

एवं धर्मों में प्रचलित हैं। सृष्टि का सूत्रपात मूलतः मैथुनी ही है। आदम और इव के
मधुर संयोग से सृष्टि रचना के सूत्रपात होने की कथा भी उपर्युक्त तथ्य को सिद्ध करती है।
इव ने आदम को फल या फूल दिया और दोनों ने मिलकर उसका रसास्वादन किया और
इस प्रकार दोनों दाम्पत्य स्नेह सूत्र में आबद्ध होकर सृष्टि रचना में संलग्न हुए। इस प्रकार
इस कथा से भी मैथुनी सृष्टि के सूत्रपात होने की बात ही सिद्ध होती है क्योंकि फल या
फूल इव के कौमार्य या पूर्ण यौवन का प्रतीक है और दोनों का परस्पर उसका रसास्वादन
करना दाम्पत्य संभोग सुख का ही परिचायक है।[1] यहाँ सिर्फ उक्त मैथुनी व्यापार का
उदात्तीकरण कर दिया गया है ताकि उसमें अश्लीलता की गंध न आ सके। वस्तुतः अपने
यथार्थ रूप में यह नर और नारी का परस्पर आकर्षणजन्य संभोग-सुख ही है। कोई भी
मनोवैज्ञानिक इस तथ्य को अस्वीकार नहीं कर सकता कि प्रेम ईश्वर और लौकिक प्रेम दोनों
की विधियाँ समान ही होती हैं तथा धर्म और काम की सामान्य और असामान्य दशाएँ एक
दूसरे से बहुत अधिक मिली जुली होती हैं।[2]

जापानी शिंतोधर्म के अनुयायियों के अनुसार सृष्टि रचना का आरम्भ इजानागी
और इजानामी नामक देवताओं के संयोग से हुआ। ओनोगोरोजिमा नामक टापू पर दोनों
देवताओं ने आठ फथम का गृह निर्माण किया जिसके मध्य में एक विशाल स्तम्भ बनवाया
गया। तब इजानागी (पुरुष) ने इजानामी (स्त्री) से पूछा कि तुम्हारा शरीर किस
प्रकार निर्मित है? तब इजानामी ने कहा कि मेरा शरीर पूरा पूरा बन चुका है इसका
केवल एक अंग ऐसा है जो अतिरिक्त या व्यर्थ सा लगता है। इजानागी ने उत्तर दिया
यह ठीक है। तदनन्तर इजानागी ने इजानामी से कहा आओ तुम और मैं दोनों ही
इस दिव्य एवं विशाल स्तम्भ की परिक्रमा करें और इसकी दूसरी ओर जाकर पति पत्नी बन
जाएँ। इजानामी के सहमत होने पर इजानागी ने कहा तुम बायीं ओर से घूमो और मैं
दायीं ओर से घूमूँगा। जब वे दोनों स्तम्भ की परिक्रमा करते हुए एक-दूसरे से सहसा मिले
तो इजानामी ने *उल्लासपूर्वक कहा क्या ही आनन्द की बात है! मुझे एक सुन्दर युवक मिल*

---

1 The apple given by Eve to Adam is the symbol of her verginity The mutual eating symbolizes the conjugal relation In the Aztec form of this myth she presents him a rose that is the flower of her verginity which they smell together In dreams and myths eating or smelling can by displacement refer to the sexual act The gross literalness is thus idealized and rendered less offensive

—Religion And the New Psychology by Swisher P 7

2 No psychologist can fail to see that love of God and the libido have the same mechanisms and that religions and sex normality and abnormality are very closely connected

—Stanly Hall

गया।[1] तब इजानामी ने भी कहा क्या ही आनन्द की बात है। मुझे एक सुन्दर युवती मिल गई। [1] और इस प्रकार मैथुनी सृष्टि का सूत्रपात हुआ।

निष्कर्षतः हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि जातियों के धर्म ग्रन्थों के अनुसार सृष्टि रचना के कथा प्रसंगों में किसी न किसी आदिम स्त्री और पुरुष के दाम्पत्य भाव जन्य पारस्परिक सम्भोगेच्छा, संयोग-सुख की ही चर्चा मिलती है। इस प्रकार आदि पुरुष और आदि नारी का यही परस्पर सहजाकर्षण, संयोगेच्छा और सम्भोग-सुख मधुर रस के सूक्ष्म उपादान हैं।

तैत्तिरीयोपनिषद में कहा गया है कि आनन्द ही ब्रह्म है क्योंकि आनन्द से ही ये सारे प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हुए आनन्द के आश्रय में जाते हैं और अन्ततः आनन्द स्वरूप में ही लीन हो जाते हैं। आनन्द-स्वरूप एक ब्रह्म है और वही सबकी अन्तिम सीमा है। तात्पर्य यह है कि प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय में आनन्द स्वरूप ब्रह्म ही मुख्य कारण है।[2] जो पुण्य स्वरूप ब्रह्म है वही सृष्टि का हेतु रस-तुल्य आनन्द प्रदान करने वाला है। इस रस को पाकर पुरुष आनन्दी हो जाता है, यह रस सबको आनन्दित करता है।[3] बृहदारण्यकोपनिषद में तो यहाँ तक कहा गया है कि इस आनन्द के अंशमात्र के आश्रय में ही समस्त प्राणी जीवित रहते हैं। आनन्द अभयत्व, अनन्त और नित्य है। लौकिक क्षेत्र में नर और नारी तथा पारमार्थिक क्षेत्र में आत्मा और परमात्मा की अद्वयावस्था में ही इस आनन्द की अनुभूति होती है। इसीलिए आत्मा और परमात्मा के मिलन जन्य महासुख को बतलाने के लिए नर-नारी के सम्भोग-सुख का दृष्टान्त दिया गया है क्योंकि सांसारिक सुखों में काम सुख सर्वोपरि माना गया है। इससे स्पष्ट है कि सृष्टि के मूल में संयोगेच्छा, संयोग-सुख और आनन्द की भावना सन्निहित है। आनन्द-लाभ ही जीवन का चरम लक्ष्य है, जो दो के सम्मिलन अर्थात् अद्वयानुभूति में ही सम्भव है।

पिछले पृष्ठों में परमाय चेतना एवं जीवन-तत्त्व की संपृक्तता पर विचार करते हुए यह स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है कि सृजन अथवा स्व विस्तार का आनन्द ही सृष्टि का प्रवर्तक तत्त्व है। सभी तत्त्व एक ही विराट चेतना के विभिन्न रूप हैं एवं सभी मधुर प्रमाकर्षण के कोमल तन्तु में आबद्ध हैं। सृष्टि के मूल में ईश्वर शक्ति, प्रेरणा, आकर्षण और परस्पर सम्मिलन की मधुराकांक्षा सन्निहित है। यह सृष्टि प्रकृतात्मा एवं पुरुष के दाम्पत्य अनुरंजन का परिणाम है अर्थात् आत्मरूप पुरुष और अनात्मरूपा नारी का सुखद संयोग ही सृष्टि का रहस्य है। इस प्रकार सृष्टि का सूत्रपात मूलतः मैथुनी ही है और जगत् के समस्त

1 The comparative study of Religions by Alban G W Widgery
Pp 101 102

* * *

बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद् की परिषद् पत्रिका, अप्रैल १९६१ १०, पृ० ४६ द्रष्टव्य।

२ 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।

—तैत्तिरीयोपनिषद्, भृगुवल्ली, षष्ठोऽनुवाक।

३ यद्वै तत्सुकृतम्। रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्।

—तैत्तिरी, ब्रह्मानन्दवल्ली, सप्तमोऽनुवाक।।

इस प्रकार पुरुष और स्त्री के मैथुन द्वारा सृष्टि रचना विषयक सिद्धान्त सभी देश एवं धर्मों में प्रचलित हैं। सृष्टि का सूत्रपात मूलत मैथुनी ही है। आदम और ईव के मधुर संयोग से सृष्टि रचना के सूत्रपात होने की कथा भी उपयुक्त तथ्य को सिद्ध करती है ईव ने आदम को फल या फूल दिया और दोनों ने मिलकर उसका रसास्वादन किया औ इस प्रकार दोनों दाम्पत्य स्नेह सूत्र में आबद्ध होकर सृष्टि रचना में संलग्न हुए। इस प्रका इस कथा से भी मैथुनी सृष्टि के सूत्रपात होने की बात ही सिद्ध होती है क्योंकि फल या फूल ईव के कौमार्य या पूर्ण यौवन का प्रतीक है और दोनों का परस्पर उसका रसास्वादन करना दाम्पत्य-संभोग सुख का ही परिचायक है।[1] यहाँ सिर्फ उक्त मैथुनी व्यापार का उदात्तीकरण कर दिया गया है ताकि उससे अश्लीलता की गन्ध न आ सके। वस्तुत अपने यथार्थ रूप में यह नर और नारी का परस्पर आकर्षणजन्य संभोग-सुख ही है। कोई भी मनोवैज्ञानिक इस तथ्य को अस्वीकार नहीं कर सकता कि प्रेम ईश्वरीय और लौकिक प्रेम दोनों की विधियाँ समान हो होती है तथा धर्म और काम की सामान्य और असामान्य दशाएं एक दूसरे से बहुत अधिक मिली-जुली होती हैं।[2]

जापानी शिन्तोधर्म के अनुयायियों के अनुसार सृष्टि रचना का आरम्भ इजानागी और इजानामी दो देवताओं के संयोग से हुआ। ओनोगोरोजिमा नामक टापू पर दोनों देवताओं ने आठ फथम का गृह निर्माण किया जिसके मध्य में एक विशाल स्तम्भ बनवाया गया। तब इजानागी (पुरुष) ने इजानामी (स्त्री) से पूछा कि तुम्हारा शरीर किस प्रकार निर्मित है ? तब इजानामी ने कहा कि मेरा शरीर पूरा-पूरा बन चुका है इसका केवल एक अंग ऐसा है जो अतिरिक्त या व्यर्थ सा लगता है। इजानागी ने उत्तर दिया यह ठीक है। तदनन्तर इजानागी ने इजानामी से कहा आओ तुम और मैं दोनों ही इस दिव्य एवं विशाल स्तम्भ की परिक्रमा करें और इसकी दूसरी ओर जाकर पति पत्नी बन जाएँ। इजानामी के सहमत होने पर इजानागी ने कहा तुम बायी ओर से घूमो और मैं दायी ओर से घूमूंगा। जब वे दोनों स्तम्भ की परिक्रमा करते हुए एक-दूसरे से सहसा मिले तो इजानामी ने उल्लासपूर्वक कहा क्या ही आनन्द की बात है ! मुझे एक सुन्दर युवक मिल

---

1 The apple given by Eve to Adam is the symbol of her verginity The mutual eating symbolizes the conjugal relation In the Aztee form of this myth she presents him a rose that is the flower of her verginity which they smell together In dreams and myths eating or smelling can by displacement refer to the sexual act The gross literalness is thus idealized and rendered less offensive

गया।' तब इजानागी ने भी कहा क्या ही आनन्द की बात है। मुख एवं सुन्दर युवती मिल गई। [1] और इस प्रकार मथनी सृष्टि का सूत्रपात हुआ।

निष्कर्षतः हिन्दू मुसलमान ईसाई आदि जातियों के धर्म ग्रन्थों के अनुसार सृष्टि रचना की कथा प्रसंगों में किसी-न किसी आदिम स्त्री और पुरुष के दाम्पत्य भाव जन्य पारस्परिक सम्भोगेच्छा संयोग-सुख का ही चर्चा मिलता है। इस प्रकार आदि पुरुष और आदि नारी का यही परस्पर सहजाकर्षण संयोगेच्छा और सम्भोग-सुख मधुर रस के सूक्ष्म उपादान हैं।

तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है कि 'आनन्द' ही ब्रह्म है क्योंकि आनन्द में ही ये सारे प्राणी उत्पन्न होते हैं उत्पन्न हुए आनन्द के आश्रय में जाते हैं और अन्त में आनन्द स्वरूप में ही लीन हो जाते हैं। आनन्द-स्वरूप एक ब्रह्म है और वही सबकी अन्तिम सीमा है। तात्पर्य यह है कि प्राणियों की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय में आनन्द स्वरूप ब्रह्म ही मुख्य कारण है। जो पुण्य-स्वरूप ब्रह्म है वही तृप्ति का हेतु रस-तुल्य आनन्द प्रदान करने वाला है। इस रस को पाकर पुरुष आनन्दी हो जाता है यह रस सबको आनन्दित करता है।[3] वृहदारण्यकोपनिषद् में तो यहाँ तक कहा गया है कि इस आनन्द के अंशमात्र के आश्रय से ही समस्त प्राणी जीवित रहते हैं। आनन्द अभय व अन्त और नित्य है। लौकिक क्षेत्र में नर और नारी तथा पारमार्थिक क्षेत्र में आत्मा और परमात्मा की अद्वयावस्था में ही इस आनन्द की अनुभूति होती है। इसीलिए आत्मा और परमात्मा के मिलन जन्य महासुख के बखान के लिए नर-नारी के सम्भोग-सुख का दृष्टान्त दिया गया है क्योंकि सांसारिक सुखों में काम सुख सर्वोपरि माना गया है। इससे स्पष्ट है कि सृष्टि के मूल में संयोगेच्छा संयोग सुख और आनन्द की भावना सन्निहित है। आनन्द-लाभ ही जीवन का चरम लक्ष्य है जो दो के सम्मिलन अथवा अद्वैतानुभूति में ही सम्भव है।

पिछले पृष्ठों में पदार्थ चेतना एवं जीवन-तत्त्व की सम्पृक्तता पर विचार करते हुए यह स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है कि सृजन अथवा स्व विस्तार का आनन्द ही सृष्टि का प्रेरक तत्त्व है। सभी तत्त्व एक ही विराट चेतना के विभिन्न रूप हैं एवं सभी मधुर प्रेमाकर्षण के कोमल तन्तु में आबद्ध हैं। सृष्टि के मूल में स्पंदन शक्ति प्रेरणा आकर्षण और परस्पर सम्मिलन की मधुराकांक्षा सन्निहित है। यह सृष्टि प्रकृतात्मा एवं पुरुष के दाम्पत्य अनुरंजन का परिणाम है अर्थात् आत्मरूप पुरुष और अनात्मरूपा नारी का सुखद संयोग ही सृष्टि का रहस्य है। इस प्रकार सृष्टि का सूत्रपात सूक्ष्म मैथुन से ही है और जगत के समस्त

1 The comparative study of Religions by Alban G W Widgery Pp 101 102

2 बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् की परिषद् पत्रिका अप्रैल १९६१ ई० पृ० ४२ द्रष्टव्य।

३ 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।

—तैत्तिरीयोपनिषद्, भृगुवल्ली, षष्ठोऽनुवाक।

४ यद्वै तत्सुकृतम्। रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्।

—तैत्तिरी०, ब्रह्मानन्दवल्ली, सप्तमोऽनुवाक ॥

पदार्थों का कारण आधार और ग्य आन ॰ ही है। यही आनन्द मधुर रस का आस्वाद है। मधुनी सृष्टि के सूत्रपात की स्म स्रष्टि चर्चा के बाद अब मधुर रस के विषयालम्बन परमात्मा तथा आश्रयालम्बन जीवात्मा के स्वरूप जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध तथा दोनों के तारतम्य जय मधुरारति या गोपी विराम की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर आगे विचार किया जा रहा है।

दर्शनशास्त्र के दो रूप और चार संस्थान

समस्त पदार्थों के दो वर्ग है—जड और चेतन। इन्हें ही शक्ति-तत्त्व और चित्-तत्त्व भी कहा गया है। जड पदार्थ या शक्ति-तत्त्व के निर्णायक शास्त्र को विज्ञान की संज्ञा दी गई है तथा चेतन या चिद-तत्त्व के निर्णायक शास्त्र को दर्शन कहा गया है। दर्शनशास्त्र के दो रूप माने गए है—वैदिक और अवैदिक। इनमें से प्रत्येक के ईश्वरवादी और अनीश्वर वादी दो उपभेद स्वीकार किये गए हैं। इनके आधार पर सामान्यत दर्शनशास्त्र के चार संस्थान निर्धारित हुए हैं—ईश्वरवादी वैदिक दर्शन अनीश्वरवादी वैदिक दर्शन ईश्वरवादी अवैदिक दर्शन और अनीश्वरवादी अवैदिक दर्शन।

ईश्वरवादी वैदिक दर्शनों में वेदान्त दर्शन प्रमुख है। निर्गुण या निर्विशेष ब्रह्मवाद और सगुण या सविशेष ब्रह्मवाद इसके दो विभाग मान्य है। निर्गुण या निर्विशेष ब्रह्मवाद को अद्वैत दर्शन कहा गया है। सगुण या सविशेष ब्रह्मवाद की पाँच कोटियाँ हैं जिनका सम्बन्ध पंचोपासना के पंचदेवता—विष्णु शिव शक्ति सूर्य और गणेश से है। इन्हीं से ही वैष्णव दर्शन शैव दर्शन शक्ति-दर्शन सूर्य-दर्शन और गाणपत्य-दर्शन का आविर्भाव हुआ है। विष्णु परक ब्रह्मवाद के चार प्रमुख दार्शनिक विभाग हैं—विशिष्टाद्वैतवाद शुद्धाद्वैतवाद द्वैताद्वैतवाद और द्वैतवाद। इसी तरह अन्य देवों में सम्बद्ध ब्रह्मवाद के भी अन्तर्गतपरक दार्शनिक उपभेद प्रचलित है।

ब्रह्म जीव एवं जगत के स्वरूप एवं उनके पारस्परिक सम्बन्ध के निर्धारण के लिए ही भारतीय तत्त्वज्ञान के विभिन्न मतवादों की अवतारणा हुई है जिनके आधार पर विभिन्न भारतीय धर्म साधनाएँ प्रतिष्ठित हैं। उपनिषदों और ब्रह्मसूत्रों में वर्णित ब्रह्म जीव और जगत के स्वरूप और उनके प्रकृत सम्बन्ध के स्पष्टीकरण के उद्देश्य से मनीषियों ने अनेक ब्रह्मसूत्र भाष्यों का प्रणयन किया है जिनमें शंकराचार्य का ब्रह्मसूत्रभाष्य रामानुजाचार्य का श्रीभाष्य निम्बार्काचार्य का वेदान्तपारिजात सौरभभाष्य मध्वाचार्य का पूर्णप्रज्ञभाष्य तथा वल्लभाचार्य का अणुभाष्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। उपर्युक्त आचार्यों ने अपने-अपने भाष्य ग्रन्थों में ब्रह्म और जीव के स्वरूप और उनके प्रकृत सम्बन्ध के निरूपण के लिए क्रमश अद्वैतवाद विशिष्टाद्वैतवाद द्वैताद्वैतवाद द्वैतवाद और शुद्धाद्वैतवाद दार्शनिक सिद्धान्तों की स्थापना की है।

मधुर रस के दार्शनिक विवेचन के लिए उसके साध्य-तत्त्व और साधन तत्त्व की दार्शनिक मीमांसा करना परमावश्यक है। साध्य-तत्त्व के अन्तर्गत परमात्मा जीवात्मा और जगत के तात्त्विक स्वरूप विचारणीय हैं तथा साधन-तत्त्व के अन्तर्गत परमात्मा और जीवात्मा उपास्य और उपासक सर्वशक्तिमान और उनकी शक्तियों का पारस्परिक मधुर प्रेम सम्बन्ध विवेच्य हैं। अत इस प्रकरण में सर्वप्रथम उन अद्वैत द्वैतपरक दार्शनिक सिद्धान्तों

का समन्वित विवेचन किया जा रहा है जिसके अनुसार विभिन्न धर्म-साधनाओं के मनीषियों ने अन्त के मध्य भावित द्वैत की कल्पना की है और उसके आधार पर परमात्मा और जीवात्मा उपास्य और उपासक सर्वशक्तिमान और उनकी शक्तियां व स्वरूप और उनके एकात्म भाव का प्रतिपादन किया है। परमसत्ता और उनकी शक्तियां व एकात्म भाव को प्रदर्शित करने के लिए प्रायः दोनों के पारस्परिक मधुर प्रेम-सम्बन्ध की अवतारणा की गई है जिसका आधार भावुक तत्त्व-वेत्ताओं द्वारा निरूपित प्रेम-स्थान का सिद्धान्त है जिसे 'पंचम पुरुषार्थ' की संज्ञा देकर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है। सामान्यतः किसी पदार्थ को प्राप्त करने की तीन व्यापार-दशाएं होती हैं—सबसे पहले इच्छित पदार्थ को जानना, फिर उसे प्राप्त करने के लिए कर्म करना और अन्ततः उसमें मन रमाना। पदार्थ के तात्त्विक स्वरूप का ज्ञान बिना उसके प्रति प्रतीति हो ही नहीं सकती। प्रतीति के लिए कुछ कर्मों का सम्पादन अपेक्ष्य है और मन रमाने के लिए उसके साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने की आवश्यकता होती है। मधुर रस के उपर्युक्त दार्शनिक पक्ष का यही तात्पर्य है।

ब्रह्म भावना के मूल में अदृष्ट शक्तियों की कल्पना

ब्रह्म भावना के मूल में मनुष्य द्वारा अदृष्ट शक्तियों की कल्पना ही है। जिस प्रकार मनुष्य की भोजन तथा कामवासना से सम्बन्धित क्षुधाएं यह सिद्ध करती हैं कि उनकी तृप्ति या पूर्ति करने वाले पदार्थों की सत्ता है उसी प्रकार मनुष्य के भीतर किसी की उपासना करने की जरूरत यह सिद्ध करती है कि कोई उपास्य सत्ता या अदृष्ट शक्ति या देवता है। उन्नीसवीं सदी के दार्शनिकों के मतानुसार मानव सभ्यता के आरम्भ में मनुष्य ने भय और विस्मयवश अदृश्य शक्तियों के अनेक रूपों की कल्पना की। प्राकृतिक पदार्थों की सृजन एवं संहारकारी शक्तियों को देखकर उनमें देवत्व की उद्भावना की और उन्हें प्रसन्न एवं सन्तुष्ट करने के लिए उपासना की विविध विधियों को स्थिर किया। किन्तु आधुनिक नृतत्त्वशास्त्रियों के मतानुसार यह धारणा भ्रान्तिमूलक है। आदिम जातियों के ऐतिहासिक अध्ययन तथा उपलब्ध तत्त्वों के अनुशासन से यह स्पष्टतः मान लिया गया है कि भयमूलक रूपों की कल्पना मानव-सभ्यता के आदि-युग की देन नहीं अपितु मध्ययुग की देन है। प्रागैतिहासिक युग की चित्रित दीवारों गुफाओं आदि के सूक्ष्म अध्ययन से नृतत्त्ववेत्ताओं ने आदि मानव द्वारा रूप की सृष्टि के दो कारण बताए हैं। पहला कारण है चित्रित वस्तु की वृद्धि का विश्वास तथा दूसरा कारण है उसके ऊपर अधिकार भावना। प्रागैतिहासिक चित्रणों में मुख्यतः दुधारू पशुओं हरिणों घोड़ों बकरियों आदि कामकाजू घरेलू पशुओं के चित्र मिलते हैं। इस प्रकार की रूप-सृष्टि को तान्त्रिक सृष्टि (Magical creation) की संज्ञा दी गई है।[1] यही तान्त्रिक-सृष्टि मनुष्य की आदि मानस-सृष्टि कही गई है।

धीरे धीरे मानव ने एक ऐसी रहस्यमय दुर्दमनीय शक्ति का अनुभव किया जो उसकी तान्त्रिक सृष्टि में बाधा उत्पन्न करनेवाली प्रतीत हुई। वह उसके पशु धन का नाश कर सकती थी महामारी फैला सकती थी आँधी तूफान लाकर उसके वन्याश्रय को बर्बाद कर

१ जे० जी० फ्रेजर, एम० रेनक द्वारा प्रकाशित प्रागैतिहासिक चित्रण, १६ २१० सन्दर्भ।

सकती थी। अत अब उसे यह भी अनुभव होने लगा कि केवल वस्तुओं के चित्र बनाने से न तो उनकी वृद्धि ही हो सकती है और न उन पर उसका अधिकार ही हो सकता है। सभ्यता की जय-यात्रा म पद पद पर उसे एक अलक्ष्य शक्ति की भयकरता सर्वशक्तिमत्ता एव अनेकरूपता का अनुभव होने लगा। आदि मानव ने उसे सतुष्ट करने के लिए विविध पूजा अर्चा का विधान किया। मानव सभ्यता के इतिहास म भयमूलक रूप की सृष्टि का आरम्भ यही से होता है। शन शन मनुष्य ने एक सावभौम सर्वव्यापक अदृश्य शक्ति का अनुभव किया जो स्वय स ार की सृष्टि सरक्षण और सहार कर सकती है। सूर्य और चन्द्र उसी की ज्योति से भासमान है। पवन उसी के इगित पर अविराम चलता रहता है। विस्तृत धरती और विशाल व्योम वितान का मूल कारण वही है। इसी के सकेत पर महाकाल का परिवतन चक्र सतत चलता रहता है। वह महान शक्ति अनन्त है अखण्ड है अभेद्य है निस्सीम है व्यापक है वह ब्रह्म है।

वेदों म बतलाया गया है कि परमेश्वर सब भूतों लोकों और सब दिशा विदिशाओं को सब ओर से व्याप्त करके सत्य और अनादि स्वयम्भू आत्मा म भी अच्छी तरह प्रविष्ट है।[1] इन्द्र मित्र वरुण अग्नि सुपर्ण दिव्य गरुत्मान यम मातरिश्व आदि नाम उस एक ही परमात्मा के हैं।[2] वही आदित्य वायु ब्रह्म प्रजापति आदि नामों से अभिहित हुआ है। उसकी कोई सीमा नही है। वह कही से भी पकड म नही आ सकता। वही देव सर्वत्र व्याप्त है और सर्वान्तर म पहले से ही अधिष्ठित है। वह अकाय अछिद्र तथा पाप रहित है। वह शक्ति स्वरूप शुद्ध कवि मनीषी तथा स्वयसिद्ध है। वही हमारा बन्धु पिता विधाता आदि सब-कुछ है। इसीलिए हम प्रार्थना करते हैं कि वह मोक्षधाम म हमे पहुचाए।[3]

ब्रह्म भावना के तीन प्रकार

जसे दुग्ध म घत व्याप्त रहता है वसे ही विश्व के अणु अणु म एक अलौकिक अनिवचनीय तथा अव्यय सत्ता परिव्याप्त है। इसी चरम सत्ता की आत्मगत अनुभूति को ब्रह्म भावना की सज्ञा दी गई है। आधिभौतिक आधिदविक और आध्यात्मिक ब्रह्म भावना के ये तीन भेद बतलाये गये हैं। आधिभौतिक ब्रह्म भावना के अन्तगत जड सृष्टि के पदार्थों को बाह्य रूप म ही समझा जाता है। इस प्रकार के जडवादी दृष्टिकोण रखने वाले पदार्थों के आभ्यन्तरिक सौन्दर्य के दशन नही कर पाते। आधिभौतिक दार्शनिक जड शक्तिमात्र म विश्वास करते हैं। ब्रह्म की आधिदविक भावना के अन्तगत पदार्थ के बाह्य सौन्दर्य शील और शक्ति का दवीकरण करके उन्हे अनेक देवी देवताओं के साकार सगुण रूप म उपस्थित किया जाता है। अत ब्रह्म की आधिदविक भावना भक्तिभाव पर आश्रित है। आध्यात्मिक ब्रह्म भावना उपयुक्त दोनों ब्रह्म भावनाओं स श्रेष्ठ है क्योंकि उसम ब्रह्म-सत्ता की अनुभूति निर्गुण निराकार और अनिवचनीय चरम सत्ता के रूप म होती है। इस स्थिति म साधक

१ यजुर्वेद ३२/११।
२ ऋग्वेद १/१६४/४६।
३ यजुर्वेद, १२/१५ ३२/१ ४/८।

सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में उस चरम सत्ता का साक्षात्कार होता है विश्व के कण-कण में उस परम सौन्दर्य निधि और परमानन्द स्वरूप परमात्मा की मधुर आत्मानुभूति होती है।

ब्रह्म का रूप

भारतीय चिन्तन के इतिहास को देखने से यही ज्ञात होता है कि भारतीय मनीषियों ने इस विशाल सृष्टि को कार्य रूप में देखा और उसके कारण को जानने में उन्होंने सारी शक्ति लगा दी। यही कारण है कि सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय आध्यात्मिक अन्वेषण का एक विशाल इतिवृत्त है। ऊपर कहा जा चुका है कि किस प्रकार मनुष्य ने एक सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान अलक्ष्य महाशक्ति की चरम-सत्ता का अनुभव किया और उसी को जगत का और उसके नाना रूपों और व्यापारों का अंतिम और आदि कारण माना। इस प्रकार संसार के समस्त पदार्थों के कारणों के कारण उस महाशक्ति को ब्रह्म की संज्ञा दी गई और उसे जानने की विद्या को ब्रह्म विद्या कहा गया।

सामान्यतः ब्रह्म और ब्रह्मविद्या के जानने के दो रूप मिलते हैं—धार्मिक और दार्शनिक। ब्रह्मविद्या का धार्मिक रूप मनुष्य की धार्मिक अथवा उपासनापरक मनोवृत्ति का परिणाम है। इस मनोवृत्ति से प्रेरित होकर मनुष्य ने सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान विराट ब्रह्म को ऐश्वर्यमय 'ईश्वर' के रूप में परिकल्पित किया। ईश्वर के इस ऐश्वर्य बोध के कारण मनुष्य ने उसे अपने से भिन्न माना तथा अनुभव किया कि ईश्वर सर्वसमर्थ है, दयालु है, अपने भक्तों का भयत्राता और उद्धारकर्त्ता है। वह अशरण शरण, पतित-पावन और परम प्रेममय है। आर्त्त जनों की पुकार सुनकर नंगे पाँव दौड़ने वाला है। वह दुष्टों का दलन-कर्त्ता तथा सज्जनों का प्रतिपालक है। भक्तों और प्रेमीजनों के निकट ब्रह्म का यही रूप पूर्णतः प्रकट होता है। ईश्वर के इस ऐश्वर्य-भाव के कारण मनुष्य के मन में यह धारणा भी बद्धमूल है कि संसार में जब-जब धर्म की ग्लानि होती है तब-तब धर्म की संस्थापना के लिए साधुओं के परित्राण एवं दुष्टों के दलन के लिए भूतल पर ईश्वर का अवतरण होता है।[1] वैष्णव भक्तों के लिए ब्रह्म का यही ईश्वर रूप सर्वाधिक स्पृहणीय रहा है तथा भक्तों के स्वभावानुसार पाँच प्रकार की भगवत् विषयक रति अर्थात् शान्त स्वभाव की शान्ता रति, दास्य-स्वभाव की प्रीता रति, सख्य-स्वभाव की प्रेयसी रति, वात्सल्य स्वभाव की अनुकम्पा रति और मधुर स्वभाव की कान्ता रति की उद्भावना की गई है जिनमें ईश्वर विषयक प्रेम होने से कान्ता विषयक रति सर्वश्रेष्ठ मानी गई है। यही भक्त जनों का सर्वस्व रसराज मधुर रस है।

ब्रह्म और ब्रह्मविद्या को जानने का दूसरा रूप दार्शनिक है। दार्शनिक मनोवृत्ति से प्रेरित होकर मनुष्य ने ब्रह्म को निराकार निर्गुण सर्वव्यापक अन्तर्यामी अनादि, अनन्त,

---

[1] यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥
परित्राणाय च साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे ॥८॥

—श्रीमद्भगवद्गीता चतुर्थ अ०।

अखण्ड एव मन और वाणी के परे अनिवचनीय अन्त तत्व के रूप म स्वीकार किया तथा उससे दृश्य-अदृश्य जड चेतन सबको ओत प्रोत माना। इन्हा दो माध्यमों को लेकर संसार म अनेकानेक धममता और दाशनिक सिद्धान्तो की प्रतिष्ठा हुई है। धार्मिक मनोवृत्ति की प्रधानता होने पर ब्रह्म के सगुण रूप का सर्वाधिक प्रश्रय लिया जाता है तथा दाशनिक मनोवृत्ति की प्रधानता होने पर ब्रह्म के निगुण निराकार सूक्ष्म रूप की तात्विक विवेचना को अत्यधिक महत्त्व मिलता है। आगे ब्रह्म के निगुण सगुण रूपो एव उनका प्रतिपादन करने वाले प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्तो की सक्षिप्त चर्चा की जा रही है।

ब्रह्म का निगुण निर्विशेष रूप और अद्वैतवाद

सामान्यत ब्रह्म के व्यक्त और अव्यक्त दो रूप माने गए हैं। ब्रह्म के साकार व्यक्त रूप को सगुण तथा निराकार अव्यक्त रूप को निगुण की सज्ञा दी गई है। प्रत्येक युग के अन्तगत ब्रह्मविद्या के जिज्ञासुओ ने ब्रह्म के निगुण और सगुण इन दो रूपो का अनुभव किया है। ब्रह्म का निगुण और निर्विशेष रूप मूलत ज्ञानाश्रित है मन वाणी के परे अगम और अगोचर है। ब्रह्म का यह निगुण निर्विशेष रूप बौद्धिक विवेचना का ही विषय हो सकता है। ब्रह्म के उस निस्सीम और अचिन्त्य गुण प्रकाश रूप को अनुमान और तक के सहारे ही स्पष्ट किया जा सकता है। आत्मज्ञान और आत्मानुभव ही उसके जानने के साधन हैं।

निगुण शब्द श्वेताश्वतरोपनिषद् म उस अद्वितीय देव के एक विशेषण के रूप म प्रयुक्त हुआ है जो समस्त भूतो म अन्तर्हित है सर्वव्यापी है सभी कर्मों का अधिष्ठाता है सबका साक्षी है सबको चेतनता प्रदान करने वाला तथा निरुपाधि भी है।[1] इसीकी पुष्टि करते हुए गीता म कहा गया है कि वह सम्पूर्ण इन्द्रियो के विषयो का जानने वाला है परन्तु वास्तव म सब इन्द्रियो स रहित है तथा आसक्ति रहित होने पर भी सबका धारण पोषण करने वाला और निगुण होने पर भी गुणो का भोगने वाला है। वह चराचर सब भूतो के बाहर भीतर परिपूर्ण है और चर अचर रूप भी वही है। वह सूक्ष्म होने स अविज्ञेय है तथा अति समीप और दूर म भी वही स्थित है।[2] श्वेताश्वतरोपनिषद एव ईशोवास्योपनिषद म भी ब्रह्म के निगुण निर्विशेष रूप की अलौकिकता पर पर्याप्त प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि वह परमात्मा बिना हाथ पैर के ही वेग स चलता है और ग्रहण करता है तथा बिना नेत्रो के देखता और बिना कानो के सुनता है।[3] इतना ही नहीं वह चलता

---

१ 'एको देव सर्वभूतेषु गूढ सर्व व्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्ष सर्वभूताधिवास साक्षी चेता केवलो निगुणश्च ॥११॥ —श्वेताश्वतरोपनिषद्, अ ६।

२ सर्वेन्द्रियगुणाभास सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्त सर्वभृच्चैव निगुण गुणभोक्तृ च ॥१४॥
बहिरन्तश्च भूतानामचर चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेय दूरस्थ चान्तिके च तत् ॥१५॥ — श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय १३।

३ अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षु स शृणोत्यकर्ण।
स वेत्ति वेद्य न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्य पुरुष महान्तम् ॥
—श्वेताश्वतरोपनिषद् ३/१९।

है और नहीं भी चलता है वह दूर भी है और समीप भी है वह इस सम्पूर्ण जगत के भीतर भी है और इन सबके बाहर भी है।[१] इस प्रकार अनेकानेक व्याघातात्मक उक्तियों के द्वारा निर्गुण ब्रह्म की अलौकिकता को सिद्ध किया गया है। यह विषय अपने आपमें अनन्त और विशाल है। वेद उपनिषद शास्त्र पुराण गीता दर्शन आदि अध्यात्म ग्रंथों में चरम सत्ता या परम तत्त्व पर पर्याप्त विचार किया गया है जिनके परिणामस्वरूप अनेक दार्शनिक मतवाद प्रचलित हैं। जो सत या परमतत्त्व को एक मानते हैं उन्हें एकत्ववादी और जो अनेक मानते हैं उन्हें अनेकत्ववादी बहुप्पवादी या बहुत्ववादी कहा जाता है। अनेकत्ववादियों को ही द्वैतवादी कहते हैं। इससे भिन्न अद्वैतवादी 'सत' को 'एक' या अनेक न मानकर उसे अगम अगोचर अचिन्त्य और अनिर्वचनीय मानते हैं। अद्वैत सत का कोई उपमान नहीं हो सकता और न उसकी कोई संख्या ही हो सकती है। संत कबीर के शब्दों में वह 'है तो सही पर जैसा का तैसा है'। इसी को संत सुन्दरदास ने 'बोल-अबोल के मध्य है सोई' कहा है।

'अन्त सत क्या है' इसको लेकर अनेक तत्त्ववादों की उत्पत्ति हुई है। इसे शून्यवादी बौद्ध 'शून्य' विज्ञानवादी बौद्ध विज्ञान शब्दवादी वैयाकरण, स्फोटवादी शब्द शक्तिवादी शक्ति शिववादी शिव और अद्वैत वेदान्ती आत्मा कहते हैं। हिन्दी के संतों ने इसे 'सत' सत्य नाम सतनाम, हरि आदि कहा है। पाश्चात्य दार्शनिकों में से फिक्टे ने इसे आत्मा शेलिंग ने अनात्मा (प्रकृति) हीगेल ने निरपेक्ष 'प्रत्यय', ग्रीन ने अपरिच्छिन्न चैतन्य और ब्रैडले ने अपरोक्षानुभव की संज्ञा दी है। उपर्युक्त विभिन्न तत्त्ववादों में आत्मा द्वैतवाद ही सर्वप्रमुख है। शून्याद्वैत विज्ञानाद्वैत शब्दाद्वैत सत्ताद्वैत आदि से आत्माद्वैतवाद भिन्न प्रतीत होता है क्योंकि इसके अनुसार प्रत्यक्ष अनुभूत होनेवाली चैतन्य-स्वरूप आत्मा ही तत्त्व है न कि कोई अन्य भाव या अभाव परम तत्त्व है। सभी अद्वैत तत्त्ववाद यही सिद्ध करते हैं कि अद्वैत सत में ही सबभूतों की सत्ता मायया विद्यमान है। उसीमें व मायया आविर्भूत होते हैं और उसीमें उनका मायया तिरोभाव हो जाता है।

शंकराचार्य का अद्वैतवाद

उत्तरकालीन वैदिक साहित्य छान्दोग्य बृहदारण्यक माण्डूक्य आदि उपनिषदों ब्रह्मसूत्रों श्रीमद्भगवद्गीता आदि ग्रंथों में अद्वैतवाद का विस्तृत विवेचन मिलता है। वेदान्त को अकाट्य तर्कों पर आधृत कर उसके प्रवर्तन का मुख्य श्रेय शंकराचार्य को ही है। उन्होंने बौद्ध ग्रंथों में वर्णित मायावाद या विवर्तवाद की सुस्पष्ट और विस्तृत व्याख्या से लाभ उठाकर अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया। शंकराचार्य के मतानुसार परमार्थ सच्चिदानन्द ब्रह्म, अनन्त और सत्य तत्त्व है। जगत मिथ्या है ब्रह्म और जीव तात्त्विक दृष्टि से एक हैं।[२] आत्मा स्वयंसिद्ध प्रत्यय है। यह संसार अनुभूति पर आश्रित है। अनुभव के मूल में ज्ञाता

१ तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥
—ईशावास्योपनिषद्, ५

२ ब्रह्मसूत्र (शांकरभाष्य) २, १, ७ द्रष्टव्य।

की सत्ता स्वत सिद्ध रूप से स्थित है।[१] आत्मा ज्ञान रूप भी है। आत्मा स्वयंसिद्ध ज्ञानरूप होते हुए भी अनन्त रूप है। इसी अद्वैत तत्त्व की स्थापना शांकर अद्वैतवाद का मुख्य प्रतिपाद्य है।

शंकराचार्य ने निर्विकल्प, निरुपाधि, निराकार, निर्गुण, निर्विकार सत्ता को 'ब्रह्म' माना है। उन्होंने उपनिषदों के निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार कर स्वरूप और तटस्थ दोनों लक्षणों से ब्रह्म निरूपण किया है। स्वरूप लक्षण से ब्रह्म जगत का कारण, ज्ञान-स्वरूप, पर्यायान्तर से अखण्ड सच्चिदानन्द रूप है। तटस्थ-लक्षण से यही ब्रह्म मायावच्छिन्न होने पर सगुण ब्रह्म हो जाता है।

निर्विशेष ब्रह्म से सविशेष जगत की उत्पत्ति को स्पष्ट करने के लिए शंकराचार्य ने मायावाद की अवतारणा की है। उनका यह माया तत्त्व ब्रह्म के समान त्रिकालाबाधिता से रहित होने के कारण सत नहीं है तथा प्रत्यक्ष प्रतीयमान होने के कारण असत भी नहीं है। यह सत असत से परे अनिर्वचनीय है। आवरण और विक्षेप इसकी दो शक्तियाँ मानी गई हैं। आवरण शक्ति से यह ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप को आच्छादित कर लेती है तथा विक्षेप शक्ति से प्रपंचपूर्ण जगत जाल की रचना करती है। इस प्रकार मायोपाधिक ब्रह्म ही सृष्टि का कारण है। मकड़ी द्वारा निर्मित जाल के समान ब्रह्म भी जगत का निमित्त और उपादान दोनों कारण है। शंकराचार्य के मतानुसार देहेन्द्रिय समूह के अध्यक्ष और कर्मफल का भोक्ता आत्मा ही जीव है। आत्मा नित्य एवं अजन्मा है। ब्रह्म से स्वभावगत ऐक्य होने के कारण आत्मा भी चैतन्य स्वरूप है। उन्होंने आत्मा को विभु ही माना है। वे उसे अणु नहीं मानते। जीव की अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी दोनों ही प्रवृत्तियाँ हैं। बहिर्मुखी होने पर जीव जडोन्मुख अर्थात संसारोन्मुख होता है तथा अन्तर्मुखी होने पर वह ईश्वरोन्मुख होता है।

ब्रह्म, जीव और जगत के सम्बन्ध में शांकरमत के उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शंकराचार्य का अद्वैत वेदान्त तथा मायावाद का सिद्धान्त सर्वथा बौद्धिक था। पारमार्थिक दृष्टि से पूर्ण रहते हुए भी उसके अन्तर्गत क्रियात्मक जीवन के सर्वांग का सर्वथा अभाव था। अतएव वह सहज बोधगम्य न होकर सूक्ष्मचेता बुद्धिजीवियों के वाग्विलास और शुष्क दार्शनिक वाद विवाद का विषय ही बना रहा। इन सीमाओं के रहते हुए भी शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन का देश-व्यापी प्रचार हुआ। भारत के बाहर बौद्ध-दर्शन एवं औपनिषदिक दर्शन के प्रचार प्रसार से ईरान, अरब, मिस्र आदि एशियाई देशों में भी अद्वैतवाद का विकास हुआ था जो मुसलमानों के भारत आगमन के बाद सूफी सन्त के रूप में भारत में पुनः प्रतिष्ठित हुआ। निर्गुनिया संतों एवं सूफियों के अद्वैतवाद पर शांकर अद्वैतवाद का पूर्ण प्रभाव परिलक्षित होता है। कबीर आदि संतों का ईश्वर एक है।[२] वह अरूप और निराकार है।[३]

---

१ श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरम्॥ —शंकराचार्य।

मेरा साहिब एक है दूजा कहा न जाय।
साहिब दूजा जो कहूँ साहिब खरा रिसाय॥ —कबीर वचनावली।

३ जाके मुँह माथा नाहीं नाहीं रूप कुरूप।
पुहुप बास तैं पातरा ऐसा तत्त अनूप॥

राजा राम कवन रंगै जैसे परिमल पुहुप संगै। —कबीर ग्रन्थावली।

वह निर्गुण और सगुण से परे है।[1] वह संसार के अणु-अणु में व्याप्त है। वह केवल अनुभवगम्य है।[2] वह ज्योति-स्वरूप ब्रह्म अलख निरंजन है किन्तु इसके साथ-साथ वैष्णव भाव साधना और सूफी प्रेम-साधना के प्रभाव के कारण वह निर्गुण निरुपाधि अद्वैत ब्रह्म परम-सौन्दर्य निधि परम प्रेमास्पद और परमानन्द-स्वरूप भी है। निराकार ब्रह्म से सम्बन्ध जोड़ने के लिए भाव भगति की साधना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।[3] अपने उपास्य के इसी स्वरूप को लेकर हिन्दी के मर्मी कवियों ने मधुर रस की मार्मिक अभिव्यंजना की है जो सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में अनुपम है। हिन्दी के साधना-साहित्य के भावात्मक रहस्यवाद का यही दार्शनिक आधार है।

ब्रह्म का सगुण-निर्विशेष रूप और विभिन्न दार्शनिक मतवाद

उपरिलिखित विवेचन से यह स्पष्ट है कि श्री शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैत वेदान्त और मायावाद के सिद्धान्तों द्वारा उस समय की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति का आयोजन नहीं हो सका। शांकरमत तात्त्विक दृष्टि से पूर्ण होते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से असफल सिद्ध हुआ। यही कारण है कि आगे चलकर चार प्रमुख वैष्णवाचार्य—श्री रामानुजाचार्य श्री मध्वाचार्य श्री विष्णुस्वामी श्री निम्बार्काचार्य ने क्रमशः शांकरमत का खण्डन करते हुए विशिष्टाद्वैतवाद द्वैतवाद शुद्धाद्वैतवाद और द्वैताद्वैतवाद का प्रतिपादन कर सगुणोपासना के पथ को प्रशस्त किया।

'पांचरात्र या भागवत-मत के अनुसार ब्रह्म अद्वैत अनादि अनन्त निर्विकार निरवद्य अन्तर्यामी सर्वव्यापक और असीम आनन्द-स्वरूप है। वह प्राकृत गुणातीत निराकार देश-काल रहित पूर्ण नित्य और व्यापक है। किन्तु अप्राकृत षड्गुणों (ज्ञान शक्ति ऐश्वर्य बल, वीर्य और तेज) से युक्त होने पर उसी परब्रह्म को भगवान कहते हैं। ज्ञान अजड़ स्वप्रकाश नित्य और सर्वस्व का अवगाहन करने वाला गुण है। शक्ति जगत का उपादान कारण है। ऐश्वर्य जगत के कर्तृत्व में स्वतन्त्रता के गुण का नाम है। जगत के निर्माण में श्रम के अभाव को ही बल कहते हैं। जगत का उपादान कारण होने पर भी विकार रहित होने का गुण ही वीर्य है। जगत् की सृष्टि में किसी सहकारी की अनावश्यकता ही तेज है।[4] सर्वद्वन्द्व विनिर्मुक्त सर्वोपाधि विवर्जित सब कारणों का कारण, षड्गुण रूप परब्रह्म निर्गुण भी है और सगुण भी। प्राकृत गुणों से रहित होने के कारण उसे निर्गुण तथा षड्गुणयुक्त होने के कारण उसे सगुण कहते हैं।

वैष्णव आचार्यों ने परम पुरुष के तीन रूप बतलाए हैं—ब्रह्म परमात्मा और

[1] निर्गुण की सेवा करो सगुण का करो ध्यान।
निर्गुण सगुण से परे तहाँ हमारो ज्ञान॥—कबीर वचनावली।

[2] पारब्रह्म के तेज का कैसा है उनमान।
कहिबे कूँ सोभा नहीं देख्या ही परमान॥—वही।

[3] निराकार निज रूप है प्रेम प्रीति से सेव। —कबीर ग्रंथावली।
भाव भगति विसवास बिनु कटै न संसै सूल।—क० ग्रं०, पृ० २४।
जब लगि भाव भगति नहिं करिहौ तब लगि भवसागर क्यों तरिहौ।—क० ग्रं०, पृ० ८४।

[4] हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ८८।

भगवान।[1] परमतत्त्व के विशुद्ध ज्ञानमय रूप को ब्रह्म कहते हैं। इसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं रहता। परमात्मा योगियों का उपास्य है। इसमें ज्ञाता और ज्ञेय में भेद रहता है। अप्राकृत षड्गुणयुक्त हो जाने पर वही परमतत्त्व भगवान कहा जाता है। प्रेमी भक्तजनों के निकट ब्रह्म का यही परमानन्द प्रेम स्वरूप पूर्ण रूप में प्रकट होता है। मध्ययुग की भारतीय धर्म-साधना में ब्रह्म के ऐश्वर्य तथा ब्रह्मत्व में माधुर्य की अवतारणा द्वारा अभिनव रंग परिवर्तन हुआ है। अनादि अनन्त अखंड अछेद्य और अभेद्य ब्रह्मप्रेम के वशीभूत होकर अहीर की छोहरियों के सामने छछिया भरि छाछ पै नाचने लगता है।[2] इसीसे तो कहा गया है कि जो उसे ज्ञानमय समझते हैं ब्रह्म समझते हैं वे उसके एक अंश को जानते हैं पर जो उसे प्रेममय समझते हैं वे उसके सम्पूर्ण अंश को जानते हैं। ये कवि और साधक ही प्रथम बार साहस के साथ कहते सुने जाते हैं कि मोक्ष परम पुरुषार्थ नहीं प्रेम ही परम पुरुषार्थ है— प्रेमा पुमर्थोमहान्। [3] जगत के कल्याण के लिए भगवान् स्वयं ही व्यूह विभव अर्चावतार और अन्तर्यामी—इन चार रूपों में प्रकट होते हैं। संक्षेप में यही पांचरात्र या भागवत मत है जिसे अवैदिक घोषित कर शंकराचार्य ने खंडित किया किन्तु प्रसिद्ध वैष्णव दार्शनिक रामानुजाचार्य ने उसे वेद विहित सिद्ध करते हुए बादरायण के ब्रह्मसूत्रों की व्याख्या श्रीभाष्य में उसे प्रामाणिक बतलाया तथा उसे दार्शनिक भित्ति पर दृढ़तापूर्वक सुस्थिर करने के लिए विशिष्टाद्वैतवाद का प्रतिपादन किया। रामानुजाचार्य के इसी विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्त के आधार पर आगे चलकर कई वैष्णव दार्शनिक मतवाद प्रतिष्ठित हुए भक्ति साधना के अनेक सम्प्रदाय स्थापित किए गये जिनमें मधुर रस के प्रतिपाद्य भगवान के विभवावतारों की लीलाओं का भजन-कीर्तन उनकी आराधना और मधुरोपासना की विविध भाव भूमियों का सूक्ष्म विधान किया गया। अतएव इस प्रसंग में उनकी दार्शनिक व्याख्या करनेवाले प्रमुख दार्शनिक मतवादों तथा भक्ति साधना पर उनके प्रभावों का विवेचन अपेक्ष्य है।

रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैतवाद

विशिष्टाद्वैत दो विशिष्टों के अद्वैत या तादात्म्य को कहते हैं। दूसरे शब्दों में स्थूल चेतनता और अचेतनता से विशिष्ट जीव एवं सूक्ष्म चेतनता और अचेतनता से विशिष्ट परमात्मा का अभेद ही विशिष्टाद्वैत है। इसी को कारणब्रह्म और कार्यब्रह्म (जीवों सहित समस्त जगत) का एकमेक होना भी कहा गया है। इन दो विशिष्ट अद्वैत के अर्थ में लिया जाता है। कुछ विद्वान इसे विशिष्ट प्रकार का अद्वैत बतलाते भी मानते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि अद्वैतवाद के प्रतिष्ठापक श्री शंकराचार्य और विशिष्टाद्वैतवाद के प्रतिपादक श्री रामानुजाचार्य दोनों ही श्रुति प्रामाण्यवादी थे। दोनों ने तत्त्वतः ब्रह्म को निरुपाधि निर्विकार और अद्वैत माना। किन्तु दोनों ने उसकी अलग अलग व्याख्याएं की।

---

१ वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
  ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥ —श्रीमद्भागवत १२११।

२ ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावै॥ —रसखान।
  [illegible]

३ मध्यकालीन धर्म साधना डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ २४३।

रामानुजाचार्य ने ब्रह्म की व्युत्पत्ति बृह धातु से 'मनिन प्रत्यय का प्रयोग कर ब्रह्म के चिदचिद् विशिष्ट तत्त्व को सिद्ध किया तथा उसमें चित अचित और ईश्वर—इन तीनों का समावेश करके भक्ति साधना के नये मार्ग का अनुसंधान किया। इस प्रकार उन्होंने तर्क अनुभव और श्रुति के सहारे शंकराचार्य के अद्वैतवाद और मायावाद का खण्डन किया।

विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार परमात्मा (ईश्वर), चित (जीव) और अचित (प्रकृति) —ये तीन नित्य तथा स्वतन्त्र पदार्थ हैं। परमात्मा सर्वान्तर्यामी ईश्वर है। चित भोक्ता जीव है और अचित भोग्य जगत का पर्यायवाची है। जीव और प्रकृति एवं ईश्वर में अंग और अंगी अथवा अंश और अंशी का सम्बन्ध है। चित और अचित से विशिष्ट परमात्मा ही एकमात्र सत है। चित और अचित् द्रव्य तथा गुण दोनों हैं। परमात्मा सगुण द्रव्य है। परमात्मा एक और अद्वितीय होने के कारण सजातीय विजातीय भेद से शून्य है। किन्तु चित और अचित के गुण भी होने के कारण वह स्वगत—भेद-सम्पन्न है। ईश्वर का चित अचित के साथ अपृथक सिद्ध सम्बन्ध है। इसे विशेष्य विशेषण-सम्बन्ध भी कहा गया है। श्रीभाष्य में रामानुजाचार्य ने ईश्वर को विशेष्य तथा चित अचित को विशेषण कहा है।[१] तात्पर्य यह है कि ईश्वर जीव और जगत का पूर्ण आन्तर सम्बन्ध है। जिस प्रकार मकड़ी अपने अन्तर से ही जाला उत्पन्न करती है उसी प्रकार ईश्वर अपने भीतर से ही जगत की रचना करता है। अतः ईश्वर का लीला विलास ही सृष्टि और प्रलय का प्रयोजन है। सृष्टिकाल में स्थूल रूप धारण करने पर ब्रह्म का कार्यावस्थ तथा प्रलयकाल में सूक्ष्म चित अचित विशिष्ट रहने के कारण कारणावस्थ रूप विद्यमान रहता है।

साराश यह है कि ईश्वर या ब्रह्म सत ज्ञान अनन्त नियामक, अपहतपाप्मा सुन्दर आनन्दमय आनन्द-स्वरूप साकार, चित-अचित का आधार नियन्ता और शेषी है। चित और अचित आधेय नियम्य और शेष है। भुवन सुन्दर होने के कारण ब्रह्म उदात्त भी है। विशिष्टाद्वैत मत के अनुसार नारायण, व्यूह विभव अन्तर्यामी तथा मूर्ति इन पाच प्रकारों से ईश्वर ध्येय है। नारायण परब्रह्म या परम वासुदेव वैकुण्ठ में श्री (लक्ष्मी) भू (पृथ्वी) और लीला इन पत्नियों के साथ पार्षदा-सहित निवास करते हैं। वासुदेव (आत्मा) संकर्षण (जीव) प्रद्युम्न (मन) और अनिरुद्ध (अहंकार), ये ईश्वर के चार व्यूह रूप हैं जिन्हें पूजा तथा सृष्टि के लिए ईश्वर धारण करता है। मत्स्य वाराह राम कृष्णादि ईश्वर के दस विभव रूप (अवतार) हैं। अन्तर्यामी रूप में ईश्वर विश्व हृदय में निवास करता है। ईश्वर का पाँचवाँ रूप मूर्ति का है। इन्हीं के अनुसार वैकुण्ठ वास करना सालोक्य मुक्ति भगवान का सामीप्य-लाभ करना सामीप्य मुक्ति भगवान जैसा रूप प्राप्त करना सारूप्य मुक्ति तथा भगवान् के साथ ऐक्य-लाभ करना सायुज्य या कैवल्य मुक्ति कही जाती है। भगवान् के साथ ऐक्य-लाभ करने की यही वांछा मधुरोपासना का चरम लक्ष्य है यही मधुर रस की निष्पत्ति का मुख्य कारण है।

चित अर्थात् जीव देहेन्द्रिय मन प्राण बुद्धि से विलक्षण अजड आनन्दरूप नित्य अणु अव्यक्त अचिन्त्य निर्विकार और ज्ञानाश्रय है।[२] यह हृदयावस्थित है। जीव अपने

१ श्रीभाष्य रामानुजाचार्य, २।१।६।

२ तत्त्वत्रय श्री रामानुजाचार्य, पृ ५।

शेषत्व गुण के कारण सदव अपने सारे कर्मों के लिए अपने शेषी ईश्वर के ऊपर निभर करने वाला है। जीव अनन्त और अणुरूप है। जीव ब्रह्म अपृथक हैं। किन्तु गुणों के विचार से दोनो मे पृथकत्व भी है क्योकि मुक्त जीव भी ईश्वर की भाँति सृष्टि का कर्त्ता और नियन्ता नही हो सकता। इन गुणो के अतिरिक्त अन्य समस्त गुणो म जीव अपनी मुक्तावस्था मे ईश्वर से अभिन्न हो जाता है। श्वेताश्वतरोपनिषद म भी जीव प्रकृति और ईश्वर के अपृथकत्व तथा पृथकत्व पर बडी स्पष्टता के साथ विचार किया गया है जिससे उपयुक्त मान्यताओ की पुष्टि होती है।[1]

रामानुजाचाय के मतानुसार अचित ज्ञानशून्य विकारास्पद तत्त्व है। इसके तीन भेद है—शुद्ध सत्त्व मिश्र सत्त्व और सत्त्वशून्य। शुद्ध सत्त्व नित्यविभूति है। मुक्तावस्था मे जीव देह का निर्माण इसी से होता है। मिश्र सत्त्व रजोगुण और तमोगुण स मिश्रित है। यही जगत का उपादान कारण है। इसी को माया प्रकृति अविद्या की सज्ञा दी गई है। सत्त्व शून्य तत्त्वकाल है। ब्रह्म जिज्ञासा से ब्रह्म के स्वरूप को जानने और उसे प्राप्त करने की इच्छा का नाम मुमुक्षा है। मुमुक्षु जन मोक्ष या मुक्ति प्राप्ति के हेतु कमयोग ज्ञानयोग और भक्ति योग का अवलम्बन करत हैं। इनमे कमयोग कमकाण्डमूलक तथा बाह्य विधान प्रधान है।

विशिष्टाद्वैतवाद और भक्ति-साधना

निष्काम कम अहकार विनाशक विषय विकार से मन को मुक्त करने वाला तथा चित्त को स्थिरता प्रदान करने वाला है। यही आग चलकर ज्ञानयोग म रूपान्तरित हो जाता है। ज्ञानयोग वराग्य प्रधान निवत्यात्मक एव रूक्ष है। यह हृदय नही मस्तिष्क की वस्तु है। वराग्य के सतत अभ्यास सतत तत्त्व चिन्तनादि से तत्त्वज्ञान होता है और तत्पश्चात कवल्य लाभ होता है। *यह ज्ञान माग तलवार की धार पर चलने के समान अति दु साध्य है।* कवल्य को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए भक्ति की आवश्यकता होती है क्योकि भक्ति मे कम और ज्ञान की पराकाष्ठा है। भक्ति-साधना के क्षत्र म आकर तत्त्ववादियो का निराकार निगुण निरुपाधि ब्रह्म ईश्वर हो जाता है। चित अचित और ब्रह्म के तत्त्व-बोध के अनन्तर उसी ईश्वर के प्रति अनन्यासक्ति का नाम भक्ति है। उपास्य के प्रति मधुर मनाराग को ही भक्ति कहत हैं। इस दशा म भक्त अपने को सवतोभावन ईश्वर पर समर्पित कर देता है सब-कुछ त्यागकर भगवान की शरण म चला जाता है। यहा स प्रपत्ति माग आरम्भ होता है।

प्रपत्तिवाद

प्रपत्तिवाद भक्ति-साधना की सर्वोपरि विशषता है। प्रपत्ति का शब्द अथ आत्म निवदन है। किन्तु भक्ति-शास्त्र म प्रपत्ति का प्रयोग भगवत् शरणागति क अथ म होता है। सभी धर्मों और समस्त साधना का परित्याग कर भगवान की शरण म जाना ही प्रपत्ति है। गीता तथा उपनिषदो म भी प्रपत्ति की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। वायुपुराण म प्रपत्तिभाव

1 ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावज ह्येका भोक्तृभोग्याथयुक्ता। अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रय यदा विन्दत ब्रह्ममेतत्॥ ॥

—श्वेताश्वतरोपनिषद् अ १।९

के छः अंग बतलाये गये हैं। वे हैं (१) उन विषयों एवं कर्मों का करने का संकल्प करना जो भगवान के अनुकूल हों (२) उन विषयों एवं कर्मों का परित्याग करना जो भगवान् के प्रतिकूल अर्थात् अप्रसन्न करने वाले हों (३) सर्वशक्तिमान भगवान मेरी रक्षा करेंगे—यह दृढ़ विश्वास करना (४) एकान्तरूप से भगवान् का ध्यान करना, उनकी महिमा का वर्णन करना (५) अपने आपको पूर्णतः भगवान के आश्रित कर देना तथा (६) अपनी दीनता अकिंचनता एवं क्षुद्रता का आत्मनिवेदन करते हुए भगवान की महत्ता का वर्णन करना।[१] यही प्रपत्तिपरता अथवा भगवद् शरणागति भक्ति का सर्वस्व है क्योंकि इसीके द्वारा उपास्य के प्रति उपासक की अनन्यासक्ति और आत्मनिवेदनासक्ति चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाती है जिसके सहारे भक्त भगवान के अनुग्रह का अधिकारी हो जाता है। मार्जार-न्याय और मर्कट न्याय के अनुसार क्रमशः कभी भक्त के प्रति भगवान की अहैतुकी कृपा होती है और कभी भक्त को भी इसके लिए थोड़ा प्रयास करना पड़ता है।

प्रपत्तिवाद भारतीय तत्व चिन्तन तथा धर्म साधना का एक विशिष्ट दर्शन है जिसका मुख्य श्रेय विशिष्टाद्वैतवाद के प्रतिष्ठापक वैष्णव दार्शनिक रामानुजाचार्य को है। इसकी महत्ता इस बात से भी सिद्ध है कि निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार के साधकों ने अपने-अपने साधना मार्ग में प्रपत्तिवाद को पूर्णरूपेण स्वीकार किया है तथा उसे उपासना का प्राण माना है।

प्रपत्तिवाद की आधारभूत प्रवृत्तियाँ

निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार के साधना-मार्गों में प्रपत्तिवाद की दो आधारभूत प्रवृत्तियाँ— उपास्य के प्रति अनन्यता तथा आत्मनिवेदनासक्ति—चरम विकसित रूप में पाई जाती हैं। श्रीमद्भागवत में श्रवण, कीर्तन स्मरण पादसेवन अर्चन वन्दन दास्य, सख्य एवं आत्मनिवेदन नाम से नवधाभक्ति का वर्णन किया गया है।[२] यह वर्गीकरण अपने इष्टदेव के प्रति भक्त की उत्तरोत्तर वर्द्धमान भक्ति भावना के अनुरूप ही हुआ है। श्रवण कीर्तन और स्मरण द्वारा को जाने वाली भक्ति में भक्त और भगवान् का सान्निध्य प्राप्त हो जाना है जो उपासना का लक्ष्य है। दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन की दशा में भक्त के साथ भगवान भी सक्रिय हो उठते हैं। आत्मनिवेदन भक्त और भगवान के भावपूर्ण अति सामीप्य की दशा है जिसमें पहुँचकर उपासक अपने उपास्य के समक्ष अपना सब-कुछ खोलकर रखने में समर्थ होता है। इस स्थिति में भक्त और भगवान् में कोई दुराव नहीं रह जाता। अतएव व्यावहारिक दृष्टि से भी आत्मनिवेदन भक्ति की अन्तिम और सर्वोत्तम प्रक्रिया है।[३]

भक्ति के प्रतिपादकों ने भक्ति को ईश्वर के प्रति परानुरक्ति[४] परमप्रेमस्वरूपा

---

[१] आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्व वरणं तथा॥
आत्मनिक्षेप कार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥ —वायुपुराण।

[२] श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥ —श्रीमद्भागवत, स्क० ७ श्लो० ३।

[३] वही, १।१।२४।

[४] सा परानुरक्तिरीश्वरे। —शाण्डिल्यभक्तिसूत्र २।

तया अमृत स्वरूपा [1] बतलाते हुए एकादशधा भक्ति अर्थात गुणमाहात्म्यासक्ति रूपासक्ति पूजासक्ति स्मरणासक्ति दास्यासक्ति सख्यासक्ति कान्तासक्ति वात्सल्यासक्ति आत्म निवेदनासक्ति तन्मयतासक्ति और परमविरहासक्ति के नाम दिये हैं।[2] नारदभक्तिसूत्र और 'श्रीमदभागवत के भक्ति विभाजन में कोई तात्त्विक अंतर नहीं प्रतीत होता। नारद की स्मरणासक्ति दास्यासक्ति और सख्यासक्ति श्रीमदभागवत के स्मरण दास्य और सख्य के ही रूप हैं। पूजासक्ति पाद-सेवन अर्चन और वन्दन में अन्तर्भुक्त की जा सकती है। इसी तरह गुणमाहात्म्यासक्ति तथा रूपासक्ति के साथ श्रवण और कीर्तन एव आत्मनिवेदनासक्ति तन्मयतासक्ति कान्तासक्ति वात्सल्यासक्ति और परमविरहासक्ति को एक साथ समाविष्ट करके आत्मनिवेदन के अन्तर्गत रख सकते है। इस प्रकार श्रीमदभागवत और नारद भक्ति सूत्र दोनो के अनुसार आत्मनिवेदनपरक भक्ति ही सबसे अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होती है क्योंकि आत्मनिवेदनपरक भक्ति की सर्वोपरि विशेषता आराधक और आराध्य का अनन्यभाव है जो मधुर भक्ति रस का प्राण है। इसमें उपासक अपने उपास्य के प्रति पूर्ण तन्मयता का भाव प्राप्त करने का प्रयास करता है। उसे अपने इष्टदेव के अनुग्रह और प्रेम का दृढ विश्वास रहता है। फलत अन्योन्याश्रयता एव समरसता के भाव अनायास ही इसमें आ जाते हैं। विशुद्ध आत्मनिवेदन की दशा में कृत्रिमता अथवा विधि निषेध के प्रति निर पेक्षता तथा आचरण की स्वच्छन्दता भक्त के जीवन की स्वाभाविक क्रिया बन जाती है।

भक्ति की दाम्पत्य भाव दशा

दास्य तथा वात्सल्य भाव की दशाओं की अपेक्षा दाम्पत्य भाव की दशा में ही भक्त के जीवन की स्वाभाविकी क्रियाए अधिक सम्भव हैं क्योंकि दास्य और वात्सल्य की दशाओं में भक्त और भगवान उपास्य और उपासक के बीच पूर्णरूपेण समानता नहीं आ पाती। सख्य भाव में भी छोटे-बड़े के भेद भाव कुछ सीमा तक विद्यमान रहते हैं। केवल दाम्पत्य भाव की दशा में ही विधि निषेध से विरत होकर सारी बातें विशुद्ध एव स्वाभाविक रूप में व्यक्त होती हैं। इस विशिष्ट भाव-दशा में भक्त का हृदय स्वत स्फूर्त होकर प्रेम की मधुर मधुर ऊर्मियो से लहरा उठता है। कभी-कभी भावावेगों की तीव्रता के कारण प्रेमो न्मत्तता की भी स्थिति आ जाती है। नारदभक्तिसूत्र में परमप्रेम रूपा भक्ति का निरूपण करते हुए कहा गया है कि भक्त अपने अशेष कर्मों को भगवान के प्रति अर्पण करने तथा उनके किंचितमात्र भी विस्मृत हो जाने पर अतिशय व्याकुलता का अनुभव करने लग जाता है।[3] इससे भी आत्मनिवेदनासक्ति तथा परमविरहासक्ति के स्पष्ट संकेत मिलते हैं जो कान्तासक्ति के साथ पाई जाती है। कान्ता भाव की उपासना के अन्तर्गत भक्ति-दशा के वर्णन में आत्मनिवेदनासक्ति और प्रिय वियोगजन्य व्याकुलता के वर्णन में परमविरहासक्ति चरमोत्कर्ष को प्राप्त होती है। उपासना की इसी विशिष्ट भाव-दशा में उपास्य को छोड़कर उपासक का अपना कुछ भी नहीं रह जाता। उपास्य के प्रति अतिशय अनुरक्ति के कारण

१ सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। अमृत स्वरूपा च। —नारदभक्तिसूत्र २ ३।
२ ना भ सूत्र ८२-८३।
३ नारदभक्तिसूत्र १९ ।

क्षणिक विरह भी असह्य हो जाता है। इस कोटि के साधक के लिए शास्त्राचार और लोकाचार के बंधन व्यर्थ सिद्ध होते हैं। इस प्रकार की प्रेमाभक्ति को अपना लेने के बाद साधक को ब्रजांगनाओं के समान ही मुक्ति के लिए किसी अन्य साधना की आवश्यकता नहीं रह जाती।[1]

विशिष्टाद्वैतवाद का प्रभाव

उपर्युक्त विचार बिन्दुओं से स्पष्ट हो जाता है कि मध्ययुगीन भारतीय साधना के क्षेत्र में विशिष्टाद्वैतवाद के सहारे भक्ति के राज-पथ के निर्माता श्री रामानुजाचार्य ही हैं। उनके विशिष्टाद्वैतवाद से प्रसूत भक्तिवाद और प्रपत्तिवाद के प्रभाव से समस्त मध्ययुगीन धर्म साधना ओत प्रोत है। भक्तशिरोमणि तुलसीदास आदि सगुणोपासक भक्त कवि तथा कबीर दादू आदि निर्गुणोपासक संत कवि रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद से अनुप्राणित हैं।

रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतदर्शन के आधार पर उत्तर भारत में रामोपासना के प्रवर्तक श्री रामानन्द ही हुए। तत्त्वतः रामानुजाचार्य के मतावलम्बी होते हुए भी उन्होंने विष्णु के अन्य रूपों में राम रूप को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान कर अपनी विशिष्ट उपासना पद्धति का प्रवर्तन किया तथा श्रीवैष्णव सम्प्रदाय का संगठन किया। इन्होंने वैकुण्ठवासी विष्णु का स्वरूप न ग्रहण कर संसार में लीला विस्तार करने वाले राम को इष्टदेव माना तथा रामनाम को मूलमंत्र स्वीकार किया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उनके पूर्व भी 'राम' की महिमा का प्रचार था, किन्तु लीला विस्तार करने वाले अवतारी रूप को प्रश्रय नहीं मिला था। वाल्मीकि रामायण में राम के नारायणत्व की अपेक्षा नरत्व की प्रधानता है। अन्य प्राचीन रामकथा काव्यों में भी राम महापुरुष तथा महानायक के रूप में ही प्रदर्शित किये गये हैं। श्रीमद्भागवत, शाण्डिल्यभक्तिसूत्र, नारदभक्तिसूत्र, अध्यात्मरामायण, रामतापनीयोपनिषद् तथा इन्हीं जैसे अन्य परवर्ती ग्रन्थों में राम कृष्ण के अवतारों के प्रति व्यापक श्रद्धा भक्ति और प्रेम उत्पन्न करने वाले दाक्षिणात्य वैष्णव आचार्यगण ही हैं, जिनमें भक्ति भावना को व्यावहारिक रूप देने वालों में रामानन्द एवं वल्लभाचार्य (सं० १५३५—सं० १५८७) अग्रगण्य हैं।

आगे चलकर रामानन्द की शिष्य परम्परा में राम-कथा और राम भक्ति के प्रमुख प्रचारक एवं गायक गोस्वामी तुलसीदास हुए जिन्होंने मर्यादा पुरुषोत्तम राम की चारु चरितावली को उत्कर्ष पर पहुँचा दिया। गोस्वामीजी ने अपने इष्टदेव की ऐश्वर्य माधुरी के साथ साथ रूप माधुरी और प्रेम माधुरी का भी यथास्थान चित्रण किया है किन्तु उसमें कहीं भी उद्दामता नहीं आने पाई है। आगे चलकर कृष्णमार्गी भक्ति काव्य धारा में जब राधा कृष्ण की रूप-माधुरी, लीला माधुरी, प्रेम माधुरी तथा केलि क्रीडा माधुरी की अनिवार्यता के कारण मध्ययुगीन साधना के सभी क्षेत्रों में उद्दाम शृंगार की स्रोतस्विनी बड़े वेग के साथ प्रवाहित होने लगी तब उसने राम भक्ति काव्यधारा के मर्यादावादी कगारों को ढाहकर सरपट कर दिया। फलतः सीताराम भक्ति की मधुरोपासना के क्षेत्र में अनेकानेक रसिक सम्प्रदायों की स्थापना होने लगी जहाँ राम और रामसखा सीता और उनकी सखियों के हास विलास

१ शाण्डिल्य भक्तिसूत्र, १४।

प्रम प्रलाप केलि क्रीडाएँ एव उनकी अनेकानेक अतदशाओ के नाना रमणीय रूपखण्डो एव प्रम-व्यापारो की मधुर कोमल भाव भमियो की झाकी दिखाई जाने लगी। आचाय हजारी प्रसाद द्विवेदी ने मध्ययुगीन धम साधना का विवेचन करते हुए बतलाया है कि मध्यकालीन भारतीय धम साधना के समानान्तर यूरोप मे भी उसी काल म ईसाई धम-सधना के अतगत प्रचण्ड प्रमधारा प्रवाहित हुई थी। करुणा प्रम और क्षमा के अवतार प्रभु ईसामसीह अदभुत प्रममय पतितपावन दीनदयालु अशरण शरण के रूप मे चित्रित हुए हैं। वष्णव साधना के अतगत राम-कृष्ण का व्यक्तित्व भी वसा ही है। इसीलिए उनके भक्त अथ धम और मोक्ष की याचना नही करते। उन्हें तो उनकी अविचल भक्ति अखिल प्रीति चाहिए।[1] यह उपास्य का चरम सृष्टि है। यहा आकर भगवान भक्त के स्वभावानुसार उसके अपने हो जाते हैं। वेद और पुराण धम और दशन जिसके सधान म असमथता प्रकट करते हैं वे अपने बनकर भक्त के साथ हो जाते हैं।[2] इसीलिए ज्ञानमार्गी सन्तो ने भी एकमात्र ज्ञान को निस्सार मानकर भक्ति का आश्रय ग्रहण किया और अपनी पलको का परदा गिराकर ना मैं देखू और को ना तोहि देखन देउ की घोषणा करते हुए अपने दिल के अन्दर अपने दिलवर के दीदार का रसपान किया। मध्ययुगीन भक्तो और सतो की वाणियो मे विशिष्टाद्वैत-दशन का व्यापक प्रभाव दिखलाई पडता है क्योंकि इससे ही प्रसूत भक्तिवाद और प्रपत्तिवाद कालान्तर मे कान्ताभाव की उपासना के रूप म परिपल्लवित होकर मधुर रस साधना मे रूपायित हुए हैं।

भगवान् का भाव-गृहीत रूप तथा द्वत अद्वतपरक दाशनिक मतवाद

ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि ब्रह्म का विशुद्ध रूप निगुण निराकार निरुपाधि तथा निर्विकार ही है। वही परब्रह्म एकमात्र सत है और सभी मायिक हैं। किन्तु व्यावहारिक क्षत्र म उसी परब्रह्म के चित अचित और ईश्वर य तीन रूप हो जाते हैं। यह भी कहा जा चुका है कि आध्यात्मिक साधना का सर्वाधिक सरल और सहज बोधगम्य राजमाग भक्ति साधना ही है क्योंकि भक्ति भगवान के प्रति भक्त का मधर मनोराग है। भक्ति-साधना म भगवान के प्रति भक्त की तन्मयता आत्मनिवदनात्मक्ति चरमोत्कष को प्राप्त हो जाती है। किन्तु यह भक्ति निगुण ब्रह्म के प्रति सम्भव नहा है। गीता म स्वय भगवान कृष्ण ने कहा है कि अव्यक्त म चित्त की एकाग्रता करन वाल को बहुत कष्ट उठाना पडता है क्योंकि उस अव्यक्त की गति का प्राप्त करना देहाभिमानियो के लिए स्वभावत अतिकष्टप्रद है।[3] जो प्रमी भक्तजन भगवान म अपन मन को एकाग्र कर निरन्तर अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धा स युक्त होकर सगुणरूप परमेश्वर का भजत हैं व योगियो म अत्युत्तम योगी मान जाते हैं। एस प्रमी

१ अरथ न धरम न कामरुचि गति न चहउ निरबान।
जनम जनम रघुबीर भगति यह बरदान न आन॥

—तुलसीदास

२ ब्रह्म जो व्यापक वेद कहैं [illegible] पुराननि मैं [illegible] —रसखान

३ क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

—श्रीमद्भगवद्गीता अ १२।

भक्तों को भगवान शीघ्र ही मृत्यु रूप संसार-सागर से उद्धार कर देते हैं।[1] सगुणोपासना की ओर भक्त जनों के उन्मुख होने का यही रहस्य है। भक्ति भावापन्न भक्त हृदय की सात्त्विक अनन्यासक्ति है और यह आसक्ति सगुण और साकार ईश्वर के प्रति ही संभव है क्योंकि भक्ति में मन का केन्द्रीभूत होना परमावश्यक है। मन को केन्द्रित करने के लिए श्रद्धा और प्रेम भाव का होना अनिवार्य है। ऐसी दशा में ईश्वरीय सौंदर्य बोध तथा नाम प्रेम की जागृति के लिए अपेक्षित है। जाग्रत प्रेम की स्थिरता के लिए किसी-न-किसी आश्रय की आवश्यकता होती है। साधना के क्षेत्र में सगुण और साकार ब्रह्म की कल्पना इसी अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति का मधुर आयोजन है जहाँ उपासक अपने स्वभाव के अनुरूप अपने आदर्श उपास्य को मनोनीत करता है। वाणी द्वारा अप्रकाश्य तथा मन-बुद्धि द्वारा अग्राह्य परमतत्त्व जब भक्त के मानस मन्दिर में प्रकट होता है तब वह भक्त हृदय के मधुर भाव बन्धन को स्वीकार कर उसके भाव गृहीत रूप में ही अभिव्यक्त होता है। ब्रह्म का यही भाव गृहीत रूप मधुर रस-साधना का मूलाधार है।

भगवान् के ज्ञानाश्रित और भावाश्रित रूप

भगवान का एक रूप ज्ञानाश्रित है और दूसरा भावाश्रित। ज्ञानाश्रित रूप की कल्पना तीन तथा अनिर्वचनीय कहा गया है। किन्तु भावाश्रित रूप का सम्बन्ध भक्त के हृदय से होता है। भावाश्रित होकर पुष्पवास त पातरा अति सूक्ष्म अनूप तत्त्व भक्त के हृदय में उसकी भावना के अनुरूप प्रकट होता है और उसके मनोभावों के मधुर बन्धन में आबद्ध रहता है। भक्त की मनोवृत्ति के अनुसार वह स्वामी सखा कान्त आदि कई रूपों में व्यक्त होता है।

मध्ययुग के साधकों ने भगवान के भावाश्रित रूपों का बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है। मन-वाणी से अगम अगोचर अचिन्त्य परमात्मा के नाम और रूप की कल्पना द्वारा रागमयी भक्ति की ऐसी व्यापक दिव्य भूमि का अनुसंधान किया गया है जिसके भीतर सम्पूर्ण चराचर जगत समाहित हो जाता है। आत्मा और परमात्मा के बीच दाम्पत्य प्रेम सम्बन्ध की उद्भावना द्वारा जीव और ब्रह्म के तादात्म्य और आन्तर मिलन की मधुर झाँकी दिखलाने, द्वैत में अद्वैत का साक्षात्कार कराने एवं लौकिक प्रेम को पारलौकिक प्रेम में रूपान्तरित करने की यह मधुर भाव योजना अपूर्व है, अद्भुत है। वैष्णव साधना के अन्तर्गत भगवान् के नाम और गुणमय रूप की उपासना का यही रहस्य है जिसका प्रचुर प्रभाव निर्गुनियों सन्तों पर भी पड़ा है। मध्ययुग के सभी साधना मार्गों में नाम साधना तथा रूपोपासना का महत्त्व किसी न किसी रूप में अनिवार्य रूप से स्वीकार किया गया है क्योंकि निर्गुण, निराकार ब्रह्म जब तक नाम और रूप की सीमा में नहीं आता तब तक वह भवजन सुलभ सहज बोध-गम्य और प्रेम-ग्राह्य नहीं हो सकता। भगवान के नाम स्मरण का अर्थ ही है भगवान् के भाव गृहीत रूप का स्मरण करना।[2] भगवान के ऐसा भाव गृहीत रूप के

---

[1] श्रीमद्भगवद्गीता, अ० १२ श्लोक २।६।७।

[2] देखिअहिं रूप नाम आधीना। रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना ॥
रूप बिसेष नाम बिनु जाने। करतल गत न परहिं पहिचाने ॥ —रामचरितमानस, पृ० ८४।

माध्यम से भक्तजन उस अनादि अचिन्त्य अगोचर ब्रह्म को जान पाते हैं। सतजन प्रमाजन च्छुरित भक्ति रूपी लोचनो से सदव उनका साक्षात्कार करते रहते हैं तथा अचिन्त्यगुण प्रकाश अरूप ब्रह्म को प्रमाजन से अनुरंजित करके अपने हृदय मे विशिष्ट बनाकर देखा करते हैं।[1]

नाम और रूप की उपासना

इस प्रकार भगवान के नाम और रूप की उपासना मध्यकालीन धम साधना की मौलिक विशेषता है। बौद्ध सिद्धो के प्रज्ञोपाय—अद्वयत्व शून्यता और करुणा के सम्मिलन युगनद्ध मुद्रा साधना जनो की शक्ति कल्पना शवो और नाथो क शिव शक्ति-सामरस्य बीजाक्षर मत्रो क जप आदि प्रसगों म प्रकारान्तर से नाम साधना और रूपोपासना-युग्म *मधुर आन्तर मिलन की मनोरम पृष्ठभूमि की अवतारणा दिखलाई पडती है। आचाय हजारी* प्रसाद द्विवेदी के शब्दो म जप की महिमा का बखान इस देश म नया नही है। गीता म भगवान श्रीकृष्ण ने यज्ञाना जप यज्ञोऽस्मि कहकर जप की महिमा बताई है पर साधारणत जप मन्त्र विशेष का हुआ करता था। भगवान के नाम का ही सबसे बडा मन्त्र मानना *और उसीके जप को समस्त सिद्धियों का मूल मानना उस युग की बहुत बडी विशेषता है* और इस विशेषता ने ही भगवान के भाव गृहीत रूप को इतना महत्त्व दिया है। भगवान का सगुणोपासना के मूल म यह भावगृहीत रूप ही है अन्तर केवल इतना है कि यह भाव गृहीत रूप भगवान के पूव निर्धारित किसी रूप को आश्रय करके होना है। इस प्रकार यद्यपि *सूरदास क कृष्ण और हित हरिवश के भाव गृहीत रूप म थोडा अतर हो सकता है परत* है वह एक ही शास्त्र समर्थित श्रीकृष्ण के मधुर रूप पर आधारित। वस्तुत निगुण कहे जाने वाले रूप म भगवान की उपासना करने वाला भक्त भी भगवान के इस भाव गृहीत गुण विशिष्ट रूप को ही अपनाता है। फिर भी उसकी विशेषता यह है कि उसका भाव गृहीत रूप किसी पूव निर्धारित और शास्त्र समर्थित आकार को आश्रय करके नही होता।[2]

पीछे कहा जा चुका है कि भक्ति भावापन्न साधक के हृदय म श्रद्धा और प्रम की जागृति के लिए तथा उन्ह स्थिरता प्रदान करने के लिए अनन्त सौन्दय अनन्त शक्ति और अनन्त शील से युक्त आश्रय का होना परमावश्यक है। इसीलिए सतो और भक्तो ने तीन प्रकार के आश्रय की उद्भावना की है—

(१) भगवान का बुद्धि विनिर्मित साकार विग्रह।

(२) भगवान का प्रतीकमय साकार स्वरूप।

(३) भगवान का भावना विनिर्मित विग्रह।

भगवान के बुद्धि विनिर्मित साकार विग्रह का परिचय सबसे पहले ऋग्वेद के पुरुष

---

१ प्रमाजनच्छुरित-भक्ति विलोचनेन
सन्त सदैव हृदयेऽद्य विलोकयन्ति।
य श्यामसुन्दरमचिन्त्य गुणप्रकाश
गोविन्दमादिपुरुष तमह भजामि॥
—ब्रह्मसहिता।

२ मध्यकालीन धर्मसाधना डॉ हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ १४।

सूक्त में दिखलाई पड़ता है। उस विराट पुरुष का परिचय देते हुए कहा गया है कि उसके सहस्र सिर, सहस्र नेत्र तथा सहस्र चरण थे। उसने पृथ्वी को चारों ओर से घेर रखा था फिर भी वह दशांगुल मात्र था।[1] 'श्रीमद्भगवद्गीता' में भी भगवान के विराट रूप का बड़ा ही विस्मयकारी वर्णन किया गया है।[2] श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी कहा गया है कि सृष्टि, स्थिति और प्रलय—इन तीन कार्यों के तीन कर्ता—ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र ब्रह्म के ही तीन नाम हैं।[3] भक्तों एवं संतों ने भी भगवान् की अनन्त शक्ति, अनन्त सौन्दर्य और अनन्त पराक्रम को अभिव्यक्त करने के लिए भगवान के विराट स्वरूप का वर्णन किया है।[4]

ब्रह्म का प्रतीकमय साकार रूप

ब्रह्म के प्रतीकों की कल्पना मूर्त और अमूर्त दो रूपों में की गई है। वेदों और उपनिषदों में प्रतीक-योजना के अनेक उदाहरण मिलते हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् में ब्रह्म को अन्न, प्राण, मन, ज्ञान और आनन्द रूप कहा गया है।[5] बृहदारण्यक में अजातशत्रु ने सर्वप्रथम आदित्य, चन्द्र, विद्युत, आकाश, वायु, अग्नि और दिशाओं में रहने वाले पुरुष की ब्रह्मरूप से उपासना बतलाई है।[6] प्रतीकीकरण मनुष्य का स्वभाव है। मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन प्रतीकों से भरा पड़ा है। यही कारण है कि जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रतीक-योजना का बाहुल्य मिलता है। धर्म साधना के क्षेत्र में तो प्रतीकों का सर्वाधिक महत्त्व दिखलाई पड़ता है। धार्मिक संस्कार और कर्मकाण्ड की विधियों का, मन्दिरों के निर्माण एवं आकार का एक विशिष्ट अर्थ और महत्त्व होता है। ईश्वर निराकार है, उसका नाम और उसकी प्रतिमा उसके प्रतीक हैं। हिरण्यगर्भ, ओंकार, स्वयम्भू, विश्वकर्मा, सच्चिदानन्द आदि नाम उसके शाब्दिक प्रतीक हैं। मध्ययुग की आस्तिकतामूलक भावधारा ब्रह्म के प्रतीकमय साकार स्वरूपों से परिपूर्ण है। संत काव्य धारा में तो सब-कुछ प्रतीकों के द्वारा ही कहा गया है। भक्तों और संतों ने ईश्वर के प्रति वात्सल्य और दाम्पत्य दोनों प्रकार के प्रतीकों को अपने काव्य में प्रश्रय दिया है। अपने साध्य

---

१ सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशांगुलम्॥
—ऋग्वेद १०।६ ।१

२ पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥ (६ और ७ श्लोक भी)
—श्रीमद्भगवद्गीता, अ० ११

३ एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः।
प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः ॥२॥
—श्वेताश्वतरोपनिषद् तृ० अ०

४ कोटि सूर जाके परगास कोटि महादेव अरु कविलास।
गंगा कोटि जाकै मज्जन करैं, ब्रह्मा कोटि वेद उच्चरैं।
कन्दर्प कोटि जाकै लवै न धरहिं अन्तर अन्तर मनसा हरहिं॥
—कबीर ग्रन्थावली पृ० २७८

५ तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्ली २ से ७ अनुवाक द्रष्टव्य।

६ बृहदारण्यकोपनिषद् अ० २ ब्रा० १।

और उसकी दिव्यानुभूति के स्वरूप के सामान्य भाषा में अप्रमेय होने के कारण इन दोनों विषयों के सम्बन्ध में उन्होंने सब कुछ प्रतीकों के माध्यम से ही कहा है।

भगवान् का भावना विनिर्मित रूप

उपासना का एकमात्र लक्ष्य भगवद सानिध्य अर्थात भगवद प्रीति को प्राप्त करना है। अत भक्ति भावापन्न साधक भावावेश में आकर अपने उपास्य देव में सर्वोत्तम मानवीय गुणों का आरोपण करता है क्योंकि वह उनके द्वारा अपने इष्टदेव के अत्यधिक सन्निकट पहुँचना चाहता है।

सामान्यत सभी मानव एक दूसरे के साथ पाँच स्वभावों तथा रसों द्वारा सम्बन्धित हैं। ये रस हैं शान्त दास्य सख्य वात्सल्य और मधुर। मनुष्य के कुछ आत्मीयजन ऐसे होते हैं जो सभी प्रकार से अपने सम्बन्धी का आदर-सत्कार करते हैं तथा उसे देख-सुनकर आनन्दित भी होते हैं किन्तु उनकी ममत्वबुद्धि उस सम्बन्धी के प्रति उतनी नहीं होती कि वे अपने सवसुख का परित्याग कर निरन्तर उस सम्बन्धी के सुख के लिए प्रयत्न करें। सम्बन्धी के प्रति उनकी प्रीति पूर्णत क्रियाशील नहीं होती। ऐसा सम्बन्ध शान्त रस का कहा जाता है।

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे परिजन होते हैं जो रात दिन निःस्वार्थ भाव से अपने सम्बन्धी को सुख पहुँचाने में व्यस्त रहते हैं। सम्बन्धी के प्रति उनकी ममतामयी वृत्ति कार्यकारी होती है जो शान्त रस का आश्रय करनेवाले सम्बन्धियों में नहीं पाई जाती। ऐसे लोगों का सम्बन्ध दास्य रस का सम्बन्ध है।

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे रसिक सहचर होते हैं जो अपने क्रीडा-कौतुक के द्वारा सक्रिय सहयोग देकर अपने सम्बन्धी को अपनी प्रगाढ प्रीति प्रदान करते हैं। उपर्युक्त स्वजनों की अपेक्षा ये अधिक अन्तरंग होते हैं। ऐसा सम्बन्ध सख्य रस का कहा जाता है।

माता पिता में ममता की अधिकता होती है। वे दोनों वात्सल्य रस द्वारा मनुष्य को पालन-योग्य और शासन-योग्य समझकर सखाओं की अपेक्षा अधिक प्रगाढ प्रीति से उसका पालन-पोषण करते हैं। यह सम्बन्ध वात्सल्य रस का कहा जाता है।

सर्वोपरि ममता और प्रीति की अधिकता और प्रगाढता अनन्यभाव से एकीभाव से तादात्म्यभाव से पुष्ट कान्ता के माधुर्य से मधुवर्षित उज्ज्वल रसात्मक मधुर रस में दिख लाई पड़ती है। स्वात्मपर्यन्त सर्वस्व का भी दान देकर ऐसी घनिष्ठ वरिष्ठ सम्भ्रम रहित मधुर रसमयी सेवा कान्ता भी अन्य किन्हीं सम्बन्धियों और सखाओं में सम्भव नहीं है। उनमें भी यदि यह प्रीति परकीया भाव से अनुष्ठित होती है तब इसके रसास्वादन में उत्तमोत्तम माधुर्य की पराकाष्ठा हो जाती है यद्यपि लौकिक दृष्टि से यह निन्दनीय एवं वर्जित है। इस प्रकार की माधुर्योपासना में रत साधक मुक्ति को भी अंगीकार करना नहीं चाहता[1]

१ किन्तु प्रेमैकमाधुर्यभुज एकान्तिनो हरौ।
नैवाङ्गीकुर्वते जातु मुक्तिं पञ्चविधामपि ॥१६॥
तत्राप्येकान्तिनां श्रेष्ठा गोविन्दहृतमानसा।
येषां श्रीशप्रसादोऽपि मनो हर्तुं न शक्नुयात् ॥१७॥
सिद्धान्ततस्त्वभेदेऽपि श्रीशकृष्णस्वरूपयोः।
रसेनोत्कृष्यते कृष्णरूपमेषा रसस्थितिः ॥१८॥ —भक्तिरसामृतसिन्धु पू. भा. लहरी

क्योंकि उनके लिए उपास्य की प्राप्ति ही सम्बन्ध है उपास्य की अखिल भक्ति ही अभिधेय है और उपास्य का प्रेम महाधन ही प्रयोजन है। इस प्रकार भगवत्प्रेम ही ऐसे साधक का नि श्रेयस मगल है।

दाम्पत्य-भाव में प्रेम की अनन्यता और आत्मनिवेदनासक्ति का चरमोत्कर्ष

उपयुक्त विचार बिन्दुओ मे यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवद सान्निध्य तथा भगवत्प्रेम प्राप्ति के लिए साधक जितने प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करता है उनम दाम्पत्य सम्बन्ध म ही प्रेम की अनन्यता एव आत्मनिवेदनासक्ति का चरमोत्कर्ष पाया जाता है। यही कारण है कि भगवद-सान्निध्य और भगवद प्रीति के पिपासु भक्तजन वात्सल्य-सम्बन्ध की अपेक्षा दाम्पत्य-सम्बन्ध के प्रतीको को अपनाकर जीवात्मा और परमात्मा के तादात्म्य भाव को चरितार्थ करते हैं तथा दोनो के वियोग सयोग की विभिन्न भाव-दशाओ की अवतारणा द्वारा परमोत्कर्ष मधुर रस की मार्मिक अभिव्यजना करते हैं।

दाम्पत्य प्रतीक के प्रयोग से गूढ आध्यात्मिक विचार मधुमयी कोमल भावनाओ के रूप म व्यक्त होते हैं जिससे काव्य म अलौकिक आनन्द न्द्रिय रस स्फुरित होने लगता है। दाम्पत्य प्रेम म विरह और मिलन की मधुर और कोमल परिस्थितियाँ आती हैं। लौकिक काव्य म इन परिस्थितियो के चित्रण वासना के उद्दीपक प्रतीत होते हैं और आध्यात्मिक काव्य म य ही चित्र आत्मा की मधुर रसमयी स्थिति की अलौकिक अभिव्यक्ति करने म समर्थ होते हैं।[1] भक्तो तथा सन्तो ने आत्मा और परमात्मा के विरह और मिलन-जन्य अनेकानेक प्रेमोद्गमित मधुमय चित्र दाम्पत्य प्रतीको के सहारे ही अभिव्यक्त किये हैं। मध्ययुगीन सगुण वष्णव रस साधना का त यह सवस्व हा है।

मूल में अद्वैत किन्तु भगवत्प्रीत्यर्थ भावित द्वैत की कल्पना

मध्यकालीन धम साधना के अन्तगत मूल म अद्वैत किन्तु भगवत्-सान्निध्य एव भगवत्प्रीति स प्राप्त आनन्द के रसास्वादन के लिए भावित द्वैत की कल्पना सवथा विलक्षण है जहाँ निराकार आकार ग्रहण करते हैं जहाँ निगुण ब्रह्म अपनी अचिन्त्य लीला शक्ति स अप्राकृत गुणगण को स्वीकार करते हैं जहाँ वर्णातीत सुख सुख स्वरूप परमात्मा का अग बन जाता है जहाँ सवव्यापक परमात्मा परम प्रेमास्पद बनकर रसमय प्रेममय और मधुमय हो उठते हैं जहाँ प्रीति प्रभु का स्वभाव बन जाता है जहाँ रसरूप भगवान् रस पाकर आनन्दी होते हैं तथा भावित द्वैत अद्वैत से श्रेष्ठ बन जाता है।

इस प्रकार मूल म अद्वैत किन्तु आनन्द के लिए द्वैत की कल्पना आवश्यक है। नर और नारी प्रकृति और पुरुष तथा आत्मा और परमात्मा सदा एक और अभिन्न हैं। दोनो को एक दूसरे का पूरक माना गया है। अतएव दोनो म एक-दूसरे को प्राप्त कर पूणता प्राप्त

---

1 कबीर की विचारधारा डॉ गोविन्द त्रिगुणायत पृ ३६०।

करने की मधुर चाह है।[1] यह पूर्ण आन्तर मिलन दाम्पत्य माधुर्य भाव में ही सम्भव है। यही मधुर रस साधना का रहस्य है।

इस प्रसंग में एक और भी उल्लेखनीय बात यह है कि पारमार्थिक सत्य की अपेक्षा किंचिन्न्यून सत्ता का एक और सत्य माना जाता है जो भजनोपयोगी है। इससे उस पारमार्थिक चरमसत्ता की अद्वैतता में कोई त्रुटि नहीं आती। अद्वैत ज्ञान होने पर यदि भजनोपयोगी द्वैत मानकर भगवान में भक्ति की जाती है तो ऐसी भक्ति सैकड़ा मुक्तियों से भी श्रेष्ठ है। प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परब्रह्म का विज्ञान होने के पहले द्वैतज्ञान या द्वैतभाव जीव के बंधन का कारण होता है किन्तु विज्ञान के बाद भेद मोह के नष्ट हो जाने पर भक्ति के लिए भावित द्वैत भाव अद्वैत से भी उत्तम है।[2] मध्यकालीन सगुणोपासक भक्तों की मधुरोपासना तथा निर्गुणिया सन्तों का माधुर्यमय रहस्यवाद अद्वैत ज्ञान के बाद भावित द्वैत की ही मधुर अभिव्यक्ति है।

मध्यकालीन धर्म साधना के विभिन्न मार्गों पर शंकराचार्य के अद्वैतवाद तथा रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद का कितना अधिक प्रभाव पड़ा है इसकी चर्चा की जा चुकी है। अब आगे मूल में अद्वैत किन्तु आनन्द के लिए भावित द्वैत की कल्पना द्वारा मधुरोपासना को दार्शनिक आधार पर खड़ा करने वाले एवं इस प्रकार के प्रमाविष्ट आध्यात्मिक वातावरण के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योग देने वाले दार्शनिक सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन किया जा रहा है।

द्वैतवाद

परम तत्त्व एक है या दो या दो से अधिक है—इन प्रश्नों को लेकर अद्वैतवादी, द्वैतवादी, द्वैताद्वैतवादी आदि कई प्रकार के दार्शनिक मतवाद प्रचलित हैं। जो चरम सत को एक मानते हैं उनके दार्शनिक सिद्धान्त को एकत्ववाद, जो दो मानते हैं उनके सिद्धान्त को द्वित्ववाद, जो दो से अधिक मानते हैं उनके सिद्धान्त को बहुत्ववाद और जो इन सबके समन्वित रूप को मानते हैं उनके सिद्धान्त को शुद्धाद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद और द्वैताद्वैतवाद कहा जाता है।

द्वैतवाद भी अन्य दार्शनिक मतवादों के समान प्राचीन है और इसका भी स्वयं भगवान् मान्यता प्राप्त करता है। यह भी ब्रह्मवाद ही है किन्तु इसमें जीव, जगत और ब्रह्म की परस्पर भिन्नता मान्य है। द्वैतवाद के प्रवर्तक मध्वाचार्य (१३वीं सदी का उत्तरार्ध काल) हैं। इसीलिए इसे माध्वमत की संज्ञा भी दी गई है। मध्वाचार्य का द्वैतवाद या

---

१ One longs for another for pertection

—M M Gopinath kaviraj

२ पारमार्थिकम् अद्वैतं द्वैतं भजनहेतवे।
तादृशी यदि भक्तिः स्यात् सा तु मुक्तिशताधिका॥
न मोहाय बोधात् ... नाते बोध मनीषया।
भक्त्यर्थं भावितं द्वैतं अद्वैतादपि सुन्दरम्॥

— ... के भक्ति-अंक में उद्धृत

स्वतन्त्रास्वतन्त्रवाद मूलतः शंकराचार्य के अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया में भक्तिवाद के प्रवर्तन का ही प्रतिफल है। मध्वाचार्य ने श्रुति तथा तर्क के आधार पर सिद्ध किया है कि संसार मिथ्या नहीं है, जीव ब्रह्म का आभास नहीं है और ब्रह्म ही एकमात्र सत नहीं है। इस प्रकार मध्वाचार्य ने अद्वैतवाद का खण्डन करते हुए पंचनित्य भेद सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, जिसके अनुसार ईश्वर का जीव से नित्य भेद है, ईश्वर का जड़ पदार्थ से नित्य भेद है, जीव का जड़ पदार्थ से नित्य भेद है, एक जीव का दूसरे जीव से नित्य भेद है तथा एक जड़ पदार्थ का दूसरे जड़ पदार्थ से नित्य भेद है। अपने मत के समर्थन में मध्वाचार्य ने अद्वैतवाद की स्पष्ट पुष्टि करने वाले उपनिषदों के कतिपय वाक्यों (यथा—'तत्वमसि', 'अयमात्मा ब्रह्म', 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति', 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' आदि आदि) की द्वैतवादी व्याख्या की है,[1] जिसके अनुसार इन वाक्यों का यह अर्थ खण्डित हो जाता है कि केवल ब्रह्म ही एकमात्र सत है और अन्य सब-कुछ मिथ्या है।

माध्वमत में कुल दस पदार्थ मान्य हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य और अभाव। इनमें प्रथम पाँच और अन्तिम वैशेषिक पदार्थ ही हैं। शेष माध्वमत की वैशेषिक मत से विशिष्टता है। इस मत में बीस प्रकार के द्रव्य मान्य हैं—परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृत आकाश, प्रकृति, गुणत्रय, अहंकार तत्त्व, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, मात्रा, भूत, ब्रह्माण्ड, अविद्या, वर्ण, अन्धकार, वासना, काल और प्रतिबिम्ब। इनमें से अधिकांश सांख्य-दर्शन के तत्त्वों से संगृहीत किये गए हैं। माध्वमत का ईश्वर कर्त्ता अंश में न्याय के ईश्वर से सादृश्य रखता है। उसकी प्रकृति सांख्य की प्रकृति से मिलती जुलती है।

मध्वाचार्य के मतानुसार 'ब्रह्म सगुण और सविशेष है। अनन्तगुण परिपूर्ण, जीव और जगत से सर्वथा विलक्षण, एक होकर भी नाना रूप धारण करने वाले परमात्मा ही साक्षात विष्णु हैं। लक्ष्मी उनकी शक्ति है जो परमात्मा के अधीन होते हुए भी उनसे भिन्न हैं। जीव अणु परिमाण है। भगवान् और जीव में स्वामी-सेवक सम्बन्ध है। संसार सत्य है। पदार्थ या तत्त्व के दो भेद हैं—स्वतंत्र और अस्वतंत्र। अशेष सद्गुण भगवान विष्णु स्वतन्त्र तत्त्व हैं तथा जीव और जगत अस्वतन्त्र तत्त्व हैं। इस प्रकार माध्वमत पूर्णरूपेण द्वैतवादी है।'[2]

माध्वमत में जीवन्मुक्ति और निर्वाणमुक्ति को निस्सार बतलाकर वैकुण्ठ प्राप्ति को ही मुक्ति माना गया है। स्थूल सूक्ष्म सब वस्तुओं के यथार्थ ज्ञान होने पर, ईश्वर और जीव के पृथकत्व के पूर्ण ज्ञान होने पर, ईश्वर के गुणों की उपलब्धि होने पर, ईश्वर के अनन्त सौन्दर्य

---

१ मध्वाचार्य द्वारा उपनिषदों के अद्वैतवाद परक वाक्यों का द्वैतपरक अर्थ इस प्रकार किया गया है—

तत्वमसि—इसका अर्थ 'वह तू है' ऐसा न मानकर 'तू उसका है अर्थात् तुझमें और उसमें भेद है' ऐसा कहा गया है।

अयमात्मा ब्रह्म—इसका अर्थ 'यह आत्मा ब्रह्म है' ऐसा न मानकर 'यह आत्मा (जीवात्मा) वर्द्धनशील है', ऐसा कहा गया है।

ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति—इसका अर्थ 'ब्रह्मविद् ब्रह्म ही होता है', ऐसा न मानकर 'ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म के समान हो जाता है' ऐसा कहा गया है।

एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का अर्थ यह नहीं है कि केवल ब्रह्म ही एकमात्र सत है और सब कुछ मिथ्या है।

२ 'हिन्दुत्व', पृष्ठ ६६२।

अनन्त शक्ति और अनन्त शील का बोध होने पर तथा समस्त जागतिक पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का बोध होने पर ही मुक्ति की प्राप्ति होती है।[1]

इस प्रकार जीव जगत और ईश्वर के पृथक्त्व को सिद्ध करके मध्वाचार्य ने साधन रूप भक्ति को पूर्ण विकसित किया राधा-कृष्ण की भक्ति के प्रसार प्रचार में महत्त्वपूर्ण योगदान देकर मध्यकालीन वैष्णव धर्म-साधना के अन्तर्गत निरन्तर प्रवहमान मधुर रस साधना की अखण्ड धारा का उद्घाटन किया तथा नाम और रूपोपासना के भक्ति-द्वार को खोलकर उसे सर्वजन सुलभ एवं सर्वजन ग्राह्य बना दिया। शंकराचार्य के मायावाद के कारण जनता में नैराश्य निरीहता और निःसहाय भाव का जो कुहरा फैल चुका था उसे बहुत-कुछ दूर करके राधा-कृष्ण की युगलोपासना की मधुर रस धारा से जन मन को अभिसिंचित एवं संतृप्त कर उसमें नवीन आशा उत्साह और नव्य जीवन-स्फूर्ति भरनेवालों में मध्वाचार्य का नाम सबसे पहले आता है।

द्वैताद्वैतवाद

द्वैताद्वैतवाद-मत का इतिहास पर्याप्त प्राचीन है। ब्रह्मसूत्र से ज्ञात होता है कि महर्षि बादरायण के पूर्व औडुलोमि और आश्मरथ्य ने भेदाभेदवाद का प्रतिपादन किया था। इनके मतानुसार कारणात्मना जीव और ब्रह्म में अभिन्नता है किन्तु कार्यात्मना दोनों में भिन्नता भी है। इनके अतिरिक्त शंकराचार्य के पूर्ववर्ती भर्तृप्रपंच रामानुजाचार्य के पूर्ववर्ती भास्कर तथा पश्चात्भावी यादव भेदाभेदवादी दार्शनिक थे जिन्होंने निर्गुणवाद तथा मायावाद को अमान्य सिद्ध किया था। किन्तु ग्यारहवीं शताब्दी में सर्वप्रथम ब्रह्मसूत्र की विष्णुपरक व्याख्या द्वारा कृष्ण के साथ राधा की उपासना का समावेश करके द्वैताद्वैतमत की स्थापना करने वाले दाक्षिणात्य तैलंग ब्राह्मण निम्बार्काचार्य ही हुए। वैष्णवों के चार प्रमुख सम्प्रदायों (श्री वैष्णव सम्प्रदाय माध्व सम्प्रदाय रुद्र सम्प्रदाय और सनक सम्प्रदाय) में एक निम्बार्क सम्प्रदाय (सनकादि सम्प्रदाय) की भी गणना होती है।

निम्बार्काचार्य के मतानुसार ब्रह्म द्वैत भी है और अद्वैत भी। जीव और ब्रह्म में अनादि भाव सम्बन्ध है। ब्रह्म से संसार की भिन्नता भी है और अभिन्नता भी। इस प्रकार ब्रह्म जीव और जड़ अर्थात् चेतन और अचेतन से अत्यन्त पृथक् और अपृथक् है और ये दोनों दशाएं समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। इस प्रकार जीव और जगत को ब्रह्म से अत्यन्त भिन्न और अभिन्न मानना यद्यपि व्याघातात्मक प्रतीत होता है तथापि यही वास्तविक सत्य है। जिस प्रकार कार्य रूपी घट कारण रूपा मिट्टी से अभिन्न है क्योंकि दोनों की एक ही सामग्री है और साथ ही दोनों एक-दूसरे से भिन्न भी हैं क्योंकि दोनों के नाम रूप आकार प्रयोजन आदि अलग-अलग हैं उसी प्रकार कार्य रूप जीव और जगत कारण रूप ब्रह्म से भिन्न और अभिन्न दोनों हैं। ब्रह्म अद्वैत अर्थात् एकात्म है तथा उसका परिणाम रूप जीव और जगत द्वैत अर्थात् नानात्मक है। इस प्रकार अद्वैत ब्रह्म ही द्वैत संसार का रूप धारण करता है। कार्य-कारण-सम्बन्ध के अनुसार तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर द्वैताद्वैतवाद या भेदाभेद ही सर्वाधिक मान्य ठहरता है।

---

१ हिन्दुत्व पृष्ठ ६०७।

रामानुजाचार्य के समान निम्बार्काचार्य ने भी परमतत्त्व के तीन रूप माने हैं—ईश्वर, जीव (चित) और जड जगत् (अचित)। ईश्वर में अनन्त वस्तुओं को उत्पन्न करने की शक्ति है। ईश्वर अपनी शक्ति का अनुभव मात्र करने से नामरूपात्मक संसार का रूप धारण करता है। ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों रूप हैं पर भक्ति के लिए सगुण का ही विशेष महत्त्व है। भीतर और बाहर सर्वत्र ईश्वर व्याप्त है। परमब्रह्म नारायण, भगवान, कृष्ण, पुरुषोत्तम आदि उनके अनेक नाम हैं। विशिष्टाद्वैतवादियों के समान निम्बार्काचार्य जीव और जगत को ईश्वर का अंगभूत नहीं अपितु शक्ति मानते हैं। इनके मत में जीव ज्ञान-स्वरूप और ज्ञानाश्रय है। वह ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता भी है। परिमाण में वह अणु है विभु नहीं। कर्तृत्व की दृष्टि से जीव स्वतन्त्र है किन्तु भोग प्राप्ति की दृष्टि से वह ईश्वराधीन है।

अचित अर्थात जड जगत् के तीन रूप हैं—प्रकृति अर्थात महत्तत्त्व से लेकर महाभूत तक प्रकृति से उत्पन्न जगत, अप्राकृत अर्थात प्रकृति के राज्य से बहिर्भूत तथा काल।

निम्बार्क-मत के अनुसार मुक्ति का प्रमुख साधन प्रपत्तिमूलक भक्ति है। ईश्वर के प्रति सर्वात्म समर्पण और भगवद् शरणागति से ही जीव भगवद् अनुग्रह का अधिकारी होता है। प्रपत्ति के बिना ईश्वर से मिलन असम्भव है।

'निम्बार्क ही प्रथम वैष्णव हैं जिन्होंने कृष्ण और राधा को सर्वप्रथम विशेष महत्त्व दिया। सहस्रों सखियों से घिरी हुई राधा और उसके वल्लभ कृष्ण निम्बार्क के आराध्यदेव हैं। दोनों की लीला ही सृष्टि का रहस्य है। रामानुज के पूर्व भक्ति का अर्थ परमेश्वर के प्रति अनन्य प्रेम ही था। रामानुज ने इस अर्थ में औपनिषदिक उपासना (मनन, अर्चन और चिन्तन) को मिला दिया। निम्बार्क ने इसको असाध्य समझ कर भक्ति का मूल अर्थ ही ग्रहण किया। रामानुज ने ऐश्वर्य प्रधान भक्ति की शिक्षा दी। उनके मत में ईश्वर की भक्ति इसलिए होती है कि ईश्वर उदात्त, अतुलनीय, महान्-से-महान और अनन्त है और इन गुणों के कारण उसके प्रति आकर्षण, श्रद्धा और भक्ति होती है। निम्बार्क ने इस ऐश्वर्य प्रधान भक्ति के स्थान पर माधुर्य प्रधान भक्ति की शिक्षा दी। भगवान् के ऐश्वर्य से उसकी ओर आकृष्ट होना धर्म-साधना का आरम्भ मात्र है। सच्ची साधना तो उसके प्रेम तथा जीवन्त साहचर्य में बँधना है, उसकी मधुरिमा का आस्वादन करना है और उसे मधुर रूप में देखना है। जीव और ईश्वर के सम्बन्ध में माधुर्य भाव का पुट देना निम्बार्क का ही काम था।'[1]

परब्रह्म कृष्ण के साथ राधा की उपासना का समावेश

श्रीकृष्ण को परब्रह्म मानकर उनके साथ राधा की उपासना को समाविष्ट करके ऐश्वर्य प्रधान भक्ति के स्थान पर माधुर्य प्रधान भक्ति को पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित करने वाले निम्बार्काचार्य ही हैं। उन्होंने अपने दशश्लोकी नामक स्तोत्र में राधा को कृष्ण की मूल प्रकृति[2] मानते हुए सदा राधा कृष्ण की माधुर्य प्रधान भक्ति पर ही जोर दिया है। ब्रह्म में

१ हिन्दी साहित्य-कोश, पृष्ठ ३८।

२ अङ्गे तु वामे वृषभानुजां मुदा
विराजमानामनुरूपसौभगाम्।
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा
स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्॥

—दशश्लोकी निम्बार्काचार्य।

भिन्न होते हुए भी उसमें अपने अस्तित्व का विलयन करना ही जीव की चरम साधना का मधुर गोपन है। जीव और ब्रह्म के इस आंतर मिलन की साधना लीला-पुरुषोत्तम कृष्ण और अपूर्व माधुर्य रस आगरी श्री राधा की युगलोपासना से ही चरितार्थ होती है।

राधा कृष्ण की युगलोपासना का रहस्य

निम्बार्क सम्प्रदाय में राधा कृष्ण की युगलोपासना के रहस्य को बतलाते हुए कहा गया है कि भगवान के पुरुष विग्रह में जिस तरह श्रीकृष्ण मूर्ति प्रधान है स्त्री विग्रह में उसी तरह श्री राधिका मूर्ति प्रधान है। श्री राधिका भगवान की आह्लादिनी शक्ति हैं। सत चित और आनन्द-स्वरूप परब्रह्म की आह्लादिनी शक्ति ही उसकी विशेषता है। सत चित सत्ता और चैतन्य तो जीव में भी पाये जाते हैं ब्रह्म की विशेषता उसका सच्चिदानन्दमय रूप है। राधा उसी सच्चिदानन्दमयता को रूप देने वाली आह्लादिनी शक्ति है। इसलिए राधिका अन्य गोपियों से श्रेष्ठ हैं।[1]

भगवान के साथ संयुक्त रूप में स्त्री मूर्ति की भक्तिपूर्वक अर्चना करने से स्त्री-मूर्ति के प्रति काम भाव का तिरोभाव हो जाता है और स्त्री पुरुष के मिथुनीकृत भाव का भगवल्लीला के रूप में दर्शन करते करते साधक सहज ही निष्ठा प्राप्त करके तद्विषय में निमग्नत्व प्राप्त करता है। इसीलिए तो भावुक भक्तगण श्रीकृष्ण के वामांग में विराजिता श्रीकृष्ण के अनुरूप ही सौन्दर्यादि गुणों से समन्विता नित्य निरंतर सहस्र सहस्र सखियों से परिसेविता तथा भक्त जनों की अभीष्ट प्रदायिका प्रसन्न वदना वृषभानु नंदिनी श्री राधा का ध्यान करते हैं।[2] श्री भट्ट रचित जुगलसत तथा हरिव्यास रचित महावाणी इस सम्प्रदाय के दो प्रमुख ग्रंथ हैं जिनमें राधा कृष्ण के नित्य विहार का वर्णन ही व्यापक एवं सरस निरूपण किया गया है।

हिन्दी के सभी निर्गुणिया संतों तथा सगुणोपासक भक्तों पर निम्बार्काचार्य के द्वैताद्वैतवाद अथवा भेदाभेदवाद का सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों रूपों में स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध को बतलाने के लिए उन्होंने जिन रूपकों का प्रयोग किया है उनसे यह स्पष्टतः सिद्ध हो जाता है। जैसे बूंद में सागर है और सागर में बूंद है वैसे ही जीव में ब्रह्म है और ब्रह्म में जीव है। इस प्रकार के रूपकों से यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों का तत्त्ववाद भेदाभेद या द्वैताद्वैत पर ही आश्रित है। अतएव सगुणोपासक मधुर रसवादी भक्तों के राधा-कृष्ण का जो नित्य प्रेम विहार है वह निर्गुणिया संतों के राजाराम और उनकी सुरति सुन्दरि के अलौकिक प्रणय-व्यापार से भिन्न नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार दार्शनिक दृष्टि से बंगाल में वैष्णव मधुर रस-साधना का प्रेरक स्रोत द्वैताद्वैतवाद का सिद्धान्त ही है।

शुद्धाद्वैतवाद

शुद्धाद्वैतवाद के प्रवर्तक श्री विष्णुस्वामी भी दाक्षिणात्य वैष्णव आचार्य थे। सिद्धान्त में मध्वाचार्य के मतानुयायी थे किन्तु इन्होंने मध्वाचार्य के द्वैतवाद में थोड़ा-सा

१ मध्यकालीन धर्म साधना डॉ० ह० प्र० द्विवेदी पृ० १८३।

२ वनदलचर्म्येन्दु निम्बार्काचार्य द्रष्टव्य।

परिवर्तन करके शुद्धाद्वैत के दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इन्होंने अद्वैतवाद से माया को हटाकर, कारण रूप और कार्य रूप दोनों प्रकार से ब्रह्म को शुद्ध माना। इनके मतानुसार माया रहित ब्रह्म ही अद्वैत तत्त्व है। सारा जगत प्रपंच उसी का लीला विलास है। इस सिद्धान्त के अनुसार सब-कुछ ब्रह्म ही है मायिक नहीं। विष्णुस्वामी ने राधाकृष्ण की भक्ति को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया है। नाभादास के 'भक्तमाल' के अनुसार विष्णु सम्प्रदाय या रुद्र सम्प्रदाय में ही ज्ञानदेव, नामदेव त्रिलोचन आदि सन्त हुए और उन्हीं की परम्परा में दाक्षिणात्य वल्लभाचार्य का आविर्भाव (१४७६ ई०) हुआ जिन्होंने विष्णुस्वामी के शुद्धाद्वैतवाद की पूर्ण स्थापना की तथा पुष्टि मार्ग का प्रवर्तन किया। इसीलिए वल्लभाचार्य को इस मत का मुख्य दार्शनिक आचार्य कहा जाता है। वल्लभाचार्य ने अपने मत के प्रतिपादन के लिए अणुभाष्य, जैमिनि पूर्व मीमांसा सूत्रभाष्य', सुबोधिनी तत्त्वदीपनिबन्ध' आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की।

वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत में शंकराचार्य के मायावाद को सर्वथा अस्वीकार किया गया है। इस प्रकार दार्शनिक दृष्टि से माया से रहित अद्वैत ही शुद्धाद्वैत है। वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत में ज्ञान से अधिक महत्त्व भक्ति को दिया गया है क्योंकि ज्ञान मार्ग से ब्रह्म का केवल निरूपण किया जा सकता है किन्तु भक्ति मार्ग से उसकी साक्षात स्वानुभूति ही होती है। जिस प्रकार रामानन्द ने रामानुजाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त को मानते हुए अपनी विशिष्ट उपासना पद्धति का प्रवर्तन किया उसी प्रकार वल्लभाचार्य ने विष्णुस्वामी के दार्शनिक सिद्धान्त को ग्रहण करके अपने पुष्टि मार्ग का प्रवर्तन किया।

वल्लभाचार्य का पुष्टि-मार्ग

वल्लभाचार्य ने श्रुति स्मृति को एकमात्र प्रमाण मानकर सभी पदार्थों को ब्रह्मस्वरूप माना। वह एक और अद्वितीय सत है। उपनिषदों ने उसको ब्रह्म कहा गीता ने पुरुषोत्तम और भागवत ने परमात्मा या कृष्ण। कृष्ण ही ब्रह्म ईश्वर या परमात्मा हैं। वे सविशेष हैं पर निर्विशेष भी हैं सगुण हैं पर निर्गुण भी हैं अणु हैं पर महान भी है चर हैं पर कूटस्थ या अचर भी हैं गम्य हैं पर अगम्य भी हैं। वे विरुद्ध धर्मों या गुणों के आश्रय है। वे सत चित और आनन्द हैं। उनके सभी गुण उनसे स्वभावत अभिन्न हैं वे उनकी शक्ति या माया नहीं हैं। उनके स्वरूप से ही समस्त जगत आविर्भूत होता है और ऐसा होने पर भी वह अविकृत रहता है। इस मत को स्वरूप-परिणामवाद कहा जाता है। जगत कार्यरूप से ब्रह्म ही है। जगत की उत्पत्ति और नाश नहीं होता प्रत्युत आविर्भाव और तिरोभाव होता है। अनुभव-योग्य होने पर जगत का आविर्भाव होता है और अनुभव-योग्य न होने पर जगत का तिरोभाव। इस मत में ईश्वर की इच्छा के विलास से प्रादुर्भूत पदार्थ को जगत कहते हैं और अविद्या या अज्ञान के द्वारा जीव से कल्पित ममता-अहंता रूप पदार्थ को संसार कहते हैं। संसार की सत्ता अविद्या के कारण है। ज्ञानोदय से संसार का नाश होता है पर जगत् ब्रह्म रूप होने से सदा अविनाशी और सत्य रहता है।'[1]

---

१ 'हिन्दी-साहित्यकोश, पृ ७६९ ७।

'ब्रह्म सत्य जगत् सत्य मिथ्या संसार केवलम्'—वल्लभाचार्य।

लीला के लिए सारी सृष्टि ब्रह्म की आत्मकृति है

वल्लभाचार्य ने सारी सृष्टि को ब्रह्म की आत्मकृति माना है। ब्रह्म की लीला ही इसका कारण है। अपने-आपको अपने अनन्त रूप जीवों में विकीर्ण करना ही ब्रह्म की लीला है। लीला नाम है विलास की इच्छा का। किसी प्रयोजन से रहित क्रिया को ही लीला कहते हैं। उस क्रिया से बाहर किसी कार्य की सृष्टि नहीं होती और उत्पन्न हुआ कार्य भी अभीष्ट नहीं होता और न वह क्रिया कर्ता में रंचमात्र भी प्रयास की सृष्टि करती है। अपितु अन्तःकरण में पूर्ण आनन्द भर जाने से उस आनन्द के उल्लास में कार्योत्पादन के समान एक क्रिया उत्पन्न होती है उसी का नाम लीला है। उसका कोई अन्य प्रयोजन नहीं लीला ही लीला का प्रयोजन है।[1] वल्लभाचार्य के मतानुसार ब्रह्म के तीन रूप हैं—परब्रह्म या पुरुषोत्तम अन्तर्यामी और अक्षरब्रह्म। परब्रह्म या पुरुषोत्तम ब्रह्म का आधिदैविक रूप है अन्तर्यामी सर्वत्र आत्माओं में अवस्थित है तथा अक्षरब्रह्म ब्रह्म का आध्यात्मिक रूप है। परब्रह्म आनन्दघन हैं तथा अन्तर्यामी और अक्षरब्रह्म आनन्द लेश हैं। अक्षरब्रह्म के चार रूप हैं—अक्षर काल कर्म और स्वभाव। पुरुष और प्रकृति के रूप में अक्षर ही प्रत्येक वस्तु का उपादान और निमित्त कारण है। जिस प्रकार अग्नि से अगणित स्फुलिंग उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार अक्षर ब्रह्म से अनेक जीवों और जगत की उत्पत्ति होती है। अतएव जैसे अग्नि और स्फुलिंग स्वरूप से एक हैं वैसे ही ब्रह्म और जीव का भी स्वरूप ऐक्य है। किन्तु जीव ब्रह्म नहीं उसका एक अंशमात्र है सेवक है। इस प्रकार जीव अणु है विभु नहीं। वह ज्ञाता कर्ता और भोक्ता है। अपनी सत्ता के कारण जीव की शक्तियाँ अत्यन्त परिसीमित हैं किन्तु ब्रह्म की शक्तियाँ अपरिमित हैं।

वल्लभाचार्य के मतानुसार परब्रह्म श्रीकृष्ण ही सम्पूर्ण दिव्य गुणों से युक्त होकर पुरुषोत्तम कहे जाते हैं। कृष्ण के इसी पुरुषोत्तम रूप में आनन्द की पूर्ण निष्पत्ति होती है। वे अपने भक्तों के आनन्द के लिए व्यापी वैकुण्ठ में अनन्त क्रीडाएँ करते रहते हैं। उसी की प्राप्ति भक्त का चरम लक्ष्य माना गया है। व्यापी वैकुण्ठ की नित्यलीला सृष्टि (गोलोक) में प्रवेश करना ही जीव की उत्तम गति है। पुरुषोत्तम कृष्ण की समस्त लीलाएँ नित्य हैं। भगवल्लीला का एकमात्र प्रयोजन आनन्द प्राप्ति और आनन्द दान ही है। यही आनन्द-तत्व मधुर रस-साधना का प्राण है। वल्लभाचार्य के मत से ज्ञान मार्ग और कर्म मार्ग दुःसाध्य हैं। उनकी दृष्टि में भक्ति-मार्ग ही सर्वजन-सुलभ तथा सहज-साध्य है। भक्ति की साधना के लिए वल्लभाचार्य ने प्रेम को सर्वाधिक प्रश्रय दिया। श्रद्धा या पूज्यबुद्धि को उन्होंने प्रेमलक्षणाभक्ति का सहायक उपकरण माना। माहात्म्य ज्ञान पूर्वक सुदृढ़ एवं सर्वोपरि स्नेह ही एकमात्र मुक्ति दायिनी भक्ति है।[2] जिस प्रकार ज्ञान की चरम सीमा नाना और नय की एकता है उसी

---

१ लीलानाम विलासेच्छा। कार्यव्यतिरेकेण कृतिमात्रम्। न तया कृत्या बहिः कार्यं जन्यते। जनितमपि कार्यं नाभिप्रेतम्। नापि कर्तरि प्रयासं जनयति। किन्त्वन्तःकरणे पूर्णानन्दे तदुल्लासेन कार्यजननसदृशी क्रिया काचिदुत्पद्यते। तत्र नहि किंचित् प्रयोजनमस्ति लीला एव प्रयोजनत्वात्।
—सुबोधिनी (भागवत तृतीयस्कंध)।

२ माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा॥—पांचरात्र।

प्रकार प्रेमभाव की चरम-सीमा आश्रय और आलम्बन की एकता है। अतः भगवद् भक्ति की साधना के लिए इसी प्रेमतत्व को वल्लभाचार्य ने सामने रखा और उनके अनुयायी कृष्ण भक्त कवि इसी को लेकर चले।[1] इस प्रेम-साधना में लोक मर्यादा और वेद-मर्यादा के त्याग को विधेय ठहराया गया।

वल्लभाचार्य के मतानुसार प्रेमलक्षणाभक्ति की ओर भगवदनुग्रह से ही जीव की प्रवृत्ति होती है। यह स्नेहोदय भगवान् के अनुग्रह के बिना सम्भव नहीं है। भगवान् के इस अनुग्रह को पोषण या 'पुष्टि' कहते हैं। वल्लभाचार्य ने इसी को पुष्टि-मार्ग (Path of Devine Grace) कहा है, जिसका प्रचुर प्रभाव सभी वैष्णव भक्त कवियों पर पड़ा है।

ब्रह्म-सम्बन्ध और ताप

स्नेह साधना में सद्गुरु को ही ईश्वर की प्रीति का प्रदाता माना गया है। साधक और साध्य का स्नेहपूर्ण सम्बन्ध सद्गुरु की सहायता के बिना स्थापित नहीं किया जा सकता। इसी को पुष्टि मार्ग में 'ब्रह्म सम्बन्ध' कहते हैं। 'ब्रह्म सम्बन्ध' के बाद ही मिलनेच्छा प्रबल हो उठती है, जिसे ताप कहा जाता है। यह ताप ही पुष्टि-साधना का मुख्य तत्त्व है। पुष्टि मार्ग के प्रसिद्ध व्याख्याता श्री हरिरायजी के मतानुसार जिस मार्ग में लौकिक तथा अलौकिक सकाम तथा निष्काम सब साधनों का अभाव ही श्रीकृष्ण की स्वरूप प्राप्ति में साधन है अथवा जहाँ जो फल है वही वह साधन है उसे पुष्टि-मार्ग कहते हैं। जिस मार्ग में समस्त सिद्धियों का एकमात्र कारण भगवान् का अनुग्रह ही है जहाँ देह के अनेक सम्बन्ध ही साधन रूप बनकर भगवान की इच्छा के बल पर फल रूप सम्बन्ध बनते हैं जिस मार्ग में भगवद् विरहावस्था में भगवान् की लीला के अनुभव-मात्र से संयोगावस्था का सुख अनुभूत होता है और जिस मार्ग में सब भावों में लौकिक विषय का त्याग है और उन भावों के सहित देहादि का भगवान् को समर्पण है वह पुष्टि मार्ग कहलाता है।[2]

पुष्टि के भेद

वल्लभाचार्य ने चार प्रकार की पुष्टि भक्ति का वर्णन किया है—प्रवाह पुष्टि मर्यादा पुष्टि, पुष्टि पुष्टि और शुद्ध पुष्टि। संसार में रहते हुए गृहस्थ जीवन-यापन करते हुए श्रीकृष्ण की भक्ति करने वाले प्रवाह पुष्टि भक्ति करते हैं। संसार के वैषयिक सुख से विमुख होकर ईशगुणगान, चिंतन कीर्तन करने वाले मर्यादा पुष्टि भक्ति की साधना करते हैं। पुष्टि-पुष्टि भक्ति के साधक पहले ईश्वर की कृपा प्राप्त कर भक्त बनते हैं और फिर ईश्वरानुग्रह-लाभ कर अधिकाधिक ब्रह्म ज्ञान और हरि भक्ति के अधिकारी माने होते हैं। शुद्ध पुष्टि भक्ति पथ के साधक भगवान् से अमित प्रेम करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करते। वे सर्वतोभावेन कृष्णमय हो जाते हैं। प्रेम, आसक्ति और व्यसन इनके तीन सोपान हैं। शुद्ध पुष्टि भक्ति का उदाहरण गोपियों की भक्ति है। इस कोटि के भक्त सायुज्य मुक्ति का

---

१ रीतिकालीन कविता और शृंगार रस का विवेचन डॉ० रा० प्र० चतुर्वेदी, पृ० १६०।
'पोषणं तदनुग्रहः।' —भागवतपुराण द्वि० स्कन्ध, अ० १०, श्लो० ४ द्रष्टव्य।

२ 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' में 'श्री पुष्टिमार्ग लक्षणानि' नामक निबन्ध द्रष्टव्य।

भी निरस्कार कर भगवान् की रासलीला मे भाग लेने को ही परममुक्ति मानते हैं। श्रीकृष्ण रसराज निखिल सौन्दय रसानन्द मूर्ति है तथा सभी रसो को विशेषत मधुर रस को प्रकाशित करने वाले है। वे अपने भक्तो के सम्बन्ध म मधुर रस क सयोग और विप्रलम्भ दोनो रूपो का अभिव्यक्ति करत हैं। प्रपत्ति स करुणावत्सल भगवान आप ही आप पुष्टि द देते हैं। इस प्रकार प्रपत्ति से ही पुष्टि का आरम्भ होता है।

पुष्टि भेद के अनुरूप तीन प्रकार के जीव माने गए हैं—पुष्टि जीव मर्यादा-जीव और प्रवाह-जीव। ईश्वर का परम कृपा पात्र बनकर ईश्वर से अनन्य प्रम करने वाले पुष्टि-जीव हैं। वेद विहित माग से ईश्वर की पूजा करने वाले तथा वेदाध्ययन करने वाले स्वर्गाकाक्षी मनुष्य मर्यादा जीव कहलाते हैं। ससार प्रवाह म बहने वाले और वषयिक सुख भोग से आन्दोलित निरद्दश्य जीवन बिताने वाले प्राणी को प्रवाह जीव की सज्ञा दी गई है।

राधा कृष्ण भक्तिमार्गी मधुर रस-साधना के विकास की दृष्टि से वल्लभाचाय के पुष्टि माग के तीन महत्वपूण तत्त्व हैं—गोप और गापिया क जीवन का भक्तो द्वारा अनुकरण गापिया का कृष्ण प्रम की वास्तविक अधिकारिणी हाना तथा सासारिक जावन-यापन करत हुए राधा कृष्ण भक्ति क लीला रस स आप्यायित हाना। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रवाह पुष्टि क नाम पर अनक ससी सम्प्रदायो की स्थापना होने लगी तथा लौकिक शृगार रस की धारा वगपूवक प्रवाहित हाने लगी।

निम्बार्काचाय और मध्वाचाय ने अपने-अपने दार्शनिक एव साम्प्रदायिक सिद्धान्तो के अनुसार जिस राधा कृष्ण मार्गी मधुर रस-साधना का सूत्रपात किया उसे सबसे पहले भक्ति काव्य-क्षेत्र क अन्तगत प्रगल्भ रूप म प्रस्तुत करने का अभिनन्दनीय प्रयास महाकवि जयदेव ने किया। इन महापुरुषो क सत्प्रयास स वल्लभाचाय के समय तक राधाकृष्ण की युगलोपासना का पर्याप्त प्रचार प्रसार हो चुका था जिसके परिणामस्वरूप मधुर रस की मन्दाकिनी बड वेग क साथ प्रवाहित हान लगी थी। श्री वल्लभाचाय ने अपने पुष्टि माग की शास्त्रोक्त व्यवस्था द्वारा राधा कृष्ण को प्रम-लक्षणाभक्ति तथा मधुर रस साधना को उत्कष पर पहुचा दिया। इनक अनयायी भक्त-कवियो म अष्टछाप के सिरमौर महाकवि सूरदास अग्रगण्य हैं। सूरदास न भगवद्विषयक रति भाव के तीन प्रमुख रूप—सख्य रति वात्सल्य रति और दाम्पत्य रति को अपना कर रागात्मिका भक्ति को प्रतिष्ठित किया तथा सायुज्य मुक्ति का माग-दशन किया। सूरदास की तात्त्विक सफलता इसी म है कि सच्च प्रम-माग क त्याग और पवित्रता का ज्ञान माग क त्याग और पवित्रता क समकक्ष रखन म व खूब सफल हुए हैं साथ ही उन्होने उस त्याग को रागात्मिका-वृत्ति द्वारा प्रेरित सिद्ध कर भक्ति-माग या प्रम माग की सुगमता का प्रतिपादन भी किया है।[1] महाकवि सूर एव अन्य कृष्ण भक्तकवियो के सत्प्रयास स समस्त उत्तर भारत म राधा-कृष्ण की प्रमलक्षणाभक्ति के प्रचार प्रसार द्वारा मधुर रस की प्रमादवल्ल पयस्विनी प्रवाहित हान लगी जिसन मध्यकालीन सभी प्रकार क निगुण सगुण-साधना-क्षेत्रो को आप्लावित कर दिया। राधावल्लभीय आदि कई राधा भाव प्रधान सम्प्रदायो की स्थापना होन लगी जहाँ राधा-कृष्ण क नित्यविहार की अलौकिक लीलाओ की अनवरत मधुर भाव भूमियो का सृष्टि की जान लगी। यहा तक कि इसक प्रभाव म

१ [illegible] डॉ० रा प्र० चतुर्वेदी [illegible] १६-।

विधि निषेध और मर्यादावाद के कठिन कगारा से प्रवाहित होने वाली राम भक्ति धारा म भी मधुरोपासना के कमनीय कमल खिलने लग गये। मर्यादापुरुषोत्तम राम और सीता की माधुय विभूतिया की गतश अभिव्यजना की जाने लगी और उसके समथन म संहिता ग्रन्था की रचनाए भी की जाने लगी।

अचिन्त्यभेदाभेदवाद

अचिन्त्यभेदाभेदवाद के दार्शनिक सिद्धात के प्रतिष्ठापक महाप्रभु चैतन्य हैं। उन्होंने अपने जीवन म ही वृन्दावन की गोपिया की आनन्दमयी भाव विह्वलता की अनुभूति प्राप्त की थी। उन्हे स्वय श्री राधा की गम्भीर विरह-वेदना की पूण अनुभूति हुआ करती थी और उस महाभाव दशा म उनके भावाकुल नेत्रो से प्रमाश्रु की धारा प्रवाहित होने लग जाती थी शरीर रोमाचित हो उठता था और व बाह्य सज्ञा शून्य हो जाते थे। श्री चैतन्य ने भगवान के प्रति रागमयी भक्ति पर विशेष बल दिया है। 'जिस प्रकार कोई पर-पुरुष-अनुरक्ता परकीया नारी गृह-कार्यों म व्यस्त रहती हुई भी अपने हृदय म अवध प्रेम की आनन्दानुभूति के लिए व्यग्र रहा करती है उसी प्रकार भक्त भी अपने लौकिक कतव्या म सलग्न रहने पर भी प्रियतम प्रभु के रसमय ध्यान म मग्न रहता है।'[1]

ब्रह्म और जीव का भेदाभेद

इसी परकीया भाव को अपनी भक्ति भावना का आदश मानकर श्री चैतन्य ने चैतन्य या गौडीय वष्णव सम्प्रदाय की स्थापना की तथा इस दार्शनिक आधार पर प्रतिष्ठित करने के लिए अचिन्त्यभेदाभेद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इस दार्शनिक सिद्धात के अनुसार ब्रह्म और जीव म भेद भी है और अभेद भी। ब्रह्म और जीव तात्विक रूप स चित हैं। अत दोनो म अभेद है। लेकिन ब्रह्म अशी है और जीव अश है ब्रह्म विभु चित है और जीव अणु चित है ब्रह्म सवज्ञ तथा सवशक्तिमान् है और जीव अल्पज्ञ एव लघुशक्ति वाला है, ब्रह्म परमानन्दघन विग्रह है और जीव माया ग्रस्त हो दुख भोगने वाला है। अतएव ब्रह्म और जीव म स्पष्ट भेद है। ब्रह्म और जीव के इस भेदाभेद सम्बन्ध को साप और उसकी कुण्डली कस्तूरी और उसकी गध तथा अग्नि और उसके स्फुलिंग के उदाहरणो द्वारा स्पष्ट किया गया है और कहा गया है[2] कि जीव-तत्त्व और ब्रह्म-तत्त्व के सम्बन्ध म गीता विष्णु पुराणादि का भी यही प्रमाण है। भगवान् श्रीकृष्ण ही परमतत्त्व हैं और उनकी अनन्त शक्तिया हैं। जीव भगवान् की शक्ति है और भगवान स्वय सवशक्तिमान हैं। ब्रह्म सजातीय

१ परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकमसु।
तदेवास्वादयत्य त परसगरसायनम्॥
—पचदशी ६।८४

२ ईश्वरेर तत्त्व येन ज्वलित ज्वलन।
जीवेर स्वरूप यैछे स्फुलिगेर कण॥
जीव तत्त्वशक्ति, कृष्णतत्त्व शक्तिमान्।
गीता विष्णु पुराणादि ताहाते प्रमाण॥
—चैतन्यचरितामृत, आदिलीला ७ ११६ ११७।

विजातीय और स्वगत—तीनो भेदो से परे है। वह स्वय सिद्ध है किन्तु जीव और प्रकृति के सम्बन्ध मे ऐसी बात नही की जा सकती। इस प्रकार जीव और ब्रह्म म भेद भी है और अभेद भी। इसीलिए जीव तत्त्व और ईश्वर तत्त्व के इस विलक्षण सम्बन्ध को भेदाभेद की सज्ञा दी गई है।

शक्ति और शक्तिमान म न तो परस्पर भेद ही सिद्ध किया जा सकता है और न अभेद ही। अतएव जीव और ब्रह्म का यह भेदाभेद सम्बन्ध तक द्वारा अचिन्त्य है। श्री रूप गोस्वामी ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि अचिन्त्य अनन्त शक्तियो के कारण एक ही परम पुरुष म एकत्व और पृथक्त्व अशत्व और अशित्व का रहना कदापि अयुक्त नही रहता।[1]

श्री रूपगोस्वामी के अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण म उनकी स्वरूप आदि शक्तियो से अभिन्न रूप से चिन्तन करना अशक्य होने के कारण भिन्न प्रतीत होता है और उनसे भिन्न रूप से चिन्तन करना भी अशक्य है। अत वह अभिन्न प्रतीत होता है। वस्तुत शक्ति और शक्तिमान म भेद और अभेद दोनो की प्रतीति होती है और दोनो ही अचिन्त्य शक्ति हैं। इसीलिए इसे अचिन्त्यभेदाभेद कहा गया है।[2]

ब्रह्म का स्वरूप

दशन की इस पद्धति म हरि परम सत भगवान् या ईश्वर है। उसकी अग-कान्ति निर्विशेष ब्रह्म है। उसका एक अशमात्र ही परमात्मा है जो ससार म अन्तर्यामी है। हरि अशी है और परमात्मा उसी का अश है। पूर्ण श्री पूर्ण ऐश्वय पूर्ण वीय पूर्ण यश पूर्ण ज्ञान और पूर्ण वराग्य—इन षट ऐश्वर्यों की एकता हरि ही हैं। इनम श्री गुण केन्द्र स्थानीय है और अय सभी इसके अग भूत हैं। हरि या ब्रह्म शब्द का मुख्य अथ परम ब्रह्म स्वय भगवान है। वे षट ऐश्वय-पूर्ण और अनूद्ध हैं।[3] भगवान शुद्ध सत्त्वमय चिदानन्द स्वरूप हैं उनका धाम उनके परिकर वग सभी उन्ही के समान हैं। अपनी परिपूर्णता के अथ म हरि कृष्ण राधा के एक्य म युगल मूर्ति हैं। कृष्ण राधा परस्पर भक्ति और प्रम के अपरिहाय बन्धन से बध हैं—हरि आध्यात्मिक है। वह विशुद्ध सत्त्व है। वह अनन्त सान्त सवत्र और एकत्र सब हो सकता है क्योकि यही तो उसकी अचिन्त्य शक्ति का लक्षण है। इस शक्ति के कारण हरि सूक्ष्म होकर भी विभु है।[4] भगवान् की सारी विभूतिया चिन्मय या अप्राकृत हैं।[5] उनकी

---

१ एकत्व पृथक्त्वञ्च तथांशत्व मुतांशिता।
तस्मिन्नेकत्र नायुक्तमचिन्त्यानन्तशक्तित ॥
—लघुभागवत रूपगोस्वामी १।८

२ स्वरूपादभिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वाद् भेद भिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वाद् अभेदश्च प्रतीयते इति शक्ति शक्तिमतोर्भेदाभेदौ अङ्गीकृतौ। तौ च अचिन्त्यौ। स्वमते तु अचिन्त्यभेदाभेदावेव अचिन्त्यशक्तिमत्वात्।
—भगवत्सन्दर्भ जीवगोस्वामी।

३ ब्रह्म शब्दे मुख्यअर्थे कहे भगवान्।
षडैश्वय-परिपूर्ण अनूर्द्ध समान ॥
—चै च आदिलीला, ७ १११

४ हिन्दी साहित्य कोश पृ० = ।

५ 'ताहार विभूति देह सब चिदाकार। —वही ७ ११२

अनन्त शक्तियाँ, उनका विकास, विलास स्तर तथा कार्य सभी नित्य हैं। ब्रह्म की शक्ति द्वारा निर्विशेष वस्तु सविशेषत्व को प्राप्त होती है।

ब्रह्म की तीन प्रमुख शक्तियाँ
स्वरूप-शक्ति, तटस्थ-शक्ति और माया-शक्ति

भगवान की अचिन्त्याकार शक्तियों में स्वरूप शक्ति, तटस्थ शक्ति और माया शक्ति प्रमुख हैं, जो उनके स्वरूप के ऊपर भी प्रभाव का विस्तार करती हैं। सत चित और आनन्द के कारण भगवान् की इस एकात्मिका स्वरूप शक्ति के तीन रूप है—संधिनी संवित और ह्लादिनी। संधिनी शक्ति द्वारा भगवान स्वयं सत्ता धारण करते हैं[1] तथा दूसरों को सत्ता प्रदान करते हैं। संवित् शक्ति द्वारा भगवान् स्वयं अपने को जानते है तथा अपने भक्तों को भी इसका ज्ञान कराते है। ह्लादिनी शक्ति द्वारा *भगवान् स्वयं आनंदित होते हैं और* अपने भक्तों को भी आनंदित करते हैं। विष्णु पुराण में कहा गया है कि हे भगवान! ह्लादिनी संधिनी और संवित—ये आपकी तीन स्वरूप शक्तियाँ एकमात्र आप में हैं जीव में नहीं। ह्लादकरी सात्विक शक्ति तापकरी तामसिक शक्ति और दोनों का मिश्रित रूप सुख दुःख देने वाली राजसिक शक्ति तुममें नहीं है। तुम इन त्रिगुणों से परे हो। ये सभी शक्तियाँ जीव में हैं।[2] स्वरूप शक्ति को चिच्छक्ति या अन्तरंगा शक्ति भी कहते हैं क्योंकि उसी के द्वारा लीला-पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण अन्तरंग विलास में प्रवृत्त रहते हैं। स्वरूप शक्ति की क्रिया द्वारा ब्रह्म, जो समस्त विशेषत्व धारण करते हैं वे सभी आनन्द वैचित्री हैं। आनन्द अपने *आपमें आस्वाद्य है और उसका आस्वादन ब्रह्म की स्वरूप शक्ति के प्रभाव से साधित हो रहा* है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म आनन्द स्वरूप हैं। अतः वे स्वयं आस्वाद्य अर्थात् स्वयं रस हैं तथा अपनी स्वरूप शक्ति की क्रियाशीलता द्वारा उसका आस्वादन कर रहे है। इस तरह ब्रह्म स्वयं आस्वाद्य और आस्वादक दोनों हैं। अतः जो ब्रह्म है वही रस है और जो रस है वही ब्रह्म है। ब्रह्म को रस-स्वरूप कहने का यही कारण है। तैत्तिरीयोपनिषद में 'रसो वै सः' के द्वारा आनन्द रूप ब्रह्म के इसी रस स्वरूप का उद्घाटन किया गया है। रस और ब्रह्म एक ही तत्त्व के दो भिन्न नाम हैं।[3]

भगवान की तटस्थ शक्ति परिच्छिन्न स्वभाव वाले अणु-स्वरूप जीवों के आविर्भाव का कारण है। इसीलिए इसे जीव-शक्ति भी कहते हैं। यह अन्तरंगा चिच्छक्ति और बहिरंग माया शक्ति दोनों में से किसी में अन्तर्भुक्त नहीं है। माया शक्ति प्रकृति तथा जगत के आविर्भाव का

---

१ सच्चिदानन्द पूर्ण कृष्ण रूपेर स्वरूप।
एकइ चिच्छक्ति तॉर धरे तीन रूप॥
आनन्दांशे ह्लादिनी, सदंशे संधिनी।
चिदंशे संवित् यारे ज्ञान करि मानि॥ —चै० च०, आ० ली० ४ ६१ ६३।

२ ह्लादिनी संधिनी संवित्त्वय्येका सर्वसंस्थितौ।
ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते॥
—वि० पुराण, प्रथमांश, अ० १२, श्लो० ६९।

३ मध्ययुगीन साहित्य रामपूजन तिवारी, पृ० ७३।

कारण है। इसका कार्य क्षेत्र प्राकृत ब्रह्माण्ड है। यह स्वरूप शक्ति का विलोम है। जीव शक्ति मे स्वरूप शक्ति और माया-शक्ति दोनो की विशेषताओ का समावेश है। अत जीव साक्षात सच्चिदानन्द भी है और उससे भिन्न भी है। त्रिगुणात्मिका (सत्त्व रज और तम) माया शक्ति को गुणमाया कहते है जो ईश्वर की शक्ति से जगत मे गौण उपादान के रूप मे परिणत होती है। माया शक्ति के कारण जीव अविद्याग्रस्त होकर भगवान से अपने वास्तविक सम्बन्ध को भूल जाता है इसे जीव-माया कहते हैं। इनके अतिरिक्त श्रीकृष्ण की एक और शक्ति 'योगमाया' है। यह चिच्छक्ति का एक और मूर्त विग्रह है। इसका क्षेत्र चिन्मय भगवद् धाम है। यह श्रीकृष्णलीला मे सहायता प्रदान कर लीला रस का आस्वादन कराती है यह लीला मे भक्तगण और परिकरो मे मुग्धत्व उत्पन्न कर लीला रस-वैचित्र्य के आस्वादन का सुयोग प्रदान करती है।

भगवान् के ऐश्वर्य-रूप और माधुर्य रूप

भगवान के दो रूप हैं—ऐश्वर्य रूप और माधुर्य रूप। ऐश्वर्य रूप मे भगवान परात्पर है जिसकी सिद्धि ज्ञान-मार्ग से होती है। माधुर्य रूप मे भगवान मानव देह धारण कर मानवोचित व्यवहार करता है और भक्त अपने स्वभाव और रुचि के अनुसार शान्त दास्य, सख्य वात्सल्य और मधुर भाव से उसकी उपासना करता है। चैतन्य मत मे भगवान के इसी माधुर्य रूप को प्रश्रय दिया गया है जिसमे कान्ता भाव को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। भगवान् को अपने प्रियतम के रूप मे ग्रहण करके अलौकिक आनन्द लाभ करने को ही चैतन्य-मत मे पंचम पुरुषार्थ माना गया है जो चतुर्विध पुरुषार्थ से श्रेष्ठ है। चैतन्य मत मे इसी मधुर भाव के अतिशय उत्कर्ष एव प्रमात्मानन्द का उज्ज्वल रस अथवा मधुर रस की संज्ञा दी गई है। वैष्णव रस साधना मे शान्त दास्य सख्य वात्सल्य और मधुर—ये पाच मुख्य रस माने गये हैं तथा शेष सात रसो को गौण बतलाया गया है। इनमे मधुर रस को रसराज के रूप मे प्रतिष्ठित किया गया है।

श्रीकृष्ण-तत्त्व

चैतन्य मत मे श्रीकृष्ण-तत्त्व की प्रधानता है। श्रीकृष्ण स्वय भगवान पूर्ण ज्ञान पूर्णानन्द परमेश्वर और परमतत्त्व हैं।[१] अन्य सभी अवतार प्रथम पुरुष महाविष्णु के अंश या कला हैं किन्तु एकमात्र कृष्ण स्वय भगवान हैं तथा सभी अवतारो के शिरोमणि हैं।[२] अन्य अवतारो की अपेक्षा श्रीकृष्ण मे ही लीलाविलासमयी शक्ति का अपूर्व विकास हुआ है। किन्तु श्रीकृष्ण मे ब्रह्म का ऐश्वर्य-शक्ति और माधुर्य शक्ति दोनों की पूर्णतम अभिव्यक्ति हुई है। अपने प्रकाश विशेष से श्रीकृष्ण ब्रह्म परमात्मा और भगवान्—ये तीन नाम धारण करते

१ स्वय भगवान् कृष्ण कृष्ण परतत्त्व।
पूर्ण ज्ञान पूर्णानन्द परम महत्त्व॥
—चै च आ ली २ ५।

२ अवतार सब पुरुषेर कला अंश।
कृष्ण स्वय भगवान् सर्व-अवतंस॥ —चै च, आ० ली २ ७।

हैं। भक्ति भावापन्न साधक के लिए श्रीकृष्ण का भगवान रूप ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। श्रीमद्भागवत[१] ब्रह्म संहिता[२] आदि में श्रीकृष्ण के उपर्युक्त स्वरूप की पुष्टि होती है।

श्रीकृष्ण आनन्द स्वरूप, रस-स्वरूप भावनिधि एवं लीलामय हैं। आनन्द की प्रेरणा एवं रसास्वादन की स्पृहा से ही वे लीला में प्रवृत्त होते हैं। श्रीकृष्ण की समस्त लीलाओं में नर-लीला ही सर्वश्रेष्ठ है।[३] इसके लिए उनके तीन प्रकार के वयसों (कौमार पौगण्ड और कैशोर) में उन्हें कैशोर ही अति प्रिय है क्योंकि इसी वयस द्वारा वे अपनी परम ह्लादिनी शक्ति श्री राधिका तथा अन्य गोपियों के साथ रासलीला का प्रवर्तन करते हैं।

धाम

लीला-पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की लीलाभूमि को ही धाम कहा गया है। श्रीकृष्ण-लीला से सम्बन्धित सभी धाम नित्यसिद्ध और चिन्मय हैं। श्रीकृष्ण के विग्रह और विभूति आदि गुणों के अनुरूप उनका परव्योम धाम है जो मायातीत है। इसके अन्तर्गत सत्य वैकुण्ठ वैकुण्ठ और अयोध्यादि धाम-समूह स्थित हैं। श्रीकृष्ण के सभी अवतार इन्हीं धामों में अवस्थान करते हैं। परव्योम धाम के ऊपर कृष्णलोक है जिसके द्वारका मथुरा तथा गोकुल भिन्न स्वरूप हैं। इन तीनों में गोकुल या व्रजधाम द्वारका तथा मथुरा के ऊपर है। इसी को गोलोक श्वेतद्वीप तथा वृन्दावन भी कहा गया है। गोलोक तथा व्रज में श्रीकृष्ण की नित्य लीला निरन्तर चलती रहती है। गोलोक तथा व्रजधाम स्वरूपतः एक होते हुए भी श्रीकृष्ण की पृथक पृथक लीलाओं के स्थान हैं। गोलोक में श्रीकृष्ण की नित्य तथा अप्रकट स्वकीया लीला चलती है तथा व्रज में उनका प्रकट अप्रकट परकीया विहार चलता रहता है।

श्रीकृष्ण लीला पुरुषोत्तम और रसिक शिरोमणि हैं। लीला रस आस्वादन के लिए वे व्रज में स्वयं विराजमान रहते हैं जहाँ उनके गोप वेश और गोप भाव के अनुरूप उनकी सतत लीला चलती रहती है। मथुरा और द्वारका की लीलाओं में ऐश्वर्य के साथ माधुर्य रूप भी विद्यमान रहता है किन्तु व्रज लीला में शुद्ध माधुर्य की ही प्रधानता रहती है। व्रज में ही श्रीकृष्ण के माधुर्य रूप का पूर्णतम विकास होता है। कृष्णोपासक वैष्णव रस-साधना के अंतर्गत श्रीकृष्ण का यही माधुर्य रूप मधुर रस का आश्रय है।

राधा तत्त्व

रूपगोस्वामी ने श्रीकृष्ण प्रेम के उत्तरोत्तर-अनुक्रम से स्नेह मान प्रणय राग अनुराग भाव तथा महाभाव भेद बतलाये हैं। यहाँ उनका सांगोपांग विवेचन न करके इतना बतलाना

१ श्रीमद्भागवत १।३।२८।

२ ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥ —ब्रह्मसंहिता अध्याय ५ श्लो० १।

३ कृष्णेर यतेक खेला सर्वोत्तम नरलीला।
नरवपु ताहार स्वरूप।
गोपवेश वेणुकर नव किशोर नटवर,
नरलीलार हय अनुरूप॥ —चै० च० म० लीला, २१ १०१।

हो पर्याप्त है कि महाभाव-दशा श्रीकृष्ण के प्रेम का परमोत्कर्ष है। महाभाव के दो स्तर बतलाये गए हैं—मोदन और मादन। इस मादन महाभाव की अवस्थिति एकमात्र राधा में है। श्री राधा श्रीकृष्ण प्रेम की घनीभूत चरमावस्था का प्रतीक हैं।[1] श्री राधा से ही नाना भाव और रस का विस्तार करने वाली श्रीकृष्ण की अन्य प्रेमिकाओं का प्रादुर्भाव हुआ है। श्री राधा के अंग प्रत्यंग में सम्पूर्ण सौन्दर्य की कान्ति उदभासित हो रही है। वह मूर्तिमती ह्लादिनी शक्ति हैं कृष्ण प्रेम की अधिष्ठात्री हैं। कृष्ण-सुख ही उनका एकमात्र काम्य है। *वस्तुत राधा श्रीकृष्ण की स्वरूप शक्ति हैं। श्रीकृष्ण की सभी आकांक्षाएं एवं कामनाएं* श्री राधिका में ही चरितार्थ होती हैं। श्रीकृष्ण विश्व मोहन हैं किन्तु श्री राधिका स्वयं श्रीकृष्ण को मोहित करनेवाली हैं। इसीलिए उन्हें परमपूज्या कहा गया है। श्री राधा श्रीकृष्ण से अभिन्न हैं किन्तु लीला रस के आस्वादन के लिए ही राधा-कृष्ण के युगल रूप का विधान है। श्री राधा का प्रेम श्रीकृष्ण के माधुर्य रूप का पूर्णतम विकास करने वाला है। गोपियां श्रीराधा की काय व्यूह रूपा हैं जो कान्तारस वर्विश्री के उल्लास तथा आस्वादन के लिए सहायिका हैं। श्रीकृष्ण वाञ्छा पूर्ति ही गोपी प्रेम का सार है क्योंकि प्रेम का सुख प्रियतम का सुख ही है। इसीलिए गोपी प्रेम को निर्मल उज्ज्वल दग्ध हेम के समान काम गन्ध हीन कहा गया है।[2]

जीव तत्त्व

ऊपर श्रीकृष्ण के अचिंत्य सर्वशक्तिमान स्वरूप की चर्चा की जा चुकी है और यह भी दिखलाया जा चुका है कि ब्रह्म और जीव में भेदाभेद संबंध है। किन्तु चैतन्य मत में जीव को ब्रह्म का अंश किस प्रकार से कहा गया है इसे स्पष्ट करने के लिए भगवान के स्वांश और *विभिन्नांश पर विचार करना आवश्यक है क्योंकि इन्हीं दोनों अंश रूपों में भगवान अनन्त* रूप धारण करते हैं तथा अनन्त वैकुण्ठ और ब्रह्माण्ड में लीला विस्तार कर रहे हैं। श्रीकृष्ण का स्वांश वासुदेवादि चतुर्व्यूह और सभी अवतारगण हैं तथा उनका विभिन्नांश जीव है। इस प्रकार श्रीकृष्ण के एक एक अंश का विस्तार-स्वरूप जीवतत्त्व है।[3] भगवान् श्रीकृष्ण और

---

१ ह्लादिनीर सार प्रेम प्रेमसार भाव।
भावेर परमकाष्ठा नाम महाभाव॥
महाभाव स्वरूपा श्री राधा ठाकुराणी।
सर्वगुणखानि कृष्णकान्ता शिरोमणि॥ —चैतन्य-चरितामृत (आदिलीला ४ ६८-६९)।

२ आत्मेन्द्रिय प्रीति वाञ्छा तारे बलि काम।
कृष्णेन्द्रियप्रीति-इच्छा धरे प्रेम नाम॥
कामेर तात्पर्य—निज सम्भोग केवल।
कृष्ण सुखतात्पर्य हय प्रेम प्रबल॥ —चै चरितामृत (आदि लीला ४ १६४-१६५)।

३ अद्वय-ज्ञान तत्त्व कृष्ण स्वयं भगवान्।
स्वरूप शक्तिरूपे तांर हय अवस्थान॥
स्वांश विभिन्नांश रूपे हइया विस्तार।
अनन्त वैकुण्ठ ब्रह्माण्डे करेन विहार॥
स्वांश विस्तार-चतुर्व्यूह अवतारगण।
विभिन्नांश जीव, तांर शक्ति ते गणन॥ —चै च म० ली० २२ ७-९।

उनके विभिन्नांश जीव के भेदाभेद संबंध को सूर्य और उसकी रश्मि के उदाहरण से भी स्पष्ट किया गया है। रश्मि के समान जीव श्रीकृष्ण का विभिन्नांश है।

जीव के दो भेद हैं—नित्य मुक्त और नित्यबद्ध। नित्यमुक्त जीव श्रीकृष्णोन्मुख नित्य पार्षद गण हैं जो श्रीकृष्ण-सेवा में रत होकर परमानन्द लाभ कर रहे हैं। श्रीकृष्ण से विमुख जीव को नित्यबद्ध कहा गया है जो जीवन मरण के चक्र में पड़कर चिरकाल तक त्रयतापों को सहते रहते हैं। साधु-संगति और श्रीकृष्ण की शरणागति से ही मायाग्रस्त नित्य बद्ध जीव को भव-चक्र से त्राण मिल सकता है।

पुरुषार्थ चतुष्टय (काम धर्म अर्थ, मोक्ष) जीवमात्र के काम्य हैं किन्तु नित्यमुक्त जीव इनकी उपेक्षा करते हैं तथा इनसे बढ़कर कृष्ण प्रेम को मानते हैं। चैतन्य मत में इसी लिए प्रेम को पंचम पुरुषार्थ कहा गया है।[1]

जगत्-तत्त्व

चैतन्य मत में जगत सत्यभूत पदार्थ है क्योंकि वह सत्य-संकल्प हरि की बहिरंग शक्ति का विलास है। श्रुति, स्मृति से भी जगत् की सत्यता सिद्ध होती है। ईशावास्योपनिषद के अनुसार भगवान ने शाश्वत काल तक यथार्थ भाव से अर्थों या पदार्थों का निर्माण किया।[2] विष्णु-पुराण के अनुसार भी यह जगत् आविर्भाव और तिरोभाव, सृष्टि और प्रलय आदि विकल्पों से युक्त होने पर भी अक्षय तथा नित्य है।[3] महाभारत ने भी सत्य भूतमय जगत की उद्घोषणा करके जगत की नित्यता को प्रमाणित किया है।[4] जिस प्रकार जंगल में रात्रि काल में पक्षियों की सत्ता रहती है उसी तरह प्रलय दशा में भी यह जगत ब्रह्म में अव्यक्त रूप में विद्यमान रहता है।

संक्षेप में नन्दनन्दन श्रीकृष्ण ही परमाराध्य हैं। उनकी लीला का परम धाम वृन्दावन ही सेव्य है। व्रजांगनाओं के द्वारा की गई रमणीय मधुरोपासना ही प्रामाणिक उपासना है। श्रीमद्भागवत ही इसका निर्मल प्रमाण शास्त्र है तथा प्रेम ही सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ है। चैतन्य

---

१ पंचम पुरुषार्थ सेइ प्रेम महाधन।
कृष्णेर माधुर्य रस कराय आस्वादन॥
प्रेम हैते कृष्ण हय निजभक्त वश।
प्रेम हते पाय कृष्णेर सेवा सुखरस॥
—गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्त (रामपूजन तिवारी), पृ० ८७।

२ कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः
याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।
—ईशावास्योपनिषद् ८।

३ तदेतदक्षयं नित्यं जगन्मुनिवराखिलम्।
आविर्भाव तिरोभाव जन्मनाशविकल्पवत्॥
—विष्णुपुराण, १/२२/६०।

४ ब्रह्म सत्यं तपः सत्यं सत्यं चैव प्रजापतिः।
सत्याद्भूतानि जातानि सत्यं भूतमयं जगत्॥
—महाभारत, शान्ति० पर्व, १५/१४।

मत का यही साराश है।[1]

श्री चैतन्य के इस दार्शनिक मत पर भी श्री मध्व के द्वैतवाद, श्री निम्बार्क के द्वैताद्वैतवाद तथा श्री वल्लभ के पुष्टि-दर्शन का पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है। श्री मध्वाचार्य के मतानुसार ब्रह्म सगुण और सविशेष है। जगत ब्रह्म का परिणाम है। जीव और ब्रह्म चिरभिन्न हैं। जीव अणु सेवक है और भगवान् सेव्य है। भगवान की कृपा से ही जीव को मुक्ति-लाभ होता है। श्री चैतन्य के मत मे भी ये सभी मान्य हैं। श्री चैतन्य-मत के गोविन्द भाष्य ग्रथ मे श्री बलदेव ने गुण और गुणी भाव से ब्रह्म और जीव को भिन्न और अभिन्न दोनो माना है। माध्वमत के सेव्य सेवक भाव के अतिरिक्त चैतन्य मत मे शान्त, सख्य, वात्सल्य और मधुर भाव को स्थान दिया गया है जिनमे सर्वाधिक महत्त्व मधुर भाव को मिला है। निम्बार्काचार्य के द्वैताद्वैतवाद के समान चैतन्य-मत मे भी ईश्वर और जीव का, ईश्वर और जगत का भेदाभेद सबध स्वीकृत है। निम्बार्क के मतानुसार ईश्वर सर्वशक्तिमान और जीवजगत भूत शक्ति दोनो अचिन्त्य हैं। अत उनमे व्याघात नही है। इसके अतिरिक्त श्री वल्लभाचार्य का पुष्टिमार्ग-साधन और श्री चैतन्य का राधा भाव प्रधान मधुर भाव-साधन तत्त्वत एक ही हैं। निम्बार्क और वल्लभ के समान श्री चैतन्य ने भी परमात्मा तथा उसकी शक्ति को कृष्ण तथा राधा के रूप मे माना है। कृष्ण को वे भगवान ही मानते हैं, अवतार नही।

श्री चैतन्य मत की दार्शनिक विचारधारा के प्रतिपादन की दृष्टि से श्री चैतन्य के शिष्यो ने अनेकानेक ग्रथ रत्नो का प्रणयन किया जिनमे रूपगोस्वामीकृत हसदूत, उज्ज्वल नीलमणि, लघुभागवतामृत, भक्तिरसामृत सिन्धु, जीवगोस्वामीकृत षट सन्दर्भ, सनातन स्वामीकृत बृहत् भागवतामृत, वैष्णवतोषिणी तथा हरिभक्तिविलास, कृष्णदास कविराजकृत चैतन्यचरितामृत आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। श्री चैतन्य की दार्शनिक विचारधारा से अनुप्राणित होकर बगाल के वैष्णव भक्त कवियो ने अपूर्व मधुर रस की सृष्टि की है। उनके रचित पदो मे उनके अन्तर के प्रेम तथा माधुर्य के दर्शन पद पद पर होते हैं। श्री चैतन्य के अचिन्त्यभेदाभेदवाद एव कान्ता भाव परक मधुराभक्ति का पर्याप्त प्रभाव परवर्ती वैष्णव सम्प्रदायो पर भी पड़ा है। भगवन्नाम प्रमोन्माद, अनन्य ईश्वर प्रेम, दिव्य प्रेमानुभूति, भगवद् लीला रस का आस्वादन तथा परमानन्द की उपलब्धि चैतन्य मत की सर्वोपरि विशेषताएँ हैं जो परवर्ती भक्ति भावापन्न सम्प्रदायो मे अनुस्यूत कर दी गई हैं।

उपर्युक्त वैष्णव आचार्यों के दार्शनिक सिद्धान्तो मे यद्यपि स्पष्ट रूप से मत-वैभिन्न्य दृष्टिगोचर होता है तथापि मामूहिक दृष्टि से उनमे मौलिक समानताएँ हैं। सब ने स्मार्तों द्वारा स्वीकृत बहुदेवोपासना की प्रणाली को छोड़कर एकमात्र विष्णु भगवान् की आराधना को व्यापक रूप से ग्रहण किया है। राम और कृष्ण उसी विष्णु के भिन्न भिन्न रूप माने गए हैं। इसके अतिरिक्त सभी आचार्यों ने शकराचार्य के अद्वैतवाद और मायावाद की

---

१ आराध्यो भगवान् ब्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं
रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्
श्री चैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नापर ॥　　　　—चैतन्य मत और ब्रज साहित्य, पृ ११

अव्यावहारिकता ईश्वरावतार, भक्ति की अनिवार्यता, अनन्य प्रेमासक्ति जीवन्मुक्ति के बदले विदेह मुक्ति ईश्वर प्राप्ति के लिए परा प्रपत्ति अथवा अनन्य शरणागति सदाचार नाम माहात्म्य रूपोपासना एवं लीला माहात्म्य पर जोर दिया है। ये ही सारे तत्त्व सगुणोपासक भक्तों की मधुरोपासना के प्रेरक स्रोत हैं जिनमें सर्वोपरि है लीला-तत्त्व। वैष्णव-दर्शन का यह लीला-तत्त्व ही मधुर रस का उत्स है जहाँ से उसकी प्रेमोज्ज्वल धारा युग युग से प्रवाहित होती रही है।

उपर्युक्त आचार्यों की इन्हीं साधना प्रणालियों में से भक्ति तत्त्व नाम माहात्म्य पराप्रपत्ति या अनन्य शरणागति अनन्य प्रेमासक्ति आदि तत्त्वों का ग्रहण कर कबीर दादू आदि निर्गुनियाँ सन्तों ने भी अपनी निर्गुण भक्ति का अत्यधिक प्रचार प्रसार किया तथा परमात्मा को प्रियतम एवं जीवात्मा को प्रियतमा के रूप में परिकल्पित कर मधुर रस की जो मर्मस्पर्शी अभिव्यंजना की वह काव्यगत सौन्दर्य भाव प्रवणता हृदयग्राहिता और सरसता आदि दृष्टियों से अनुपम है।

सर्वेश्वरवाद का सिद्धान्त

'ईश्वर सब कुछ और सब कुछ ईश्वर है'—इस दार्शनिक सिद्धान्त को 'सर्वेश्वरवाद' की संज्ञा दी गई है। संक्षेप में ईश्वर जगत है और जगत ईश्वर है। ईश्वर और जगत दोनों एक हैं। सर्वेश्वरवाद के अनुसार जगत ईश्वर से उत्पन्न नहीं है अपितु स्वयमेव साक्षात ईश्वर है। गौडपादाचार्य के शब्दों में यह अजातिवाद है। सूफीमत में सर्वेश्वरवाद को 'हम्माओस्त' अर्थात् 'सब ईश्वर है' कहा गया है। हम्माअज ओस्त अर्थात सब ईश्वर से है यह ईश्वर-सृष्टिवाद या ईश्वरवाद है।

सर्वेश्वरवाद का आधार अद्वैत दर्शन है। ईश्वर ही एकमात्र अद्वितीय परमतत्त्व है। अन्य सभी ईश्वरीय या ईश्वर के आभास हैं। कुछ लोग सर्वेश्वरवाद (Pantheism) के अर्थ में सर्वात्मवाद का प्रयोग करते हैं किन्तु यह भ्रामक धारणा है। सर्वात्मवाद के अनुसार जो कुछ सत है वह आत्मा है और ऐसी आत्माएँ अनन्त हैं। जगत् का अन्तर्भाव इन्हीं आत्माओं में हो जाता है। शंकराचार्य के अनुसार आत्मवेद सर्वम अर्थात् आत्मा ही यह सब कुछ है। सबको आत्मपूर्वक समझ लेने पर सब कुछ आत्मा ही मान लेते हैं।

सर्वेश्वरवाद एकेश्वरवाद या बहुदेववाद से भिन्न है। वस्तुत यह दोनों का समन्वय है। सर्वेश्वरवादी का ईश्वर जगत है वह किसी धर्म विशेष के ईश्वर को स्वीकार नहीं करता।

सर्वेश्वरवाद के दो रूप हैं। इसके एक रूप का पर्यवसान भौतिकवाद में होता है जहाँ जगत को देखकर ईश्वरत्व का अभिधान किया जाता है। इसमें जगत का वैज्ञानिक अध्ययन उसकी अनन्तता और वैचित्र्य ही प्रधान बिन्दु हैं जागतिक वस्तुओं की एकता ही साध्य है जिसे ईश्वर की संज्ञा दी जाती है। सर्वेश्वरवाद का दूसरा रूप धार्मिक है। इसमें ईश्वर ही प्रधान बिन्दु है दार्शनिक या धार्मिक विचार साधन हैं व्यक्तिगत अनुभूति है तथा सभी दृश्यमान पदार्थों में ईश्वर का रूप-दर्शन ही साध्य है। यहाँ ईश्वर ही एकमात्र सत है और सभी उसके नाम रूप हैं। यूरोप में स्पिनोजा अरब देशों में इब्नुल अरबी और भारत

में शाण्डिल्य, शंकराचार्य, वल्लभाचार्य आदि इस धार्मिक या आध्यात्मिक सर्वेश्वरवाद के पुरस्कर्ता माने जाते हैं।

बहुदेववाद की अधिकता, विभिन्न धर्मों के घात प्रतिघात, धार्मिक विधि विधान एवं बाह्याचार, जगत-व्याप्त अद्वितीय नियामक तत्त्व की धारणा, रहस्यवादियों की चरम साधनानुभूति, जगत की महत्ता, विचित्रता, अनन्तता, गतिशीलता, सुन्दरता, सोद्देश्यता आदि को देखकर कवियों एवं दार्शनिकों द्वारा परम तत्त्व से व्याप्त जगत की उद्भावना ही सर्वेश्वर वाद की उत्पत्ति के मूल कारण हैं।

सर्वेश्वरवाद के अन्तर्गत ईश्वर जड-चेतन से परे एक सर्वव्यापी तत्त्व माना गया है। छान्दोग्य उपनिषद के 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' वाक्य द्वारा शाण्डिल्य ने सर्वेश्वरवाद के इसी ईश्वर रूप पर प्रकाश डाला है। शंकराचार्य ने 'आत्मैवेदं सर्वम्' तथा 'आत्म व्यतिरेकेण अग्रहणात् आत्मैव सर्वम्' द्वारा सर्वेश्वरवाद के ईश्वर का ही संकेत किया है। सन्तों ने भी इसे सत्ता मात्र माना है तथा अपनी सत्ता से इसका तादात्म्य सम्बन्ध बतलाया है। 'सोऽहमस्मि' और 'अनल्हक' इसके प्रमाण-वाक्य हैं। कुछ सन्तों ने इसे अनाम, अबोल, अनिर्वचनीय तत्त्व, अद्वितीय आदि कहकर मौन धारण करना ही श्रेयस्कर माना है। कुछ सन्तों ने ईश्वर को भाव-अभाव, बोल-अबोल, हाँ और ना के मध्य स्वीकार कर उसे जैसा-का तैसा कहा है। वह एक अनेक के द्वन्द्व से रहित है।[१] सभी दिशाओं में वही पीव अपने को चरितार्थ कर रहा है। इससे स्पष्ट है कि सर्वेश्वरवाद के ईश्वर की कल्पना ईश्वर विषयक सामान्य कल्पना से सर्वथा भिन्न एवं निरपेक्ष है। इस प्रकार सर्वव्यापक ब्रह्मवाद ही इसका दार्शनिक आधार है। जीव ईश्वर से अभिन्न है, जीव परस्पर अभिन्न है, जड वस्तुएं जीव से अभिन्न हैं, जड वस्तुएं परस्पर अभिन्न हैं, जड वस्तुएं ईश्वर से अभिन्न हैं—इन पंचधा अभेद का स्थापन ही सर्वेश्वरवाद का प्रमुख प्रयोजन है। दृश्यमान वस्तुओं के अन्तराल में जो इनका सच्चा स्वरूप है, इनका अन्तर्यामी भी जो है, वही सब-कुछ है, वही ईश्वर है। सब और

१ नाहीं नाहीं कर कहै, है है कहै बखानि।
न हीं है के मध्य है, सो अनुभव करि जानि।
—सन्त सुन्दरदास

ह नाही सूँ रहित है, सहजो यों भगवन्त।
—सहजोबाई

जोर कहूँ सोर है नहिं सुन्दर, है तो सही पर जैसो को तैसो।
—सन्त सुन्दरदास

एक कहूँ तो है नहीं, दोय कहूँ तो गारि।
है जैसा तैसा रहै, कहै कबीर विचारि॥
—सन्त कबीर

'भीखा केवल एक है, किरतिम भया अनन्त।
एकै आतम सकल घट, यह गति जानहिं सन्त॥
—सन्त भीखा साहब

दादू ऐसी दरस कौं, बाहरि भीतरि सोर।
सब दिसि देखौं पीव कौं, दूसर नाहीं और॥
—सन्त दादूदयाल

ईश्वर' नित्य एक हैं उनका द्विविध अभिधान केवल समझन और समझाने के लिए किया जाता है।

कुछ विद्वानो ने सर्वेश्वरवाद को सवथा बौद्धिक माना है किन्तु इसके भावात्मक पक्ष को अस्वीकार नहीं किया जा सकता क्योकि साधक जब जगत के नाना रूपो और व्यापारो के बीच उस चरम सत्ता को चरितार्थ होते हुए देखता है सभी दृश्यमान वस्तुओ के अन्तराल म उसी एकमात्र सत का साक्षात्कार करता है, सवत्र उसी परम सौन्दय निधि की बाँकी झाँकी पाता है, तब वह आत्म विभोर हो उद्घोषणा करता है कि सवत्र उसी के लाल की लाली फली हुई है सभी उसके लाल की लालिमा से अनुरंजित हैं सवत्र वही परम प्रियतम क्रीडा-कौतुक कर रहा है और सभी उस निखिल सौन्दय रसानन्द परमसत्ता से ओत प्रोत हैं।[1] ईश्वर जगत म और जगत ईश्वर म व्याप्त है। इस प्रकार घट घट म व्याप्त परमसत्ता ही हरि है।[2] यही स्वानुभूति भावात्मक रहस्यवाद का उत्स है क्योकि इसी भाव सरणि के सहारे साधक जीवात्मा और परमात्मा के बीच दाम्पत्य सम्बन्ध की परिकल्पना करता हुआ परमानन्द की प्राप्ति करता है।

सत रदास ने सर्वांगी सर्वेश्वर की सवव्यापकता का वणन करते हुए उसे शिव-अशिव धम-अधम बन्धन-मोक्ष जन्म मरण भव नाश भय ज्ञान दृष्टि-अदृष्टि सेवक-स्वामी आदि द्विधाओं से परे बताया है।[3] जहँ देखो तहँ एक दीदार की अनुभूति के कारण ही कबीर रदास दादू आदि निगुनिया सन्तों ने बाह्याचार का विरोध करते हुए मानसीपूजा धम के तात्त्विक रूप और साम्प्रदायिक ऐक्य पर बल दिया है तथा विश्व-बन्धुत्व भाव के आधार पर सामाजिक न्याय की प्रतिष्ठा पर जोर दिया है। निगुनियाँ सन्तो ने अद्वैत और सर्वांगी दोनो प्रकार के सर्वेश्वरवाद का पर्याप्त विवेचन किया है। निगुनियाँ सन्तो ने ईश्वर को परात्पर या सर्वातीत मानते हुए सवव्यापी या विश्व रूप माना है। किन्तु सगुणोपासक भक्तो ने ईश्वर को सवव्यापी मानते हुए उसे परात्पर से अधिक अन्तर्यामी के रूप म स्वीकार किया है। सन्तो म ईश्वर की बहिर्यामिता तथा भक्तो मे उसकी अन्तर्यामिता[4] का विशेष

---

१ लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल॥ —कबीर
सब मैं आप आप सबहिन मैं आप आप सूँ खेलै।
नाना भाँति घड़े सब भाँडे रूप धरे धरि मेलै॥ —कबीर

२ 'खालिक खलक खलक में खालिक सब घट रह्या समाइ। —कबीर
दूध घी ज्यू रमि रह्या व्यापक सबही ठौर।' —कबीर
अबरन बरन कहै जनि कोइ। घट घट व्यापि रह्यौ हरि सोइ॥ —रैदास

३ है सब आतम सुख परकास साँचों।
आदि मध्य औसान एकरस, तार बन्यो हो भाई।
थावर, जंगम कीट पतंगा पूरि रह्यो हरिराई॥
सर्वेश्वर सर्वांगी सब गति करता हरता सोई।
सिव न असिव साध अरु सेवक उभै भाव नहिं कोई॥
धरम अधरम मोच्छ नहिं बन्धन, जरा मरन भव नासा।
दृष्टि अदृष्टि ज्ञेय अरु ज्ञाना, एकमेक रैदासा॥ —रैदासजी

४ सीयराम मय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी॥ —तुलसीदास

प्रकाशन हुआ है। भक्तो की नाम महिमा से भी अगुण और सगुण से परे सर्वेश्वरवाद की पुष्टि होती है। प्रेमयोगिनी मीरा ने तो सर्वेश्वरवाद के रमणीय रूप का स्वयं अनुभव किया था। विष के प्याले का अमृत हो जाना वस्तुओं के ईश्वरीय रूप का ही तो प्रतीक है। सदा नटवर नागर श्याम के ही रंग में रंगी सूरदास की गोपियां ने भी ऐसा ही अनुभव किया है। तभी तो सर्वत्र उन्हें कृष्ण ही कृष्ण के दर्शन होते हैं। सूरदास ने अपने सूरसागर में सर्वेश्वरवाद की बड़ी ही सुन्दर अभिव्यंजना की है।

सूफी साधकों ने भी जड़ चेतन सर्वत्र एकमात्र परम सत्ता को ही अपनी ईश्वर-दृष्टि से चरितार्थ होते हुए देखा था। प्रसिद्ध सूफी कवि जायसी की भी यही स्वानुभूति थी कि जगत दर्पण है और उसमें ईश्वर की परछाई ही सर्वत्र दृष्टिगत हो रही है। ईश्वर ही जगत् है वही दर्पण है वही अपने में अपना प्रतिबिम्ब देखता है।[1]

सूफियों के सर्वेश्वरवाद में दार्शनिकता की अपेक्षा भावात्मकता और रहस्यात्मकता अधिक है क्योंकि उन्होंने सर्वेश्वरवाद के साथ साथ सृष्टिवाद का भी प्रतिपादन किया है। भावात्मकता के साथ काल्पनिकता के समाविष्ट हो जाने के कारण सूफी प्रेमाख्यान के काव्य वैभव का अत्यधिक उत्कर्ष हुआ है। रहस्यवाद के कारण उसके अन्तर्गत साधनों के विविध सोपान भी वर्णित हुए हैं।

सूफियों के सर्वेश्वरवाद को देखने से प्रतीत होता है कि उन्होंने लाहूत और नासूत की अन्तानुभूति की महाभाव दशा में ही साधना के अंतिम सोपान या शीर्षपद के रूप में सर्वेश्वरवाद को ग्रहण किया था। वस्तुतः यह सर्वेश्वरवाद ही साधना-काव्य के क्षेत्र में माधुर्यमय रहस्यवाद का जन्मदाता है, मधुर रस-साधना का स्रोत है।

सांख्य दर्शन का पुरुष और प्रकृति तत्त्व

सांख्य-दर्शन के प्रवर्तक कपिल हैं। कपिल-दर्शन में संख्या अर्थात् सम्यक् ज्ञान को प्रधानता दी गई है। संख्या का अर्थ है सम्यक् ख्याति का ज्ञान। अतः सांख्य-दर्शन विशुद्ध ज्ञान मार्ग है। प्रत्यक्ष और अनुमान ही इसके मुख्य प्रमाण माने गये हैं। सांख्य भारत का पहला दर्शन है जिसमें मौलिक तत्त्वों की संख्या की गई। श्री बलदेव उपाध्याय के विचारानुसार प्रकृति तथा पुरुष के पारस्परिक विभेद को न जानने के कारण इस दुःखमय जगत की सत्ता है। परन्तु जिस समय पुरुष के विशुद्ध स्वरूप का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है उसी समय दुःख की आत्यंतिक निवृत्ति हो जाती है। विवेक ज्ञान कारण है तथा दुःख निवृत्ति कार्य है। इस ज्ञान की पारिभाषिकी संज्ञा है प्रकृति पुरुषान्यताख्याति या प्रकृति पुरुष विवेक। सांख्य दर्शन में संख्या के नितान्त मूलभूत सिद्धान्त होने के कारण इस दर्शन का नाम सांख्य पड़ा।[2]

१ आपुहि आप जो देखै चहा। आपनि प्रभुता आपु सों कहा॥
सबै जगत दरपन कै लेखा। आपुहि दरपन आपुहि देखा॥
आपुहि बन औ आपु पखेरू। आपुहि सौजा आपु अहेरू॥
आपुहि पुहुप फूलि बन फूले। आपुहि भंवर बास रस भूले॥
आपुहि घट घट महं मुख चाहै। आपुहि आपन रूप सराहै॥ —पद्मावत जायसी

२ डॉ त्रिलोकीनारायण दीक्षित—सुन्दर-दर्शन पृष्ठ ७१।
भारतीय दर्शन बलदेव उपाध्याय पृ ११ (तृतीय संस्करण)।

अनुमानत ७०० ई० पूर्व सांख्य आचार्य कपिल ने 'सांख्य-सूत्र' का प्रणयन किया। लगभग प्रथम शताब्दी मे ईश्वरकृष्ण ने सांख्य-कारिका की रचना कर सांख्य-दर्शन का स्पष्टीकरण किया। इसके अतिरिक्त सांख्य-दर्शन के दूसरे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं—विज्ञानभिक्षु रचित 'सांख्य प्रवचन-सूत्र भाष्य' 'चरक-संहिता' गुणारत्न लिखित 'षड्दर्शन समुच्चय' आदि।

सांख्य दर्शन में तत्त्वों की संख्या कहीं चौबीस कहीं पच्चीस और कहीं छब्बीस मानी गई है। किन्तु सामान्य रूप से तत्त्वों की पच्चीस संख्या ही मान्य है। इन तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त कर लेने से किसी भी आश्रम का व्यक्ति चाहे वह जटी हो मुण्डी हो या शिखी हो दुःखों से मोक्ष प्राप्त कर लेता है।[1]

प्रसववती प्रकृति

सांख्य-कारिका के अनुसार प्रकृति विकृति प्रकृति विकृति (उभय) और न प्रकृति न विकृति (अनुभय) प्रकृति मूल कारण को कहते हैं। यह अचेतन है सत्त्व रज और तम—इन तीनों गुणों की साम्यावस्था है। प्रकृति को प्रसववती कहा गया है। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रकृति वह तत्त्व है जो सबका कारण तो है, पर स्वतः किसी का कार्य नहीं होता। प्रसववती प्रकृति से कुछ वस्तुएं उत्पन्न होती हैं यही विकृति है। अर्थात विकृति वे तत्त्व हैं जो कार्य ही होते हैं अर्थात् किसी से उनकी उत्पत्ति तो होती है पर वे स्वयं दूसरे को उत्पन्न नहीं कर सकते हैं। विकृति से पहले महत् उत्पन्न होता है महत् से अहंकार अहंकार से युगपत। इनसे तीन प्रकार के तत्त्व प्रकट होते हैं—मन, इन्द्रियाँ और तन्मात्राएं। हस्त पाद मुख पायु और उपस्थ ये पांच कर्मेन्द्रियाँ हैं। चक्षु घ्राण, रसना, त्वक और श्रोत्र ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। रूप गंध, रस स्पर्श और शब्द क्रमशः इनके विषय रूप पंच तन्मात्राएं हैं। इन्हीं पंच तन्मात्राओं में से तेज, पृथ्वी, जल वायु और आकाश नामक पंच महाभूतों का विकास होता है। इस प्रकार एक मन, दस इन्द्रियाँ और पंच महाभूत—इन सोलह तत्त्वों को केवल विकृति कहते हैं। महत् अहंकार और पंच तन्मात्राएं—इन सात तत्त्वों को प्रकृति और विकृति दोनों कहते हैं क्योंकि एक ओर तो ये कारण हैं और दूसरी ओर कार्य। अर्थात उत्पादक भी हैं और उत्पन्न भी। कहने का अभिप्राय यह है कि वे तत्त्व जो किन्हीं को जन्म देते हैं तथा स्वयं किन्हीं तत्त्वों से उत्पन्न भी होते हैं उन्हें प्रकृति विकृति कहते हैं। इस प्रकार एक प्रकृति, सात प्रकृति विकृति और सोलह विकृति—इन चौबीस तत्त्वों से पृथक् पच्चीसवां पुरुष है जो न प्रकृति है न विकृति है। अर्थात् वह तत्त्व जो कार्य एवं कारण दोनों से शून्य रहता है उसे न प्रकृति और न विकृति तत्त्व कहते हैं क्योंकि न वह कार्य ही है और न कारण ही। यह अनुभय तत्त्व पुरुष है। इस तरह तत्त्वों की कुल संख्या पच्चीस है। इनका वर्गीकरण निम्नांकित है—

---

१ पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे वसेत्।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः॥

—स सि० स ६/११

स्वरूप	संख्या	नाम
प्रकृति	१	प्रधान अव्यक्त, प्रकृति
विकृति	१६	५ ज्ञानेन्द्रियाँ ५ कर्मेन्द्रियाँ मन एवं पंचमहाभूत
प्रकृति विकृति	७	महत्तत्त्व अहंकार और तन्मात्राएँ
न प्रकृति न विकृति	१	पुरुष

मूल तत्त्व पुरुष और प्रकृति

उपर्युक्त पच्चीस तत्त्वों में पुरुष और प्रकृति ही दो मूल तत्त्व हैं। पुरुष के संयोग से प्रकृति की साम्यावस्था भंग हो जाती है और उसमें विषमता उत्पन्न होती है। विषमता से प्रकृति गतिशील होती है जिसके परिणामस्वरूप महत् आदि क्रम से अन्य सभी तत्त्वों का विकास होता है। पंचमहाभूतों मन तथा इन्द्रियों के ही संघातों से अनेकतामूलक जीव-जगत का उद्भव होता है। पुरुष स्वभावतः प्रकृति से अनासक्त है किन्तु जगत में वह प्रकृति के कार्य कलाप से संबद्ध जैसा लगता है। ज्ञान द्वारा इसी सम्बद्धता को दूर करके पुरुष का अपने अस्तित्व का अनुभव करना ही मोक्ष है। इस तरह एक तत्त्व से किस प्रकार अनेक पदार्थों का विकास हुआ इसी प्रश्न के समाधान में समस्त दार्शनिक और धर्म विचारक संलग्न रहे हैं। कठोपनिषद् में कहा गया है कि इन्द्रियों से परे अर्थ अर्थों से परे मन मन से परे बुद्धि बुद्धि से परे आत्मा या महान् महान् से परे अव्यक्त अव्यक्त से परे पुरुष और पुरुष से परे कुछ नहीं क्योंकि वह परागति है।[1]

जगत के आधारभूत तत्त्व प्रकृति का अनुमान सत्कार्यवाद के ऊपर निर्भर है। नैयायिक तथा वैशेषिक दोनों उत्पत्ति से भी पूर्व कार्य को असत मानते हैं। किन्तु सांख्य में विकास क्रम में सत्कार्यवाद या प्रकृति-परिणामवाद के सिद्धान्तों को मानकर कारण में ही कार्य की अवस्थिति मानी गई है। तात्पर्य यह है कि कार्य कारणावस्था का व्यक्त रूप है। सांख्य कारिका में कारण के व्यापार से पूर्व कार्य सिद्ध करने के पाँच हेतु दिए गए हैं—

प्रकृति परिणामवाद पंच प्रमाण

१ असदकरणात्—अर्थात असत् को सत्ता में लाना सम्भव नहीं है।

२ उपादानग्रहणात्—अर्थात उपादान के ग्रहण से भी कार्य (घट) का उपादान कारण (मृत्तिका) में सम्बन्ध होता है।

३ सर्वसम्भवाभावात्—अर्थात कार्य-कारण में सम्बन्ध न मानने पर कार्य सिद्ध हो सकेंगे—यह अनुभव के विरुद्ध है।

४ शक्तस्य शक्यकरणात्—अर्थात शक्य पदार्थ शक्त का ही उत्पन्न कर सकता है।

---

[1] इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥१०॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥११॥ —कठोपनिषद् १ ३ ११

५ कारणभावात—अर्थात सभी कार्य कारणात्मक होते हैं कारण से भिन्न नहीं।]

इन पंच प्रमाणों का सारांश यह है कि कारण के पूर्व भी कारण में कार्य की सत्ता विद्यमान रहती है। सांख्य-दर्शन के अनुसार किसी वस्तु का न उद्भव होता है न नाश। केवल कर्तृ-व्यापार से अव्यक्त वस्तु व्यक्त रूप को प्राप्त होती है और गति के स्थिर होने पर वस्तु स्थूल से सूक्ष्म रूप में बदल जाती है। यही सांख्य-दर्शन की तत्त्व मीमांसा का आधारभूत सिद्धान्त है। सांख्य-दर्शन के अनुसार संसार के सभी पदार्थ त्रयोगुण सम्पन्न हैं। अतः उनमें साम्यभाव है। जगत का मूल कारण एक तत्त्व प्रकृति-मात्र है। जिस क्रम से प्रकृति सृष्टि करती है उसी के विपरीत क्रम से विश्व का प्रलय या तिरोभाव भी करती है। प्रकृति का सर्वप्रथम विकार महत्तत्त्व या बुद्धि है। महत्तत्त्व से अहंकार का जन्म होता है और फिर उससे मन पंच ज्ञानेन्द्रियाँ पंच कर्मेन्द्रियाँ, पंच तन्मात्राएँ और पंच महाभूतों का विकास होता है।

सांख्य के मतानुसार पुरुष निर्गुण एवं असंग है। पुरुष एवं प्रकृति के कार्यों में बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। सांख्य-दर्शन ने पुरुष के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए चार युक्तियों का निर्देश किया है[1]—

१ समस्त वस्तुएँ संघात रूप होती हैं अर्थात् उनका अस्तित्व दूसरों के लिए होता है। जैसे भवन आवास के लिए होते हैं तो फिर उनके अधिवासी का सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

२ सुख-दुःख में जितने पदार्थ हैं उनका कोई-न-कोई अधिष्ठाता अवश्य है। इसमें स्पष्ट है कि महत् तत्त्व एवं अहंकार का कोई अधिष्ठाता अवश्य है।

३ सुख-दुःख आदि का भोक्ता होना आवश्यक है। भोक्ता के अभाव में अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियों का ज्ञान किस और कैसे होगा ?

४ मानव में कैवल्य के लिए प्रवृत्ति का होना भी पुरुष के अस्तित्व का बोधक है क्योंकि कामना जड़ तत्त्व में नहीं होती है। ये सारी युक्तियाँ उपाधि-संयुक्त पुरुष को सिद्ध करती हैं।

भिन्न गुण वाले पुरुष और प्रकृति के योग से सृष्टि की स्थिति

पुरुष और प्रकृति विषम गुण वाले पदार्थ हैं। फिर भी दोनों के योग से ही सृष्टि की स्थिति है। पुरुष समस्त पदार्थों में विद्यमान रहता हुआ भी अलिप्त है। पुरुष प्रकृति में सदा अनासक्त रहता है पर प्रकृति अपने प्रपंचों की रचना द्वारा पुरुष को नित्य ही बंधन में डालने का प्रयत्न करती है।[2] इस प्रकार पुरुष अनादि एवं निमित्त कारण कूटस्थ अकर्ता है। प्रकृति अनादि एवं सृष्टि के उपादान का कारण है। पुरुष समस्त प्रपंचों से तटस्थ होकर बंधनमुक्त होने के लिए लालायित रहता है परन्तु प्रकृति अपनी माया द्वारा नाना प्रकार

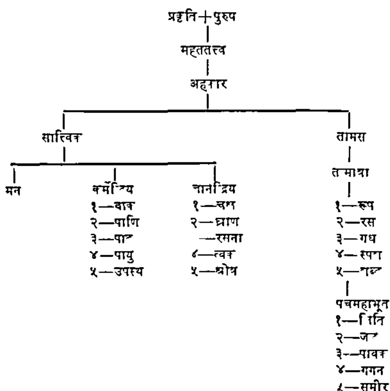
१ संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादि विपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥१७॥

—सांख्य-कारिका

२ 'अहम्यापुनो जड प्रकाशयति चिद्रूप।

—सांख्यसूत्र, अध्याय-६, सूत्र ५

के प्रपचो की रचना किया करती है। ये ही प्रपच मनुष्य को माया जाल म फमाते हैं। पुरुष और प्रकृति के सयोग से जगत की स्थिति उसी प्रकार है जसे अग्नि की उत्पत्ति सूय एव दपण के ससग से होती है। जिस प्रकार चुम्बक पत्थर के ससग से सुई गतिशील हो जाती है वायु के सयोग से उदधि म तरगें उत्पन्न होती हैं तथा सूय के प्रकाश से नेत्र बाह्य जगत के रूपो को ग्रहण करते हैं उसी प्रकार पुरुष और प्रकृति के सयोग से सृष्टि की रचना होती है।[1] सृष्टि के मथुनी सूत्रपात का यही उपक्रम है। पुरुष और प्रकृति का यही शाश्वत मधुर भाव जड विषयक होने से लौकिक शृगार रस तथा चिद्जगत का विषय होने से अलौकिक मधुर रस म परिणत हो जाता है। इस प्रकार साख्य-दशन के अनुसार पुरुष और प्रकृति के सयोग से एक महत्तत्त्व महत्तत्त्व से दो अहकार अहकार से पच तन्मात्राए पच ज्ञानेन्द्रियाँ पच कर्मेन्द्रियाँ तथा पच तन्मात्राओ से पच महाभूतो की उत्पत्ति हुई है—



[1] पुरुष प्रकृति सयोग जगत उपजत है ऐसे।
रवि दपण दृष्टान्त अगिनि उपजत है तसे॥
सुइ होहि चैतन्य यथा चुम्बक कै सगा।
यथा पवन सयोग उदधि मांहि उठहि तरगा॥
अरु यथा भर सयोग पुनि चक्षु रूप को ग्रहत है।
यों जड़-चेतन सयोग ते सृष्टि उपजती कहत है॥
—सत सुन्दरदासकृत ज्ञान समुद्र, तृतीयोल्लास, ५६।७।

इनमे अहंकार ही समस्त पिण्ड और सूक्ष्म देहो का कारण है। सत तम और रज अहंकार के तीन प्रकार हैं। जिस प्रकार का अहंकार होता है उसी प्रकार का रूप होता है।[1]

सांख्य-दर्शन के उभयरूप

सांख्य दर्शन के प्राय दो रूपो की चर्चा की जाती है। ईश्वरकृष्ण को निरीश्वरवादी दार्शनिक कहा गया है तथा विज्ञान भिक्षु को सेश्वरवादी। इन्ही दार्शनिको के विचार सूत्रो के आधार पर निरीश्वरवादी दर्शन तथा सेश्वरवादी दर्शन की उद्भावना की गई है। सेश्वर सांख्य दर्शन मे पच्चीस तत्त्वो से पृथक ईश्वर-तत्त्व को भी माना जाता है और इस तरह तत्त्वो की संख्या वहाँ छब्बीस हो जाती है। चरक-संहिता मे केवल चौबीस तत्त्व उल्लिखित हैं। वहाँ पुरुष और प्रकृति दोनो को अव्यक्त मानकर अपृथक कर दिया गया है। षट्दर्शन समुच्चय के भाष्यकार गुणरत्न (१४वी शताब्दी) ने मौलिक सांख्य और उत्तर सांख्य के नाम से सांख्य दर्शन के दो सम्प्रदायो का उल्लेख किया है। मौलिक सांख्य मे पुरुष के साथ साथ प्रकृति भी अनेक मानी गई है किन्तु उत्तर सांख्य मे पुरुष अनेक और प्रकृति एक ही मानी गई है।

हिन्दी के साधना साहित्य की ऐतिहासिक विवेचना की दृष्टि से सांख्य-दर्शन का स्थान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। डा० राधाकृष्णन के मतानुसार रामानुजाचार्य तथा अन्य वैष्णव एवं शैव वर्गाचार्यो ने सांख्य-दर्शन के ही आधार पर मध्ययुग मे दर्शन तथा धर्म के सम्प्रदायो की स्थापना की। पौराणिको की भाँति हिन्दी के इन ज्ञानियो ने भी सांख्य के विकासवाद को स्मृतियो के सृष्टिवाद से समन्वित किया जिसमे अण्ड से प्राय सृष्टि मानी जाती है।[2] सूर आदि सगुणवादी भक्त-कवियो ने सेश्वर सांख्य को अधिक महत्त्व दिया है। सांख्य की प्रकृति को माया कहा गया है और तिरगुनी माया या त्रिगुणात्मिक प्रकृति को उसका लक्षण माना गया है।[3] सूरदास से लेकर कबीर[4] नानक सुन्दरदास गरीबदास, पलटूदास आदि भक्त एवं सन्त कवियो ने सांख्य-दर्शन के इस विकास क्रम का बड़ा ही सुन्दर निरूपण किया है। निरीश्वरवादी तथा अनेकवादी सांख्य को

---

१ त्रिविध शक्ति है त्रिगुणमय तम, रज सत्व सुपेहु।
इनि करि पिंड स्थूल है, इन करि सूक्ष्म देहु॥
—ज्ञानसमुद्र (सुन्दरदास), तृतीयोल्लास।

२ हिन्दी साहित्य-कोश, पृ० ८२६।

३ माया को त्रिगुनात्मक जानौ। सत, रज तम ताके गुन मानौ॥
तिन प्रथमहि महत्तत्व उपजायो। ताते अहंकार प्रगटायो॥
अहंकार कियो तीनि प्रकार। सत तैं मन सुर सात अरु चार॥
रजगुन तैं इंद्रिय विस्तारी। तमगुन तैं तन्मात्रा सारी॥
तिन तैं पंच तत्त्व उपजायो। इन सबको इक अण्ड बनायो॥
अण्ड सो जड़ चेतन नहिं होई। तब हरिपद छायापद पाई॥
—सूरसागर ३।

४ कबीर वचनावली पृ० १४६ २६१, २८४, २६८ द्रष्टव्य।
ज्ञानसमुद्र (सुन्दरदास) तृतीयोल्लास पद ७, ६, १० और ४१ द्रष्टव्य।

भी हिन्दी के साधना-साहित्य में मान्यता दी गई है। हिन्दी के सन्त-मत की परम्परा में पुरुष प्रकृति के सिद्धान्त गुण सिद्धान्त तत्त्व सिद्धान्त संसारोत्पत्ति के सिद्धान्त स्थूल और सूक्ष्म देह सिद्धान्त इन्द्रियाँ मन और बुद्धि के सिद्धान्त आदि सांख्य के अनेकानेक मत स्पष्ट रूप से प्रतिपादित हुए हैं।

सांख्य-दर्शन के पुरुष प्रकृति तत्त्ववाद के आधार पर ही आगे चलकर उपासना के क्षेत्र में जीवात्मा परमात्मा शक्ति और सर्वशक्तिमान के बीच दाम्पत्य प्रेम-सम्बन्ध की अवतारणा की गई है जो साधना-साहित्य के भावात्मक रहस्यवाद तथा मधुर रस साधना का प्रेरक तत्त्व है।

योग-दर्शन

योग जीवात्मा द्वारा परमात्मा के साथ तादात्म्य-स्थापन की विशिष्ट प्रणाली है

योग हिन्दुस्तान की गौरवपूर्ण उपलब्धि है। वेद से लेकर उपनिषद् श्रीमद्भागवत श्रीमद्भगवद्गीता योग-वाशिष्ठ तन्त्रग्रन्थ बौद्ध धर्मग्रन्थ जैन धर्मग्रन्थ आदि धर्मग्रन्थों में योग की प्रक्रियाओं का प्रतिपादन किया गया है। योग शब्द का प्रयोग कई अर्थों में मिलता है। सामान्य अर्थ में यह सम्बन्ध का वाचक है। दर्शन में जीवात्मा परमात्मा के सम्बन्ध को योग कहते हैं। सम्बन्ध-स्थापन के साधन को भी योग कहा जाता है। देहात्म बुद्धि त्यागकर आत्मभावापन्न होना भी 'योग' है। दुःखसुखादि पर विजय प्राप्त कर समत्व को प्राप्त होना भी योग कहा जाता है। कर्म-बन्धन से विरक्त रहना भी योग है। गीता में कर्म-कौशल को योग की संज्ञा दी गई है। इस प्रकार अनेक अर्थों में योग शब्द के प्रयोग मिलते हैं।[1]

व्युत्पत्ति की दृष्टि से योग शब्द युज धातु के पश्चात करण एवं भाववाच्य में घञ प्रत्यय लगने से बनता है। युज समाधि के अर्थ में प्रयुक्त होता है। समाधि का अर्थ पूर्णरूपेण परब्रह्म के साथ युक्त हो जाना है अर्थात् सभी प्रकार की वासनाओं और कामनाओं का पूर्णरूपेण परित्याग कर स्वरूप में मिल जाना ही योग है। इस प्रकार दर्शन शास्त्र की दृष्टि से योग का अभिप्राय उस विशिष्ट प्रणाली या साधना-मार्ग से है जिसका अनुसरण कर साधक आत्मा एवं परमात्मा में तादात्म्य स्थापित करता है। यह एकात्मता की स्थिति चंचल चित्त-वृत्तियों के निरोध से ही संभव है। सारांश यह है कि योग एक आध्यात्मिक क्रिया है जो जीवात्मा एवं परमात्मा के मध्य तादात्म्य स्थापित करने की प्रक्रियाओं का निर्देश करती है। योग वह परमार्थ क्रिया है जो सच्चिदानन्द-स्वरूप के दिव्य रूप का साक्षात्कार कराने वाला है।

योग-शास्त्र में योग-साधना के क्षेत्र में योगी की गति के अनुसार उसके चार वर्ग

---

१ कल्याण योगांक पृ० ६२ ? ५ १ ६ ११७ और १२२।

निर्धारित किये गए हैं। पतंजलि ने मधुमती भूमिका के रूप में प्रातिभज्ञान की बड़ी उदात्त कल्पना की है। मधुमती भूमिका' चित्त की वह विशेष अवस्था है जिसमें वितर्क की सत्ता नहीं रह जाती। शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों की पृथक प्रतीति वितर्क है। इस पारमार्थ्यानुभव को 'अपर प्रत्यक्ष' भी कहते हैं। जिस अवस्था में सम्बन्ध और सम्बन्धी विलीन हो जाते हैं उसे पर प्रत्यक्ष या निर्वितर्क समापत्ति कहते हैं। चित्त की यह समापत्ति सात्विक वृत्ति की प्रधानता का परिणाम है।[1] योगी अपनी साधना से जब इस विशेष अवस्था में अपने चित्त को स्थिर कर सकने में समर्थ होता है तब सभी पदार्थ उसे दिव्य लगते हैं और स्वर्ग का द्वार उसके लिए उन्मुक्त हो जाता है। पातंजल-योग सूत्र के भाष्य-कर्ता वेदव्यास के कथनानुसार मधुमती भूमिका का साक्षात्कार करते ही साधक की शुद्ध सात्विकता देखकर देवता अपने-अपने स्थान से उसका आह्वान करने लगते हैं—'इधर आइए यहाँ रमिए, इस कमनीय भोग के लिए लोग तरसा करते हैं। देखिए, कैसी कमनीय कन्या है? यह रसायन जरा मरण को दूर करने वाला है। व्योमयान ये अमृत फल वाले कल्पतरु यह पुण्य सलिला मन्दाकिनी, ये सिद्ध महर्षिगण ये उत्तम और मनोनुकूल अप्सराएं ये दिव्य श्रवण और नेत्र ये वज्रोपम शरीर—इन सबको आपने ही अपने गुणों से उपार्जित किया है। फिर पधारिए न, इस देवप्रिय अक्षय, अजर अमर स्थान में।[2]

पतंजलि ने अपने योग सूत्र में योग साधना के आठ अंगों का वर्णन किया है जिन्हें अष्टांग योग कहा है।[3] वे हैं—यम नियम आसन प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा, ध्यान और समाधि। इनमें प्रथम पाँच को बहिरंग साधन तथा अंतिम तीन को अन्तरंग साधन कहते हैं। पातंजल-योग-दर्शन के अनुसार यम के अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच भेद हैं।[4] हठयोग प्रदीपिका में यम के अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य, क्षमा, धृति, दया आर्जव मिताहार और शौच—ये दस भेद बतलाए गए हैं। पातंजल योग दर्शन के अनुसार शौच सन्तोष तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान—ये पाँच नियम निर्धारित किये गए हैं।[5] हठयोग प्रदीपिका में नियम के दस भेद कहे गये हैं। यथा—तप, सन्तोष आस्तिक्य दान पूजा सिद्धान्त वाक्य-श्रवण ह्री, मति, जप और होम। हठयोग प्रदीपिका में आसन और प्राणायाम साधना के पूर्व काया शुद्धि के लिए षट् कर्मों के अन्तर्गत धौति वस्ति नेति त्राटक, नौलि तथा कपालभाति क्रियाओं[6] का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

१ मेघदूत (अनुवाद) की भूमिका प० केशवप्रसाद मिश्र।

२ 'मधुमतीं भूमिकां साक्षात् कुर्वतोऽस्य देवाः सत्त्वशुद्धिमनुपश्यन्तः स्थानैरुपनिमन्त्रयन्ते—भो इहास्यताम्, इह रम्यताम्, कमनीयोऽयं भोगः कमनीयेयं कन्या रसायनमिदं जरामृत्युं बाधते वैहायसमिदं यानम् अमी कल्पद्रुमाः, पुण्या मन्दाकिनी, सिद्धा महर्षयः, उत्तमा अनुकूला अप्सरसः, दिव्ये श्रोत्रचक्षुषी, वज्रोपमः कायः स्वगुणैः सर्वमिदमुपार्जितमायुष्मता, प्रतिपद्यतामिदमक्षयमजरममरस्थानं देवानां प्रियमिति।' —वेदव्यासकृत पतंजलियोगसूत्र भाष्य।

३ 'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।' —पातंजल योगसूत्र २९, साधनापाद २।

४ 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।' —पातंजल योगदर्शन, साधनापाद २, सूत्र ३०।

५ 'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।' —वही, सूत्र ३२।

६ धौतिर्वस्तिस्तथा नेतिः नौलिकी त्राटकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत्॥ —गोरक्षपद्धति।

आरम्भ मे हठयोग का उद्देश्य काया शुद्धि और मनामारण ही माना गया था किन्तु नाथ पंथ मे काया-साधन को ही मुक्ति का सोपान माना जाने लगा। फलत देह शुद्धि के लिए षट कर्म को सम्पादित करना योगी के लिए परमावश्यक हो गया। पातंजल-योगदर्शन म निश्चल होकर एक ही स्थिति मे दीर्घकाल तक बैठने का अभ्यास करना आसन है।[1] शरीर को सीधा एव स्थिर सुखपूर्वक बैठ जाने के बाद शरीर विषयक सारी चेष्टाओ का त्याग कर देना ही प्रयत्न शैथिल्य है। इससे स्थिर चित्त होकर परब्रह्म म मन नियोजित होता है तथा आसन की सिद्धि होती है। योग दर्शन म शरीर को रोग शोक से मुक्त रखने के लिए आसन साधना का विधान किया गया है। आसन योग-कला का एक अनिवार्य तत्त्व है। इस योग कला को जानने के कारण ही शिव नित्य शिवा के साथ विचरण करते हुए भी अचलासन हैं।[2] हठयोग विषयक ग्रन्थो म अनेक आसनो का वर्णन किया गया है। शिव संहिता म ८४ प्रकार के आसनो का उल्लेख है जिनम पद्मासन सिद्धासन वीरासन स्वस्तिकासन भद्रासन, दण्डासन मयूरासन सिंहासन शवासन मुक्तासन उग्रासन आदि आदि प्रसिद्ध हैं जिनम पद्मासन और सिद्धासन सार रूप मान गय हैं।[3] योग मार्ग म साधक को आसन के बाद प्राणायाम की साधना करनी पडती है। पतंजलि के शब्दो म आसन की सिद्धि हो जाने के बाद श्वास और प्रश्वास की गति का स्थगित हो जाना ही प्राणायाम है।[4] जिस प्रकार धातुओ को अग्नि म तपाने से उनका मल जलकर नष्ट हो जाता है उसी प्रकार श्वास और प्रश्वास के नियन्त्रण से इन्द्रिय-दोष भी दग्ध होकर समाप्त हो जाते हैं। प्राणायाम के तीन भेद हैं—पूरक कुम्भक और रेचक। पूरक का अर्थ है साँस खीचना अर्थात अपान वायु को नासिका द्वारा खीचकर उदर म भरने का नाम पूरक है। उदर म भरी हुई वायु को यथा सम्भव रोक रखने को कुम्भक कहते हैं। इसके आठ भेद बतलाय गए हैं। रुद्ध तथा अशुद्ध हुई वायु को नासारन्ध्र द्वारा धीरे धीरे बहिर्गमन को रेचक कहा गया है। योग दर्शन म आसन और प्राणायाम की साधना के लिए तथा चित्त को एकाग्र करने के लिए मुद्राओं का निर्देश किया गया है क्योकि मुद्राओ के बिना आसन और प्राणायाम करना हानिप्रद है। अत भिन्न भिन्न आसनों और प्राणायामो के सम्पादन के लिए भिन्न भिन्न मुद्राओ के प्रयोग निर्दिष्ट हैं। योग मार्ग के साधक के लिए सात प्रकार की मुद्राए आवश्यक बतलाई गई हैं—१-मूलबंध २-जलन्धर बंध ३-उड्डियान बंध ४-शाम्भवी मुद्रा ५-खेचरी मुद्रा ६-अश्विनी मुद्रा और ७-योनिमुद्रा।

---

१ स्थिरसुखमासनम्।
—पातंजल योगदर्शन सा पाद २ सूत्र ४६।

२ शिव जानत हैं सब योगकला।
नित संग शिवा पुनि हैं अचला॥
—मानस मुक्तावली।

३ आसनेभ्य समस्तेभ्यो द्वयमेतदुदाहृतम्।
एक सिद्धासन प्रोक्त द्वितीय कमलासनम्॥ १॥
—गोरक्षपद्धति।

४ 'तस्मिन् सति श्वास प्रश्वास योर्गति विच्छेद प्राणायाम'।
—योगसूत्र सा पा २ सूत्र ४९।

नाद

मन के लय का सर्वोत्तम साधन नादानुसंधान माना गया है। शंकराचार्य ने 'योग तारावली' में लिखा है कि योग शास्त्र के प्रवर्तक स्वयं भगवान शिव हैं तथा उन्होंने मन के लय होने के सवा लाख साधन बतलाये हैं, जिनमें नादानुसंधान सुलभ एवं श्रेष्ठ है।[1] 'शिवसंहिता' में भी नाद-साधना को सर्वोत्तम साधन मानते हुए कहा गया है कि सिद्धासन के सदृश न तो कोई आसन है और न कुम्भक के समान कोई शक्ति। न खेचरी मुद्रा के समान कोई मुद्रा है और न नाद के सदृश मन के लय का कोई साधन है।[2] मनुष्य के शरीर में साढ़े तीन कोटि रोम हैं। जब साधक साढ़े तीन कोटि नाम जप कर लेता है तभी अनहद नाद प्रकट होता है। योगी जब कुण्डलिनी को जाग्रत कर उदबुद्ध कर लेता है तब वह ऊर्ध्वमुख संचरण करती है। उसकी इस ऊर्ध्वगति से जो स्फोट होता है उसे 'नाद' कहते हैं। नाद अनाहत रूप से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। हठयोग प्रदीपिका में नाद के दस भेद वर्णित हैं।[3] नाद से प्रकाश होता है और प्रकाश का ही व्यक्त रूप महाबिन्दु है। यह बिन्दु तीन प्रकार का होता है—इच्छा, ज्ञान और क्रिया। पारिभाषिक तौर पर योगी लोग इन्हीं को कभी सूर्य चन्द्र और अग्नि और कभी ब्रह्मा विष्णु और शिव भी कहते हैं। वस्तुतः यह जो नाद और बिन्दु है वह अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त अनाहत नाद या अनहद नाद का व्यष्टि में व्यक्त रूप है। अर्थात् जो नाद अनाहत भाव से सारे विश्व में व्याप्त है उसी का प्रकाश जब व्यक्ति में होता है तब उसे नाद बिन्दु कहते हैं।[4] जिस प्रकार मकरन्द पान में मत्त भँवरा गंध की ओर ताकता भी नहीं उसी प्रकार योगी का नादासक्त चित्त नाद में ही रम जाता है।[5] दुनिया के किसी और विषय की परवाह नहीं करता। इन्द्रियों का अपने विषयों से विरत होकर चित्त का स्वरूपानुकार होना अर्थात् अनुकूलता को प्राप्त हो जाना प्रत्याहार है।[6] इस दशा को प्राप्त हो जाने पर साधक की इन्द्रियाँ मनोनुगामिनी हो जाती हैं।

---

१ सदा शिवोक्तानि सपादलक्ष लयावधानानि वसन्ति लोके।
नादानुसंधान समाधिमेकं मन्यामहे मान्यतमं लयानाम्॥
—शंकराचार्यकृत 'योगतारावली।'

२ नासनं सिद्धसदृशं न कुम्भकसमं बलम्।
न खेचरी सदृशा मुद्रा न नादसदृशो लयः॥
—शिवसंहिता।

३ आदौ जलधि जीमूत भेरी झर्झर सम्भवा।
मध्ये मर्दलशङ्खोत्था घण्टा काहलजास्तथा॥ ८५॥
अन्ते तु किंकिणी वंश वीणा भ्रमर निःस्वना।
इति नानाविधा नादा श्रूयन्ते देहमध्यगा॥ ८६॥
—हठयोगप्रदीपिका, उप० ४।

४ कबीर डॉ० ह० प्र० द्वि०, पृ० ४६।

५ मकरन्दं पिबन् भृङ्गो गन्धं नापेक्षते यथा।
नादासक्तं तथा चित्तं विषयान् नहि कांक्षति॥
—हठयोगप्रदीपिका।

६ 'स्वविषया सम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणाम् प्रत्याहार।'
—पातंजल योग दर्शन साधनापाद २ सूत्र। ५४

आरम्भ में हठयोग का उद्देश्य काया शुद्धि और मनोमार्जन ही माना जाता था किन्तु नाथ पंथ में काया-साधन को ही मुक्ति का साधन माना जाने लगा। पवन देह शुद्धि के लिए यम नियम को सम्पादित करना योगी के लिए परमावश्यक हो गया। पातञ्जल-योगदर्शन में निश्चल होकर एक ही स्थिति में सुखपूर्वक देर तक बैठने का अभ्यास करना आसन है।[1] शरीर को सीधा एवं स्थिर सुखपूर्वक कर जाने के बाद शरीर विषयक सारी चेष्टाओं का त्याग कर देना ही प्रयत्न शैथिल्य है। इससे स्थिर चित्त होकर परब्रह्म में मन नियोजित होता है तथा आसन की सिद्धि होती है। योगदर्शन में शरीर को रोग शोक से मुक्त रखने के लिए आसन साधना का विधान किया गया है। आसन योग-कला का एक अनिवार्य तत्त्व है। इस योग कला को जानने के कारण ही शिव शिवा के साथ विचरण करते हुए भी अचलासन हैं।[2] हठयोग विषयक ग्रन्थों में अनेक आसनों का वर्णन किया गया है। शिव संहिता में ८४ प्रकार के आसनों का उल्लेख है जिसमें पद्मासन सिद्धासन वीरासन स्वस्तिकासन भद्रासन दण्डासन मयूरासन सिंहासन शवासन मुक्तासन उग्रासन आदि प्रमुख प्रसिद्ध हैं जिनमें पद्मासन और सिद्धासन सार रूप माने गए हैं।[3] योग मार्ग में साधक को आसन के बाद प्राणायाम की साधना करनी पड़ती है। पतञ्जलि के शब्दों में आसन की सिद्धि हो जाने के बाद श्वास और प्रश्वास की गति का स्थगित हो जाना ही प्राणायाम है।[4] जिस प्रकार धातुओं को अग्नि में तपाने से उनका मल जलकर नष्ट हो जाता है उसी प्रकार श्वास और प्रश्वास के नियन्त्रण से इन्द्रिय-दोष भी दग्ध होकर समाप्त हो जाते हैं। प्राणायाम के तीन भेद हैं—पूरक कुम्भक और रेचक। पूरक का अर्थ है साँस खींचना अर्थात् बाहरी वायु को नासिका द्वारा खींचकर उदर में भरने का नाम पूरक है। उदर में भरी हुई वायु को यथा सम्भव रोक रखने को कुम्भक कहते हैं। इसके आठ भेद बतलाए गए हैं। रुद्ध तथा अवरुद्ध हुई वायु को नासारन्ध्र द्वारा धीरे धीरे बहिर्गमन को रेचक कहा गया है। योग दर्शन में आसन और प्राणायाम की साधना के लिए तथा चित्त को एकाग्र करने के लिए मुद्राओं का निर्देश किया गया है क्योंकि मुद्राओं के बिना आसन और प्राणायाम करना हानिप्रद है। अतः भिन्न भिन्न आसनों और प्राणायामों के सम्पादन के लिए भिन्न भिन्न मुद्राओं के प्रयोग निर्दिष्ट हैं। योग मार्ग के साधक के लिए सात प्रकार की मुद्राएँ आवश्यक बतलाई गई हैं—१-मूलबंध २-जलंधर बंध ३-उड्डियान बंध ४-शाम्भवी मुद्रा ५-खेचरी मुद्रा ६-अश्विनी मुद्रा और ७-योनिमुद्रा।

---

१ स्थिरसुखमासनम्।
—पातञ्जल योगदर्शन सा. पा० २ सूत्र ४६।

२ शिव जानत हैं सब योगकला।
नित संग शिवा पुनि हैं अचला॥
—संत सुन्दरदास।

३ आसनेभ्यः समस्तेभ्यो द्वयमेतदुदाहृतम्।
एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम्॥ १॥
—गोरक्षपद्धति।

४ तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।
—योगसूत्र सा. पा० ३ सूत्र ४६।

नाद

मन के लय का सर्वोत्तम साधन नादानुसंधान माना गया है। शंकराचार्य ने योग तारावली में लिखा है कि योग शास्त्र के प्रवर्तक स्वयं भगवान शिव हैं तथा उन्होंने मन के लय होने के सवा लाख साधन बतलाये हैं जिनमें नादानुसंधान सुगम एवं श्रेष्ठ है।[1] 'शिवसंहिता' में भी नाद-साधना को सर्वोत्तम साधन मानते हुए कहा गया है कि सिद्धासन के सदृश न तो कोई आसन है और न कुम्भक के समान कोई शक्ति। न खेचरी मुद्रा के समान कोई मुद्रा है और न नाद के सदृश मन के लय का कोई साधन है।[2] मनुष्य के शरीर में साढ़े तीन कोटि रोम हैं। जब साधक साढ़े तीन कोटि नाम जप कर लेता है तभी अनहद नाद प्रकट होता है। योगी जब कुण्डलिनी को जाग्रत कर उद्बुद्ध कर लेता है तब वह ऊर्ध्वमुख सचरण करती है। उसकी इस ऊर्ध्वगति से जो स्फोट होता है उसे नाद कहते हैं। नाद अनाहत रूप में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। हठयोग प्रदीपिका में नाद के दस भेद वर्णित हैं।[3] नाद से प्रकाश होता है और प्रकाश का ही व्यक्त रूप महाबिन्दु है। यह बिन्दु तीन प्रकार का होता है—इच्छा, ज्ञान और क्रिया। पारिभाषिक तौर पर योगी लोग इन्हीं को कभी सूर्य चन्द्र और अग्नि और कभी ब्रह्मा विष्णु और शिव भी कहते हैं। वस्तुतः यह जो नाद और बिन्दु है वह अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त अनाहत नाद या अनहद नाद का व्यष्टि में व्यक्त रूप है। अर्थात् जो नाद अनाहत भाव से सारे विश्व में व्याप्त है उसी का प्रकाश जब व्यक्ति में होता है तब उसे नाद बिन्दु कहते हैं।[4] जिस प्रकार मकरन्द पान में मस्त भँवरा गन्ध की ओर ताकता भी नहीं, उसी प्रकार योगी का नादासक्त चित्त नाद में ही रम जाता है।[5] दुनिया के किसी और विषय की परवाह नहीं करता। इन्द्रियों का अपने विषयों से विरत होकर चित्त का स्वरूपानुकार होना अर्थात् अनुकूलता को प्राप्त हो जाना प्रत्याहार है।[6] इस दशा को प्राप्त हो जाने पर साधक की इन्द्रियाँ मनोनुगामिनी हो जाती हैं।

---

१ सदा शिवोक्तानि सपादलक्ष लयावधानानि वसन्ति लोके।
नादानुसंधान समाधिमेकं मन्यामहे मान्यतमं लयानाम्॥
—शंकराचार्यकृत 'योगतारावली।'

२ नासनं सिद्ध सदृशं न कुम्भक सम बलम्।
न खेचरी सदृशा मुद्रा न नाद सदृशो लयः॥
—शिवसंहिता।

३ आदौ जलधि जीमूत भेरी भर्झर सम्भवा।
मध्ये मर्दलशङ्खोत्था घंटा काहलजास्तथा॥ ८५॥
अन्ते तु किंकिणी वंश वीणा भ्रमर निःस्वना।
इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते देहमध्यगाः॥ ८६॥
—हठयोगप्रदीपिका, उप० ४।

४ कबीर डॉ० ह० प्र० द्वि०, पृ० ४६।

५ मकरन्दं पिबन् भृंगो गन्धं नापेक्षते यथा।
नादासक्तं तथा चित्तं विषयान् नहि कांक्षति॥
—हठयोगप्रदीपिका।

६ 'स्वविषया सम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणाम् प्रत्याहारः।'
—पातंजल योग दर्शन साधनापाद २, सूत्र। ५४

योगसूत्र के अनुसार प्रत्याहार सिद्ध हो जाने पर योगी की इन्द्रियाँ पूर्णरूपेण वशवर्तिनी हो जाती हैं। सन्त गुरुनानक ने कहा है कि जिस प्रकार कच्छप अपने अंगों को भीतर समेट लेता है अथवा सूर्य की किरण रस स्पर्शों का ग्रहण करती है उसी प्रकार साधक प्रत्याहार साधना द्वारा इन्द्रिय निग्रह कर उन्हें अन्तर्मुखी बना लेता है।

आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिक देशों में से किसी ध्येय देश के विषय में चित्त को एकाग्र करना ही धारणा है। धारणा की साधना में मन को किसी स्थान या वस्तु विशेष में लगाना होता है। शरीर के अन्तर्गत इसके लिए कुछ आश्रयभूत स्थान निर्धारित हैं—नाभि हृदय वक्षस्थल कण्ठ मुख नासिकाग्र नेत्र भ्रूमध्य मूर्धस्थान और ब्रह्मरन्ध्र।

ध्येय वस्तु का ज्ञान जब एकाकार रूप से प्रवाहित होता है और उस दशा में किसी कोई अन्य ज्ञान नहीं होता तब उसे ध्यान कहते हैं। महर्षि पतंजलि के मतानुसार ध्येय वस्तु में चित्त को नियोजित करना उसी में चित्त का एकाग्र होना अर्थात् केवल ध्येय मात्र की एक ही तरह की वृत्ति का प्रवाह चलाना उसके बीच में अन्य वृत्ति का उदय न होना ही ध्यान है।[1]

मन की एकतानता की चरम सीमा समाधि है। समाधि दशा को प्राप्त होना योग साधना की अन्तिम परिणति है। समाधि-दशा को प्राप्त कर साधक के हृदय और मस्तिष्क में केवल एक विचार और एक ही प्रकाश रह जाता है और वह विचार या प्रकाश है ब्रह्म का। साधक इसी प्रकाश-पुंज में स्वयं लीन हो जाता है। जब ध्यान और ध्येय वस्तु एकरूप हो जाती हैं तब उसे समाधि कहते हैं। पतंजलि के कथनानुसार ध्यान करते करते चित्त ध्येय के ही आकार में परिणत हो जाता है और उस ध्येय तथा ध्याता की एकात्मता ज्ञाता एवं ज्ञेय की भिन्नता का अभाव ही समाधि है।[2] ब्रह्म में चित्तवृत्ति का पूर्णरूप से लीन हो जाना अर्थात् स्वरूप का शून्यवत होना ही समाधि है। समाधि की अवस्था में साधक समस्त भेद भावों मनोविकारों एवं शीतोष्णादि प्रभावों से परे हो जाता है। जिस प्रकार लवण जल में दुग्ध दुग्ध में घृत घृत में एवं जल जल में मिला देने से भेद रहित हो जाते हैं उसी प्रकार समाधि-दशा में ध्याता और ध्येय एकमेक हो जाते हैं।

समाधि दो प्रकार की मानी गई है—सम्प्रज्ञात समाधि और असम्प्रज्ञात समाधि। सम्प्रज्ञात समाधि में ध्येय वस्तु का भान बना रहता है किन्तु असम्प्रज्ञात समाधि में ध्येय ध्याता और ध्यान का एकात्म हो जाता है। प्रथम को सबीज और द्वितीय को निर्बीज समाधि कहते हैं।

योग के भेद

योग मार्ग में साधक की प्रगति के अनुसार योग के तीन भेद माने गये हैं—सविकल्प योग निर्विकल्प योग और निर्बीज योग।

---

१ 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।

—वही विभूतिपाद ३ सूत्र २।

२ "तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।

—पातंजल योगदर्शन विभूतिपाद ३ सूत्र ३।

सविकल्प योग साधना की प्रारम्भिक अवस्था को, निर्विकल्प योग निर्विचार समाधि दशा को तथा निर्वीज योग कैवल्यावस्था को कहते हैं, जिसमे चित्त की समस्त वृत्तियों के परिशमन के उपरान्त आत्मा अपने निज-स्वरूप को प्राप्त हो जाती है।

यौगिक प्रक्रिया की दृष्टि से योग के अनेक भेद हैं— यथा—राजयोग, हठयोग लययोग मन्त्रयोग अष्टांगयोग लम्बयोग, सांख्ययोग कर्मयोग, भक्तियोग ज्ञानयोग प्रेमयोग अद्वयोग, ध्यानयोग, चर्यायोग आदि। पतंजलि के योग-सूत्रों मे मुख्यत अष्टांगयोग और राजयोग की ही विवेचना की गई है। इससे भिन्न हठयोग का सम्बन्ध तान्त्रिक परम्परा से माना जाता है। जैन और बौद्ध-साधना मे पतंजलि निरूपित अष्टांगयोग के बदले षडंग-योग (प्रत्याहार ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति और समाधि) को स्वीकार किया गया है। प्रत्याहार मे बाह्य रूपादि में अप्रवृत्ति तथा यथाभूत बुद्ध बिम्ब का दर्शन, ध्यान मे सर्वधर्म शून्यता में चित्त प्रवृत्ति, प्राणायाम मे ललना, रसना (इडा पिंगला) का मार्ग निरोध कर मध्य मार्ग अवधूती (सुषुम्णा) मे प्राण-वायु का सचालन धारणा मे बिन्दु का प्राण प्रवेश अनुस्मृति मे इष्टदेवता का प्रतिबिम्बाकार दर्शन और समाधि मे प्रज्ञा एवं उपाय के अद्वय की सिद्धि बतलाई गई है।[१]

यौगिक माधुर्यवाद के स्वरूप निर्णय के इस प्रसग मे योग के विभिन्न भेदों की सांगोपांग विवेचना न कर केवल वहां तक विषय को सीमित रखने का प्रयास किया गया है, जहाँ तक उससे मधुर रस के स्वरूप का किसी-न किसी रूप मे स्पष्टीकरण होता है।

योग-साधना के क्षेत्र मे राजयोग और हठयोग समानान्तर चलते रहे हैं, किन्तु हठयोग से राजयोग सदैव श्रेयस्कर माना गया है। ससार की स्थिति एवं विनाश मे उलझे हुए मन को एकाग्र करके परब्रह्म के आनन्द-स्वरूप का मनन करते हुए आत्म समाधिस्थ हो ब्रह्म मे मिलना ही राजयोग है। इस प्रकार राजयोग की साधना बहिर्जगत के भीतर अन्तर्जगत का मानसिक प्रत्यक्षीकरण है क्योंकि राजयोग का साधक सम्पूर्ण बहिर्जगत को सूक्ष्म-जगत का स्थूल विकास मात्र मानता है। इस दृष्टि से मूलत राजयोग-साधना मन-साधना मे सम्बन्धित है। इसमे योग के बहिरंग पंच साधनों (यम नियम, आसन, प्राणायाम प्रत्याहार) के साथ साथ तीन अन्तरंग साधनो (धारणा, ध्यान और समाधि) पर ही विशेष बल दिया जाता है। संक्षेप मे सर्वप्रथम मन की एकाग्रता तदनन्तर मन के गंभीरतम प्रदेश के विभिन्न कार्यों का उदबोधन तत्पश्चात उनके साधारण सत्यों को निकालकर अपने एक सिद्धान्त पर दृढ होना—यही राजयोग की शिक्षा है जो किसी धर्म विशेष पर आधारित नहीं है। इस विशिष्ट योग-पद्धति को राजयोग कहने का यह भी एक प्रमुख कारण है।

राजयोग की बडी महिमा गाई गई है। इसी की साधना द्वारा योगेश्वर शिव शक्ति के साथ रमण करते हुए भी विषय विकारों से परे रहे।[२] राजयोग का साधक भोगमय ससार के बीच रहकर भी उसमे 'पद्मपत्रमिव' निर्लिप्त रहता है। राजयोग मे ज्ञान और भक्ति के

---

१ हिन्दी साहित्य-कोश पृ ८८०।

२ राजयोग कीना शिवराइ। गौरा सग अनग न जाइ॥
इन मांहि रहै अग्नि के पासा। राजयोग का बडा तमाशा॥ १४॥
—सुन्दर दर्शन, पृ ६५।

सुन्दर समन्वय का यही कारण है। परम प्रेम स्वरूपा भक्ति का समावेश हो जाने के कारण स्वभावतः राजयोग में मधुर रस का संनिवेश हो जाता है। संतों की वाणियों में योग और प्रेम के मधुर सामंजस्य को बड़ा ही आकर्षक एवं सरस बनाकर प्रस्तुत किया गया है।[1]

लययोग

योग-साधना में पिंड और ब्रह्माण्ड को अभिन्न माना गया है। भौतिक जगत् के सभी पदार्थों की स्थिति पिंड एवं ब्रह्माण्ड में समान रूप से है। अतएव पिंड के रहस्य को जानना ब्रह्माण्ड के रहस्य को जानना है। सद्गुरु की निर्दिष्ट साधना तथा आत्म विचार द्वारा पिंड ज्ञान के उपरान्त आवश्यक क्रियाओं द्वारा प्रकृति को पुरुष में लय करना ही लययोग है। योग साधना द्वारा सुषुप्त आत्म शक्ति कुण्डलिनी को प्रबुद्ध कर पुरुष के पास सहस्रार दल पद्म में लय करने की क्रिया को ही लययोग कहते हैं। ध्यान में विषय विस्मृति अर्थात् वासनाओं का लय हो जाना ही लय क्रिया है। इसके द्वारा योगी सूक्ष्म शरीर का ज्ञान प्राप्त करता है तथा कुण्डलिनी शक्ति को प्रबुद्ध करके उसे षट्चक्रों से अग्रसर करते हुए ब्रह्म में लीन कर देता है। मेरुदण्ड के निम्नभाग से लेकर सिर के ऊपरी भाग तक स्थित भिन्न भिन्न स्थानों (चक्रों) की सहायता से योगी प्रकृति शक्ति (कुण्डलिनी) को क्रमशः ऊपर ले जाकर सातवें सहस्रदल के स्थान में शिव शक्ति के संयोग द्वारा मुक्ति प्राप्त करता है। सहस्रार में शिव और शक्ति का यह महामिलन अपूर्व और अवर्णनीय है। यही यौगिक माधुर्यभाव का प्रतिपाद्य है तथा योग-साधना का शीर्षफल है। शिव और शक्ति के महामिलन से जिस मधुर रस धारा का प्लावन होता है वह अलौकिक, अखण्ड और अनुपम है। इसके रसास्वादन के वास्तविक अधिकारी कोई विरले सिद्ध जन ही होते हैं। संत सुन्दरदास ने लययोग की लय क्रिया का स्पष्टीकरण करते हुए चातक का 'पीव ! पीव !!' की रट लगाते हुए *प्रियतम की खोज में व्याकुल फिरना, कूंजी और कूर्म का ध्यान से अंडों को सेना, मृग का* बाँसुरी की मोहक तान सुनकर आत्म सुधि खोना, पनिहारिन का अपने सिर पर गागर रख कर सुरति में हिलना डुलना आदि दृष्टान्तों के प्रयोग किये हैं।[2]

मन्त्रयोग

अपने विशेष अर्थ में मन्त्र शब्द कई प्रकार की साधना पद्धतियों से सम्बद्ध है। योगसूत्र में 'तस्य वाचकः प्रणवः' द्वारा मन्त्रयोग का निर्देश किया गया है। योग शास्त्र के

१ हिंडोलना तहँ झूलै आतमराम।
प्रेम भगति हिंडोलना सब संतन को बिश्राम।
चंद सूर दुइ खंभवा बंकनालि की डोरि।
झूलैं पंच पियारियाँ तहँ झूलै जीय मोर।
द्वादस गम के अंतरा तहँ अमृत को ग्राम।
जिन यहु अमृत चाखिया सो ठाकुर हम दास।
सहज सुंनि को नैहरौ गगन मंडल सिरमौर।
दोऊ कुल हम आगरी जो हम झूलैं हिंडोल॥ —कबीर ग्रंथावली पृ. ६४।

२ संत सुन्दरदास : सर्वांगयोगप्रदीपिका द्वितीयोपदेश।

अनुसार यह सृष्टि नामरूपात्मक है। अतएव नाम और रूप के अवलम्बन से ही साधक सृष्टि के बन्धनों से विमुक्त हो सकता है। मनुष्य जिस भूमि पर फिसल कर गिरता है पुनः उसी का सहारा लेकर वह उठने में समर्थ होता है। नामरूपात्मक विषय मनुष्य को मधुर भाव-बन्धन में बाँधते हैं और नामरूपात्मक प्रकृति-वैभव से जीव अविद्या-ग्रस्त रहते हैं। अतएव स्व सूक्ष्म प्रकृति और प्रवृत्ति का अनुसरण कर नाममय शब्द और भावमय रूप के अवलम्बन से जो साधना की जाती है उसे ही मन्त्रयोग कहा गया है।[१] राग से मनुष्य बन्धन में पड़ता है और राग से ही वह बन्धन विमुक्त भी होता है। इसी सिद्धान्त को मानकर मन्त्रयोग का विधान हुआ है। साधना क्षेत्र में मधुर रस साधना का यही रहस्य है।

हठयोग

हठयोग योग-साधना की उच्च पद्धति है। श्वास प्रश्वास तथा शारीरिक अवयवों का नियन्त्रण कर उनका उचित संचालन करते हुए मन को एकाग्र करना तथा उसे परब्रह्म में नियोजित करना हठयोग है। हठयोग के व्युत्पत्तिमूलक अर्थों की अभिव्यंजना करते हुए कहा गया है कि इसमें ह का अर्थ चन्द्र है और ठ का अर्थ सूर्य है। सूर्य और चन्द्र क्रमशः दक्षिण और वाम स्वर के प्रतीकार्थ में भी ग्रहण किए गए हैं। इन दोनों का सम्मिलन ही हठयोग है।[२] इसी को इडा और पिंगला नाड़ी अथवा प्राण और अपान वायु का समीकरण भी कहा गया है। विषमता समारोत्पत्ति का कारण है और समता प्रलय की सूचिका है। इस प्रकार जगत में सदा परस्पर विरुद्ध शक्तियाँ हैं जो एक-दूसरे को धर्षित करके अपना अधिकार जमाने का प्रयास करती रहती हैं। बहिःशक्ति की प्रधानता होने से सृष्टि होती है तथा अन्तःशक्ति की प्रधानता होने से संहार होता है। स्थिति दोनों की साम्यावस्था है। शिव शक्ति पुरुष प्रकृति आदि शब्द ऐसी आदि द्वन्द्व के परिचायक हैं। जीव-देह के अन्तर्गत ये उभय शक्तियाँ प्राण और अपान रूप में रहती हैं। इन दोनों के द्वन्द्व को दूर करके दोनों में समता लाना ही हठयोग-साधना का लक्ष्य है।

हठयोगप्रदीपिका में योगी के कुलीन और कुलघातक नामक दो भेद किए गए हैं। पंचमकार अर्थात् मद्य मांस मत्स्य मुद्रा और मैथुन[३] का सेवन करने वाला योगी कुलीन कहलाता है और इससे इतर सभी कुलघातक कहे गए हैं। उपयुक्त पंचमकार के बड़े ही

---

१ नामरूपात्मिका सृष्टिः यस्मात्तदवलम्बनात्।
बन्धनं मुच्यमानोऽयं मुक्तिमाप्नोति साधकः॥
तामेव भूमिमालम्ब्य स्खलनं यत्र जायते।
उत्तिष्ठति जनः सर्वो यथैवैतत्समीक्ष्यते॥
नामरूपात्मकैर्भावैर्बध्यन्ते निखिला जनाः।
अविद्यामिलितास्तैव तादृक् प्रकृति वैभवात्॥
आत्मनः सूक्ष्म प्रकृति प्रवृत्ति चानुसृत्य वै।
नामरूपात्मनोः शब्दभावयोरवलम्बनात्॥

—मुन्दरदास ने उद्धृत पृ १३४।

२ रामस्वामीकृत हठयोगप्रदीपिका की टीका।

३ हठयोगप्रदीपिका ३।४९-८।

गूढ़ प्रतीकार्थ व्यक्त करते हैं। सहस्रार चक्र के चन्द्र-तत्त्व से निरन्तर प्रस्रवमान अमृत रस ही मद्य है।[१] आत्मस्थ सहस्रार से पान पुष्प की वर्षा होना ही मांस-भोजन है।[२] इडा और पिंगला रूपी गंगा और यमुना में प्रवाहित होने वाले श्वास प्रश्वास ही मत्स्य हैं और उनका निरोध करना ही मत्स्य कहा गया है।[३] कुमति त्याग कर मनन करना ही मुद्रा-सेवन है।[४] सुषुम्ना और प्राण का मिलन ही मैथुन है।[५] संतों ने पंचमकार का बड़ा मधुर वर्णन किया है और इनके स्पष्टीकरण के लिए बड़े ही सरस एवं भावपूर्ण रूपकों का विधान किया है जिनसे यौगिक माधुर्यवाद की अवतारणा हुई है। इस प्रकार लौकिक प्रतीकों के सहारे गूढ़ यौगिक प्रक्रियाओं और उनके रहस्यों का उद्घाटन कर अलौकिक मधुर रस की सृष्टि की गयी है। योगियों ने मन और प्राण की रसात्मकता और उससे आनन्द का बड़ा ही स्वाभाविक चित्रण किया है। परमशक्ति कुण्डलिनी और परमपुरुष के मधुर मिलन और तज्जन्य आनन्द की भी बड़ी ही प्रगल्भ उद्भावना की गई है जो अनायास ही आनन्द रस के रसिकों के मन को मुग्ध करती जाती है।[६]

हठयोग के सिद्धान्तानुसार शब्दब्रह्म आत्म सदृश है।[७] अपनी अभिव्यक्ति के लिए ही सूक्ष्म आत्मा ने स्थूल शरीर धारण किया है। इस रूप की सार्थकता इसी में है कि साधक बिन्दु रक्षा द्वारा ऊर्ध्वरेता बनकर जालंधर बंध, खेचरी मुद्रा, कुण्डलिनी उत्थान क्रिया द्वारा सहस्रार स्थित गगनमण्डल (ब्रह्मरन्ध्र) के औंधे मुँह अमृत कूप (चन्द्र-तत्त्व) से निरन्तर प्रस्रवित होने वाले अमृत रस का आस्वादन कर जीवन्मुक्त हो जाय।[८] इस तरह आत्म निरत

---

१ सोमधारा क्षरेद् या तु ब्रह्मरन्ध्राद् वरानने।
पीत्वानन्दमयीं तां यः स एव मद्यसाधकः। —आगमसार।

२ मा शब्दाद् रसना ज्ञेया तदंशान् रसनाप्रियान्।
सदा यो भक्षयेद् देवि स एव मांससाधकः। —आगमसार।

३ गंगायमुनयोर्मध्ये मत्स्यौ द्वौ चरतः सदा।
तौ मत्स्यौ भक्षयेद् यस्तु स भवेन् मत्स्यसाधकः॥ —आगमसार।

४ सहस्रारे महापद्मे कर्णिका मुद्रिता चरेत्।
आत्मा तत्रैव देवेशि केवलम् पारदोपमम्।
अतीव कमनीयम् च महाकुण्डलिनीयुतम्।
यस्य ज्ञानोदयस्तत्र मुद्रासाधक उच्यते। —आगमसार।

५ मैथुनम् परमं तत्त्वं सृष्टिस्थित्यन्तकारणम्।
मैथुनाज्जायते सिद्धिर्ब्रह्मज्ञानम् सुदुर्लभम्॥ —आगमसार।

अवधू गगन मंडल घर कीजै।
अमृत झरै सदा सुख उपजै बंक नालि रस पीजै।
मूल बाँधि सर गगन समाना सुषमन यों तन लागी।
काम क्रोध दोउ भया पलीता तहाँ जोगणी जागी।
मनवाँ जाइ दरीबै बैठा मगन भया रसि लागा।
कहै कबीर जिय संसा नाँही सबद अनाहद बागा। —कबीर ग्रंथावली पद ७।

७ यह तन साँचि साँचि का घरवा। रुधिर पलटि अमीरस भरवा। —गोरखनाथ।

८ गगनमंडल में औंधा कूवा तहाँ अमृत का बासा।
सगुरा होइ सु भरि भरि पीवा निगुरा जाइ पियासा॥ —गोरखनाथ।

हो जाने पर साधक घन-अवस्था सिद्ध हो जाता है और क्रमिक मन से ऊपर उठ कर उन्मन दशा को प्राप्त हो आत्मदेव का साक्षात्कार करता है। इसके लिए योगाभ्यासियों ने सुदीर्घ चिंतन के फलस्वरूप सूक्ष्म शरीर विज्ञान का विधान किया है जिसमें बहत्तर हजार नाड़ियां उनमें प्रमुख पञ्च-स्रोतों षट् चक्रों सहस्रार-दल चक्र ब्रह्मरन्ध्र और उनके अधिष्ठाता सदाशिव अमृत स्रावी चन्द्र-तत्त्व मूलाधार स्थित सूर्य-तत्त्व चौंसठ सन्धियां पाञ्चभौतिक पञ्चप्राण पञ्चवायु दस नाद और सर्वोपरि व्यष्टि में व्यक्त आत्मशक्ति कुण्डलिनी आदि महत्त्वपूर्ण तत्त्वों की अवतारणा की गयी है।

नाडी-विज्ञान

प्राणायाम के लिए अन्तिम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विषय है नाड़ी शुद्धि। योग शास्त्र में प्राणायाम द्वारा नाड़ी शुद्धि पर बहुत जोर दिया गया है। प्राणायाम के अभ्यास से शरीरस्थ नाड़ियां सक्रिय होती हैं तथा चक्र उत्तेजित एवं चेतनशील होते हैं जिनसे साधक में यौगिक शक्तियों का स्फुरण होता है।

शिवसंहिता के अनुसार मनुष्य के शरीर में ३५ हजार नाड़ियां हैं। हठयोग प्रदीपिका में नाड़ियों की संख्या ७२ हजार बतलाई गया है। नाभि के ऊपर शरीर के मध्य भाग में कन्द का स्थान है जिसकी आकृति कुक्कुट के अण्ड के समान है। शरीरस्थ सभी नाड़ियों का यही उद्गम-स्थल है। यहीं से निकल कर नाड़ियां समस्त शरीर में भिन्न भिन्न दिशाओं की ओर जाती है।[1] ७२ हजार नाड़ियों में ७२ मुख्य हैं जिनमें इडा पिंगला सुषुम्ना गान्धारी, हस्तिजिह्वा पूषा यशस्विनी अलम्बुषा कुहू और शंखिनी ये १० नाड़ियां प्रधान हैं।[2] इन दस नाड़ियों में इडा पिंगला और सुषुम्ना सर्वप्रधान हैं। सुषुम्ना के भीतर वज्रा नाड़ी, उसके भीतर चित्रिणी नाड़ी और उसके भीतर अति सूक्ष्म ब्रह्मनाड़ी है जिसमें होकर कुण्डलिनी शक्ति सहस्रार में प्रवेश करती है। शिवसंहिता के अनुसार इडा मानव शरीर में मेरुदण्ड की बायीं ओर रहती है तथा सुषुम्ना से लिपटती हुई नासिका की दायीं ओर जाती है।[3] पिंगला मेरुदण्ड की दायीं ओर स्थित है तथा सुषुम्ना से लिपटती हुई नासिका की बायीं ओर जाती है।[4] इडा और पिंगला के मध्य में सुषुम्ना नाड़ी स्थित है। इसकी छह स्थितियों में छह शक्तियां हैं जो सिद्धिदायिनी हैं।[5] एकमात्र सुषुम्ना ही शाम्भवी शक्ति है शेष नाड़ियाँ

---

१ उपरिष्टान्नाभिमेढ्रयोः कन्दो देहमध्यगतः स्मृतः।
कुक्कुटाण्डसमाकारः सर्वनाडीसमाश्रयः। —योगरसायनम्।

२ द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीद्वाराणि पञ्जरे।
तेषु नाडीसहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृता।
प्रधाना प्राणवाहिन्यो भूयस्तासु दशस्मृता। —हठयोगप्रदीपिका ४/१८

३ इडा नाम्नीतु या नाडी वाममार्गे व्यवस्थिता।
सुषुम्नायां समाश्लिष्य दक्ष नासापुटे गता। —शि० सं०, द्वितीय पटल श्लो० २५।

४ पिंगला नाम या नाडी दक्षमार्गे व्यवस्थिता।
मध्यनाडी समाश्लिष्य वाम नासापुटे गता॥ —वही, श्लो० २६।

५ इडा पिंगलयोर्मध्ये सुषुम्णाया भवेत्खलु।
षट् स्थानेषु च षट्शक्तिं षट्पद्मं योगिनो विदुः॥ —वही श्लो० २७।

निर्भर है। सिद्धि की दृष्टि से इडा और पिंगला की अपेक्षा सुषुम्ना का बहुत महत्त्व माना गया है। 'योगस्वरोदय' के अनुसार सुषुम्ना योगसिद्धिदायिका है।[1] सुषुम्ना को अग्निनाड़ी भी कहा गया है।

तन्त्रग्रन्थों (बौद्ध तन्त्रों) में इडा को ललना, पिंगला को रसना और सुषुम्ना को अवधूती की संज्ञा दी गई है। इन्हीं को त्रिकुटी, गङ्गा या त्रिनाड़ी भी कहा है। ललना प्रज्ञास्वरूपा तथा शक्तिरूपिणी है। रसना उपाय रूप तथा अवधूतिका प्रज्ञोपाय से परे सहज मार्ग है। यह बौद्ध सिद्धों का ... उसका नाम अवधूती है। मध्य मार्ग ललना सहज सुन्दरी आलिनी आदि इसकी संज्ञाएँ हैं। यही नाड़ी योगियों का ... जाता है जो बौद्धसिद्धों का रमणस्थल बताया गया है। चर्यापदों में परिशुद्धा और अपरिशुद्धा अवधूती के दो रूप वर्णित हैं जिनको क्रमशः डोम्बी और चाण्डाली कहा है। डोम्बी से बोधिचित्त गमनागमन करता है तथा चाण्डाली में भेदभाव बना रहता है। ललना और रसना के कुछ और भी नाम हैं—आली-काली, चन्द्र-सूर्य, रज-शुक्र आदि। आली से अर्थ है अ से प्रारम्भ होने वाली स्वरमाला और काली से अर्थ है क से प्रारम्भ होने वाली व्यञ्जनमाला। तन्त्रों में स्वर शक्ति से सम्बद्ध है और व्यञ्जन शिव से। अतः ललना शक्तिरूपिणी आली है, रसना शिवरूपिणी काली।[2] योगरसायन में इडा, पिंगला और सुषुम्ना को क्रमशः गंगा, यमुना और सरस्वती कहा गया है।[3] इन तीनों का जहाँ ब्रह्मरन्ध्र में संगम हुआ है वही त्रिवेणी या प्रयाग है। कबीर दास कभी कभी शिवसंहिता आदि हठयोग के ग्रन्थों की भाँति इसी त्रिवेणी में स्नान करने का विधान करते हैं। कबीर की उलटबाँसियों और योगात्मक रूपकों की व्याख्या के समय इन पारिभाषिक शब्दों को नहीं भूलना चाहिए।[4] अन्य निर्गुणियाँ सन्तों ने कबीर के इस दृष्टिकोण का अनुसरण किया है। इडा शीतल स्वभाव की कही गई है और उसमें चन्द्र का वास माना गया है। अतः इडा को चन्द्रनाड़ी भी कहते हैं। इसके विपरीत पिंगला उष्ण स्वभाव की है तथा उसमें सूर्य का वास है। अतः पिंगला को सूर्यनाड़ी की भी संज्ञा दी गयी है। इडा और पिंगला के मध्यवर्ती होने के कारण सुषुम्ना त्रिगुणमयी है। अतः उसे चन्द्र-सूर्य-अग्नि स्वरूपा कहा गया है। सूर्य और चन्द्र को यदि प्रकृति और पुरुष का प्रतीक मान लें तो यह कहा जा सकता है कि प्रकृति पुरुष के आलिंगन से ही मध्य मार्ग (सुषुम्ना) खुल सकता है। इडा पिंगला के समीकरण से ही कुण्डलिनी जाग्रत होती है।

---

१ सुषुम्ना शाम्भवीशक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थकाः।

—हठयोगप्रदीपिका ४.१८।

× × ×

इडा वामे स्थिता नित्यं पिंगला दक्षिणे तथा।
सुषुम्ना मध्यगा ज्ञेया योगसिद्धिप्रदायिनी॥

—योगरसायनम्।

२ स्टडीज इन तन्त्राज—पी० सी० बागची।

३ इडा भोगवती गंगा पिंगला यमुना नदी।
इडापिंगलयोर्मध्ये सुषुम्ना च सरस्वती॥

—योगरसायनम्।

४ डा० ह० प्र० द्विवेदी : कबीर, पृ० ४८-४९।

षटचक्र का भेदन कर जब कुण्डलिनी शनै शनै ऊपर चढकर सहस्रार चक्र स्थित परम शिव के आलिंगन के लिए आगे बढती है तब शिव शक्ति का यह आलिंगन महान् आनन्द को उत्पन्न करता है। इसी दशा को युगल रूप कहते हैं।

षट्चक्र विज्ञान

नाडी विज्ञान के बाद हठयोग-साधना का दूसरा प्रमुख तत्त्व है चक्र विज्ञान। प्राणायाम आदि यौगिक क्रियाओं द्वारा उदबुद्ध कुण्डलिनी शक्ति ऊर्ध्वमुख होकर इडा पिंगला के मध्य स्थित सुषुम्णा के भीतर सूक्ष्मतम ब्रह्मनाडी से होती हुई षटचक्रों का भेदन कर जब सहस्रार चक्र में पहुचती है तब योगी की समस्त यौगिक क्रियाएं सिद्ध हो जाती हैं और वही कुण्डलिनी शक्ति और परम पुरुष शिव का मधुर मिलन होता है। अपने पूर्वस्थान (मूलाधार चक्र) से ऊपर अपने गन्तव्य स्थान (सहस्रार चक्र स्थित ब्रह्मरन्ध्र) तक की यात्रा में कुण्डलिनी शक्ति को सुषुम्णा के भिन्न भिन्न अगों या स्थितियों में अग्रसर होना पडता है जिन्हें षट चक्र के नाम से अभिहित किया गया है।

शिवपुराण, लिंगपुराण, स्कन्दपुराण और अग्निपुराण के अतिरिक्त तन्त्र शास्त्र विषयक ग्रन्थों में षट चक्रों का विस्तृत विवेचन मिलता है। देवी भागवत में षट चक्र भेदन की प्रणाली मूलाधार में कुण्डलिनी के साथ जीव को हंस द्वारा मिलाये जाने के उपाय आदि विषयों के रहस्यात्मक वर्णन किये गए हैं। शक्तिसम्मोहनतन्त्र, महानिर्वाणतन्त्र आदि तान्त्रिक ग्रन्थों में नवचक्रों का उल्लेख है। षटचक्र भिन्न भिन्न दल वाले कमल-पुष्प के आकार के माने गए हैं जो मेरुदण्ड के भिन्न बिंदुओं पर अवस्थित हैं। प्रथम चक्र 'मूलाधार' है जो मेरुदण्ड के नीचे गुदा और लिंगमूल के मध्य स्थित, सुषुम्णा के मुख में संलग्न चार कमल-दल के आकार का तथा पीत रंग वाला है।[1] शरीर विज्ञान के अनुसार इसे कमिक प्लेक्सस कहते है। इसी के अन्तर्गत प्राणशक्तिसहित कुण्डलिनी त्रिकोणाकार अग्निचक्र (त्रिपुर) में स्थित स्वयम्भू लिंग से साढे तीन वलयों में लिपटी हुई निश्चेष्ट पडी रहती है। इस चक्र की अधिष्ठात्री देवी डाकिनी है। दूसरा स्वाधिष्ठान चक्र है जो लिंग मूल में स्थित है। यह छह कमल-दल के आकार का है[2] तथा इसकी अधिष्ठात्री देवी शाकिनी है। शरीर विज्ञान की दृष्टि से इसे हाइपोगास्ट्रिक प्लेक्सस् कहते हैं। तृतीय चक्र मणिपूरक है जो नाभि के समीप स्थित है। यह दस कमल-दल के आकार वाला तथा हेमवर्ण का है।[3] इसकी अधिष्ठात्री देवी लाकिनी है। शरीर विज्ञान के अनुसार इसे 'सोलर प्लेक्सस' कहते हैं। चतुर्थ अनाहत चक्र है जो हृदय में स्थित है। यह द्वादश कमल दल के आकार का है तथा रक्तवर्ण है।[4] इसकी अधिष्ठात्री देवी काकिनी है। शरीर विज्ञान की दृष्टि में इसे कारडियक प्लेक्सस् कहते हैं। पंचम विशुद्धाख्य चक्र है जो कंठ में स्थित है। यह सोलह कमल-दल के

---

१ शिवसंहिता प० प०, श्लो० ५।
२ शिवसंहिता, प० प० श्लो० ७८।
३ वही, श्लो० ७६।
४ वही, प० प०, श्लो० ८३।

निरर्थक है। सिद्धि की दृष्टि से इडा और पिंगला की अपेक्षा सुषुम्ना का बहुत महत्त्व माना गया है। योगरसायन' के अनुसार सुषुम्ना योगसिद्धिदायिनी है।[1] सुषुम्ना को अग्निनाडी भी कहा गया है।

वज्रकुलपिटक (बौद्ध प्रणाली) म इडा को ललना पिंगला को रसना और सुषुम्ना को अवधूती की सज्ञा दी गई है। इन्ही को त्रिकुटी गङ्गुरी या तिनाडी' भी कहते हैं। ललना प्रज्ञारूप तथा रात्रिरूपिणी है। रसना उपाय रूप तथा अवधूतिका प्रज्ञोपाय से परे सहज मार्ग है। वह क्लेशो को धुनने वाली है अत उसका नाम अवधूता है। मध्य मार्ग नरात्मा सहज सुन्दरी जोगिनी आदि इसकी सज्ञाए हैं। यही नाडी रोचननगर' तक जाती है जो बौद्ध-पद्धति का नामद्वार ब्रह्मरन्ध्र है। चर्यापदो म परिशुद्धा और अपरिशुद्धा अवधूती के दो रूप वर्णित है जिन्हे क्रमश डोम्बी और छिनाली कहते हैं। डोम्बी से बोधिचित्त समागम करता है तथा छिनाली म भेद भाव बना रहता है। ललना और रसना के कुछ और भी नाम हैं—आली-काली घमन चमन रज शुक्र आदि। आली के अर्थ हैं अ से प्रारम्भ होने वाली स्वरमाला और काली के अर्थ हैं क से प्रारम्भ होने वाली व्यजनमाला। तन्त्रों म स्वर रात्रि से सम्बद्ध है और व्यजन दिन स। अत ललना रात्रिरूपिणी आली है रसना दिवसरूपिणी काली।[2] योगरसायन म इडा पिंगला और सुषुम्ना को क्रमश गगा यमुना और सरस्वती कहा गया है।[3] इन तीनो का जहा ब्रह्मरन्ध्र म सगम हुआ है वही त्रिवेणी' या प्रयाग है। कबीर दास कभी कभी शिवसहिता आदि हठयोग के ग्रन्थो की भाँति इसी त्रिवेणी म स्नान करने का विधान करते हैं। कबीर की उलटबासियो और योगात्मक रूपको को पढते समय इन सांकेतिक शब्दो को नहा भूलना चाहिए।[4] अन्य निर्गुणियाँ सतो न कबीर के इस दृष्टिकोण का अनुसरण किया है। इडा शीतल स्वभाव की कही गई है और उसम चन्द्र का वास माना गया है। अत इडा को चन्द्रनाडी भी कहते हैं। इसके विपरीत पिंगला उष्ण स्वभाव की है तथा उसम सूर्य का वास है। अत पिंगला को सूर्यनाडी की भी सज्ञा दी गयी है। इडा और पिंगला के मध्यवर्ती होने के कारण सुषुम्ना त्रिगुणमयी है। अत उसे चन्द्र-सूर्य अग्नि-स्वरूपा कहा गया है। सूर्य और चन्द्र को यदि प्रकृति और पुरुष का प्रतीक मान लें तो यह कहा जा सकता है कि प्रकृति पुरुष के आलिंगन से ही मध्य मार्ग (सुषुम्ना) खुल सकता है। इडा पिंगला के समीकरण से ही कुण्डलिनी जाग्रत होती है।

---

१ सुषुम्ना शाम्भवीशक्ति शेषास्त्वे निरर्थका।

—हठयोगप्रदीपिका ४ १८।

× × ×

इड व म स्थिता नि द पिंगला दक्षिणे तथा।
सुषुम्ना मध्यगा ज्ञेया योगसिद्धि प्रदायिनी॥

—योगरसायनम्।

२ इण्ट्रोडक्शन टु तान्त्रिक—बौद्धिज्म—बी सी बागची।

३ इडा योगवती गगा पिंगला यमुना नदी।
इडा पिंगलयोर्मध्ये सुषुम्ना च सरस्वती॥

—योगरसायनम्।

४ डा ह प्र द्वि० कबीर पृ ४८ ४२।

षट्चक्र का भेदन कर जब कुण्डलिनी शनैः शनैः ऊपर चढ़कर सहस्रार चक्र स्थित परम शिव से आलिंगन के लिए आगे बढ़ती है तब शिव शक्ति का यह आलिंगन महान आनन्द को उत्पन्न करता है। इसी दशा को युगल रूप कहते हैं।

षट्चक्र विज्ञान

नाडी विज्ञान के बाद हठयोग-साधना का दूसरा प्रमुख तत्त्व है चक्र विज्ञान। प्राणायाम आदि यौगिक क्रियाओं द्वारा उद्‌बुद्ध कुण्डलिनी शक्ति ऊर्ध्वमुख होकर इडा पिंगला के मध्य स्थित सुषुम्णा के भीतर सूक्ष्मतम ब्रह्मनाडी से होती हुई षट्चक्रों का भेदन कर जब सहस्रार चक्र में पहुंचती है तब योगी की समस्त यौगिक क्रियाएं सिद्ध हो जाती हैं और वहीं कुण्डलिनी शक्ति और परम पुरुष शिव का मधुर मिलन होता है। अपने पूर्वस्थान (मूलाधार चक्र) से लेकर अपने गन्तव्य स्थान (सहस्रार चक्र स्थित ब्रह्मरन्ध्र) तक की यात्रा में कुण्डलिनी शक्ति को सुषुम्णा के भिन्न भिन्न अंगों या स्थितियों से अग्रसर होना पड़ता है जिन्हें षट् चक्र के नाम से अभिहित किया गया है।

शिवपुराण लिंगपुराण स्कन्धपुराण और अग्निपुराण के अतिरिक्त तन्त्र शास्त्र विषयक ग्रन्थों में षट् चक्रों का विस्तृत विवेचन मिलता है। देवी भागवत में षट् चक्र भेदन की प्रणाली मूलाधार में कुण्डलिनी के साथ जीव को हंस द्वारा मिलाये जाने के उपाय आदि विषयों के रहस्यात्मक वर्णन किये गए हैं। 'शक्तिसम्मोहनतन्त्र' 'महानिर्वाणतन्त्र' आदि तान्त्रिक ग्रन्थों में नवचक्रों का उल्लेख है। षट्चक्र भिन्न भिन्न दल वाले कमल-पुष्प के आकार के माने गए हैं जो मेरुदण्ड के मिलन बिंदुओं पर अवस्थित हैं। प्रथम चक्र मूलाधार है जो मेरुदण्ड के नीचे गुदा और लिंगमूल के मध्य स्थित सुषुम्णा के मुख में संलग्न चार कमल-दल के आकार का तथा पीत रंग वाला है।[1] शरीर विज्ञान के अनुसार इसे वसिक प्लेक्सस कहते हैं। इसी के अन्तर्गत प्राणशक्तिसहित कुण्डलिनी त्रिकोणाकार अग्निचक्र (त्रिपुर) में स्थित स्वयंभू लिंग से साढे तीन वलयों में लिपटी हुई निश्चेष्ट पड़ी रहती है। इस चक्र की अधिष्ठात्री देवी डाकिनी है। दूसरा स्वाधिष्ठान चक्र है जो लिंग मूल में स्थित है। यह छह कमल-दल के आकार का है[2] तथा इसकी अधिष्ठात्री देवी शाकिनी है। शरीर विज्ञान की दृष्टि से इसे हाइपोगास्ट्रिक प्लेक्सस कहते हैं। तृतीय चक्र मणिपूरक है जो नाभि के समीप स्थित है। यह दस कमल-दल के आकार वाला तथा हेमवर्ण का है।[3] इसकी अधिष्ठात्री देवी लाकिनी है। शरीर विज्ञान के अनुसार इसे सोलर प्लेक्सस' कहते हैं। चतुर्थ अनाहत चक्र है जो हृदय में स्थित है। यह द्वादश कमल दल के आकार का है तथा रक्तवर्ण है।[4] इसकी अधिष्ठात्री देवी काकिनी है। शरीर विज्ञान की दृष्टि से इसे कारडियक प्लेक्सस् कहते हैं। पंचम विशुद्धाख्य चक्र है जो कंठ में स्थित है। यह सोलह कमल-दल के

१ शिवसंहिता, प प०, श्लो० ५।
२ शिवसंहिता, प प० श्लो० ७८।
३ वही, श्लो० ७६।
४ वही, प० प०, श्लो० ८३।

आकार का है तथा शुभ्र स्वर्णाभा के समान है।[1] इसके अधिष्ठाता अर्द्धनारीनटेश्वर हैं। शरीर विज्ञान की दृष्टि से इसे 'फॅरिंगील प्लेक्सस' कहते हैं। षष्ठ आज्ञा चक्र है जो भ्रू-मध्य में स्थित है।[2] इसका आकार दो कमल दल जैसा है और इसकी आभा धवल वर्ण है। सहस्रार चक्र में स्थित श्री गुरु से इसी स्थान में महामिलन की आज्ञा प्राप्त होती है। इसकी अधिष्ठात्री देवी हाकिनी है। शरीर विज्ञान की दृष्टि से इसे कॅवरनस प्लेक्सस कहते हैं।

उपर्युक्त षट चक्रों के अतिरिक्त सातवाँ सहस्रार चक्र है जिसकी अवस्थिति मूर्धा में मानी गयी है। इसमें सहस्र कमल-दल की कल्पना की गयी है।[3] इसके अधिष्ठाता कामेश्वरी कामनाथ हैं। योग-तत्त्व वेत्ताओं के मतानुसार इस सहस्र कमल दल की कर्णिका में एक द्वादश कमल दल है। उसके ऊपर एक पश्चिमाभिमुख योनिमण्डल है। इसी योनि में बिन्दु रूप सुषुम्णा का विवर है। इसी विवर के मूल में ब्रह्मरन्ध्र है जो शून्याकार है। इसी को शून्य चक्र शून्यमण्डल गगनमण्डल कैलाश मानसरोवर तथा हंस क्रीडा क्षेत्र भी कहा गया है। इसी में ब्रह्म की अवस्थिति है। इस रन्ध्र में छह दरवाजे हैं जिसके वज्र-कपाट को कुण्डलिनी ही खोलती है। यहाँ पर जीवात्मा को पहुँचा देना योगी का चिर-साध्य है। यहीं आत्मशक्ति रूपा कुण्डलिनी का परमात्म पुरुष शिव से समागम होता है। कुण्डलिनी का शिव के साथ यह मिलन जगत के मायिक विकारों से ऊपर उठने और जीवात्म-तत्त्व के परमात्म-तत्त्व में लीन होने का प्रतीक है। यहाँ जीवात्मा और परमात्मा का महामिलन होता है। यहाँ अमृत रस की अजस्र वर्षा होती है जिसे पान कर साधक अजरामर हो जाता है। अमर वारुणी के रस-पान तथा कुण्डलिनी शक्ति और परब्रह्म के महामिलन की अन्तरंग भाव भूमियों की परिकल्पना द्वारा योग-साधना ने भी मधुर रस-साधना की बड़ी ही मार्मिक अभिव्यंजना की है।

कुण्डलिनी

योग शास्त्र का मूल सिद्धान्त है कि जो ब्रह्माण्ड में है वही पिंड में है। इसी सिद्धान्त के अनुसार घट के अन्दर विश्वशक्ति तथा विविध ब्रह्माण्डों (चक्रों) की उद्भावना की गयी है। हठयोग-साधना-पद्धति के अनुसार महाकुण्डलिनी नामक शक्ति सम्पूर्ण सृष्टि में परिव्याप्त है। व्यष्टि (व्यक्ति) में व्यक्त होने पर इसी शक्ति को कुण्डलिनी कहते हैं।[4] कुण्डलिनी की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है कि कुण्डलम्अस्या अस्ति इति कुण्डलिनी। अर्थात वह शक्ति जिसके कुण्डल हों। कुण्डल और लिपटी हो इस शक्ति के कुण्डल हैं। इसके अतिरिक्त साढ़े तीन कुण्डलाकार सर्पिणी भुजंगाकारा होने तथा आकार प्रमुख मातृकाओं को जिह्वा कुण्डलिनी भी कहते हैं धारण करने के कारण भी इस शक्ति को कुण्डलिनी कहते हैं।[5] इसके अतिरिक्त कुटिलांगी भुजंगी नागिन शक्ति ईश्वरी कुण्डली अरुन्धती वागीश्वरी आदि इसके कई नाम हैं।

---

१ वही श्लोक ६०।
२ वही श्लो ६६।
३ वही षट्चक्र निरूपण श्लो ०१२।
४ डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीर पृ ४४।
५ डॉ० गो० त्रि० कबीर की विचारधारा, पृ २ ४।

कुण्डलिनी एक शक्ति है। जिसके कारण जीव कुण्डलिनी के प्रभाव में ही अपने को जगत और ब्रह्म से भिन्न समझता है। कुण्डलिनी सबसे निचले चक्र मूलाधार में सर्पिणी-सी साई रहती है। उसका इस प्रकार सोना बंधन और अज्ञान का द्योतक है अतः उसे जाग्रत करना आवश्यक है। जब वह जग उठती है तो षट् चक्रों का भेदन करती हुई ब्रह्माण्ड भाग में पहुँचती है और वहाँ शिव में मिलकर अभिन्न हो जाती है। कुण्डलिनी का शिव के साथ वह मिलन दृश्य जगत के समग्र मायामय विकारों के विसर्जन और जीवात्मा और परमात्मा की तदाकारता का प्रतीक है।[1] कहने का अभिप्राय यह है कि कुण्डलिनी जगत-सृजन क्रिया की सूत्रधारिणी है। जब तक उसकी जगत-सृजन चेतना विश्वचेतना (परमात्मा) से तदाकार नहीं हो जाती तब तक साधक और साध्य की भिन्नता बनी रहती है। इस जगत सृजन क्रिया का रुक जाना ही जीवात्मा का परमात्मा से एकाकार होना है जिसे निर्वाण अवस्था या समाधि-दशा कहते हैं। तात्पर्य यह है कि कुण्डलिनी ही वैयक्तिक शरीर में उस महान विश्व शक्ति का प्रतीक है जो विश्व का निर्माण और धारण करती है। जब वह व्यक्तिगत शक्ति जो वैयक्तिक चेतना के रूप में जीव-स्वरूप है विश्व चैतन्य रूप प्राण शिव में विलीन हो जाती है तब जीव के लिए जगत का लोप हो जाता है और उसे मुक्ति की प्राप्ति होती है।[2]

कुण्डलिनी (Vagus Nerve) हठयोग-साधना में बहुत बड़ी शक्ति मानी गयी है। वह जगत्सृष्टि रूपा है। वह शाश्वतीन वाग्वी है।[3] वह सर्प के समान सोता है और स्वयं प्रभासमु...वक्ता है।[4]

कुण्डलिनी की अवस्थिति और गन्तव्य

'योगरसायनम्' के अनुसार नाभि के ऊपर शरीर के मध्य भाग में सब नाडी समाश्रय 'कन्द' का स्थान है जिसकी आकृति कुक्कुटाण्ड के समान है। उसी कंद के ऊर्ध्व भाग में कुडलिनी शक्ति का स्थान है, जो साढ़े तीन वलयों के आकार वाले सर्प के समान कुण्डलाकार है।[5] जिस मार्ग से योगी अपने प्राण को ऊर्ध्वमुख कर शीर्ष स्थान अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र में ले जाना चाहते हैं उसके द्वार को अपने मुख से अवरुद्ध कर नीचे सिर किये वह नागकन्यका

---

१ डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री सतमत का सरभंग सम्प्रदाय, पृ० ४८ (साधना)।
आर्थर एवालॉन (Avalon) या सर जान वुडरफ (Woodroff) के Surpent Power पृ० २४५-२४६ द्रष्टव्य।

२ डॉ० ध० ब्र० शास्त्री सन्त कवि दरिया एक अनुशीलन पृ० १२१।

३ जगत्सृष्टि रूपा सा निर्माणे सततोद्यता।
वाचाम वाच्या वाग्वी सदा देवैर्नमस्कृता॥

—शिवसंहिता, द्वि० प०, श्लो० २४।

४ सुप्तानागोपमा ह्येषा स्फुरन्ती प्रभया स्वया—

—वही, पंचम पटल, श्लो ५८।

५ कंदोपरिगता नित्य शक्ति कुण्डलिनी परा।
सार्द्ध त्रिवलयाकारा सुसुप्ता भुजगोपमा॥

—योगरसायनम्।

निश्चेष्ट सुषुप्तावस्था म पडी रहती है।[1] शिवसंहिता म कहा गया है कि परम देवता कुण्डलिनी शक्ति की आकृति विद्युल्लता जसी है जो साढ़े तीन बल्या म लिपटी कुटिल सर्पिणी क समान सुषुम्ना माग म सम्थित है।[2] पुन शिवसंहिता क पचम पटल म कहा गया है कि कुडलिनी मरुदण्ड क अधोभाग तथा गुदा और लिंग क मध्यस्थ मूलाधार चक्र क चतुष्कोण मडलाकार क अन्तगत एक त्रिकोण म स्थित है। त्रिकोणाकृति अग्निचक्र म अवस्थित कुडलिनी स्वयभू लिंग स साढ़े तीन वल्या म लिपटी अपन मुख स अपनी पूछ दबाय सुषुम्ना के छिद्र क पास सुप्तावस्था म पडी रहती है। एसा दशा म जीव अज्ञानी धकार स आवत्त हो मोह निशा मे ही भटकता हुआ विविध विषय वासनाओ का क्रीत दास बना रहता है। घरण्ड सहिता म कुडलिनी शक्ति का वणन बड विस्तार के साथ किया गया है। उसके अनुसार कुडलिनी आत्मशक्ति है। वह परमदेवता रूपी शक्ति साढ तीन बल्या म लिपटी सर्पिणी क समान मूलाधार कमल म सुषुप्तावस्था म पडी है। जब तक वह महाशक्ति सुषुप्तावस्था म निश्चेष्ट पडा रहती है तब तक जीव पशुवत अज्ञानावरण स ढका रहता है। ऐसी दशा म कोटिश योगाभ्यास करन से ज्ञान की प्राप्ति नही हो सकती। जिस प्रकार ताला खोल कर हठात कपाट को खोला जा सकता है उसी प्रकार कुडलिनी शक्ति के प्रबोधन स ब्रह्मद्वार उद्घाटित हो जाता है।[3] कुडलिनी का गन्तव्य शीषस्थ सहस्रार चक्र है। साधक का मुख्य लक्ष्य योग क पच बहिरंग साधन (यम नियम आसन प्राणायाम और प्रत्याहार) की साधना द्वारा मूलाधार स्थित सुषुप्त कुडलिनी शक्ति को जाग्रत करके शून्य गगन स्थित सहस्रदल-कमल म मिला देना है। आत्मशक्ति स्वरूपा कुण्डलिनी प्रकृति का प्रतीक है तथा परमात्मा शिव-स्वरूप सहस्रपद्म सत्पुरुष (ईश्वर) का प्रतीक है। इस प्रकार कुण्डलिनी का क्रम म सहस्रपद्म म विलीन हो जाने का अथ है—आत्मा का प्रकृति क बधनो स मुक्त होकर पुन अपनी मूलभूत नित्य पवित्र और पुरुष रूप सत्ता को प्राप्त करना।[4] प्राय सभी सतो न इस विषय भाव-दशा का वणन बड ही ममस्पर्शी ढग स किया है। प्रकृति और पुरुष शक्ति और शिव का यह सगम भिन्न अदभुत है अपूव है अनिवचनीय है। आत्मा और परमात्मा का यही महामिलन मधुर रस का निष्पादक तत्त्व है।

---

१ देन मार्गेण गन्तव्य स्थान मूर्द्धनि योगिन ।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वार सुप्ता सा नागकन्यका ॥ —योगतत्त्वोपनिषद्।

२ तत्र विद्युल्लताकारा कुण्डली परदेवता।
सार्धत्रिकरा कुटिला सुषुम्ना मागमस्थिता॥
—शिवसंहिता द्वितीय पटल श्लो २३।

३ मूलाधारे आत्मशक्ति कुण्डली परदेवता।
शयिता भुजगाकारा सार्धत्रिवलयान्विता॥
यावत्सा निद्रिता देहे तावज्जीव पशुयथा।
ज्ञान न जायते तावत्कोटि योग समभ्यसेत्॥
उद्घाटयेत्कपाट च यथा कुञ्चिकया हठात्।
कुण्डलिन्या प्रबोधेन ब्रह्मद्वार प्रभेदयेत्॥
—घेरण्ड संहिता तृतीयोपदेश ४६ ४९।

४ डॉ ध म राव सन्तकवि दरिया
—एक अनुशीलन पृ १ १।

कुण्डलिनी-उत्थापन क्रिया

योग-मार्ग में प्रवृत्त साधक का प्रथम लक्ष्य मूलाधार स्थित सुप्त कुंडलिनी शक्ति को जगाकर ऊर्ध्वमुख करना है तथा अन्तिम लक्ष्य क्रमशः षट्चक्रों का भेदन करते हुए उसे सहस्रार चक्र में पहुंचाना है जहां कुंडलिनी के पहुंच जाने पर साधक की समस्त यौगिक क्रियाएं सार्थक हो जाती हैं और वह अनाहत नाद का श्रवण तथा अमरवारुणी का पान करता हुआ जरा मरण भय से विनिर्मुक्त हो ब्रह्म का साक्षात्कार करता है। अतः साधक के लिए कुण्डलिनी उत्थापन की प्रक्रियाओं का अवलम्बन परमावश्यक है। यम नियम आसनों की साधना के उपरान्त साधक प्राणायाम की साधना द्वारा पंचप्राण और पंचवायु को नाभि मूल से ऊपर की ओर उठाता है और उन्हें यथासम्भव अवरुद्ध करता है। इन्हीं की साधना से कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत् होती है। इसे सूर्य भेद कुंभक की क्रिया कहते हैं। घेरण्ड संहिता में इसके महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि सूर्य भेद कुंभक जरा मरण का विनाशक है तथा इसकी साधना से कुण्डलिनी शक्ति प्रबुद्ध होती है।[1] कुण्डलिनी शक्ति को स्वयमेव उद्‌बुद्ध करने के लिए खेचरी मुद्रा की साधना भी महत्त्वपूर्ण बतलायी गयी है। सुषुप्तावस्था में यही कुंडलिनी मूढ़ जनों के जरा मरण के बंधन का कारण है तथा प्रबुद्ध होकर यही जरा मरण के बन्धन से मुक्त करने का अमोघ साधन भी है।[2]

कुंडलिनी शक्ति जब उद्‌बुद्ध होकर ऊर्ध्वमुखी होती है तो स्फोट होता है जिसे नाद कहा गया है। यह नाद पिंड और ब्रह्माण्ड में सतत होता रहता है पर मोहाविष्ट जन इसकी अनुभूति नहीं कर पाते हैं। कुण्डलिनी के उद्‌बुद्ध होते ही साधक को इस नाद की अनुभूति होती है। योगशास्त्र में इसे ही अनाहतनाद कहते हैं जिसे संतवाणी में प्रायः अनहद ढोल का बजना कहा गया है।

योगविषयक ग्रन्थों के अनुसार ब्रह्मरन्ध्र के सहस्रार पद्म के मूल में योनि नामक त्रिकोणाकार शक्ति का केन्द्र है वहीं चन्द्रमा का स्थान है। इससे सतत अमृत झरता रहता है।[3] जब तक कुण्डलिनी शक्ति सुषुप्तावस्था में पड़ी रहती है तब तक सूर्य के द्वारा उस अमृत बिंदु का क्षय होता रहता है। अतः साधक कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत कर क्रमशः षट्चक्रों का भेदन करते हुए खेचरी मुद्रा की सिद्धि द्वारा चन्द्र तत्त्व से निरन्तर प्रस्रवित होने वाले सोमरस का रसास्वादन करता है। इसे उन्मनावस्था भी कहा गया है। इस चन्द्र तत्त्व को योगियों तथा संतों ने प्रायः ऊर्ध्वमुख कुइयां तथा औंधा कुवां कहकर सम्बोधित किया है।[4]

---

१ कुम्भकः सूर्यभेदस्तु जरा मृत्यु विनाशकः ।
बोधयेत् कुण्डलीं शक्तिं देहानलं विवर्धयेत् ॥ —घेरण्ड संहिता, पंचमोपदेश, श्लो० ॥६७॥

२ बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स वेदवित् । —गोरक्षपद्धति ।

३ ब्रह्मरन्ध्रे हि यत्पद्मं सहस्रारं व्यवस्थितम् ।
तत्र कन्दे हि या योनिः तस्यां चन्द्रो व्यवस्थितः ॥
त्रिकोणाकृतिस्तस्याः सुधा क्षरति सन्ततम् । —शिवसंहिता ५ १०३ ।

४ गगन मंडल में औंधा कुंवा तहाँ अमृत का वासा ।
सगुरा होइ सु भर भर पीया निगुरा जाइ पियासा ॥ —गोरख ।

हठयोगप्रदीपिका आदि एतद्विषयक ग्रन्थों में कुण्डलिनी उत्थापन की प्रक्रिया का वर्णन विस्तार के साथ किया गया है। इसके अतिरिक्त यजुर्वेद[1] त्रिपुर सार-समुच्चय नानार्णवतन्त्र गन्धर्वतन्त्र कामेश्वरतन्त्र शिवसंहिता घेरण्डसंहिता योगरसायनम् गोरक्ष पद्धति आदि ग्रन्थों में भी कुण्डलिनी उत्थापन प्रक्रिया का सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक विवेचन किया गया है क्योंकि हठयोगप्रदीपिका के अनुसार कुण्डलिनी साधना सभी प्रकार की यौगिक प्रक्रियाओं का मूलाधार है। कुण्डलिनी उत्थापन की प्रक्रिया में सफलता प्राप्त करने पर ही साधक आत्म-ज्योति दर्शन तथा अनहद-नाद श्रवण करते हैं। आत्म शक्ति रूपा कुण्डलिनी स्वयं नाद स्वरूपा ज्योति स्वरूपा एवं शक्ति-स्वरूपा है और साधक को अपने भावानुरूप उसकी अनुभूति प्राप्त होती है।

कुण्डलिनी साधना हठयोग-साधना का अनिवार्य अंग है। इसीलिए प्रायः हठयोग के लिए कुण्डलिनीयोग का प्रयोग मिलता है। म० म० प० गोपीनाथ कविराज के कथनानुसार कुण्डलिनी शक्ति वैदिक सिद्धान्तानुसार नहीं है तथा वेदानुकूल दर्शन शास्त्रों में इसका ग्रहण नहीं हुआ है। अधिक क्या पातञ्जलि-योगशास्त्र में कुण्डलिनी अथवा षट् चक्र आदि में से किसी एक का भी उल्लेख नहीं है। बौद्ध तथा जैनादि ग्रन्थों में भी स्पष्ट रूप से कुण्डलिनी की कोई आलोचना नहीं है। यह तन्त्रशास्त्र का अन्तरंग विषय है।[2] सिद्धों ने बौद्धतन्त्र से तथा नाथ पंथियों ने शाक्ततन्त्र से कुण्डलिनी-योग और उसकी सारी प्रक्रियाओं को ज्यों-का-त्यों अपनी साधना में ले लिया है और वहीं से ग्रहण कर सन्तों ने अपने सन्तमत में इसे समाविष्ट किया है। हिन्दू तथा बौद्ध दोनों प्रकार की साधना पद्धतियों में हठयोग साधना की निष्पत्ति-दशा में समाधि की उपलब्धि मानी गई है। नाथ सम्प्रदाय में हठयोगी साधकों ने इस समाधि-दशा में कुण्डलिनीरूपी आत्मशक्ति तथा सहस्रार-चक्र स्थित परम शिव के मधुर मिलन को स्वीकार किया है और इससे सम्बन्धित मनोरम भाव भूमियों की उद्भावना की है। तान्त्रिक बौद्ध साधकों ने इस समाधि-दशा में प्रज्ञा और उपाय के अद्वय मिलन की उदात्त कल्पना की है। सन्तों ने भी इस समाधि-दशा को जीवात्मा और परमात्मा के महामिलन का द्योतक माना है और इस प्रसंग में उन्होंने आध्यात्मिक परिणय की परियोजना द्वारा मधुर रस-साधना का बड़ा ही हृदयस्पर्शी वर्णन किया है। इस प्रकार योग दर्शन के अन्तर्गत आत्मशक्तिरूपा कुण्डलिनी और परमात्मा रूप शिव के समागम की उद्भावना द्वारा यौगिक मधुर रस-साधना का सरस एवं व्यापक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की गई है। इसी का आश्रय ग्रहण कर कालान्तर में बौद्ध सिद्धों ने प्रज्ञोपाय के अद्वय तथा नाथ साधकों ने शिव शक्ति-सामरस्य और सन्तों एवं भक्तों ने जीवात्मा और परमात्मा के पावन परिणय और मधुर मिलन की अभिनव कल्पना द्वारा अलौकिक मधुर रस की अवतारणा की है।

---

१ कुण्डलिनी [illegible] [illegible] विन्दे।

—यजुर्वेद।

२ कुण्डलिनी [illegible] पृ० १७१

—म० म० प० गोपीनाथ कविराज।

(ग) तन्त्र, शैव और शाक्त-दर्शन

तन्त्र-मन्त्र का आविर्भाव

'तन्त्र' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए उन शास्त्रों को तन्त्र बतलाया गया है जो तन्त्र मन्त्रों से समन्वित विपुल अर्थों का विस्तार करते हों और त्राण भी करते हों।[1] तन्त्र शब्द की व्युत्पत्ति तन धातु से हुई है और तन्यतेविस्तार्यते ज्ञानम् अनेन इति तन्त्रम् के अनुसार किसी भी ज्ञान को जो फैलाता है, विकसित करता है या विस्तार देता है उसे तन्त्र कहते हैं। ज्ञात होता है कि धर्म साधनाओं में जिन नई पूजाओं, तन्त्र पद्धतियों, देवी देवताओं, अनुष्ठानों, यन्त्रों और योग-साधनाओं का प्रवेश हो रहा था उन्हें पूर्ण रूप से एक ज्ञान या चिन्तापद्धति के अन्तर्गत समन्वित कर एक नियम अथवा एक अनुशासन में सुनियोजित कर देने वाली प्रणाली का नाम 'तन्त्र' पड़ गया।[2]

तन्त्र का क्षेत्र बड़ा ही व्यापक है। यह शास्त्र, सिद्धान्त, अनुष्ठान, विज्ञान आदि सबके लिए प्रयुक्त हुआ है। शंकराचार्य ने स्मृति को और महाभारत ने न्याय, धर्मशास्त्र, योगशास्त्र आदि को 'तन्त्र' कहा है। किन्तु सीमित अर्थ में तन्त्र उन ग्रन्थों को कहते हैं जिनमें देवी शक्तियों के स्वरूप, गुण, कर्म आदि का चिन्तन किया गया हो, तद्विषयक मन्त्रों का उद्धार किया गया हो, उन मन्त्रों को तन्त्र में संयोजित कर देवता का ध्यान तथा उपासना के पंचांगों (पटल, पद्धति, कवच, सहस्रनाम और स्तोत्र) का व्यवस्थित रूप से प्रतिपादन किया गया हो। वाराहीतन्त्र के अनुसार सृष्टि, प्रलय, देवार्चन, सर्वसाधन, पुरश्चरण, षट्कर्मसाधन (शान्ति, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन और मारण) और ध्यान योग—इन सात लक्षणों से युक्त ग्रन्थों को आगम कहा गया है।[3] आगम तन्त्र का ही अपर नाम है। भारतवर्ष की सभ्यता और संस्कृति निगमागममूलक है। जिस प्रकार भारतीय सभ्यता वैदिक ज्ञान को आश्रित कर प्रवृत्त होती है, उसी प्रकार वह अपनी प्रतिष्ठा के लिये तन्त्रों पर भी आश्रित है।[4]

तन्त्राचार का भारतीय धर्म साधना में सन्निवेश

भारतीय धर्म साधना के अन्तर्गत तन्त्राचार के सन्निवेश के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। श्री हरप्रसाद शास्त्री, श्री विनयतोष भट्टाचार्य प्रभृति विद्वान भारतवर्ष में तन्त्राचार को लाने का श्रेय शकों के महापुरोहितों को देते हैं। प्राचीन भारतीय वाङ्मय में

---

१ तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान्।
त्राणञ्च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते॥
—शैवसिद्धान्त ग्रन्थ 'कामिकागम'।

२ हिन्दी साहित्य-कोश, डॉ॰ धर्मवीर भारती, पृ॰ ३२१।

३ सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां यथार्चनम्।
साधनं चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च॥
षट्कर्म साधनं चैव ध्यानं योगश्चतुर्विधः।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तमागमं तद्विदुर्बुधाः॥ —वाराहीतन्त्र।

४ बौद्धदर्शन, पृ॰ ४१८, पं॰ बलदेव उपाध्याय।

यत्र तत्र तन्त्राचार को अपरिचित, अद्भुत और अवैदिक बतलाना, तन्त्रों को आगम के नाम से अभिहित करना, तन्त्र ग्रन्थों में तन्त्राचार के प्रचारक के रूप में बाहर से आये हुए देवता का उल्लेख करना, कूर्मपुराण में द्विज सुलभ वेदाध्ययन के अधिकार से वंचित ब्राह्मणों द्वारा तान्त्रिक-सम्प्रदाय के प्रवर्तित होने का वर्णन करना आदि ऐसे सबल प्रमाण हैं जो तन्त्राचार को अवैदिक साधना मार्ग सिद्ध करते हैं। लगता है कि आरम्भ में तन्त्राचार को अवैदिक मान कर रूढ़िवादी ब्राह्मणों ने इसे अग्राह्य माना। परन्तु बाद में इसके लोक प्रचलित हो जाने पर उन्होंने इसे वैदिक परम्परा में आत्मसात कर लिया।

अथर्ववेद में मारण, मोहन, उच्चाटन, मन्त्र-तन्त्र, सिद्धि आदि गुह्य साधनापरक अभिचारों के पर्याप्त वर्णन मिलते हैं जिन्हें भारत के अनार्य आदिवासियों से सम्बन्धित माना जाता है। इन अनार्य आदिवासियों की विचार धारा से पहले पहल आने वाले आर्य प्रभावित हुए, जो बाद में आने वाले आर्यों द्वारा इसलिये व्रात्य कहलाये। कालान्तर में इन्हीं व्रात्यों के माध्यम से शनैः शनैः आर्येतर साधना-पद्धतियाँ तथा उनके अधिष्ठाता देवी-देवता आर्य भाव धारा में समाविष्ट हो गये।

सारांश यह कि तन्त्र निम्नवर्गीय आदिवासियों के जीवन से सम्बन्धित अनेक लोकाचारों, रहस्यपूर्ण अनुष्ठानों, देवी देवताओं की पूजन विधियों, मन्त्र-यन्त्र, टोना-टोटका आदि गुह्य साधनाओं का समन्वित रूप है। कालान्तर में इन तत्त्वों को ग्रहण कर कई सम्प्रदायों की सृष्टि हुई जिन्होंने अपनी अपनी साधना के अनुरूप देवी देवताओं और उनके स्वरूप, सम्बन्ध, स्वभाव, व्यवहार, क्रिया, अभिचार, मन्त्र, यन्त्र आदि का निर्धारण किया। इन तन्त्र सम्बन्धी विविध सम्प्रदायों के उदय के बाद तन्त्र-साहित्य का अत्यधिक विकास हुआ और वह वैदिक श्रुतियों के समान ही समझा जाने लगा। वैदिक और तान्त्रिक संस्कारों के बीच अपनी अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने की स्पर्द्धा चलती रही। वैदिक मतानुयायियों ने तान्त्रिक मत को अभारतीय कहकर उसकी विगर्हणा की है तथा तान्त्रिक संस्कार वालों ने वैदिक संस्कार वालों को अपवित्र कहा है। समस्त तन्त्र साहित्य में वेद को वन्द्य कहकर निन्द्य माना गया है।

निगमागम के पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारण का विषय अत्यन्त जटिल है। क्योंकि तन्त्र का एक रूप तो सर्वथा वेदानुकूल है तथा दूसरा सर्वथा वेद बाह्य। कई तन्त्र और आचार पांचरात्र और शैवागम के कई सिद्धान्त वेदमूलक हैं फिर भी प्राचीन ग्रन्थों में उन्हें वेद-बाह्य घोषित कर दिया गया है। शाक्त-मत के सप्तविध आचारों में से केवल वामाचार को तामसिक रूप में ही ग्रहण कर उसे वेद-बाह्य कहा जाता है। ऐसे विचार रखने वाले लोग यह भूल जाते हैं कि अनेकानेक शाक्त-तन्त्र वेदानुकूल हैं। ऋग्वेद के वागाम्भृणी सूक्त (१/१२५) में प्रतिपादित शक्ति-तत्त्व का ही भाष्य शाक्त-तन्त्र में हुआ है। बृहदारण्यक उपनिषद् (६/२) तथा छान्दोग्योपनिषद् (५/८) में पंचाग्निविद्या के प्रसंग में 'योषा वाव गौतमाग्निः'[1] आदि रूपकों का यही स्वारस्य है। मधुविद्या का भी यही रहस्य है। सूर्य का उत्तरमुख रश्मियाँ मधु नाड़ियाँ

---

१ योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद्यदुपमन्त्रयते स धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गाः ॥१॥
तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुतेर्गर्भः सम्भवति ॥२॥
—छान्दोग्योपनिषद्, ५/८।

हैं गुह्य आदेश मधुकर हैं ब्रह्म ही पुष्प है उससे प्रस्रवित होने वाले अमृत का देवतागण उपभोग करते हैं।

सच तो यह है कि अत्यन्त प्राचीन काल से साधना की दो समानान्तर विचार धाराएँ प्रवाहित होती रही हैं। एक विचार धारा (वैदिक धारा) सर्वसाधारण के लिए प्रकट रूप से सिद्धान्तों का प्रतिपादन करती है और दूसरी विचार धारा (तान्त्रिक धारा) चुने हुए अधिकारियों के लिए गुप्त साधना का उपदेश देती है। एक बाह्य है तो दूसरी आभ्यन्तरिक पहली प्रकट है तो दूसरी गुह्य। परन्तु दोनों धाराएँ प्रत्येक काल में साथ-साथ विद्यमान रही हैं। इसीलिए जिस काल में वैदिक यज्ञ-यागों का बोलबाला था उस समय भी तान्त्रिक उपासना अज्ञात न थी तथा कालान्तर में जब तान्त्रिक पूजा का विशेष प्रचलन हुआ उस समय भी वैदिक कर्मकाण्ड विस्मृति के गर्भ में विलीन नहीं हुआ।'[1] अतः वैदिक पूजा के साथ तान्त्रिक पद्धति के सह अस्तित्व की कल्पना करना कथमपि निराधार नहीं है।[2]

तान्त्रिक अद्वैतवाद

तन्त्र अद्वैतवाद का साधना मार्ग है। सभी साधना मार्गों की पूर्णावस्था अद्वैतवाद में ही पर्यवसित होती है। अन्ततः सच्चे शाक्त साधक की भी यही अद्वैतानुभूति होती है कि मैं स्वयं देवी रूप हूँ मैं अपने इष्टदेव से भिन्न नहीं हूँ मैं शोक विमुक्त साक्षात ब्रह्मरूप हूँ मैं ही नित्य, मुक्त सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ। —

> अहं देवी न चान्योऽस्मि ब्रह्म वाहं न शोकभाक्।
>
> सच्चिदानन्द रूपोऽहं नित्य मुक्त स्वभाववान्॥

कुलार्णवतन्त्र के अनुसार परब्रह्म निष्कल शिव सर्वज्ञ स्वयंज्योति आद्यन्तहीन निर्विकार तथा सच्चिदानन्द स्वरूप है और जीव एवं जगत अग्नि स्फुल्लिंगवत उसी से उत्पन्न हुए हैं।[3] इस प्रकार ब्रह्म अंशी है और जीव अंश है। पूर्णता प्राप्ति के लिए अंश रूप जीव का अंशी ब्रह्म से तादात्म्य हो जाना ही मधुर रस साधना का चरम लक्ष्य है।

भाव त्रय

तन्त्र-साधना में साधक की मानसिक योग्यता के अनुरूप तीन भाव निर्दिष्ट हैं—पशु भाव वीर भाव और दिव्य भाव। जिन प्राणियों में अविद्यावरण के कारण अद्वैतज्ञान का लेशमात्र भी नहीं रहता उनकी मानसिक प्रवृत्ति पशु भाव की होती है। वे पशुवत अज्ञान रज्जु में बंधे रहते हैं। जो प्राणी अद्वैत ज्ञानामृत का आस्वादन कर अज्ञान रज्जु को काटने में किसी अंश में समर्थ होता है वह वीर भाव का साधक कहलाता है। द्वैत को दूर कर इष्टदेव की सत्ता में अपनी सत्ता के पूर्ण विलयन द्वारा अद्वैतानन्द रस का आस्वादन करनेवाला दिव्य भाव का साधक माना जाता है।

---

१ बौद्ध दर्शन, पृ० ८१६ ८२, पं बलदेव उपाध्याय।

२ डॉ बिनयतोष भट्टाचार्य—ऐन इन्ट्रोडक्शन टु दि बुद्धिस्ट एसोटेरिज्म पृ ४३ ४४ द्रष्टव्य।

३ कुलार्णवतन्त्र १/६—१।

सप्त आचार

उपर्युक्त तीन भावों के अनुरूप तंत्र साधना में सप्त आचारों की व्यवस्था की गई है। प्रथम चार को (वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार और दक्षिणाचार) पशु भाव के, उसके बाद के दो (वामाचार और सिद्धान्ताचार) को वीर भाव के और अंतिम (कौलाचार) को दिव्य भाव के साधकों के लिए निर्धारित किया गया है। सप्त आचारों में कौलाचार सर्वश्रेष्ठ है। सच्चा कौल कर्दम और चंदन में, शत्रु और मित्र में, श्मशान और गृह में, स्वर्ण और तृण में लेशमात्र भी भेद-बुद्धि नहीं रखता।[1] वेदाचार में वेद विहित कर्म मान्य हैं। वैष्णव आचार में सात्त्विक भोजन, व्रत, उपवास, ब्रह्मचर्य और भजनासक्ति का विधान है। शैवाचार में यम, नियम, ध्यान, धारणा और समाधि विहित शिव-शक्ति की उपासना की जाती है। दक्षिणाचार में उपर्युक्त तीन आचारों का सम्पादन करते हुए रात्रि-काल में भाग सेवन कर मन्त्र जप का विधान है। वामाचार में आत्मा को वामा (शक्ति) रूप में कल्पित करके साधना की जाती है। सिद्धान्ताचार में मन शुद्धि द्वारा सर्वत्र परमशिव की प्रत्यभिज्ञानुभूति की जाती है। कौलाचार में नियमादि का सर्वथा अतिक्रमण कर साधक अद्वयमूलक साधना में संलग्न हो जाता है। कौल शब्द कुल से बना है। कुण्डलिनी शक्ति को कुल तथा परम शिव को अकुल कहते हैं। योगाभ्यास द्वारा कुण्डलिनी को उद्बुद्ध कर सहस्रार चक्र स्थित परमशिव के साथ संयोग कराने वाले साधक ही कौल या कुलीन कहे जाते हैं।[2] कुण्डलिनी के प्रति किये गये आचार ही कुलाचार हैं जो पंचमकार अर्थात् मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन द्वारा अनुष्ठित होते हैं। पंचमकार की यह साधना अत्यंत गूढ़ एवं रहस्यमय है।

तान्त्रिक-साधना में दक्षिणाचार और वामाचार ही अधिक प्रचलित हैं। दक्षिणाचार में रुद्राक्ष की माला धारण करने, उन के आसन पर बैठ कर निरादर जप करने तथा अपनी पत्नी में संभोग करने का विधान है। इसके विपरीत वामाचार में मद्य-मांसादि सेवन करने, कपाल-पात्र धारण करने एवं पर स्त्रियों के साथ मैथुन करने का विधान है। वामाचार में पंच विधान (मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन) द्वारा भैरवी चक्र की साधना की जाती है। उन चक्रों में साधक सहसाधिकाओं के साथ मद्यादि-सेवन एवं परस्पर मनोरथ सुखों की पूर्ति करते हैं। उक्त भैरवी चक्र सर्ववर्णा ज्ञिजातय के सिद्धान्तानुसार इसमें वर्ण और जाति का भेद भाव नहीं रहता। भैरवी चक्र के चार राज और देव नामक तीन भेद हैं। राज चक्र में यामिनी, यागिनी, रजकी, श्वपचा और कंजरक नारी को पंच शक्ति के रूप में उपभोग किया जाता है। देव चक्र में राज-कन्या, नारी, गुप्तकन्या, देवकन्या और ब्राह्मकन्या

---

1. कर्दमे चन्दनेऽभिन्नं मित्रे शत्रौ तथा प्रिये।
   श्मशाने भवने देवि तथैव काञ्चने तृणे॥
   न भेदो यस्य लेशोऽपि स कौलः परिकीर्तितः॥

   —भावचूडामणितन्त्र

2. कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते।
   कुलाकुलस्य सम्बन्धः कौलमित्यभिधीयते॥

   —स्वच्छन्दतन्त्र।

पंच शक्ति के रूप में स्वीकृत की जाती हैं। स्पष्ट है कि भैरवी-चक्र में सुरापान तथा विभिन्न वर्णों की सुन्दरियों को पंच शक्ति के रूप में परिकल्पित करने एवं उनके सेवन करने के कारण रहस्यमय तान्त्रिक माधुर्यवाद की अवतारणा होती है और उससे मधुर रस के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। तन्त्राचार की यह मधुर रस-साधना अत्यन्त गोपनीय, रहस्यपूर्ण एवं दुरूह है। इसीलिए आगमसार में तान्त्रिक-साधना को खड्ग धार पर चलने के समान बतलाते हुए तन्त्राचारों के संकेतार्थों का निर्देश किया गया है।

बीजाक्षर

मन्त्रों को एक एक अक्षर में घनीभूत करने की प्रवृत्ति सभी तान्त्रिक पद्धतियों में विद्यमान है। मन्त्र को जिस अक्षर में घनीभूत किया जाता है उसे बीजाक्षर कहते हैं। बीजाक्षरों में विभिन्न अधिष्ठाता देवताओं की कल्पना की जाती है जिसका आधार मीमांसकों का शब्द सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार शब्द शाश्वत है और अक्षर रूप में (वर्णमाला में) वह सत्ता विद्यमान रहता है। जिस प्रकार शाश्वत शब्द अक्षर रूप में वर्णमाला में सत्ता अवस्थित है उसी प्रकार आनन्दित स्त्री रूप में अपने को चरितार्थ करती है। साधक जब शक्ति रूपा नारी का मथन करता है तब वह अपने को प्रकृत जन न मानकर परमशिव मानने लग जाता है क्योंकि शक्ति के साथ संभोग लीला करने का एकमात्र अधिकारी परमशिव ही हैं अन्य कोई नहीं। इस प्रकार तन्त्रोक्त बीजाक्षर विधान में भी मधुर रस-साधना के स्वरूप को समझने में सहायता मिलती है।

मंडल चक्र

मण्डल चक्र विधान तान्त्रिक-साधना के गुह्य अनुष्ठानों का एक प्रमुख अंग है। मण्डल चक्र के अनुष्ठानों से ही साधक को दीक्षा दी जाती है। तन्त्र दर्शन के अनुसार सहजाधिका या अन्य स्त्री शक्ति का व्यक्त रूप है। यह शक्ति-तत्त्व तान्त्रिक साधना का मुख्य तत्त्व है। इसका प्रतीक त्रिकोण है। यन्त्रों में भी त्रिकोण को मूल तत्त्व माना गया है। त्रिकोण को ही भग कहा गया है और उसे सिंहासन बनाकर समासीन होने वाले को भगवान कहते हैं। गुरु द्वारा सहजाधिका के गुह्यकरण के उपरान्त ही शिष्य उसके साथ अभिषेक क्रिया सम्पन्न कर मंडल में प्रविष्ट होता है। बौद्ध-तन्त्र के अन्तर्गत तथागत और उनकी शक्ति का युगनद्ध मण्डल ही सर्वोत्तम माना गया है।

छठी शती से लेकर बारहवीं-तेरहवीं शती तक सम्पूर्ण देश में अनेक तान्त्रिक सम्प्रदायों का संगठन हुआ। उस अवधि की समस्त भारतीय चिंतन धारा तन्त्र प्रभावापन्न दिखलाई पड़ती है क्योंकि सभी प्रकार के तत्कालीन साधना मार्गों में तन्त्रोक्त शक्ति तत्त्व का सन्निवेश किसी-न-किसी रूप में अवश्य मिलता है। यही शक्ति-तत्त्व मधुर रस का उत्स है। वैष्णवों, शाक्तों तथा बौद्ध सिद्धों ने भी बड़े उत्साह के साथ तन्त्राचारों को अपने-अपने साधना-मार्गों में समाविष्ट करके अपने ढंग से उनकी व्याख्या की है। तन्त्र दर्शन के मूल तत्त्व शक्तिवाद को ग्रहण कर उन्होंने अपने साम्प्रदायिक विचारों के अनुरूप मधुर रस-साधना के स्वरूप और साधना का विधान किया है।

पर पचार्थी भाष्य लिखा है। ये काय कारण योग विधि और दु खात पाँच पदार्थ मानते है। जीव और जड काय हैं तथा परमात्मा कारण है। इसमे जीव पशु जड पाश तथा परमात्मा पति माने गये हैं। चित्त द्वारा पशु और पति का मिलन ही योग है। पति को प्राप्त करने वाले माग पति की पूजा पति को प्रसन्न करने के लिए नाचना गाना आदि कृत्य विधि हैं। दु खो की आत्यंतिक निवत्ति दु खात या मोक्ष है। पाशुपत सम्प्रदाय का सम्बध शवमत स भी माना जाता है जिसे जोडने का प्रयास सोम सिद्धान्त ने किया।

शव सिद्धात

शव सिद्धात के अन्तगत पति पशु और पाश—ये तीन परम तत्त्व मान्य हैं। ईश्वर को पति तथा जीव को पशु की सज्ञा दी गयी है। पशु अन और अणु है। जीव रूपी पशु मल कम माया और रोध शक्ति नामक पाश चतुष्टय म आबद्ध है। पशु पति के शक्तिपात (अनुग्रह) स मुक्त हो सकता है। पाश रहित होना ही पशु की मुक्तावस्था है।

शवमत का त्रिक दशन

शवमत म आगमशास्त्र स्पन्दशास्त्र और प्रत्यभिज्ञाशास्त्र को त्रिक दशन कहते हैं। इसके अतिरिक्त शव दशन के अभेद भेद और भेदाभेद तीन पक्षो परा अपरा और परात्परा तीन अवस्थाओ इच्छा ज्ञान और क्रिया तीन शक्तियो एव पश्यती मध्यमा और बखरी तीन वाणीओ का भी त्रिक शब्द से बोध होता है।

त्रिक दशन का सबस बडा अनुशासन सामरस्य है। इसम साख्य दशन के समान प्रकृति को सवथा निरपेक्ष सत्ता नहीं माना गया है तथा अद्वत-वेदान्त के समान निष्केवल ब्रह्म के रूप को नही ग्रहण किया गया है। यह मानव स्वभाव के सभी पक्षो को निर्दिष्ट करने का प्रयत्न करता है क्योकि इसके अनुसार चतन्य-स्वरूप होने के कारण शिव प्रत्येक वस्तु के साथ तादात्म्य स्थापित करकर ज्ञान कराते हैं अपनी शक्ति के साथ सदा लीलारत होने के कारण प्रीति जगाते हैं तथा शक्ति के ऊपर वशी होने के कारण अप्रतिहत इच्छाशक्ति भी प्रकट करते हैं।[1] कश्मीरी शव-साधना की मधुरोपासना का यही रहस्य है। सम्भवत कश्मीरी शव दशन की उपयुक्त मान्यताए ही मध्यकालीन साधना के क्षेत्र म ज्ञान कम और भक्ति शक्ति और सौन्दय तथा योग ज्ञान और भक्ति के समन्वित रूपो म स्वीकृत होकर अभिनव त्रिक दशन के रूप म प्रकटित हुई हैं। ज्ञान और योग के साथ भक्ति तथा शाक्त और शक्ति के साथ सौन्दय के सम्मिश्रण स स्वभावत मधुर रस साधना का माग सिद्ध हो जाता है।

शवागम

शवागम त्रिक दशन का एक महत्त्वपूर्ण अग है। यह शव सिद्धान्तो का प्रतिपादन करने वाला मौलिक दशन ग्रन्थ है। शवागमो म प्रमुख हैं—मालिनी विजय स्वच्छन्द

---

१ हिन्दी साहित्य कोश पृष्ठ ३३१।

विनान भरव, आनन्द भरव मगन्द्र, मातग तत्र न श्वास, स्वयम्भू रुद्रयामल और कामिका। य सभी द्वैतवाद के प्रतिपादक हैं। भारतीय जीवन कला और साहित्य की दृष्टि से इन आगम शास्त्रों का बहुत महत्त्व है। भारतीय लोक विश्वास के साथ शवागमों की सरसता के कारण नाटक नृत्य शिल्प वास्तु चित्र, सगीत, तन्त्र शास्त्र योग शास्त्र न्याय शास्त्र साख्य वशेषिक के क्षत्रों म इनका पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगत होता है। इन आगम शास्त्रों का तत्त्व निरूपण विशेष महत्त्वपूर्ण है। साख्य निरूपित चौबीस तत्त्वों के अतिरिक्त काल नियति कला, विद्या राग अशुक्र माया और प्रकृति माया—इन सात मिथ तत्त्वों तथा शिव शक्ति सदाशिव ईश्वर और विद्या—इन पाच शुद्ध-तत्त्वों का समावश करके इन्होंने छत्तीस तत्त्वों की उदभावना की है। इनम राग शिव और शक्ति तत्त्वों की उद्भावना द्वारा कालान्तर म विकसित होने वाले शिव शक्ति सामरस्य के अन्तगत मधुर रस का सुन्दर सन्निवेश मिलता है।

काश्मीरी शैवमत का ईश्वराद्वयवाद

वाममार्गी रुद्रोपासना की वीभत्स पद्धतियों के प्रति प्रतिक्रिया के कारण ही नवीं सदी म काश्मीरी शवमत का उदय हुआ। इसमें शाकर अद्वतवाद स प्रभावित होकर शिवरूप को प्रधानता दी गयी तथा सत्य शिव, सुन्दर को एकमेक कर अद्वत ब्रह्म के रूप म शिव की अवतारणा हुई। काश्मीरी शवमत के मूल प्रवर्तक वसुगुप्त हैं जिन्होंने नवीं शताब्दी म शिव सूत्र' की रचना कर काश्मीरी शव-सम्प्रदाय के सद्धान्तिक पक्ष को सुदृढ किया। इनके कल्लट और सोमानन्द नामक दो सुयोग्य शिष्य हुए जिन्होंने क्रमश स्पन्दशास्त्र तथा प्रत्यभिज्ञा शास्त्र क ग्रन्थों की रचना की। इन दोनों आचार्यों के दार्शनिक मतानुसार काश्मीरी शवमत की दो शाखाए हैं—स्पन्दशास्त्र और प्रत्यभिज्ञाशास्त्र। स्पन्दशास्त्र की परम्परा म वसुगुप्त के 'शिवसूत्र', भट्ट कल्लट की स्पन्दकारिका और स्पन्दवृत्ति क्षमराज कृत स्पन्दनिर्णय और 'स्पन्दसन्दोह' रामकण्ठ कृत विवृति तथा उत्पलवष्णव कृत प्रदीपिका प्रमुख हैं। प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के अन्तगत सोमानन्द रचित शिव दृष्टि उत्पलाचार्य कृत ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका विमर्शिणी एव तन्त्रसार तन्त्रालोक, परमार्थ सार आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। काश्मीरी शव सम्प्रदाय का दार्शनिक सिद्धान्त ईश्वराद्वयवाद है। इस सिद्धान्त क अनुसार ईश्वर स्वतन्त्र कर्ता स्वरूप है और माया उसकी स्वातन्त्र्य शक्ति है। ईश्वर स्वेच्छया नटवत लीला विस्तार के लिए इस प्रयुक्त करते हैं तथा इसक माध्यम स स्वस्फुरण किया करते हैं। चिन्मय आत्मा का स्वभाव या आन्तर धर्म है। यहाँ ज्ञान और क्रिया म कोई भिन्नता नहीं। दोनों की उन्मुखता ही उसकी 'इच्छा' है। स्पन्दमत म ईश्वराद्वय की अनुभूति प्राप्त करने का साधन ईश्वर-ध्यान और उसके द्वारा मल निवारण है। परन्तु प्रत्यभिज्ञा-दर्शन म ईश्वर के रूप म अपनी ही प्रत्यभिज्ञा अर्थात् उसस स्वरूप की प्राप्ति द्वारा ईश्वरात्म्य की अनुभूति होती है।

काश्मीरी शव मत की इन दोनों शाखाओं के दार्शनिक विचार या तत्त्ववाद समान हैं जो शाक्त तत्त्ववाद से साम्य रखते हैं फिर भी कई दृष्टियों से उनम वषम्य बिन्दु परिलक्षित होते हैं।

पर पदार्थी भाष्य लिखा है। ये माय, कारण योग विधि और दुःखान्त पाँच पदार्थ माना हैं। जीव और जड़ कार्य हैं तथा परमात्मा कारण है। इसमें जीव पशु जड़ पाश तथा परमात्मा पति माने गये हैं। चित्त द्वारा पशु और पति का मिलन ही योग है। पति को प्राप्त करने वाले मार्ग पति की पूजा पति का प्रसाद करने के लिए नाचना गाना आदि कृत्य विधि हैं। दुःखों की आत्यंतिक निवृत्ति दुःखान्त या मोक्ष है। पाशुपत सम्प्रदाय का सम्बन्ध शाक्तमत से भी माना जाता है जिसे गोरखनाथ का प्रयाग सोम सिद्धान्त ने दिया।

शैव सिद्धान्त

शैव सिद्धान्त के अंतर्गत पति पशु और पाश—ये तीन परम तत्त्व मान्य हैं। ईश्वर को पति तथा जीव को पशु की संज्ञा दी गयी है। पशु अज्ञ और अणु है। जीव रूपी पशु मल कर्म माया और रोध शक्ति नामक पाश चतुष्टय में आबद्ध है। पशु पति के शक्तिपात (अनुग्रह) से मुक्त हो सकता है। पाश रहित होना ही पशु की मुक्तावस्था है।

शैवमत का त्रिक दर्शन

शैवमत में आगमशास्त्र स्पन्दशास्त्र और प्रत्यभिज्ञाशास्त्र को त्रिक-दर्शन कहा है। इसके अतिरिक्त शैव दर्शन के अभेद भेद और भेदाभेद तीन पक्षों परा अपरा और परात्परा तीन अवस्थाओं इच्छा ज्ञान और क्रिया तीन शक्तियों एवं पश्यंती मध्यमा और बैखरी तीन वाचाओं का भी त्रिक शब्द से बोध होता है।

त्रिक दर्शन का सबसे बड़ा अनुशासन सामरस्य है। इसमें सांख्य दर्शन के समान प्रकृति को सर्वथा निरपेक्ष सत्ता नहीं माना गया है तथा अद्वैत वेदान्त के समान निष्केवल ब्रह्म के रूप को नहीं ग्रहण किया गया है। यह मानव स्वभाव के सभी पक्षों को निर्दिष्ट करने का प्रयत्न करता है क्योंकि इनके अनुसार चैतन्य स्वरूप होने के कारण शिव प्रत्येक वस्तु के साथ तादात्म्य स्थापित कराकर ज्ञान कराते हैं अपनी शक्ति के साथ सदा लीलारत होने के कारण प्रीति जगाते हैं तथा शक्ति के ऊपर वशी होने के कारण अप्रतिहत इच्छाशक्ति भी पैदा करते हैं।[1] कश्मीरी शैव-साधना की मधुरोपासना का यही रहस्य है। सम्भवतः कश्मीरी शैव दर्शन की उपर्युक्त मान्यताएँ ही मध्यकालीन साधना के क्षेत्र में ज्ञान कर्म और भक्ति शील शक्ति और सौन्दर्य तथा योग ज्ञान और भक्ति के समन्वित रूपों में स्वीकृत होकर अभिनव त्रिक दर्शन के रूप में पल्लवित हुई हैं। ज्ञान और योग के साथ भक्ति तथा शील और शक्ति के साथ सौन्दर्य के सम्मिश्रण से स्वभावतः मधुर रस साधना का मार्ग सिद्ध हो जाता है।

शैवागम

शैवागम त्रिक दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। यह शैव सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाला मौलिक दर्शन शास्त्र है। शैवागमों में प्रमुख हैं—मालिनी विजय स्वच्छन्द

१ हिन्दी साहित्य कोश पृष्ठ २३१।

विज्ञान भैरव, आनन्द भैरव, मृगेन्द्र, मातंग, नेत्र, स्वच्छन्द, स्वयम्भू, रुद्रयामल और वामिका। ये सभी द्वैतवाद के प्रतिपादक हैं। भारतीय जीवन, कला और साहित्य की दृष्टि से इन आगम शास्त्रों का बहुत महत्त्व है। भारतीय लोक विश्वास के साथ आगमों की सरसता के कारण नाटक, नृत्य, शिल्प, वास्तु, चित्र, संगीत, शब्दशास्त्र, योगशास्त्र, न्यायशास्त्र, सांख्य, वैशेषिक के क्षेत्रों में इनका पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगत होता है। इन आगम शास्त्रों का तत्त्व निरूपण विशेष महत्त्वपूर्ण है। सांख्य निरूपित चौबीस तत्त्वों के अतिरिक्त काल, नियति, कला, विद्या, राग, अर्थात् माया और प्रकृति माया—इन सात मिश्र तत्त्वों तथा शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और विद्या—इन पाँच शुद्ध-तत्त्वों का समावेश करके इन्होंने छत्तीस तत्त्वों की उद्भावना की है। इनमें राग, शिव और शक्ति तत्त्वों की उद्भावना द्वारा कालान्तर में विकसित होने वाले शिव-शक्ति सामरस्य के अन्तर्गत मधुर रस का सुन्दर सन्निवेश मिलता है।

काश्मीरी शैवमत का ईश्वराद्वयवाद

वाममार्गी शक्त्योपासना की बीभत्स पद्धतियों के प्रति प्रतिक्रिया के कारण ही नवीं सदी में काश्मीरी शैवमत का उदय हुआ। इसमें शांकर अद्वैतवाद से प्रभावित होकर शिवरूप को प्रधानता दी गयी तथा सत्य, शिव, सुन्दर को एकमेक कर अद्वैत ब्रह्म के रूप में शिव की अवतारणा हुई। काश्मीरी शैवमत के मूल प्रवर्तक वसुगुप्त हैं जिन्होंने नवीं शताब्दी में शिव सूत्र की रचना कर काश्मीरी शैव सम्प्रदाय के सैद्धान्तिक पक्ष को सुदृढ़ किया। इनके कल्लट और सोमानन्द नामक दो सुयोग्य शिष्य हुए जिन्होंने क्रमशः स्पन्दशास्त्र तथा प्रत्यभिज्ञा शास्त्र के ग्रन्थों की रचना की। इन दोनों आचार्यों के दार्शनिक मतानुसार काश्मीरी शैवमत की दो शाखाएँ हैं—स्पन्दशास्त्र और प्रत्यभिज्ञाशास्त्र। स्पन्दशास्त्र की परम्परा में वसुगुप्त के 'शिवसूत्र', भट्ट कल्लट की स्पन्दकारिका और स्पन्दवृत्ति, क्षेमराज कृत 'स्पन्दनिर्णय' और 'स्पन्दसन्दोह', रामकण्ठ कृत विवृति तथा उत्पलवैष्णव कृत प्रदीपिका प्रमुख हैं। प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के अन्तर्गत सोमानन्द रचित 'शिवदृष्टि', उत्पलाचार्य कृत 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका', विमर्शिणी एवं तन्त्रसार, तन्त्रालोक, 'परमार्थ शास्त्र' आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। काश्मीरी शैव सम्प्रदाय का दार्शनिक सिद्धान्त 'ईश्वराद्वयवाद' है। इस सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर स्वतन्त्र कर्ता-स्वरूप है और माया उसकी स्वातन्त्र्य शक्ति है। ईश्वर स्वेच्छया नटवत् लीला विस्तार के लिए इसे प्रयुक्त करते हैं तथा इसके माध्यम से स्वस्फुरण किया करते हैं। विमर्श आत्मा का स्वभाव या आन्तर धर्म है। यहाँ ज्ञान और क्रिया में कोई भिन्नता नहीं। दोनों का उन्मुखता ही उसकी इच्छा है। स्पन्द मत में ईश्वराद्वय की अनुभूति प्राप्त करने का साधन ईश्वर-ध्यान और उसके द्वारा मल निवारण है। परन्तु प्रत्यभिज्ञा दर्शन में ईश्वर के रूप में अपनी ही प्रत्यभिज्ञा अर्थात् उसके स्वरूप की प्राप्ति द्वारा ईश्वराद्वय की अनुभूति होती है।

काश्मीरी शैव मत की इन दोनों शाखाओं के दार्शनिक विचार या तत्त्ववाद समान हैं जो शांकर सत्त्ववाद से साम्य रखते हैं, फिर भी कई दृष्टियों से उनमें वैषम्य बिन्दु परिलक्षित होते हैं।

पर पंचार्थी भाष्य लिखा है। ये कार्य, कारण योग विधि और दु खान्त पांच पदार्थ मानते हैं। जीव और जड़ कार्य हैं तथा परमात्मा कारण है। इनमें जीव पशु जड़ पाश तथा परमात्मा पति माने गये हैं। चित्त द्वारा पशु और पति का मिलन ही योग है। पति को प्राप्त करने वाले मार्ग पति की पूजा पति को प्रसन्न करने के लिए साधना आदि कृत्य विधि हैं। दु खों की आत्यन्तिक निवृत्ति दु खान्त या मोक्ष है। पाशुपत सम्प्रदाय का सम्बन्ध शाक्तमत से भी माना जाता है जिसे जोड़ने का प्रयास साम सिद्धान्त ने किया।

शैव सिद्धान्त

शैव सिद्धान्त के अन्तर्गत पति पशु और पाश—ये तीन परम तत्त्व मान्य हैं। ईश्वर को पति तथा जीव को पशु की संज्ञा दी गयी है। पशु अज्ञ और अणु है। जीव रूपी पशु मल कर्म माया और रोध शक्ति नामक पाश चतुष्टय में आबद्ध है। पशु पति के शक्तिपात (अनुग्रह) से मुक्त हो सकता है। पाश रहित होना ही पशु की मुक्तावस्था है।

शैवमत का त्रिक दर्शन

शैवमत में आगमशास्त्र स्पन्दशास्त्र और प्रत्यभिज्ञाशास्त्र को त्रिक-दर्शन कहते हैं। इसके अतिरिक्त शैव दर्शन के अभेद भेद और भेदाभेद तीन पक्षों परा अपरा और परात्परा तीन अवस्थाओं इच्छा ज्ञान और क्रिया तीन शक्तियों एवं पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी तीन वाचाओं का भी त्रिक शब्द से बोध होता है।

त्रिक दर्शन का सबसे बड़ा अनुशासन सामरस्य है। इसमें सांख्य दर्शन के समान प्रकृति को सर्वथा निरपेक्ष सत्ता नहीं माना गया है तथा अद्वैत-वेदान्त के समान निर्केवल ब्रह्म के रूप का ही ग्रहण किया गया है। यह मानव स्वभाव के सभी पक्षों को निर्दिष्ट करने का प्रयत्न करता है क्योंकि इनके अनुसार चैतन्य स्वरूप होने के कारण शिव प्रत्यक्ष वस्तु के साथ तादात्म्य स्थापित कराकर ज्ञान कराते हैं अपनी शक्ति के साथ सदा लीलारत होने के कारण प्रीति जगाते हैं तथा शक्ति के ऊपर वशी होने के कारण अप्रतिहत इच्छाशक्ति भी पैदा करते हैं।[1] कश्मीरी शैव-साधना की मधुरोपासना का यही रहस्य है। सम्भवत कश्मीरी शैव दर्शन की उपर्युक्त मान्यताएं ही मध्यकालीन साधना के क्षेत्र में ज्ञान कर्म और भक्ति शील शक्ति और सौन्दर्य तथा योग ज्ञान और भक्ति के समन्वित रूपों में स्वीकृत होकर अभिनव त्रिक दर्शन के रूप में पल्लवित हुई है। ज्ञान और योग के साथ भक्ति तथा शील और शक्ति के साथ सौन्दर्य के सम्मिश्रण से स्वभावत मधुर रस साधना का मार्ग सिद्ध हो जाता है।

शैवागम

शैवागम त्रिक दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। यह शैव सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाला मौलिक दर्शन शास्त्र है। शैवागमों में प्रमुख हैं—मालिनी विजय स्वच्छन्द

---

१ हिन्दी साहित्य कोश पृष्ठ ३३१।

विज्ञान भैरव, आनन्द भैरव, मगेन्द्र, मातंग, नेत्र, निःश्वास, स्वयम्भू, रुद्रयामल और कामिका। ये सभी द्वैतवाद के प्रतिपादक हैं। भारतीय जीवन, कला और साहित्य की दृष्टि से इन आगम शास्त्रों का बहुत महत्त्व है। भारतीय लोक विश्वास के साथ शैवागमों की समरसता के कारण नाटक, नृत्य, शिल्प, वास्तु, चित्र, संगीत, नाट्यशास्त्र, योगशास्त्र, न्यायशास्त्र, सांख्य, वैशेषिक के क्षेत्रों में इनका पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगत होता है। इन आगम शास्त्रों का तत्त्व निरूपण विशेष महत्त्वपूर्ण है। सांख्य निरूपित चौबीस तत्त्वों के अतिरिक्त काल, नियति, कला, विद्या, राग, अशुद्ध माया और प्रकृति माया—इन सात मिश्र तत्त्वों तथा शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और विद्या—इन पाँच शुद्ध-तत्त्वों का समावेश करके इन्होंने छत्तीस तत्त्वों की उद्भावना की है। इनमें राग, शिव और शक्ति तत्त्वों की उद्भावना द्वारा कालान्तर में विकसित होने वाले शिव शक्ति सामरस्य के अन्तर्गत मधुर रस का सुन्दर सन्निवेश मिलता है।

काश्मीरी शैवमत का ईश्वराद्वयवाद

वाममार्गी रुद्रोपासना की वीभत्स पद्धतियों के प्रति प्रतिक्रिया के कारण ही नवीं सदी में काश्मीरी शैवमत का उदय हुआ। इसमें शांकर अद्वैतवाद से प्रभावित होकर शिवरूप को प्रधानता दी गयी तथा सत्य, शिव, सुन्दर को एकमेक कर अद्वैत ब्रह्म के रूप में शिव की अवतारणा हुई। काश्मीरी शैवमत के मूल प्रवर्त्तक वसुगुप्त हैं जिन्होंने नवीं शताब्दी में शिव सूत्र की रचना कर काश्मीरी शैव सम्प्रदाय के सैद्धान्तिक पक्ष को सुदृढ़ किया। [illegible] और सोमानन्द नामक दो सुयोग्य शिष्य हुए जिन्होंने क्रमशः स्पन्दशास्त्र तथा प्रत्यभिज्ञा शास्त्र के ग्रंथों की रचना की। इन दोनों आचार्यों के दार्शनिक मतानुसार काश्मीरी शैवमत की दो शाखाएं हैं—स्पन्दशास्त्र और प्रत्यभिज्ञाशास्त्र। स्पन्दशास्त्र की परम्परा में [illegible] के 'शिवसूत्र', भट्ट कल्लट की स्पन्दकारिका और स्पन्दवृत्ति, क्षेमराज कृत [illegible] और स्पन्दसन्दोह', रामकण्ठ कृत विवृति तथा उत्पलवैष्णव कृत 'प्रदीपिका' [illegible]। प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के अन्तर्गत सोमानन्द रचित 'शिव दृष्टि', उत्पलाचार्य कृत [illegible] कारिका विमर्शिणी' एवं तन्त्रसार', तन्त्रालोक, परमार्थसार' आदि प्रसिद्ध [illegible] काश्मीरी शैव सम्प्रदाय का दार्शनिक सिद्धान्त 'ईश्वराद्वयवाद' है। [illegible] ईश्वर स्वतंत्र कर्त्ता स्वरूप है और माया उसकी स्वातन्त्र्य शक्ति है। [illegible] लीला विस्तार के लिए इसे प्रयुक्त करते हैं तथा इसके माध्यम से [illegible] विमर्श आत्मा का स्वभाव या आन्तर धर्म है। [illegible] ज्ञान और [illegible] दोनों की उन्मुखता ही उसकी इच्छा है। [illegible] का साधन ईश्वर-ज्ञान और उसके द्वारा मल निवारण है। [illegible] के रूप में अपनी ही प्रत्यभिज्ञा अर्थात् उसके स्वरूप का [illegible] होती है।

काश्मीरी शैव मत की इन दोनों शाखाओं [illegible] जो शाक्त तत्त्ववाद से साम्य रखते हैं [illegible] होते हैं।

स्पन्दवाद का सिद्धान्त

स्पन्द का शाब्दिक अर्थ होता है—कम्पन, गति, स्फुरण। स्पन्द शिव का प्रथम स्फुरण ही है। एक तरह से शिव जब यह जानते हैं कि मैं ही शिव हूँ तभी इनमें पहला स्पन्दन होता है और वह पहला स्पन्दन ही शिव तत्त्व बनता है। जब आनन्द का बोध होता है तब शक्ति तत्त्व की प्रधानता हो जाती है। काम-कला विलास में शिव और शक्ति के लिए बिन्दु शब्द का प्रयोग किया गया है। श्वेत और रक्त उसके दो रूप हैं।[1] बिन्दु ही सृष्टि का कारण है। शारदातिलक के अनुसार मानव देह में अग्नि और सोम दो तत्त्व हैं। अग्नि सूर्य है तथा सोम निशाकर। सूर्य दक्षिण तथा सोम वामपक्ष हैं। वामपक्ष को इडा तथा दक्षिणपक्ष को पिंगला कहते हैं। इसी के अनुसार शारदातिलक के भाष्यकार ने शुक्रम अग्नि रूपम रक्तम् चन्द्र रूपम कहकर बिन्दु निरूपण किया है।[2] काश्मीर शैव में इसी प्रकार इच्छा शक्ति की ईश्वर में ज्ञान शक्ति की और शुद्ध विद्या में क्रिया शक्ति की प्रधानता हो जाती है। शुद्ध विद्या से लेकर शिव तत्त्व तक ऊर्ध्वगामी जीव का प्रयत्न वस्तु को आत्मरूप में गृहीत करने का होता है। वस्तु का पूर्णरूप से आत्मसात होना विषय का विषयी में तादात्म्य होना एवं विश्व और व्यक्ति में समरसता होना ही स्पन्द है। संक्षेप में स्पन्दवाद की यही दार्शनिक मान्यता है। शैव साधना के अन्तर्गत स्पन्दवाद एक नयी दार्शनिक विचार धारा का परिचायक है क्योंकि इसके द्वारा दर्शन के साथ भावना के सम्मिश्रण का सुन्दर विधान किया गया है। ज्ञान के साथ भक्ति तथा दर्शन के साथ भावना के सुखद संयोग होते ही मधुर रस का स्रोत फूट निकलता है। इस प्रकार स्पन्दवाद के प्रतिपादन द्वारा सर्वप्रथम आनन्द को सत्य की भूमि से ऊपर उठाकर स्पन्द या स्फुरण लोकोत्तर चमत्कार अथवा आत्म विमर्श की कोमल भूमि पर पहुँचाकर मधुर रस साधना का सन्निवेश किया गया है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन का ईश्वराद्वयवाद

प्रत्यभिज्ञा का सामान्य अर्थ फिर से पहचानना पुनः स्वरूप प्राप्त करना होता है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति या मोक्ष केवल ज्ञान या भक्ति द्वारा सम्भव नहीं है। ज्ञान और भक्ति के सुखद संयोग से ही दुःख का पूर्ण निरोध हो सकता है। शुद्ध भक्ति की साधना में द्वैत भाव अपेक्षित होता है। ऐसी स्थिति में मोह के उदय की सम्भावना रहती है किन्तु ज्ञान के बाद भक्ति में द्वैतमूलक भाव में इस प्रकार का भय नहीं रहता। अतएव जो ज्ञानान्वित भक्ति होती है वही श्रेष्ठ है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार साधक अपनी जानी हुई वस्तु को फिर जानकर प्रसन्न होता है। वह अद्वय ईश्वर को गुरु की सहायता

---

१ सितशोणबिन्दु युगल विविक्तशिवशक्ति संकुचत् प्रसरम्।

—काम कला विलास (पुण्यानन्दकृत)

२ अग्निषोमात्मको देहो बिंदुयदुभयात्मकः।
दक्षिणांशः स्मृतः सूर्यो वामभागो निशाकरः।
इडा वामे ततोमध्ये सुषुम्णा पिंगला परे।

—शारदातिलक ३६४।

से निर्भ्रान्त रूप से जानकर अपना लेता है। ऐसी अवस्था म उसकी स्वानुभूति अनिवच नीय आन द की सृष्टि करती है। अत प्रत्यभिज्ञा-दशन अद्वत म द्वत तथा निगु ण म सगुण की अभिनव एव मधुर कल्पना है। शवमत का यह प्रत्यभिज्ञा दशन बहुत कुछ वष्णवा के द्वताद्वत विलक्षण दार्शनिक मतवाद स साम्य रखता है। वष्णवा के द्वताद्वतवाद के समान शवो के प्रत्यभिज्ञा दशन के ईश्वराद्वयवाद के अन्तगत भक्ति की द्वतमूलक भावना का सन्निवेश कर शिव और शक्ति के सामरस्य या तादात्म्य सम्बन्ध की अभिनव सृष्टि की गयी है।

प्रत्यभिज्ञा दशन म शवागम के द्वत भाव पर अद्वतवाद की स्थापना की गयी है। इसम प्रकारान्तर से शाकर अद्वतवाद को नये परिवेश म उपस्थित किया गया है। दृष्टि गोचर और पार्थिव जगत की स्वीकृति माया का अनिवचनीय मानकर सत मानना शक्ति को जड न मानकर चित मानना मोक्ष से बड़ा पुरुषाथ स्व विमश को मानना प्रत्यभिज्ञा दशन की नवीन उदभावनाए हैं। इसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य अपने व्यावहारिक जीवन म *अपने स्वरूप को फिर से पहचानकर मोक्ष या स्वतन्त्रता प्राप्त करने का अधिकारी हो* सकता है।

वस्तुत स्वातन्त्र्य शक्ति की आतरिक सत्ता है वही शक्ति है वही विमश है। जब शिव शक्ति म प्रतिबिम्बित होने हैं तभी सत् के साथ अह विमश जगता है। यह अह विमश ही मूल बिम्ब है और इसी के प्रतिबिम्ब या आभास रूप म विश्व की स्थिति है। विश्व ग्राहक और ग्राह्य दोनो है। शिव और शक्ति म तादात्म्य या सामरस्य का सम्बन्ध है।[1] शवागम म ही सवप्रथम समरस शब्द का शास्त्रीय प्रयोग किया गया है। शिव और शक्ति क परस्पर तादात्म्य सम्बन्ध को ही सामरस्य की सज्ञा दी गयी है। यह आन द बोध दशा अथवा मधुर रसास्वादन की मधुमयी भूमिका म शिव और शक्ति के समान रूप से अधिष्ठित रहने का अथ द्योतन करता है। साराश यह है कि 'समरसता तन्मयी भाव की वह सुखद स्थिति है जिसम सभी प्रकार के बाह्य विकल्प तिरोहित हो जाते हैं और दश्य जगत उसम प्रकाशित हो उठते हैं। समरसता की स्थिति को प्राप्त करना ही समस्त साधनाओ की चरम उपलब्धि है। मलावेष्टित पाश बद्ध अज्ञानी जीव की शिवत्व-योजना ही मुक्त कर सकती है। शिवत्व-योजना को कार्यान्वित करने क लिए अनुपाय, शाम्भव शाक्त और आणव ये चार उपाय ही निर्दिष्ट हैं। प्रत्यभिज्ञा दशन का मुख्य लक्ष्य मनुष्य को उसकी क्षुद्र सीमाओ से हटाकर उसकी विराटता से उस पुन परिचित कराना है। इसने मध्यकालीन धम साधनाओ के समान भारतीय साहित्य शास्त्र को भी बहुत प्रभावित किया है। प्रत्यभिज्ञा-दशन म शिव की जो स्थापना है वही रसवाद म रस की स्थापना है। इस प्रकार मधुर रस साधना के सद्धान्तिक निरूपण की दृष्टि से शव दशन का विशेषकर उसके प्रत्यभिज्ञा दशन का विशेष महत्त्व है।

योग, ज्ञान और भक्ति का समन्वय

कश्मीर शवमत सद्धान्तिक दृष्टि से तत्त्वत अद्वतवादी है किन्तु वेदान्त क अद्वतवाद से इसमें विभिन्नता है। वेदान्त के अद्वत ब्रह्म म निष्क्रियता है परन्तु कश्मीरी शवमत के परमेश्वर म सक्रियता है। इसके अतिरिक्त कश्मीरी शवमत म ज्ञान के साथ साथ भक्ति का

१ हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ४७६।

भी सुन्दर समन्वय किया गया है। कश्मीरी शैव सम्प्रदाय का साधक पारमार्थिक रहस्य के उद्घाटन प्रत्यक्षानुभूति और तत्त्वज्ञान के लिए योग साधना को आवश्यक मानता है। उसकी निश्चित धारणा है कि योग-साधना के द्वारा ही मनुष्य माया-जन्य आवरणों से मुक्त होकर मोक्ष की स्थिति में पहुंच सकता है। यह मोक्ष स्थिति ज्ञान भक्ति की उन्मेषदशा है। ज्ञान मूलक अन्त भक्ति सत्त्व अहेतुकी तथा आनन्द विधायिका होती है। यह स्वानुभूति का पूर्णानन्द रस आत्म विश्राम की अविचल शक्ति तथा तत्त्वज्ञान की लोकोत्तर शान्तिप्रदायिका है। प० परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों मे जिस प्रकार सृष्टि के आदि में परमतत्त्व शाश्वत पूर्ण अकृत्रिम अहं की स्फूर्ति द्वारा अनेक प्रकार की लीलाओं में प्रवृत्त होकर स्वयं आनन्दित हुआ करते हैं उसी प्रकार अद्वैत परमेश्वर का अनुभव करने वाला साधक भी भक्ति के लिए द्वैत की कल्पना कर उसके सौन्दर्य से प्रभावित हुआ करता है। द्वैत की यह भावना अद्वैत से भी बढ़कर सुन्दर होती है और दो अभिन्न हृदय मित्र या पति-पत्नी की भाँति जीवात्मा और उस परमात्मा के समरसानन्द में यह द्वैत अमृत-तुल्य बन जाता है।[1] निर्गुणियों सन्तों की प्रेम प्रवण अन्त भक्ति बहुत-कुछ कश्मीरी शैवमत की ज्ञान-योगमूलक भक्ति के अनुरूप ही रही है। कश्मीरी शैवमत के ईश्वराद्वयवाद ज्ञान-योगमूलक भक्ति सिद्धान्त शिवशक्ति सामरस्य ज्ञानमूलक अहेतुकी भक्ति-पद्धति आत्मानुभूति त्रिक-दर्शन जीवात्मा और परमात्मा के सम रसानन्द की दाम्पत्य भावपरक अभिव्यंजना आदि का अमित प्रभाव मध्यकालीन विविध धर्म साधनाओं पर पड़ा है। निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार के उपासकों ने इनमें भाव सामग्रियाँ ग्रहण कर मधुर रस की बड़ी मार्मिक अभिव्यंजना की है। अतएव मधुर रस के स्वरूप विवेचन की दृष्टि से कश्मीरी शैव सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्त और साधना पद्धति का भी अत्यधिक महत्त्व है।

वीर शैवमत का शक्तिविशिष्टाद्वैतवाद

ग्यारहवीं सदी में कश्मीरी शैवमत के अद्वैतवाद के प्रति होनेवाली प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप बसव नामक शैव दार्शनिक ने वीर शैवमत का प्रतिपादन किया। ब्रह्मसूत्र पर श्रीकर भाष्य और सिद्धान्त शिखामणि वीर शैव सम्प्रदाय के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। शक्तिविशिष्टाद्वैतवाद इसका दार्शनिक सिद्धान्त है। इसमें स्थूल चिदचिच्छक्ति विशिष्ट जीव और सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट शिव का अद्वैत है। परम तत्त्व शिव को पूर्णहन्ता रूप या पूर्ण स्वातन्त्र्य रूप माना गया है। इस सम्प्रदाय को लिंगायत सम्प्रदाय भी कहते हैं क्योंकि इस सम्प्रदाय के साधक शिव लिंग की पूजा करते हैं तथा उसे शरीर पर भी धारण करते हैं। इसके अतिरिक्त इसके अनुयायी ईश्वर को अनन्त चैतन्य स्वरूप मानते हैं। उनकी दृष्टि में जीव का ईश्वर से तादात्म्य होकर उसकी आनन्दानुभूति में तन्मय हो जाना ही उसका परम ध्येय है। जीवात्मा और परमात्मा का यह तादात्म्य भाव ही मधुर रस साधना का केन्द्रबिन्दु है।

---

[1] भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्।
ज्ञानं समरसानन्दं द्वैतमप्यमृतोपमम्॥
मित्रयोरिव दम्पत्योर्जीवात्म परमात्मनो॥
—बोधसार पृ २ २ १।

शाक्त दर्शन

शक्ति की उपासना करने वालों को शाक्त कहते हैं तथा उनके धर्ममत को शाक्तमत की संज्ञा दी गयी है। पूर्व बुद्ध-युग से लेकर अद्यावधि शक्ति-साधना की सुदीर्घ परंपरा रही है। इस सुदीर्घ अवधि में शक्ति-तत्त्व और शाक्त साधना का तात्त्विक मीमांसा करने वाले श्रीकुल सम्प्रदाय से संबंधित अगणित ग्रंथों में से अगस्त्य-कृत शक्ति सूत्र और 'शक्ति-महिम्न स्तोत्र', सुमेधाकृत त्रिपुरा रहस्य गौडपाद रचित श्री विद्यारत्न सूत्र', शंकराचार्य-कृत सौन्दर्य-लहरी' और प्रपंचसार एवं अभिनवगुप्त रचित तन्त्रालोक' और तन्त्रसार' विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। कालीकुल सम्प्रदाय के अंतर्गत कालज्ञान', कालोत्तर' महाकाल संहिता आदि ग्रंथ विशेष उल्लेखनीय हैं।

शक्ति-तत्त्व

शाक्तमत के अंतर्गत स्त्री रूप में परमेश्वर को माना गया है और उमा को शक्ति या पराशक्ति कहा गया है। उस पराशक्ति के लिए आनन्द भैरवी महाभैरवी, त्रिपुरसुन्दरी ललिता आदि नाम प्रयुक्त किये गये हैं। वेदों उपनिषदों और पुराणों में ब्रह्म की त्रिगुणात्मिका प्रकृति को शक्ति माना गया है। 'श्वेताश्वतरोपनिषद के अनुसार सत्त्व रज और तम—यह त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही शक्ति है। इसीका मूल ऋग्वेद में मिलता है।[1] ऋग्वेद के रात्रिसूक्त देवीसूक्त तथा श्रीसूक्त में एवं अथर्ववेद के देव्यथर्वशीर्ष' में भगवती की भक्ति और आराधना का विकसित रूप विद्यमान है। वैदिक प्राकृतिक सौंदर्य-बोध शक्ति की भावानुभूति का ही प्रतीक है। यही प्रकृतिपरक उपासना शक्ति की उपासना में परिवर्तित हो गई है।

परमपुरुष के ब्रह्म और शक्ति दो रूप माने गये हैं। परमपुरुष स्रष्टा ने विश्व निर्माण की इच्छा से ही अपने को दो रूपों में प्रकट किया। ऋग्वैदिक मंत्रों के अनुसार सारा जगत शक्ति निर्मित है। उपनिषदों में भी सरस्वती गायत्री, सावित्री के रूप में विश्व रचना करने वाली शक्ति की महिमा के वर्णन मिलते हैं। तान्त्रिक बौद्ध-साधना से संबंधित 'उग्र तारा पंचांग तारा कल्पलता तारा प्रदीप और तारा तत्त्व ग्रंथों में देवी-कथा वर्णित है। सारांश यह है कि प्रागैतिहासिक काल से आती हुई शक्ति-उपासना की गौरवशाली परंपरा भारतीय मनीषा को अनेक प्रकार से प्रभावित करती रही है और इसके परिणाम स्वरूप परमपुरुष के ब्रह्म रूप के साथ-ही-साथ शक्ति रूप को भी पर्याप्त प्रधानता मिली है। सच तो यह है कि ब्रह्म और शक्ति को भिन्न मानते हुए भी दोनों को संपृक्त सिद्ध किया गया है। ब्रह्म और उसकी शक्ति की यही संपृक्तता दाम्पत्य भाव-सूत्र के माध्यम से जब अभिव्यक्त की जाती है तब वहीं मधुर रस की सिद्धि होती है।

चराचर विश्व के सभी पदार्थों का आदि और अन्त वही महाशक्ति है। संसार के सारे पदार्थ उमा के रूप हैं। अतः वही महाशक्ति परमेश्वर है जो सब भूतों में मातृ एवं शक्ति

[1] अग्ने यत्ते दिवि वर्च्य पृथिव्यां यदोषधीष्वप्स्वा यजत्र।
येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थ त्वेष सा भानुरर्णवो नृचक्षा॥
—ऋग्वेद।

रूपेण सस्थित है ।[1] शक्ति के बिना सारे पदार्थ निष्क्रिय हैं। अत चराचर म प्रतिक्षण उसी महाशक्ति के विविध रूप चरितार्थ हो रहे हैं। भौतिक विज्ञान म प्रकाश, विद्युत् ताप तथा चुम्बक आदि शक्ति के विविध रूप हैं। शक्ति अदृश्य है। उसके विभिन्न रूप अपना प्रभाव तथा चमत्कार मात्र प्रदर्शित करत हैं। शक्ति न तो शून्य स उत्पन्न की जा सकती है और न शून्य म उसका लय ही हो सकता है। अविनाशी द्रव्य अविनाशी शक्ति का रूपान्तर है। अतएव समस्त चराचर के स्थूल और सूक्ष्म पदार्थ शक्ति के ही परिवर्तित रूप हैं और इन शक्तियो की भी बडी इकाई सूक्ष्मतम महाशक्ति है।

साधना के क्षेत्र म इसी महाशक्ति की कल्पना भवानी धात्री दुर्गा आदि रूपो म की गयी है। वह परमेश्वर का ही शक्ति है जो भोग म भवानी योग म कुण्डलिनी कोप म काली और समर म दुर्गा है। भारतीय दर्शन के अनुसार समस्त सृष्टि के मूल म एक ही शक्ति तत्त्व है और उसके अभिव्यक्त होने के अनेक रूप हैं।[1] सृष्टि स्थिति और सहार म शिव शक्ति के बिना समथ नही होत, क्योकि आधार क बिना शक्ति का प्रयोग सम्भव नही। इसीलिए 'परिपालय देवि विश्व सर्वोपकार करणाय सदार्द्रचित्ता कहकर विश्वाधिष्ठान जगदम्बिका की प्राथना की जाती है।

शक्ति के रूप

सामान्यत शक्ति के दो रूप हैं—रौद्र और कल्याणी। रौद्र रूप म उसका सम्बन्ध रुद्र से तथा कल्याणी रूप म शिव से माना गया है। इस प्रकार शक्ति के साथ सपृक्त होने के कारण ही रुद्र या शिव अद्ध-नारीश्वर कहलाये। रुद्र महादेव हैं उनम कई देवो का समावेश है। इसी तरह विश्वमाता दुर्गा महादेवी हैं और उनम भी कई देवियो का सन्निवेश है। तात्पय यह है कि वेदो से आनेवाली शक्ति क स्वरूप म अवदिक जातियो की मातृदेविया का मेल होता गया और उन्ह विभिन्न देविया के रूप मे स्थान देकर दुर्गा का एक अग बना लिया गया। शक्ति के विभिन्न रूप निर्धारण म तन्त्राचार का विशेष महत्त्व है। इसका प्रमाण यह है कि तन्त्र के सभी आचार पार्वती और शिव सवाद स आरम्भ होते हैं। तन्त्राचार के दक्षिण और वाम भेदो की न्यूनाधिकता के आधार पर अन्यत्र शक्ति के तीन रूप निर्दिष्ट किये गये हैं—सात्त्विक राजसिक और तामसिक। सात्त्विक रूप बहुत कुछ वदिक परम्परानुकूल है। राजसिक और तामसिक रूपो के अन्तगत बलि सुरा मास भक्षण तथा अन्य अवदिक आचारो को समाविष्ट किया गया है। शक्ति के इन्ही तीन रूपो के अनुसार शक्ति-उपासना की पद्धतियाँ प्रचलित हैं—*शिष्ट पद्धति भयकर पद्धति और भावात्मक पद्धति। शिष्ट पद्धति* शक्ति उपासना की अहिंसात्मक पद्धति है। भयकर पद्धति म पशुओ तथा मनुष्यो की बलि मद्य मास

---

१ या देवी सवभूतेषु मातृरूपेण सस्थिता।

—दुर्गा सप्तशती ७१ ७२ ७३।

'या देवी सवभूतेषु शक्तिरूपेण सस्थिता।

—वही ५/३२ ३३ ३४।

१ मध्य द्योनो मदारभें मदारूपिणीमाप्नोति भुवनेश्वरी तुयातीता।

—भुवनेश्वयु पनिषद्।

सेवन आदि वामाचार मान्य हैं। भावात्मक पद्धति में उपासक अपने उपास्य के साथ तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करके उपासना करता है। इनमें प्रथम पद्धति वालों को स्मार्त्त दूसरी पद्धति वालों को शैव तथा तीसरी पद्धति वालों को शाक्त कहा गया है। इस प्रकार शक्ति उपासना की भावात्मक पद्धति के अन्तर्गत स्वभावत मधुर रस का सन्निवेश हो जाता है।

शक्ति तत्त्व और शिव तत्त्व

शिव और शक्ति शशांक तथा चन्द्र चन्द्रिका के समान सपक्त हैं। शिव में शक्ति और शक्ति में शिव हैं।[1] शिव के बिना शक्ति और शक्ति के बिना शिव की कल्पना ही नहीं की जा सकती। क्या अग्नि के बिना धूम और धूम के बिना अग्नि अथवा वृक्ष के बिना छाया और छाया के बिना वृक्ष का सत्ता बोध सम्भव है?[2] शिव शब्द में इकार शक्ति की सपक्तता का ही द्योतक है।[3] शक्ति शिव की सृष्टि करने की इच्छा है। वह समस्त पदार्थों की सृजनात्मिका शक्ति है। वह शिव की क्रिया शक्ति है।[4] शक्तिरहित होकर शिव कुछ भी नहीं कर सकते।[5] शाक्त-तन्त्रों में शिव और शक्ति के सम्मिलित स्वरूप को चनक कहा गया है। चनक के दो दानों के समान शिव और शक्ति हैं तथा उसका छिल्का माया है। वर्णानिक शब्दावली में शिव धनात्मक आवेग है और शक्ति ऋणात्मक। इन आवेगों से उत्पन्न बल-क्षेत्र ही माया का स्वरूप है जो आवेगों को घेरता है।

शाक्त-मतानुसार पराशक्ति के हृदय में विश्व-सृष्टि की इच्छा उत्पन्न होने पर उसके शिव और शक्ति दो रूप हो जाते हैं। शिव प्रकाश रूप हैं और शक्ति विमर्शरूपा। विमर्श का अर्थ पूर्ण अकृत्रिम अहं की स्फूर्ति है। इसी को चित् चैतन्य स्वातन्त्र्य कर्तृत्व स्फुरता आदि की संज्ञा दी गई है। प्रकाश और विमर्श को युगपत कहा गया है। प्रकाश या शिव को संवित् और विमर्श को युक्ति माना गया है। इसी शिव शक्ति के आन्तर निमेष को सदाशिव तथा बाह्य उन्मेष को ईश्वर कहते हैं। परा, संवित का शिव

१ शिवस्याभ्यन्तरे शक्ति शक्तेरभ्यन्तरे शिव ।
अन्तर नैव जानीयात् चन्द्र चन्द्रिकयोरिव ॥
—सिद्धसिद्धान्तसंग्रह।

२ न शिवेन विना शक्तिन शक्तिरहित शिव ।
अन्योन्य च प्रवर्तन्ते अग्निधूमौ यथाप्रिय।
न वृक्षरहिता छाया नच्छाया रहितो द्रुम ॥
—वही।

३ शिवोऽपि शवतां याति कुण्डलिन्या विवर्जित ।
—देवीभागवत का वचन।

४ कुलस्य सामरस्यानि सृष्टि हेतु प्रकाशताम्।
सा चापरपरा शक्ति राजेशस्यापर कुलम्॥
प्रपञ्चोऽस्य समरसस्य अगारूप प्रवर्तनात् ॥
—सिद्धसिद्धान्तसंग्रह।

५ शिवोऽपि शक्ति रहित शक्तु शक्तो न किञ्चन
शिव स्वशक्तिसहितो समासोद्भासको भवत्।
—वही।

शक्त्यात्मक रूप सर्गात्मक होता है। शिव-तत्त्व में अहं विमर्श होता है सदाशिव तत्त्व में अहमिदम् विमर्श और ईश्वर तत्त्व में इदमहम् विमर्श होता है। इनमें से प्रत्येक में प्रथम पद की प्रधानता रहती है। इसके अनन्तर माया-तत्त्व का कार्यारम्भ होता है जो अहम् और इदम् को पृथक् पृथक् कर देती है। अहम् हो जाता है पुरुष और इदम् प्रकृति। परन्तु शिव को पुरुष रूप में आने के लिए माया पाँच उपाधियों—कला विद्या राग काल और नियति—की सृष्टि करती है जिसका पारिभाषिक नाम कंचुक या आवरण है। इतना विजृम्भण हो जाने पर फिर सांख्य-दर्शन की भाँति आगे विकास होता है। आविर्भाव के विपरीत क्रम से तिरोभाव होता है। आविर्भाव सृष्टि विधान की व्याख्या करता है तो तिरोभाव साधना की।[1]

शाक्तमत की उपर्युक्त ब्रह्माण्ड कल्पना वैज्ञानिक भित्ति पर आधृत है। साधना-लीन योगियों ने जिन सत्यों का अपनी आन्तर समाधि-दशा में साक्षात्कार किया था उन्हीं को भौतिक विज्ञानादि नव आविष्कृत तथ्यों के रूप में पुष्ट करते हैं। प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने गणितीय विधियों से यह सिद्ध कर दिया है कि ऊर्जा और कुछ नहीं द्रव्य है और द्रव्य और कुछ नहीं ऊर्जा है। इसी तरह मिन्कोवस्की ने प्रमाणित कर दिया है कि काल दिक् से भिन्न नहीं है और दोनों का संयोग ही एक पूर्ण वक्तव्य के लिए आवश्यक है। ये दोनों निष्कर्ष मानव-मस्तिष्क की बहुत बड़ी उपलब्धियाँ हैं। इनका महत्त्व इसलिए भी और अधिक है कि ये निष्कर्ष योगियों द्वारा उद्घाटित सत्यों को प्रमाणित करते हैं।

शाक्त मतानुसार विश्व प्रपंच का पर्यवसान एक बिन्दु में होता है। इस बिन्दु को हम आयाम रहित गणितीय बिन्दु कह सकते हैं। इस बिन्दु को एक गणितीय रेखा लपेटे हुए है जो इसके प्रत्येक पृष्ठभाग को स्पर्श भी करती है। अर्थात् ये दोनों मिलकर एक बिन्दुमय हो जाते हैं। ब्रह्माण्ड संकोच की इस प्रक्रिया पर विचार करते हुए प्रसिद्ध खगोलशास्त्री अर्नस्ट जे० विपिक ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड सारा गैलेक्सी समुदाय अपने जीवित या मृत सूर्यग्रहों के साथ अपने को एक सूक्ष्माकाश या बिन्दु में लय कर देगा।[2]

शक्ति अपने स्थैतिक (कुण्डलिनी) और गत्यात्मक दो रूपों में प्रकट होती है। प्रत्येक संचार का एक स्थैतिक पृष्ठाधार होता है। शरीर में यह स्थिति-केन्द्र मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी शक्ति है। यह शक्ति ही सम्पूर्ण शरीर और इसमें प्रवाहित सभी प्राण शक्तियों का आधार है। यह शक्ति-केन्द्र चित् का स्थूल रूप है।

एलक्ट्रोन थ्योरी के अनुसार अणु सौरमण्डल से मिलता जुलता एक सूक्ष्म ब्रह्माण्ड है। अणुकेन्द्र में धनात्मक आवेश वाले प्रोटीन का निवास है। इसके चतुर्दिक ऋणात्मक

---

१ हिन्दी साहित्य कोश पृ ७६४।

2 The whole Universe—all galaxies with their suns shining or extinct their planets dead or still, carrying life on their surface—will precipitate itself into a narrow space almost a point

—The Occallating Universe
Ernest J Opik (Page 123)

आवेश के समान एलक्ट्रन विभिन्न कक्षाओं में गतिशील है। दोनों आवेश मिलकर अणु को सतुलित रखते हैं जिससे यह साधारण रूप में भग्न न हो जाए। पिण्ड पिण्ड ब्रह्माण्ड ब्रह्माण्ड' के अनुसार अणु में घटने वाली यही घटना समग्र विश्व में घटित हो रही है। विश्व में सारे ग्रह सूर्य के चारों ओर घूमते हैं और इस तरह हम ब्रह्म बिन्दु तक पहुंच जाते हैं जो कि निरपेक्ष स्थिर बिन्दु है। इस स्थिर बिन्दु के चारों ओर सारे मण्डल घूमते हैं और यही बिन्दु सब नियन्ता है।

शाक्त के दो सम्प्रदाय

शाक्तमत के दो प्रसिद्ध सम्प्रदाय हैं—कौल सम्प्रदाय और समयाचार सम्प्रदाय। कौल' कुल शब्द से बना है। कुल शक्ति या कुण्डलिनी है तथा अकुल शिव हैं।[१] अत कुल से अकुल का सम्मिलन ही कौलमार्ग है। कुल और अकुल को मिलाकर समरस बनाना ही कौल-साधना का परम लक्ष्य है तथा कुल और अकुल का सामरस्य ही कौल ज्ञान है। अतएव कौल ज्ञान सिद्धिपरक विद्या है। यहाँ कुल और अकुल का अभेद है। अकुलवीरतंत्र में इसे कभी अवधूत मार्ग, कभी सिद्ध मार्ग और कभी सहज मार्ग कहा गया है। अत जो यौगिक क्रियाओं द्वारा कुण्डलिनी का उत्थापन कर सहस्रार स्थित शिव के साथ मिलन कराता है वही कौल है। कौलाचार को कुलाचार या वामाचार भी कहते हैं। यह कौलाचार' मद्य, मांस, मत्स्य मुद्रा और मैथुन—इन पंचमकारों के अवलम्बन में सम्पन्न होता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से पंचमकार गूढ संकेतात्मक अर्थ के वाचक हैं। पंचमकार अन्तर्योग से ही सम्बद्ध है। कालान्तर में साम्प्रदायिक विपर्यय तथा बाह्याचारों की प्रधानता के कारण पंचमकार के सांकेतिक अर्थ लुप्त हो गये तथा बाह्यार्थवादी साधक भौतिक अर्थों में ही पंचमकार' को ग्रहण कर अनेकानेक विकृतियों से ग्रस्त हो गये।

शाक्तमत के समयाचार सम्प्रदाय का सम्बन्ध अन्तर्योग से है। समय का सांकेतिक अर्थ है—शिवशक्ति का सामरस्य। साधक हृदयाकाश में चक्र की भावना कर पूजा का विधान करता है अथवा शक्ति के साथ अधिष्ठान, अनुष्ठान अवस्थान, नाम तथा रूप भेद से पंच प्रकार के साम्य धारण करने वाले शिव का सम्मिलन कराता है। समयाचार का सम्बन्ध हठयोगिक क्रियाओं से है। समयाचारी साधक मूलाधार स्थित सुप्त कुण्डलिनी को यम नियमादि साधनाओं द्वारा जाग्रत करता है तथा स्वाधिष्ठानादि षट् चक्रों से उसे प्रवाहित करते हुए सहस्रार स्थित सदाशिव के साथ संयोग करा देता है। समयाचारी साधक का यम मुख्याचार है। कुछ समयाचारियों ने कौलमार्ग की निन्दा की है किन्तु कुछ साधकों के विचार से जो परम कौल है वही यथार्थत समयी भी है।

दार्शनिक दृष्टि से शाक्तमत अद्वैत प्रधान है। उसकी प्रत्येक साधना में अद्वैतवाद

---

१ कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते।
कुले अकुलस्य सम्बन्ध कौलमित्यभिधीयते॥
—सौभाग्य भास्कर, पृ० ५३।

* * *

बहिर्गोप्यान्तरादित्यादेक प्रवाकुलमतम्। —सिद्धसिद्धान्तसंग्रह, पृ ४।

प्रतिष्ठित है। शाक्त मतानुसार तत्त्व छत्तीस हैं जो शिव-तत्त्व विद्या-तत्त्व और आत्म तत्त्व नाम से तीन वर्गों म विभाजित हैं। शिव-तत्त्व के साथ शक्ति-तत्त्व भी सम्मिलित है। इसी तरह विद्या-तत्त्व म सदाशिव ईश्वर और शुद्धविद्या—तीन तत्त्व माने गये हैं। आत्म तत्त्व म एकतीस तत्त्व माने गये हैं—माया कला विद्या राग, काल नियति पुरुष प्रकृति बुद्धि अहंकार मन पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच कर्मेन्द्रियाँ पच विषय तथा पच महाभूत।

कौल सहज साधना का मधुर भाव

सातवा शताब्दी के बौद्ध शव शाक्त और बौद्ध सम्प्रदायो के साहित्य म सहज शून्य गगन गगनोपम समरस उनमुनि इडा पिंगला सुषुम्ना आदि पारिभाषिक शब्दो के बहुत प्रयोग मिलते हैं। इनम सहज शब्द का बडा ही व्यापक प्रभाव दिखाई पडता है। सातवी सदी से लेकर चौदहवी सदी तक के सभी साधना मार्गों म सहज शब्द कई भूमिकाओ में प्रतिष्ठित हुआ है।

सहज के दो रूप मिलते हैं—निषधात्मक तथा भावात्मक। निषधात्मक रूप म सहज' शब्द धम साधना म बरते हुए कृच्छाचार तथा बाह्याडम्बरो के प्रति होनेवाली प्रतिक्रिया का ही द्योतक है। तीर्थव्रत नियमाचार परनिंदा बाह्याचार मिथ्यात्व आत्म पीडनपरक क्लिष्ट एव जटिल क्रियाओ आदि का परिहार करके निष्कामता निर्वैरभाव तथा समताबुद्धि रखते हुए उपास्य का स्मरण भजन करना तथा अतर म ही उस परम तत्त्व का साक्षात्कार करना सहज का भावात्मक रूप है। उपास्य से उपासक का तादात्म्य भाव ही सहजभाव है। सहज भावापन्न साधक पिण्ड और ब्रह्माण्ड म अभेदबुद्धि रखता है।

कौलमत का अद्वत दशन

कौलमतानुसार अद्वत ज्ञानी ही कौलज्ञान का वास्तविक अधिकारी है। अकुलवीर तत्र म प्रतिपादित साधना ही वास्तविक सहज-साधना है। यहाँ कुल (शक्ति) और अकुल (शिव) म कोई भेद नही माना गया है। 'कौल ज्ञान निणय म सहज ज्ञान पर काफी जोर दिया गया है। सहज ज्ञान या सहज साधना की श्रेष्ठता बाह्याचारो का निषध कुल-क्षत्र और पीठो के वणन वशीकरण के प्रयोग पचपवित्र तथा अन्य पारिभाषिक शब्दो के प्रयोग आदि प्रवृत्तिया बौद्ध सिद्ध-साहित्य तथा कौल ज्ञान निणय म समान रूप स पायी जाती हैं।[१]

कौल साधना के प्रमुख ग्रथ कौलोपनिषद मे अनात्मा मे आत्मबुद्धि आत्मा मे अनात्मबुद्धि जीवो म परस्पर भेद ज्ञान उपास्य और उपासक मे भेदबुद्धि तथा चतन्य (पर ब्रह्म) से आत्मा को पृथक समझने की बुद्धि को जीव के पाँच बधन माने गये हैं। ब्रह्मशक्ति के विलास होने क कारण ये पचबधन भी ज्ञान रूप ही हैं। ये ही जन्म मरण के कारण हैं। देह म ही मोक्ष है तथा सभी शाम्भवी के ही रूप हैं—इस आत्म ज्ञान से ही मुक्ति मिल सकती है। आत्म ज्ञान स ही अद्वतज्ञान होता है जिससे उपासक उपास्य क साथ एकात्म

१ द्रष्टव्य—कौलज्ञाननिर्णय की भूमिका डॉ पी सी बागची तथा डॉ भुवनेश्वर 'माधव लिखित 'रामभक्ति में मधुरोपासना'—पृ २६ द्रष्टव्य।

बोध प्राप्त कर सदा के लिए परमानन्द में निमग्न हो जाता है। यही सहज-साधना का रहस्य है।

शाक्त-साधना के आचार-दर्शन का रहस्य

देवीरहस्य' रुद्रयामल तन्त्र का एक महत्त्वपूर्ण भाग है, जो शक्ति साधना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना जाता है।[1] साइकिक प्रोसेस पर यह अच्छा प्रकाश डालता है। जीवनोपयोगी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति में संलग्न मानव की चेतना जड़ता-ग्रस्त हो जाती है। आगमों के अनुसार जड़ता का अर्थ स्वप्रकाश का अभाव है। साधना का मूल उद्देश्य स्वप्रकाश का पुनर्जागरण करना अर्थात् आन्तरिक प्रकाश का स्वस्फुरण करना है। आन्तरिक प्रकाश की यह स्वस्फुरता काम, क्रोध मद, लोभादि वृत्तियों से दबकर अवचेतन के गम्भीर गर्त्तों में गिर जाती है। जहाँ फ्रायड का मनोविज्ञान अवचेतन के रेचन पर ही बल देता है जिसे वह उदात्तीकरण का नाम देता है वहाँ शक्तिवाद आन्तरिक सामंजस्य से उत्पन्न, स्फुरता या आत्मिक आनन्द को जाग्रत करने पर बल देता है। मनुष्य का यह आत्मिक आनन्द उसकी आत्मा की अशान्ति आदि दैनिक जीवन के तनाव एवं उनकी जटिलताओं के कारण कठिन हो जाती है। किन्तु मनुष्य की शाश्वत आनन्दवृत्ति उसे उकसाती रहती है। फलतः मनुष्य बाह्यकरणों के द्वारा बाह्य द्रव्यादि का संग्रह करने लगता है। किन्तु बाह्य करणों से प्राप्त आनन्द और शान्ति सहेतुक किंवा क्षणिक होती है। अतः शाश्वत आनन्द और शान्ति के लिए आन्तरिक अनुसंधान आवश्यक है। शक्तिवादी गुरु शिष्य को एक कृत्रिम किन्तु आवश्यक आचार (Ritual) की शिक्षा देता है। यह आचार प्रतीकात्मक होता है। इसके द्वारा शिष्य को प्रभावित करने का ही प्रयत्न किया जाता है। इन प्रारम्भिक कृत्रिम आचारों द्वारा शिष्य को सम्मोहित करने अर्थात् उसमें तात्कालिकता उत्पन्न करने की चेष्टा की जाती है। शिष्य को साधना के लिए तैयार करने के लिए यह एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है।

इच्छा शक्ति, ज्ञान-शक्ति, क्रिया-शक्ति एवं लौल्य

पद प्राप्ति के लिए दृढ़ इच्छा शक्ति की परमावश्यकता है। इसीलिए इच्छा शक्ति को देवी कहा गया है। इच्छा-शक्ति के उत्पन्न होते ही चैतन्य स्थित सूक्ष्म ब्रह्माण्ड का एक अंश अपने को अवभासित करने लगता है। यही आभास सृष्टि है। यही शक्ति रूप है। सृष्टि कारणरूपा शाश्वत योनि शक्ति शिव (पुरुष) के आनन्द का सार है। अतएव सृष्टि शिव की आनन्दमय लीला है। शक्तिवादी ज्ञान और क्रिया को अभिन्न मानता है क्योंकि क्रिया भी ज्ञान की तरह मन से होती है। अतः क्रिया शक्ति और ज्ञान शक्ति को भी देवी की संज्ञा दी गई है। यह भी लाक्षणिक प्रयोग का ही परिणाम है। क्रिया शक्ति का भद्र या अभद्र होना हमारी ज्ञान शक्ति पर अवलम्बित है। हमारी ज्ञान शक्ति समाज के नैतिक-अनैतिक बन्धनों से इस प्रकार बँधी रहती है कि उसके प्रतिकूल जाने का साहस उसमें नहीं होता। उस समाज द्वारा निर्धारित (Code of Conduct) आचार-संहिता का अनुगमन

[1] १८४१ ई० में श्री रामचन्द्र काक तथा हरभट्ट शास्त्री द्वारा श्रीनगर में प्रकाशित।

करना पडता है। स्मृति ग्रंथ धर्मशास्त्र नागरिकशास्त्र समाजशास्त्र राष्ट्रीय संविधान आदि उसी आचार संहिता के विविध रूप हैं। किन्तु मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि मनुष्य बाहर से इन नियमों को मानता तो है परन्तु मन के भीतर वह इनके विरुद्ध जाने का प्रयत्न भी करता रहता है। इसे देवीरहस्य में लौल्य या चौर्य कहा गया है। समाज एकपत्नीव्रत के आदर्श के पालन का आग्रह करता है पर मन स्वच्छन्द भोग को अपनाना चाहता है।

लौल्य से व्यक्ति और समाज में द्वन्द्व उत्पन्न होता है। फलत व्यक्ति असामाजिक कार्यों में प्रवृत्त होता है। समाज इसके लिए दंड का विधान करता है। कारा मनुस्मृति आदि इस संहिता के विधान होते हैं जिनके द्वारा समाज व्यक्ति के अनैतिक कार्यों को रोकना चाहता है। किन्तु इससे समस्या का निराकरण नहीं होता। दंड-संहिता के उन विधानों द्वारा व्यक्ति का मन और अधिक विद्रोही एवं कुत्सित बन जाता है। इस प्रकार व्यक्ति और समाज के बीच का यह द्वन्द्व क्रमश उग्र बनता जाता है। शक्ति-साधना में व्यक्ति और समाज के इस द्वन्द्व को दूर करने के लिए व्यक्ति की कुत्सित वृत्तियों को वशीभूत करने के लिए लौल्य के उदात्तीकरण की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया अपनाई गई है।

लौल्य का उदात्तीकरण

मन को वशीभूत करने के दो उपाय हैं—ज्ञान शक्ति के द्वारा प्रवृत्ति को बार-बार रोक कर उसका समूल उच्छेदन तथा ज्ञान शक्ति को जाग्रत रखते हुए प्रवृत्ति के भोग द्वारा उसका वशीकरण। प्रथम स्थिति में मनुष्य का व्यक्तित्व ऐसे प्रशान्त सागर के समान बनेगा जिसमें लहरों का विलास ही बन्द हो जाए और द्वितीय स्थिति में उसका व्यक्तित्व ऐसे सागर जैसा होगा जिसमें ऊपर लहरों का नर्तन उत्थान पतन होते रहने पर भी आन्तरिक शान्ति और समरसता बनी रहेगी। उनमें बाहरी लहरें आन्तरिक शान्ति या समरसता में बाधक नहीं होंगी। इसमें पहला रास्ता इन्द्रियाग्रह के पूर्ण विसर्जन का है यह संन्यास मार्ग है अत निवृत्तिमूलक है। किन्तु दूसरा मार्ग इन्द्रियाग्रह के समन्वय का है यह तान्त्रिक मार्ग है अत प्रवृत्तिमूलक है।

काम मनुष्य की प्रबलतम वृत्ति है। मनोविज्ञान इसी कामवृत्ति को जीवन के चिर सत्य के रूप में स्वीकार करता है। क्षुधा शमन के बाद काम ही प्रबलतम वृत्ति है। यही कारण है कि वैभवशाली होने के बाद प्राय मनुष्य विलासी बन जाता है। देवीरहस्य में इसी कारण इसके शमन के लिए साहसी प्रयोगों का विधान किया गया है।[1]

पर स्त्री के प्रति आकर्षण सहज है किन्तु इस आकर्षण में बहते हुए मन को नियन्त्रित करने का उपाय यह है कि उस पतनावस्था के क्षणों में समझाया जाए। दृष्टि से राग और

---

१ रात्रौ परस्त्रियं बालां श्यामां वा मन्मथातुराम्।
आनीय पूजयेन्मन्त्री यथोक्त विधिना शिवे।
नग्नो मुक्तकचो धीरो मधुपानपरायण
शक्तिवक्षसमाश्लिष्टो जपेन्मूलं यथाविधि ॥
—देवीरहस्य।

द्वेष उत्पन्न होता है। दृष्टि बदलने पर राग और द्वेष बदल जाते हैं। देवीरहस्य पर-स्त्री को देवी बनलाकर उसकी पूजा करने का आदेश देता है।[1] पूजा से यहाँ तात्पर्य मानसी पूजा से है। देवी की भावना करते ही द्रष्टा की दृष्टि ही बदल जाएगी और इस प्रकार वह तत्काल अपने मन पर काबू पा लेगा। किसी सुन्दरी को दूर से देखने पर जो भावना होती है वह समीप आने पर अपनी भगिनी आदि के रूप में पाकर तुरन्त बदल जाती है और मनुष्य आत्म-ग्लानि से गड़ने लग जाता है। पर स्त्री को देवी मान लेने पर ऐसी ही विमल भावना का उद्रेक होगा।

किन्तु इतना होने पर भी प्राकृतिक आकर्षण का बन्धन अमोघ होता है। अतः स्तोत्र की व्यवस्था की गयी है। साधक पर स्त्री के सम्मुख आसीन होने पर उसे सर्वव्यापक शक्ति के रूप में समझकर उस दिव्य शक्ति के महत्त्व का स्मरण करता है। इससे अंश अंशी के रूप में परिणत हो जाता है। सुन्दरी त्रिपुरा के रूप में प्रतीत होती है। भावना के लक्ष्य को या तो बदलकर या विस्तार देकर ही अपने वश में किया जा सकता है। आधुनिक मनोविज्ञान भी प्रवृत्ति के भोग द्वारा ही प्रवृत्ति को वश में करना चाहता है। किन्तु इससे समस्या का स्थायी समाधान नहीं हो सकता। इससे अधिक-से अधिक साधारणता ही आ सकती है सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती।

देवीरहस्य में भोग द्वारा भोग पर विजय प्राप्त करने का विधान है। इसी को वाम मार्ग कहते हैं। वाम मार्ग के पंचमकार-मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा, मैथुन और मदिरा के प्रतीकार्थ भी हैं। अपने विशुद्ध रूप में यह एक मनोवैज्ञानिक प्रयोग था किन्तु बाद में भ्रष्ट होकर दुराचार का पर्याय बन गया। तन्त्रानुसार पंचमकार व्रत असिधाराव्रत है। यह विलासिता को धार्मिकता का रूप देने के लिए नहीं अपितु मनोनिग्रह का हेतु है।[2] श्मशान ही इसकी साधना का उपयुक्त स्थान माना गया है। श्मशान एक ऐसी जगह है जहाँ भय, ग्लानि और काम-वृत्तियों पर सहज ही विजय प्राप्त की जा सकती है। इसी को ध्यान में रखकर ऐसा विधान किया गया। यह क्रिया या तो घनघोर कामी ही कर सकता है या सिद्ध पुरुष ही।[3]

श्मशान को ही साधना भूमि क्या माना गया? इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि श्मशान में लौकिक मैथुन काम नहीं चल सकता। श्मशान का अर्थ ही है चित्त वृत्तियों का पूर्ण दाह। मन के लोभ पर विजय के लिए मदिरा पान है न कि अपनी स्नायुओं की उत्तेजना से ग्रहण करने के लिए।[4] आचार विधान को पूरा कर लेने के उपरान्त गुरु की देख रेख में

---

१ देवीरहस्य पटल २१।

२ अथ तु परम कौलमार्गं सम्यक् महेश्वरि।
असिधारा व्रत समो मनोनिग्रह हेतुक
चिरनिश्चय सुलभ सकलसूर्ण सिद्धिदम्। —परमानन्दतंत्र

३ श्मशानेषु परेषु पानं, निशीथे वा महेश्वरि।
विना पानं न सिद्धिः स्याद्, साधकानां कलौ ध्रुवम्।
स वैष्णव स शाक्त च स शैवो य श्मशानग॥ —देवीरहस्य।

४ पानं तावद् भजेद् देवि, यावद् सविद् मनोमयी।
यावद् न चलते दृष्टि यावद् न चलते मन।
यदि तत्र विकार स्यात् पानं तद् ब्रह्मघातवत्॥ —देवीरहस्य।

करना पड़ता है। स्मृति ग्रंथ, धर्मशास्त्र, नागरिकशास्त्र, समाजशास्त्र, राष्ट्रीय संविधान आदि उसी आचार संहिता के विविध रूप हैं। किन्तु मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि मनुष्य बाहर से इन नियमों को मानता तो है, परन्तु मन के भीतर वह इनके विरुद्ध जाने का प्रयत्न भी करता रहता है। इसे देवीरहस्य में लौल्य या लौल्य कहा गया है। समाज एकपत्नीव्रत के आदर्श के पालन का आग्रह करता है, पर मन स्वच्छन्द भोग को अपनाना चाहता है।

लौल्य से व्यक्ति और समाज में द्वन्द्व उत्पन्न होता है। फलतः व्यक्ति असामाजिक कार्यों में प्रवृत्त होता है। समाज इसके लिए दण्ड का विधान करता है। धारा मनुस्मृति आदि इस संहिता के विधान होते हैं जिनके द्वारा समाज व्यक्ति के अनैतिक कार्यों को रोकना चाहता है। किन्तु इससे समस्या का निराकरण नहीं होता। दण्डसंहिता के उन विधानों द्वारा व्यक्ति का मन और अधिक विद्रोही एवं कुत्सित बन जाता है। इस प्रकार व्यक्ति और समाज के बीच का यह द्वन्द्व क्रमशः उग्र बनता जाता है। शक्ति-साधना में व्यक्ति और समाज के इस द्वन्द्व को दूर करने के लिए व्यक्ति की कुत्सित वृत्तियों को वशीभूत करने के लिए लौल्य के उदात्तीकरण की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया अपनाई गई है।

लौल्य का उदात्तीकरण

मन को वशीभूत करने के दो उपाय हैं—ज्ञान शक्ति के द्वारा प्रवृत्ति को बार-बार रोक कर उसका समूल उच्छेदन तथा ज्ञान शक्ति को जाग्रत रखते हुए प्रवृत्ति के भोग द्वारा उसका वशीकरण। प्रथम स्थिति में मनुष्य का व्यक्तित्व ऐसे प्रशान्त सागर के समान बनेगा जिसमें लहरों का विलास ही बन्द हो जाए और द्वितीय स्थिति में उसका व्यक्तित्व ऐसे सागर जैसा होगा जिसमें ऊपर लहरों का सतत उत्थान पतन होते रहने पर भी आन्तरिक शान्ति और समरसता बनी रहेगी। उठने वाली लहरें आन्तरिक शान्ति या समरसता में बाधक नहीं होंगी। इसमें पहला रास्ता इन्द्रियाग्रह के पूर्ण विसर्जन का है; यह संन्यास मार्ग है, अतः निवृत्तिमूलक है। किन्तु दूसरा मार्ग इन्द्रियाग्रह के समन्वय का है; यह तान्त्रिक मार्ग है, अतः प्रवृत्तिमूलक है।

काम मनुष्य की प्रबलतम वृत्ति है। मनोविज्ञान इसी कामवृत्ति को जीवन के चिर सत्य के रूप में स्वीकार करता है। क्षुधा शमन के बाद काम ही प्रबलतम वृत्ति है। यही कारण है कि वैभवशाली होने के बाद प्रायः मनुष्य विलासी बन जाता है। देवीरहस्य में इसी कारण इसके शमन के लिए साहसी प्रयोगों का विधान किया गया है।[1]

पर स्त्री के प्रति आकर्षण सहज है किन्तु इस आकर्षण में बहते हुए मन को नियंत्रित करने का उपाय यह है कि उसे पतनावस्था के क्षणों में समझाया जाए। दृष्टि से राग और

---

१ रात्रौ परस्त्रियं बालां श्यामां वा मन्मथातुराम्।
आनीय पूजयेन्मन्त्री यथोक्त विधिना शिवे।
नग्नो मुक्तकचो धीरो मधुपानपरायणः
शक्तिवक्षसमाश्लिष्टो जपेन्मूलं यथाविधि ॥
—देवीरहस्य।

द्वेष उत्पन्न होता है। दृष्टि बदलने पर राग और द्वेष बदल जाते हैं। 'देवीरहस्य' पर-स्त्री को देवी बनाकर उसकी पूजा करने का आदेश देता है।[1] पूजा से यहाँ तात्पर्य मानसी पूजा से है। देवी की भावना करते ही द्रष्टा की दृष्टि ही बदल जाएगी और इस प्रकार वह तत्काल अपने मन पर काबू पा लेगा। किसी सुन्दरी को दूर से देखने पर जो भावना होती है वह समीप आने पर अपनी भगिनी आदि के रूप में पाकर तुरन्त बदल जाती है और मनुष्य आत्म-ग्लानि में गलने लग जाता है। पर-स्त्री को देवी मान लेने पर ऐसी ही विमल भावना का उद्भव होगा।

किन्तु इतना होने पर भी प्राकृतिक आकर्षण का बन्धन अबाध होता है। अतः 'स्तोत्र' की व्यवस्था की गयी है। साधक पर-स्त्री के सम्मुख आसीन होने पर उसे सर्वव्यापक शक्ति के रूप में समझकर उस दिव्य शक्ति के महत्त्व का स्मरण करता है। समस्त अंग अंगी के रूप में परिणत हो जाता है। सुन्दरी त्रिपुरा के रूप में प्रतीत होती है। भावना के लक्ष्य को या तो बदलकर या विस्तार देकर ही अपने वश में किया जा सकता है। आधुनिक मनोविज्ञान भी प्रवृत्ति के भोग द्वारा ही प्रवृत्ति को वश में करना चाहता है। किन्तु इससे समस्या का स्थायी समाधान नहीं हो सकता। इससे अधिक-से अधिक साधारणता हो आ सकती है सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती।

'देवीरहस्य' में भोग द्वारा भोग पर विजय प्राप्त करने का विधान है। इसी को वाम मार्ग कहते हैं। वाम मार्ग के पंचमकार-मद्यपान, मुद्रा, मांस, मत्स्य, मैथुन और मदिरा के प्रतीकार्थ भी हैं। अपने विशुद्ध रूप में यह एक मनोवैज्ञानिक प्रयोग था किन्तु बाद में भ्रष्ट होकर दुराचार का पर्याय बन गया। तन्त्रानुसार पंचमकार-सेवन अधिकारगत है। यह विलासिता को धार्मिकता का रूप देने के लिए नहीं अपितु मनोनिग्रह का हेतु है।[2] श्मशान ही इसकी साधना का उपयुक्त स्थान माना गया है। श्मशान एक ऐसी जगह है, जहाँ भय, ग्लानि और काम-वृत्तियों पर सहज ही विजय प्राप्त की जा सकती है। इसी को ध्यान में रखकर ऐसा विधान किया गया। यह क्रिया या तो घनघोर कामी हो कर सकता है या सिद्ध पुरुष ही।[3]

'श्मशान को ही साधना भूमि क्यों माना गया? इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि श्मशान में क्षोभ से काम नहीं चल सकता। श्मशान का अर्थ ही है 'चित्त वृत्तियों का पूर्ण दाह'। मन के क्षोभ पर विजय के लिए मदिरा-पान है, न कि अपना स्नायुओं की उत्तेजना में पतन करने के लिए।[4] आचार विधान को पूरा कर लेने के उपरान्त गुरु की शरण में

---

[1] देवीरहस्य पटल २१।

[2] परस्त्री परमे कौलमार्गे सम्यक् महेश्वरि।
अधिकारी भवत् सम्यो मनोनिग्रह हेतुक
विषनिवृत्ये सुलभं सकलस्तत्र सिद्धिदम्। —रामानन्दतन्त्र

[3] श्मशानेषु चरेत् पानं, निशीथे वा महेश्वरि।
विना पानं न सिद्धिः स्यात्, साधकानां कदाचन।
न वैष्णवः न शाक्तश्च न शैवो न श्मशानगः॥ —देवीरहस्य।

[4] पानं तावत् प्रकुर्वीत, यावत् भवेत् मनोव्यथा।
यावत् न चलते दृष्टिः यावत् न चलते मनः।
दृष्टि: तत्र विकारः स्यात् पानं तत् स्यादसंगतम्॥ —देवीरहस्य।

पचमकार का सेवन निन्दित है। आचार विधान को पूरा कर लेने पर साधक की रिरिंसा वृत्ति लौल्य शान्त हो जाता है। फिर भी रागोन्मेष की पूरी सम्भावना रहती है। 'राग तो मूर्च्छित सर्प के समान है जो सुप्त हो जाने पर भी जग सकता है। अत इन्द्रियों की स्वाभाविक भूख शान्त करने के साथ साथ क्रमश तृप्ति के मार्ग म आसक्त मन को ऊर्ध्वमुख करने के लिए ज्ञान-शक्ति को मत्र म लवलीन किया जाता है देवता म आत्मसात होता है। अर्थात साधक की चेतना मन्त्र के माध्यम से प्रथम रूप की कल्पना करती है और नाम से नामोच्चारण करते हुए तथा मन की वृत्ति को देवता के रूप म लगाकर पचमकार म उत्पन्न तृप्ति म आसक्त मन को धीरे धीरे तन्मय किया जाता है। यह मार्ग अनधिकारी जनों के लिए नहीं है। इसमें पतन की सम्भावना पग पग पर रहती है। पचमकारोपासना म मन को दिशा देने तथा वश म लाने के लिए ही सुरापान आदि का विधान है।

शक्ति, सन्तोष और समरसता

शक्ति पर-स्त्री ही हो सकती है। शक्ति-सतोष और सन्तुलित पान का कार्य बाह्य नैतिकता की दृष्टि से व्यभिचारपूर्ण प्रतीत होता है। किन्तु इस क्रिया म लग्न ज्ञान शक्ति ही महत्त्वपूर्ण है। यदि ज्ञान शक्ति को क्रिया से तटस्थ किया जा सके तो क्रमश तटस्थ मनोवृत्ति के बढ़ने की मात्रा बढ़ने लगती है और निरतर अभ्यास से पूर्ण तटस्थता प्राप्त की जा सकती है। ऐसी स्थिति म बाह्य द्रव्यों के उपभोग का प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसा साधक किसी भी उद्दीपनकारी स्थिति म तटस्थ और शुद्ध रह सकता है। इसी को सिद्धावस्था कहते हैं। सन्यास मार्ग निवृत्ति मूलक है। इसम पतन का पद-पद पर भय है और एक बार पतन हो जाने पर त्राण का कोई उपाय भी नहीं रह जाता क्योंकि इसके द्वारा इच्छा का दमन होता है उन्नयन नहीं। थोड़-से उद्दीपन को पाकर दमित कामाग्नि के प्रज्वलित होने की पूरी सम्भावना सदैव बनी रहती है। इसके विपरीत शाक्त साधना की प्रक्रिया मनोवैज्ञानिक विधि को अपनाकर चलती है। मनोविज्ञान के अनुसार भी इन्द्रियों को दण्ड देकर नहीं उन्हे सतुष्ट कर क्रमश वश म करना अधिक सरल विधि है।

समरसता का अर्थ वृत्तियो का सुखद सामजस्य है। आगमो मे इसकी पुष्टि म कई आकर्षक तर्क दिये गये हैं। यथा—

(क) लोहा पानी म डूब जाता है परन्तु उसी लोहे से जहाज बनता है जिससे महासमुद्रो को पार किया जा सकता है।

(ख) विष मारक होता है किन्तु उसकी उचित मात्रा रोगनाशक होती है।

(ग) पदार्थ मात्र शिवमय हैं अत पदार्थ म दोष नहीं दोष मन म है जो उपयोग करता है।

(घ) मन की शुद्धि से दृष्टिकोण का परिवर्तन होते ही पदार्थ के प्रति मनुष्य की प्रतिक्रिया भिन्न हो जाती है।

(ङ) जिस कार्य म सृष्टि की इच्छा निहित है वह अपवित्र कथमपि नहीं हो सकता।

शिव-शक्ति-सामरस्य

शैवमतानुसार शिव-तत्त्व में शक्ति भाव गौण तथा शिव भाव मुख्य है किन्तु शाक्तमत में शक्ति भाव को ही प्रधान माना गया है। यहाँ शक्ति-तत्त्व में शिव भाव गौण हो जाता है। किन्तु वहाँ तत्त्वातीत दशा में शिव भाव और शक्ति भाव साम्यावस्था को प्राप्त हो जाते हैं। इसे शैव और शाक्त दोनों मानते हैं। यही शिव शक्ति का सामरस्य है, जिसे शैव परम शिव तथा शाक्त पराशक्ति कहते हैं। शिव शक्ति के सामरस्य द्वारा परमानन्द प्राप्त करना ही कौल-साधक का परम लक्ष्य है। मूलाधार के अग्निचक्र-स्थित कुण्डलिनी रूपी शक्ति को जाग्रत कर क्रमशः षट्चक्रों का भेदन करते हुए सहस्रार-सरोरुह — कैलाश स्थित शिव के के साथ मधुर संयोग ही समरसानन्द की स्थिति है।[1] महानपति शिव और महाशक्ति कुण्डलिनी के इस मधुर संयोग किंवा सामरस्यावस्था का वर्णन शाक्ततन्त्रों में स्त्री पुरुष की रति क्रीडा के माध्यम से किया गया है। जिस प्रकार कोई स्त्री राज-पथ पर चलती हुई किसी गुप्त स्थान में अपने पति या प्रेमी से मिलती है और प्रगाढालिंगन के उपरान्त अमृत (वीर्य) का प्रस्रवण कराती है उसी प्रकार कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्ना-पथ पर चलकर गुप्त स्थानों में (षट् चक्र) में निवास करती हुई महानपति (शिव) का आलिंगन करती है और अमृत का प्रस्रवण कराती है। देवी-पुराण के अनुसार इसका रूप शृंगाटक के समान होता है। जिस प्रकार स्त्री के मिलन पर पुरुष के भीतर अग्नि जाग्रत होती है उसी प्रकार कुण्डलिनी शक्ति के मिलन पर अग्नि से चन्द्रमा द्रवित होता है।[2]

वस्तुतः प्रकाशरूप शिव और विमर्शरूपा शक्ति की सामरस्य दशा तत्त्वातीत की अवस्था है। तत्त्वातीत पदार्थ या अनुत्तर अवस्था (परमशिव) के बोध के लिए अकार का प्रयोग होता है। यह प्रथम अवस्था है। द्वितीय अवस्था में शिव व शक्ति का सामरस्य होता है इसमें शिव को अकार या प्रकाश तथा शक्ति को हकार या विमर्श कहते हैं। शिव अग्निरूप है शक्ति सोमरूपा है इन दोनों का बिन्दु रूप में परिणत होना (रज+वीर्य) ही अहम् है। साम्यभग होने पर यह बिन्दु शुक्ल व रक्त बिन्दु रूप में व्यक्त होता है। जैसे अग्नि के स्पर्श से घृत द्रवित होता है वैसे ही प्रकाशात्मक शिव के सम्पर्क से विमर्शरूपा पराशक्ति द्रवित होती है और उससे परमानन्द अमृतधारा का स्राव होता है यही धारा चिदानन्द या ब्रह्मानन्द का स्वरूप है।[3]

शाक्त-दर्शन के अन्तर्गत शक्ति की अद्वैतता शक्तिभाव की प्रधानता, तत्त्वातीत दशा में शिव शक्ति का सामरस्य तथा पंचमकारोपासना के सिद्धान्तों द्वारा मधुर रस-साधना एवं स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। मधुर रस का आधारभूत तत्त्व शक्तिवाद है। इसी शक्तिवाद का पूर्ण प्रतिष्ठापन करना शाक्त-दर्शन का चरम लक्ष्य है। संसार के सभी साधना मार्गों पर शक्तिवाद का अनिवार्य प्रभाव परिलक्षित होता है क्योंकि यही साधक और साध्य की रसता पूर्णता एवं मधुरता का एकमात्र उपादान है।

1 अत ऊर्ध्व स्थितम् सहस्रार सरोरुहम्
ब्रह्माण्ड भवन स्तम्भ वा तिष्ठति सततम्।
कैलाशो नाम तत्रैव महेशो यत्र तिष्ठति॥ —शिव संहिता ५, १५१-१५२।

2 'ललिता सहस्रनाम' के मराठी अनुवाद में 'कुण्डलिनी' की व्याख्या द्रष्टव्य।

3 शक्ति-अंक, कल्याण गोपीनाथ कविराज का निबन्ध द्रष्टव्य।

(घ) बौद्ध दर्शन

बौद्ध धर्म के आविर्भाव-काल के सम्बन्ध में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। बौद्ध धर्म के प्रवर्तक भगवान् बुद्ध के निर्वाण काल को मैक्समूलर तथा डॉ० गायगर[1] ने क्रमशः ४७३ ई० एवं ४८३ ई० पूर्व माना है। इससे स्पष्ट है कि ४५० वर्ष ई० पूर्व बौद्ध धर्म का प्रचार प्रसार होने लगा था, जो सम्राट् अशोक के राज्य-काल में अर्थात् २५० ई० पूर्व पूर्ण विकसित होकर देश-देशान्तर में फैल चुका था और उसके अट्ठारह उपविभाग हो गए थे।[2]

बौद्ध मत का अनात्मवाद

बौद्ध धर्म का संघटन परम्परागत ब्राह्मण धर्म अथवा प्राचीनतम वैदिक धर्म की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। प्राचीन वैदिक धर्म आत्मवादी था, क्योंकि वह चेतन आदि कारण की सत्ता में विश्वास करता था। परन्तु नवोदित बौद्ध धर्म ने चेतन आदि कारण की सत्ता का सर्वथा परिहार करके वैदिक आत्मवाद के बदले अनात्मवाद का प्रतिपादन किया। उपनिषदों के लिए शाश्वत आत्मा, आनन्दमय आत्मा सर्वोत्कृष्ट तत्त्व था, किन्तु बुद्ध के लिए शाश्वत तत्त्व कुछ नहीं था। उनके लिए सब कुछ क्षणिक, परिवर्तनशील, शून्यवत्[3] एवं दुःखमय था।[4] उनके विचार से आत्मा के नित्यध्रुवत्व, शाश्वतता, नित्यता आदि का अनुभव करना बाल धर्म का अनुगमन करना है।[5]

अनात्मवाद बौद्ध दर्शन का मुख्य सिद्धान्त है। यह श्रौत-दर्शन के आत्मवाद का विरोधी है। भगवान् बुद्ध ने आत्मा के सम्बन्ध में शाश्वतवाद या उच्छेदवाद दोनों में से किसी को नहीं स्वीकार किया है। श्रौत दर्शन या ब्राह्मण परम्परा के शाश्वतवाद के अनुसार आत्मा नित्य, कूटस्थ, शाश्वत तथा एकरूप है। उच्छेद वाद का सम्बन्ध आत्मा के अनस्तित्व वाद से है, जिसके अनुसार आत्मा के अस्तित्व का सर्वथा निषेध किया गया है। अतः आत्मा के सम्बन्ध में बौद्ध दर्शन मध्यम प्रतिपदा का समर्थक है। उसका आत्म सिद्धान्त अभौतिक नैरात्म्यवाद है। इसके अनुसार पंच स्कंध अर्थात् रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान आत्मा नहीं है। इस रूप में अनात्मवादी आत्मवादी के समान आत्मा की सततगामिता को तो मानते हैं, पर उसके नित्य पर्याय एक रूप को नहीं मानते। उनके विचार से आत्मा अनेक रूप है, वह प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहती है तथा वह नित्य नवीन है। बौद्धमत के अन्तर्गत अनात्मवाद की कई प्रकार से व्याख्या की गई है, जिसके परिणामस्वरूप बौद्ध-दार्शनिकों ने कई तरह के मतवादों की स्थापना की है। इस प्रसंग में थेरवादी नागसेन का संघातवाद, *वात्सीपुत्रीय बौद्धों का पुद्गलवाद, सर्वास्तिवादी बौद्धों का संतानवाद, विज्ञानवादी बौद्धों का* आलय विज्ञानवाद तथा शून्यवादियों का शून्यवाद विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं।

---

१ डॉ० गायगर लिखित 'दी महावंशम्' की भूमिका द्रष्टव्य।

२ पुरातत्त्व निबन्धावली, पृ० १२१।

३ दी कन्सेप्शन एण्ड डिवलपमेंट ऑफ शून्यवाद इन मेडिवल इण्डिया — आचार्य क्षितिमोहन सेन, विश्व भारती क्वार्टरली, न्यू सीरीज, पहला भाग।

४ इण्डियन फिलॉसोफी — डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० २८६९।

५ 'अयं भिक्खवे ! केवलो परिपूरो बालधम्मो।'—मज्झिमनिकाय, १।१।२।

बौद्ध-धर्म की शाखाएँ

भगवान् बुद्ध ने अपने तप एवं प्रातिभज्ञान के द्वारा 'आयसत्य चतुष्टय'[१] क्षणिकवाद अनात्मवाद, पुनर्जन्मवाद, सदाचारवाद मध्यम मार्ग अनक्षर तत्त्व चित्तशोधन शील समाधि प्रज्ञा आदि सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था। उनके आचार विषयक नियम बड़े कठोर थे। अतः बुद्ध के जीवन काल में ही उनके विरुद्ध प्रतिक्रिया आरम्भ हो गई थी, जो उनके महापरि निर्वाण के बाद और अधिक तीव्र हो उठी। यद्यपि आत्मवादी वैदिक धर्म के विरोध में ही पूर्ण वैराग्य और संन्यास मार्ग को लेकर अनात्मवादी बौद्ध धर्म उठ खड़ा हुआ था तथापि आचरण की दृष्टि से वह परम्परागत वैदिक धर्म से एकदम दूर नहीं किया जा सका। लोक संग्रह भाव प्रधान भागवत धर्म का व्यापक प्रभाव बौद्ध धर्म पर भी पड़ने लगा जिससे शनै शनै उसमें संन्यास भाव का शैथिल्य तथा लोक संग्रह भाव की सक्रियता आने लगी। जो भिक्षु पूर्ण वैराग्यमय निवृत्ति पथ को श्रेयस्कर मानने वाले थे उनका स्थविरवादी या हीनयान के नाम से अलग सम्प्रदाय बन गया तथा जो बौद्ध भिक्षु लोक संग्रह भाव की प्रमुखता देने के पक्षपाती थे उनका महासांघिक या महायान के नाम से एक अलग दल का संघटन हुआ। कालान्तर में युगानुरूपता के प्रबल आग्रह बाह्य एवं आभ्यन्तरिक प्रेरक तत्त्वों के प्रभाव के कारण बौद्धमत के अनेक भेदोपभेद हो गए। फलतः उनके साधन मार्गों को परिचालित करने वाले भिन्न भिन्न दार्शनिक मतवादों की स्थापना होने लगी।

हीनयान

हीनयान बौद्ध धर्म की प्रारम्भिक शाखा या मार्ग है। बौद्ध धर्म का यह संन्यास प्रधान या पूर्ण वैराग्य प्रधान मार्ग है जिसके साधक चत्वारि आर्य सत्यानि साधना के अष्टांगिक मार्ग नैतिकता एवं सदाचार का अवलम्बन कर व्यक्तिगत निर्वाण के आकांक्षी माने गए हैं। दार्शनिक दृष्टि से इन्हें थेरवादी कहा जाता है। हीनयान मत के अनुसार सद्धर्म का रस ही मोक्ष है। इस लोकोत्तर मार्ग से पुनर्जन्म का अन्त हो जाता है। व्यक्ति के लिए जीव मुक्ति आवश्यक है। संक्षेप में हीनयान पूर्ण निरीश्वरवादी निवृत्ति प्रधान ज्ञान प्रधान बुद्धिवादी एवं रूढ़िवादी बौद्ध भिक्षुओं का सम्प्रदाय था। चौथी सदी पूर्वमें से लेकर दूसरी सदी पूर्वमें तक हीनयान मत की प्रमुखता रही। स्थविरवादी भिक्षुओं की वैशाली संगीति के बाद उसका क्रमशः ह्रास होने लगा। १८० ई० से लेकर गुप्तकाल तक उत्तर भारत के सभी सम्राट शैव या वैष्णव मतानुयायी थे। इस कारण से उत्तर भारत में हीनयान मत का पूर्ण विकास नहीं हो सका। सातवीं सदी तक आते आते दक्षिण भारत में उत्तर भारत में बौद्ध धर्म की महायान शाखा का प्रचार होने लगा था जिसने हीनयान के बचे-खुचे प्रभाव को सदा के लिए क्षीण कर दिया।

महायान

महायान का शाब्दिक अर्थ श्रेष्ठ या प्रशस्त मार्ग है। हीनयान शाखा से अपनी श्रेष्ठता को उद्घोषित करने के लिए ही सम्भवतः प्रगतिशील तथा परिवर्तनवादी भिक्षुओं ने

१ दुःख दुःख समुदय दुःख निरोध और दुःख निरोध मार्ग।

अपने और संग्रह भाव प्रधान साधना मार्ग को महायान कहना प्रारम्भ किया होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि महायान बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों में परिवर्तन चाहने वाले कई हीनयानेतर सम्प्रदायों का समूह था जिसका विधिवत् दार्शनिक प्रतिपादन दाक्षिणात्य नागार्जुन[1] ने किया। नागार्जुन का जन्म बुद्ध के महापरिनिर्वाण के चार सौ वर्षों बाद अर्थात् पहली शताब्दी में हुआ था। मन्मथ शान्ति भिक्षु आदि विद्वानों के मतानुसार महायान का उद्भव और विकास आन्ध्र प्रदेश में हुआ था। बौद्ध मतावलम्बी आन्ध्र-नरेशों की प्रेरणा से नागार्जुन ने अपने नवीन मत का प्रचार किया होगा तथा श्रीपर्वत को केन्द्र-स्थान बनाया होगा क्योंकि अद्यावधि वहाँ महायान के पाँच उपसम्प्रदायों और उनके देवी-देवताओं की खंडित प्रतिमाएं पाई जाती हैं।

लगभग दूसरी सदी की रचनाएं महावस्तु चतुःशतकस्तोत्र, 'मन्त्रय व्याकरण अवदानशतक, चौथी सदी की रचना कल्पना मण्डितिका जातक-माला 'दिव्यावदान नवीं सदी के पूर्व की रचना ललित विस्तर, ग्यारहवीं सदी की रचना अवदान कल्पलता आदि ग्रन्थों से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि चौथी सदी तक महायान में बुद्ध की अलौकिकता बोधिसत्त्व की कल्पना भक्ति-तत्त्व बुद्ध की पूजा बुद्ध की लीलाएँ स्तूप-पूजा सिद्धियाँ चमत्कार दश भूमियाँ पौराणिक आख्यान वर्ण व्यवस्था की अमान्यता आदि प्रवृत्तियाँ स्वीकृत हो गई थीं।

महायान के दार्शनिक सिद्धान्त

युवान च्वांग के अभिधर्मपिटक के अनुवाद ग्रन्थ में महायान के विपुल साहित्य का उल्लेख मिलता है। महायान के दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन की दृष्टि से 'सूत्रालंकार' वज्रसूची सद्धर्मपुण्डरीक (प्रथम सदी) दशभूमीश्वर (२९७ ई) अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता (३९६ ४१६ ई) सुवर्णप्रभास (४१४ ४३३ ई०) लंकावतारसूत्र (४४३ ई पूर्व) गण्डव्यूह (चतुर्थ सदी पूर्व) तथागत गुह्यक या तथागत गुणगान (७वीं सदी) ललित विस्तर बुद्धचरित आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सद्धर्म पुण्डरीक में बुद्ध देवाधिदेव अनादि अनन्त और महाभिषग के रूप में वर्णित हुए हैं।[2] वे भिक्षुओं और भिक्षुणियों बोधिसत्त्वों देवी देवताओं के विशाल समूह से आवृत्त सर्वशक्तिमान सिद्ध और ऐन्द्रजालिक हैं जिन्हें अपने भक्त श्रावकों की इन्द्रियों के साथ क्रीडा-कौतुक करना अतिप्रिय है। सुखावती व्यूह में महायानियों की स्वर्ग कल्पना उसके वैभव विलास आदि का प्रगल्भ वर्णन मिलता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार निवृत्ति प्रधान बौद्धमत के अन्तर्गत प्रवृत्ति मूलक विचारधारा धीरे धीरे प्रविष्ट होती जा रही थी तथा काल क्रम से उसमें उपास्य उपासक उपासना और तज्जन्य सुखानंद की मधुर भावभूमि का निर्माण होने लग गया था जो कालान्तर में तान्त्रिक प्रभावापन्न हो जाने पर अधिकाधिक पुष्ट और मधुर भावों से अनुरंजित होता गया।

---

१ गंगा पुरातत्त्वांक पृ २१८।

२ सद्धर्मपुण्डरीक, १५ २ २१, पृ २७०।

बोधिसत्त्व

बोधिसत्त्व की भावना महायानी शाखा की देन है। सबसे पहले बौद्ध धर्म में इसका समावेश महायानी भिक्षुओं ने ही किया। 'गण्डव्यूह' जैसे ग्रन्थों में बोधिसत्त्व के सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन किया गया है। जीवों के प्रति प्रेम और करुणा प्रदर्शित करना, उन्हें दुःख से निवृत्त करने का प्रयत्न करना, स्वर्ग मार्ग के निर्देश के लिए उपदेश देना, महामैत्री और करुणा से सम्पन्न होना, सदाचार, उदारता, परोपकार आदि सद्गुणों से युक्त होकर संसार के सभी प्राणियों को क्लेश मुक्त कर निर्वाणावस्था को प्राप्त करना ही बोधिसत्त्व का परम लक्ष्य माना गया है।[1] बोधिसत्त्व के लिए प्रज्ञा की प्राप्ति तथा करुणा का प्रकाश अनिवार्य गुण समझे जाते थे। महायानियों के त्रिकाय सिद्धान्त के अनुसार धर्मकाय बुद्ध का परमार्थ भूत वास्तविक शरीर अनिर्वचनीय परमतत्त्व है। यह महायानियों की परमतत्त्व विषयक भावात्मक कल्पना है। यह धर्मकाय की तथता या समता या एकात्मता है। यह करुणावतार है। बोधिसत्त्व इसी धर्मकाय की साधना कर अपने में बुद्धितत्त्व का प्रत्यभिज्ञान करता है। प्रज्ञा या बोधि धर्मकाय की ही अभिव्यक्ति है। बोधि या ज्ञान के सारतत्त्व—परम ज्ञान को प्राप्त करने वाले साधक को बोधिसत्त्व की संज्ञा दी गयी है। 'कुदृष्टि निर्घातन्' (अद्वय वज्रसंग्रह) में बोधिसत्त्व के आचार विचार, दिनचर्या, उपासना-पद्धति आदि विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया है।[2] वस्तुतः बुद्ध के व्यक्तित्व तथा बोधिसत्त्व और करुणातत्त्व को लेकर ही महायान हीनयान से अलग हो गया।

बोधिचित्त

महायान-दर्शन में 'बोधिचित्त' को सभी प्राणियों के अन्तस्तल में विद्यमान माना गया है। तात्पर्य यह है कि सभी बोधिसत्त्व हैं किन्तु प्रज्ञा के अभाव के कारण सभी अप्रबुद्धावस्था में पड़े रहते हैं। अर्थात् सभी प्रसुप्तबुद्ध हैं। ऐसी अवस्था में हृदयस्थ बोधिचित्त अप्रबुद्ध रूप में निष्क्रिय बना रहता है। अतः बोधिचित्त को प्राप्त करने के लिए अप्रबुद्ध चित्त का प्रबोधन आवश्यक है। अप्रबुद्ध चित्त की प्रबोधन क्रिया को ही 'बोधिचित्तोत्पाद' कहा गया है। इस प्रकार बोधिचित्त महायानी साधना पद्धति का आधार-स्तम्भ है। बोधिचित्त तात्त्विक दृष्टि से प्रज्ञा और करुणा है। करुणा चित्त का सारतत्त्व है। बोधिचित्त ही परमतत्त्व है। करुणा ही चित्त को प्रज्ञा या बोधि की प्राप्ति कराती है। वज्रयानी तथा सिद्धों ने भी चित्त को साधना का केन्द्र बिन्दु माना है। चित्त की सुस्थिरता के लिए सहज-सम्बोधि का जाग्रत होना अत्यन्त आवश्यक समझा गया है। जब चित्त नैरात्म्य ज्ञान के प्रति जाग्रत होकर करुणा या उपाय से संयुक्त होता है तब यह कमल-वन में विहार करने वाले गजेन्द्र के सदृश हो जाता है। प्रज्ञोपाय-साधना में प्रवृत्त होने के पहले यह स्पन्द रूप है और प्रवृत्त हो जाने पर वज्ररूप हो जाता है। प्रज्ञोपाय के युगनद्ध सम्पन्न कर लेने पर इसे सहज चित्त कहा जाता

---

1. गण्डव्यूह १.१ आगे, १२२, ११ आगे।
   ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर—विण्टरनित्स, भाग २, पृ. ३२६।
2. 'अद्वयवज्रसंग्रह'—सं० प० हरप्रसाद शास्त्री पृ. ५-८, १०-११ द्रष्टव्य।

है। सांसारिकता से मुक्त चित्त को करुणा से सम्बद्ध कर साधना मार्ग में अग्रसर करने की पद्धति को बोधिचित्त समुत्पाद कहा गया है। चित्तवृत्तियों का मूलोच्छेद होने पर प्रज्ञा या शून्य की शीतल रजनी का उदय ही प्रज्ञा ज्ञानाभिषेक-स्नान का समय है। इस स्थिति में बोधिचित्त नववधू के रूप में विहार करता है। सिद्धों ने इसके लिए चित्त विशोधन चित्त मारण या चित्त हनन शब्द का भी प्रयोग किये हैं। अश्वघोष के सूत्रालंकार में इसी को अमनस्कार साधना कहा गया है।[1] रूप या शरीर चेतना वेदना या अनुभूति संज्ञा या इन्द्रियग्राह्य चेतना संस्कार या मन के भाव धारणा प्रवृत्ति तथा इच्छा शक्ति को बोधिचित्त में रूपान्तरित करना ही बोधिसत्त्व का प्रमुख लक्ष्य होना है और यह तब तक सम्भव नहीं हो सकता जब तक विज्ञान या पराचेतना द्वारा व समृद्ध न हो जाए।

महायान चर्या अथवा पारमिताएँ

महायान साधना पद्धति में बोधिचित्त को उत्पन्न करने के लिए दान शील शान्ति वीर्य ध्यान और प्रज्ञा—इन षट पारमिताओं अर्थात छह प्रकार की पूर्णताओं का अभ्यास परमावश्यक माना गया है। इनमें प्रज्ञा अर्थात परमज्ञान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। सभी पदार्थों की निस्सारता अथवा शून्यता का ज्ञान ही प्रज्ञा या परमज्ञान है। 'अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता' में जगत के सभी पदार्थों यहाँ तक कि बुद्ध बोधिसत्त्व प्रज्ञा—सबको निस्सार और शून्य कहा गया है।[2] प्रज्ञापारमिता की साधना से बोधिचित्तोत्पाद होता है और उसके ऊर्ध्वमुख जाग्रत होने पर अनन्त करुणा का उदय होता है। यह समस्त प्रणाली महायान साधना में चर्या कहलाती है। चर्या और क्रिया का उद्देश्य प्रज्ञा तथा उपाय का अद्वय है। पारमिता का लक्ष्य उपासकों के हृदय में सभी प्राणियों के प्रति प्रेम और बौद्ध धर्म की ओर श्रद्धा उत्पन्न करना है।

त्रिकाय सिद्धान्त एवं त्रिकाम की कल्पना

महायानी दार्शनिकों ने त्रिकाय सिद्धान्त की अवतारणा करके भगवान बुद्ध की तीन कायाओं की उद्भावना की और उसके मूल में तीन धातुओं को स्वीकार किया। फलत बुद्ध की निर्माण काया सम्भोग-काया और धर्मकाया क्रमश रूपधातु, कामधातु और धर्मधातु से निर्मित बतलायी गयी। इन्हीं के आधार पर धर्मकाम सम्भोग काम और निर्वाण-काम की भी परिकल्पना की गयी। सिद्धों ने इसीके आधार पर प्रज्ञोपाय सिद्धान्त के प्रतिष्ठापन के लिए बुद्ध की चतुर्थ काया की भी उद्भावना की और उसे वज्र काया स्वभाव काया सहज काया तथा महासुख काया के नाम से अभिहित किया।

निर्माण-काया में बुद्ध मानव शरीर धारण कर प्रकृत जनोचित काय-कलाप सम्पादित करते हैं। इसका सम्बन्ध जाग्रत दशा से भी बतलाया गया है तथा इसे कायवज्र और सत्यानयोग भी कहा जाता है। सम्भोग-काया बोधिसत्त्व के रूप में होती है और इसमें

१ महायान सूत्रालंकार अश्वघोष द्रष्टव्य।
सिद्ध साहित्य धर्मवीर भारती द्रष्टव्य।
२ अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता—स राजेन्द्रलाल मित्र बोधिसत्व परिवत, पृ ३२१ ३२२ द्रष्टव्य।

आनन्द अथवा करुणा का प्राधान्य रहता है। इसका सम्बन्ध मन्त्रोदय से बतलाकर इसे वाग वज्र या मन्त्रयोग भी कहते हैं। धर्म काया तीनों लोकों में अपने को अभिव्यक्त करती हुई भी सभी आवासों क्लेशों और संस्कारों से मुक्त अनादि अनन्त अजर अमर और चिरंतन होती है। यह महायानियों की परम तत्त्वविषयक भावात्मक कल्पना है जिससे अनायास ही भक्ति का द्वार खुल जाता है। धर्मकाया को निर्विकल्पक चित्त की भूमि बतलाकर इसे 'चित्तवज्र' या 'धर्म-योग' भी कहा गया है। सहज काया सर्वोत्कृष्ट है। यह समस्त द्वैतताओं क्लेशादि मलावरणों से निरावृत्त शुद्ध और सहज रूप है। इसे निरंजन और ज्ञान-वज्र भी कहा गया है। करोड़ों में कोई विरला ही सहज-काय में लीन हो पाता है।[1]

दश भूमियाँ

हीनयान शाखा के अन्तर्गत केवल चार भूमियों से अर्हत पद की प्राप्ति बतलायी गयी है किन्तु महायान शाखा में निर्वाण प्राप्ति के लिए दश भूमियों का विधान किया गया है। दशभूमीश्वर या 'दशभूमक' ग्रन्थों में बुद्धत्व की प्राप्ति विषयक दश भूमियों का विस्तृत विवेचन किया गया है। लंकावतार में परावृत्ति दशा के प्रसंग में दश भूमियों की व्याख्या की गयी है। इसके अनुसार चित्त की प्रथम सात भूमियाँ हैं। आठवीं भूमि जागतिक भ्रान्ति से परे है। आठवीं भूमि में पहुँचकर बोधिसत्व दो प्रकार की परावृत्ति द्वारा मनोमाया-काय को प्राप्त करता है। पुनः कहा गया है कि परावृत्त चित्त कमलवण के अनन्ताकाश में सतत स्थित रहता है जो मायिक जगत् से सर्वथा परे है। ऐसी स्थिति में सारे विचार अनाभोगाचारी हो जाते हैं। चित्त जागतिक प्रतिबिम्बों के बावजूद हीरे की तरह निरामय बना रहता है। यह अद्वैत की दशा है जहाँ अहम् अपना अस्तित्व त्यागकर निःस्वभाव हो जाता है। नवम और दशम भूमियाँ विहार की हैं जिनमें अंतिम भूमि अचिन्त्यम् च नाममोक्षम् कही गयी है।[2]

'बोधिचित्तोत्पाद' के क्रमिक विकास को ध्यान में रखकर इसकी दस उन्नतिशील दशाओं या भूमियों का विवेचन किया गया है जिन्हें क्रमशः प्रमुदिता विमला, प्रभाकरी अर्चिस्मती, सुदुर्जया अभिमुखी दूरंगमा, अचला साधुमती और धर्ममेघा कहा गया है।[3] विंटरनित्स ने महायान के विज्ञानवाद की चर्चा करते हुए कहा है कि बोधि की प्राप्ति योगी योग का अभ्यास करते हुए ही कर सकता है। इस अभ्यासावस्था में ही वह दश भूमियों को पार करता है।[4]

---

१ सेकोद्देश टीका गायकवाड़ ओरियेंटल सीरीज पृ० ५५ ८६।

२ लंकावतार श्लो० १७-२० पृ० २६६।
चित्त हि भूमयः सप्तनिराभासा त्वष्टमी।
द्वे भूमयो विहारश्च शेषभूमिममात्मिका॥ —लंकावतार पृ० १ ६, २१५ ७०८।
(The 'citta consists of the first of Bhumis the 8th is devoid of illusion and the two bhumis (9th & 10th) are places of enjoyment (vihara) The last is a positive state)

३ आउटलाइन्स ऑफ महायान बुद्धिज्म डी० टी० सुजुकि पृ० ३१६ ३२४ ३४८ ३४६ ३८२ २-३ २६० २६१ २६४ ३ ७ ३११ ३२६।

४ ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर विंटरनित्स भाग २ पृ० ३६४ पादटिप्पणी।
तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य ना० ना० उ० पृ० ७०।

बोधिसत्व क्रमश दश भूमियों को पार करता हुआ प्रज्ञा की प्राप्ति करता है। जागतिक पदार्थों का स्वभाव जानकर एकात्मता की उपलब्धि ही इसका उद्देश्य है। श्री प्रबोधचन्द्र बागची ने सूत्रालंकार के ४८, ४६ और ४७वें श्लोकों में प्रयुक्त क्रमश बुद्धानम अचलेपर्के, बुद्धसौख्य विहार तथा 'आकाशसमज्ञ व्यवृत्ति' का उल्लेख करते हुए उन्हें परमानन्द की ओर अग्रसर करने वाले दस भूमियों में अन्तिम तीन स्तरों के रूप में ग्रहण किया है। आठवीं भूमि अचला है जिसे 'निराभोग' भी कहते हैं। 'लंकावतार' में ६वीं और १०वीं भूमियाँ विहार' मानी गयी हैं। नवीं भूमि साधुमती वह स्तर है जहाँ पहुँच कर बोधिसत्व सभी प्राणियों के ऊपर महाकरुणा का प्रसार कर बुद्ध प्रेम या मैत्री (बुद्ध सौख्य विहार) को प्राप्त करता है। दसवीं भूमि धर्ममेघा में पहुँच कर बोधिसत्व मोक्ष को प्राप्त करता है। इसीको आकाश समज्ञ प्रवर्तित कहा गया है। 'दशभूमिक सूत्र' में अन्तिम तीन भूमियों का बड़ा ही स्पष्ट विवेचन किया गया है। किंतु सूत्रालंकार में उनकी विशेषताओं को मिश्रित रूप में ही उपस्थित किया गया है।[1]

बौद्ध-दर्शन के चार प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्त

बौद्ध दर्शन के सौत्रान्तिक, वैभाषिक, शून्यवादी और विज्ञानवादी—चार मत प्रचलित हैं। हीनयान जहाँ बुद्ध निरीश्वरवादी है वहाँ महायान बुद्ध को अलौकिक एवं अवतारी पुरुष के रूप में कल्पित कर प्रकारान्तर से ईश्वरवाद को स्वीकार करता है। जागतिक सत्ता को लेकर उठाये गए प्रश्नों तथा तदजनित मतभेदों के कारण ही उपयुक्त चार मत प्रचलित हुए। जागतिक पदार्थों को प्रत्यक्ष सिद्ध अर्थात असत्य नहीं मानने वाले वैभाषिक, अनुमेय मानने वाले सौत्रान्तिक, मिथ्या मानकर चित्त या विज्ञान को एकमात्र सत्य समझने वाले विज्ञानवादी तथा बाह्यार्थ और चित्त दोनों को मिथ्या मानकर सबको निस्सार अर्थात शून्य को ही सत्य मानने वाले शून्यवादी या माध्यमिक मत के अन्तर्गत आते हैं।[2]

---

1 I do not mean that such well defined stages of spiritual progress as are found in the Dasabhumiks Sutra are implied in the above three verses of the Sutralamkara But the three stages in some form or other were known to Asanga (cf Sutralamkara xx—xxi 37 38)

as
ber
tani
no fall from any of the last three bhumis whereas that was possible from any of the first seven bhumis

—Studies in the Tantras Part I By P C Bagachi p 91

२ मानमेयोदय—नारायणरचित म सी० कुन्हनराजा तथा एम एस सूर्यनारायण शास्त्री पृ ३०

— एते चत्वारोऽपि बुद्धशिष्या । एषु च तेषां सिद्धान्त संक्षेप श्लोक —

मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत्—

योगाचार मते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिल ।

माध्यमिक मत या शून्यवाद

दार्शनिक दृष्टि से शून्यवाद के प्रतिपादक आचार्य नागार्जुन हैं, जिन्होंने दूसरी सदी के अन्तिम चरण में 'माध्यमिक शास्त्र' या माध्यमिक कारिका नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना कर माध्यमिक मत या शून्यवाद की स्थापना की। सहज शब्द के समान ही यह 'शून्य' शब्द भारतीय साधना साहित्य के अन्तर्गत विभिन्न युगों में अनेक भूमिकाओं को धारण करता हुआ अपना बड़ा ही मनोरंजक इतिहास प्रस्तुत करता है। ऐसे तो बहुत पहले से ही 'शून्य' अनेक बौद्धेतर परम्पराओं में परमतत्त्व की एक संज्ञा के रूप में गृहीत हो चुका था[1] किन्तु दूसरी तथा तीसरी शताब्दी के मध्य में शून्य की कल्पना बौद्ध प्रभाव के कारण अत्यन्त व्यापक हो गयी।[2]

आचार्य नागार्जुन ने शून्यवाद पारमिताएँ तथा दशभूमियों को महायान दर्शन का आधार स्तम्भ माना है। आस्तिक दर्शन ग्रन्थों में 'शून्य' का अर्थ सत्ता का अभाव माना गया है किन्तु आचार्य नागार्जुन ने इसे भ्रान्तिपूर्ण कहकर दूसरे प्रकार से इसकी व्याख्या की है। उनके अनुसार सत्ता को शून्य भी नहीं माना जा सकता, अशून्य भी नहीं माना जा सकता तथा शून्य और अशून्य दोनों भी नहीं कहा जा सकता। इसी तथ्य की स्थापना के लिए उन्होंने शून्य शब्द का प्रयोग किया है।

नागार्जुन ने माध्यमिक कारिकाओं में उत्पत्ति, गति, दुःख बन्धन, मोक्षादि मान्यताओं के तर्कपूर्ण परीक्षण द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि सभी पदार्थों में विरोधी धर्मों की अवस्थिति के कारण वे सभी शून्य हैं। इसे सिद्ध करने के लिए उन्होंने प्रख्यात अष्ट निषेधों का विधान किया था, जिसमें उन्होंने प्रत्येक वस्तु को अनिरोध, अनुत्पाद अनुच्छेद अशाश्वत, अनेकार्थी अनानार्थी अनागमी और अनिर्गमी बताया था।[3] नागार्जुन के मतानुसार अष्ट निषेधों से परिचित व्यक्ति अतिवादों से बचकर सदैव मध्यम मार्ग का अनुसरण करता हुआ अपने अभीष्ट को सिद्ध करता है। संक्षेप में उनकी धारणा है कि वस्तुएँ आकाश-कुसुम की भाँति सत्ता शून्य नहीं होतीं पर वे नितान्त तात्त्विक भी नहीं होतीं क्योंकि वे कारणों पर निर्भर होती हैं और अनित्य होती हैं। संसार में कोई वस्तु नहीं जो कारणों पर आधारित न हो और कोई धर्म नहीं जो हेतुओं पर आधारित न हो। अतः कोई वस्तु या धर्म स्वतन्त्र या निरपेक्ष नहीं इसलिए उनका अपना कोई स्वभाव नहीं।[4] इसके अतिरिक्त नागार्जुन ने कार्य कारण का अन्तर्विरोध दिखलाते हुए उत्पत्ति गति, स्वभाव और धर्म का निषेध किया तथा सम्पूर्ण जागतिक सत्ता को अनन्त शून्यता का निरन्तर प्रवहमान अविच्छिन्न स्रोत माना। कार्य और कारण यदि एक हैं तो उन्हें दो संज्ञाएँ देना समीचीन नहीं और यदि दोनों

अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्ध्येति सौत्रान्तिक
प्रत्यक्षं क्षणभंगुरं च सकलं वैभाषिको भाषते ॥२१॥

१ विष्णु के सहस्रनामों में उनका एक नाम 'शून्य' भी है।
सर्वविशेषरहितत्वात् शून्यवत् शून्य। —शंकराचार्य।

२ हिन्दी साहित्य-कोश, पृ० ७६८।

३ वही पृ० ७७०।

४ वही।

म भिन्नता है तो कारण के बिना भी काय हो सकता है। ऐसी स्थिति म अमुक वस्तु से अमुक वस्तु उत्पन्न होती है—एसा मानना तकसगत नहीं प्रतीत होता। इस प्रकार आचाय नागाजन ने बुद्ध के प्रतीत्य समुत्पाद को ही पल्लवित करने का प्रयास किया। उन्होंने अपने शून्यवाद को प्रतीत्य समुत्पादवाद कहा भी है।[1] प्रतीत्य समुत्पाद का शाब्दिक अथ होता है हेतु और प्रत्यय की अपेक्षा कर भावों की उत्पत्ति[2] अर्थात इसके रहने पर यह होता है।[3] प्रतीत्य समुत्पाद काय कारण को विच्छिन्न प्रवाह के रूप में स्वीकार करता है।[4]

नागाजन ने शून्यवाद का उपादाय प्रज्ञप्ति और मध्यमा प्रतिपद का भी सज्ञा दी है। प्रत्येक प्रज्ञप्ति या व्यवहार सवथा स्वतत्र या अन्य निरपेक्ष नहीं होता। उसकी स्थिति के लिए सापेक्षता का होना आवश्यक है। कम कर्म करने वाले के अभाव म नहीं हो सकता। अत सबकी सत्ता सापेक्ष है।[4] ललितविस्तर म बीजाकुर-न्याय द्वारा इसी सापेक्षता का प्रतिपादन किया गया है। बीज रहने पर ही अकुर होता है। किन्तु बीज ही अकुर नहीं है और बीज से भिन्न कुछ और वस्तु भी अकुर नहीं है। अत बीज शाश्वत और नित्य नहीं है क्योंकि अकुर रूप म उसका परिवतन हो जाता है। यह नष्ट भी नहीं होता क्योंकि आखिर अकुर बीज का ही तो रूपान्तर है।[6] भाव और अभाव के मध्य को या शाश्वत और उच्छेद के बीच के माग को मध्यमाप्रतिपद कहा गया है। तात्पय यह है कि कारण से उत्पन्न होने स हम किसी वस्तु को न तो ऐकान्तिक असत ही कह सकते हैं और न सापेक्षता के कारण ऐकान्तिक सत ही। उसके वास्तविक स्वभाव का निश्चय मध्यम बिन्दु पर ही हो सकता है और यह अपने आप म स्वय शून्य रूप है।[7]

तात्पय यह है कि किसी भी पदाथ के प्रति न अत्यधिक राग होना चाहिए और न

---

१ य प्रतीत्यसमुत्पाद शून्यता ता प्रचक्ष्महे।
स प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत्सैव मध्यमा।
—मूल माध्यमिककारिका नागाजुन २४ १८
(महायान—भदन्त शातिभिक्षु पृ० १६)।

२ मूल माध्यमिककारिकावृत्ति चन्द्रकीत्ति पृ ५ द्रष्टव्य।

३ अस्मिन् सति इदम् होति इमस्स उप्पादा इदम् उप्पज्जति।
—मज्झिमनिकाय भाग १ पृ २६२ २६३ १४-।

४ बौद्धदशन, राहुल साकृत्यायन पृ ३३।

५ प्रतीत्यकारक कम कम त प्रतीत्यकारक।
कम प्रवतते नान्यत्पश्याम सिद्धिकारण॥१२॥
एव विद्यादुपादान व्युत्सर्गादिति कमण।
कतु श्च कमकतृभ्या शेषान् भावान् विभावयेत्॥१३॥
—मूल माध्यमिककारिकावृत्ति चन्द्रकीर्ति पृ० १८६ १६।

६ बीजस्य सतो यथाकुरो न च यो बीजु स चैव अकुरो।
न च अन्य ततो न चैव तदेवमनुच्छेद अशाश्वत धर्मता॥
—मूल माध्यमिककारिकावृत्ति चन्द्रकीर्ति पृ० २६, ९ ८।

७ अस्तीति नास्तीति उभेऽपि अन्ता शुद्धी अशुद्धीति उभेऽपि अन्ता।
तस्मादुभे अन्त विवजयित्वा मध्ये हि स्थान प्रकरोति पण्डित॥
—वही, पचम प्रकरण पृ १३५।

विराग ही। कामभोग और निरर्थक आत्मपीडन—इन दोनों अतियों से बचना ही सच्चा मार्ग है। दोनों अतियों के मध्य में ही सत्य विद्यमान रहता है। वीणा के तारों को इतना नहीं ऐंठना चाहिए कि वे टूट ही जाएं और न इतना ढीला ही करना चाहिए कि उनसे स्वर ही न निकले। अत दार्शनिक दृष्टि से संसार न तो सत है और न असत ही। इसके विषय में न तो शाश्वतवाद को माना जा सकता है और न उच्छेदवाद को ही।[1]

बौद्ध दर्शन में दो प्रकार के सत्य माने गये हैं—संवृति सत्य और परमार्थ सत्य। संवृति सत्य अविद्याजन्य सांसारिक सत्य है और परमार्थ सत्य प्रज्ञा द्वारा प्राप्त सत्य है। शून्यवाद परमार्थ सत्य को जानने का ऋणात्मक या निषेधात्मक दृष्टिकोण है। वस्तुओं के अनिर्णेय और अनिर्वचनीय स्वभाव का नाम ही 'शून्यता' है। वस्तुएँ न सत हैं, न असत हैं न दोनों हैं और न दोनों से रहित हैं। अर्थात वस्तुओं का स्वभाव या शून्यता इन चार कोटियों से सर्वथा परे और स्वतन्त्र है।[2] शून्यता के ज्ञान में ही प्रपंच का निरोध होता है। यही सच्च निर्वाणदायिनी है। यह स्वयं निर्वाण-स्वरूपा है। अत आध्यात्मिक साधना के लिए शून्यता ज्ञान परमावश्यक है।[3]

शून्य-भावना का विकास

जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि आचार्य नागार्जुन के अनन्तर शून्य भावना का अत्यधिक विकास हुआ तथा विविध साधना मार्गों में अनेक प्रकार से उसकी अभिव्यंजना की जाने लगी। बौद्ध सिद्धों ने अपनी प्रज्ञोपाय-साधना में इसी शून्य को समाविष्ट कर उसे नैरात्मा बालिका प्रज्ञा अथवा महामुद्रा के रूप में स्वीकार किया तथा महासुख चक्र में शून्यता की अवस्थिति मानकर उसे अद्वय तत्त्व के रूप में ग्रहण किया। उन्होंने शून्य को भाव तथा अभाव दोनों से परे बतलाते हुए उसे मध्यम तत्त्व कहा। सिद्धों का तत्त्व दर्शन यद्यपि विज्ञानवाद से अधिक प्रभावित था तथापि भव और निर्वाण के प्रसंग का वर्णन करते समय उन्होंने सबको शून्य-स्वभावगत माना। कालान्तर में 'शून्य' शब्द परवर्ती सम्प्रदायों में परमतत्त्व का वाचक बनकर अनेक प्रकार से व्याख्येय बन गया। सिद्धों ने शून्य को तत्त्व रूप मानकर उसे अगोचर अगम सर्वशून्य, उत्पादविहीन, अन्तर्हित, अद्वय वर्णहीन, आकारहीन, शून्यतारूपेण सर्वव्याप्त बतलाया है। संसार शून्यरूप उस परम-तत्त्व का केवल तरंग प्रवाह है जो उसी में लय हो जाता है। शून्य ज्ञान के तीन रूप माने गये हैं—परिनिष्पन्न ज्ञान समज्ञान और भावाभाव। भावाभाव में समानता जागतिक पदार्थों का नैरात्म्य या शून्यता (धर्म नैरात्म्य ज्ञान) तथा आत्मा के समान किसी शाश्वत सत्ता के अभाव

१ ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त, भाग १, पृ १४३।

२ मूल माध्यमिककारिकावृत्ति, १ ७, पृ० ८३।

३ कर्मक्लेश क्षया मोक्ष कर्मक्लेशा विकल्पत ।
ते प्रपंचात् प्रपंचस्तु शून्यतायां निरुध्यते ॥

—वही, १८ ५।

—बौद्ध दर्शन पं बलदेव उपाध्याय पृ० ३५८

—बौद्ध धर्म-दर्शन आचार्य नरेन्द्र देव तथा माधवाचार्य द्वारा सम्पादित 'सर्वदर्शन संग्रह' द्रष्टव्य।

है। यही प्रज्ञा और उपाय शून्यता और करुणा का महामिलन है। इसी को महासुख की स्थिति बतलाया गया है।[१] शून्यता को करुणा की पत्नी भी कहा गया है। पति पत्नी भाव से इनके मिलन को सहज प्रेम कहा गया है जो अनिर्वचनीय है।[२] इसी एकान्त सम्मिलन को बौद्ध-तन्त्रों मे युगनद्ध अद्वय समरस स्थिति आदि नाम दिये गए हैं। शाक्त और शैव तन्त्रों का 'मथन या कामकला' भी यही है।[३] तत्त्वरत्नावली म अन्यवज्र न वज्रयान की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर पर्याप्त प्रकाश डाला है तथा योगाचार और माध्यमिकों के सिद्धान्तों पर भी गम्भीरता के साथ विचार किया है। इसके अनुसार शून्यता ही वज्र है और ज्ञानमात्रता ही सत्त्व है। शून्यता और ज्ञानमात्रता (करुणा) के तादात्म्य से वज्रसत्त्व की सिद्धि स्वत हो जाती है। दोनों का सम्बन्ध प्रदीप और प्रकाश गुड़ और मिठास अग्नि और उष्णता के समान है। यह जगत शून्यता और करुणा का एकात्म है।[४]

शैव और शाक्त-तन्त्रों म परात्पर तत्त्व की जड़ और चेतन अथवा ऋणात्मक और धनात्मक दो प्रकार की शक्तियाँ मानी गयी हैं। उनम इनके सम्मिलन के प्रसंग म पुरुष-तत्त्व और नारी तत्त्व अथवा बीज और योनि का प्रयोग प्रतीक रूप म किया गया है। यही बाद म हिन्दू-तन्त्र या बौद्ध तन्त्र दोनों म अपने विकृत रूप म व्यवहृत होने लगा। फलत शून्यता और करुणा अथवा प्रज्ञा और उपाय के सम्मिलन को बौद्ध तन्त्रों ने देवी-देवताओं के शारीरिक मिलन के अर्थ म प्रस्तुत कर निवृत्ति प्रधान बौद्ध साधना के अन्तर्गत मधुर रस की धारा बहा दी जो बाद म अनधिकारी व्यक्तियों के हाथों जाकर अपने शुद्ध उदात्त एवं आध्यात्मिक क्षेत्र से नीचे उतरकर बहुत कुछ विकृत हो गया।

विज्ञानवाद या योगाचार मत

महायानियों का दूसरा दार्शनिक सम्प्रदाय विज्ञानवादियों का है। शून्यवाद तक सम्मत होते हुए भी निषेधात्मक है किन्तु विज्ञानवाद मनोमय जगत के अस्तित्व को स्वीकार करने वाला है। परमार्थ या भूततथता इसका प्रसिद्ध सिद्धान्त है। इसके अनुसार यह विश्व केवल विज्ञानों चेतनाओं और प्रत्ययों की शृंखला है। चित्त आलय विज्ञान है जिसके प्रवाह

---

१ उभयोर्मिलनं यच्च सलिलक्षीरयोरिव।
अद्वयाकारयोगेन प्रज्ञोपाय तदुच्यते॥
चिन्तामणिरिवाशेषं जगतः सर्वार्थदायिनाम्।
भुक्तिमुक्तिप्रदं सम्यक् प्रज्ञोपाय स्वभावत ॥ —हेवज्रतन्त्र।

२ अद्वयवज्रसंग्रह का 'प्रेमपञ्चक' द्रष्टव्य।

३ कामकलाविलास १२ पद्य २, ४, ७ आदि द्रष्टव्य।

४ दृढं सारमसौशीर्यमच्छेद्याभेद्य च लक्षणम्।
अदाहि अविनाशि च शून्यता वज्रमुच्यते॥
वज्रेण शून्यता प्रोक्ता सत्त्वेन ज्ञानमात्रता।
तादात्म्यमनयो सिद्ध वज्रसत्त्व स्वभावत ॥
शून्यता कृपयोर्भेदं प्रदीपालोकयोरिव।
शून्यता कृपयोरैक्य प्रदीपालोकयोरिव॥
—अद्वयवज्रसंग्रह सं प० हरप्रसाद शास्त्री पृ २३ २४ २६।

में एक क्षणिक विज्ञान दूसरे विज्ञान को कार्य कारण क्रम से उत्पन्न करता रहता है और इसका अंतिम पर्यवसान विज्ञप्तिमात्रता में होता है। संक्षेप में इसी को 'परमार्थ' या 'भूत तथता' कहा गया है। इसी को निर्वाण भी कहते हैं।

विज्ञानवाद को प्रतिष्ठित करने वाले प्रमुख आचार्यों में मैत्रेय वसुबन्धु और असंग विशेष उल्लेखनीय हैं। कहा जाता है कि तीसरी शताब्दी के लगभग मैत्रेय ने अभिसमयालंकारकारिका जैसे ग्रन्थ लिखकर विज्ञानवाद की उद्भावना की जिसे पाँचवीं शताब्दी में असंग ने विधिवत प्रतिपादित किया। साधना पद्धति में योग के समावेश के कारण इसे योगाचार मत भी कहा गया है।

चित्त की सतता या भूततथता

चित्त द्वारा स्मृतियों और अज्ञानजन्य कल्पनाओं के संग्रह का नाम ही 'संसार' है। ये स्मृतियाँ और अज्ञानजन्य कल्पनाएँ नाश को प्राप्त होती हैं किन्तु चित्त के अस्तित्व का तिरोभाव नहीं होता। उदाहरणतः वायु के शान्त हो जाने पर लहरों का उठना तो बन्द हो जाता है पर लहरों के विलोपन हो जाने के कारण जल विलुप्त नहीं हो जाता। वह जो नष्ट नहीं होता वही परमार्थ या भूततथता या निर्वाण है।

चित्त ही आलय-विज्ञान है

विज्ञानवाद विज्ञान या चित्त को छोड़कर सबको असत मानता है। अतः इसके मत से सम्पूर्ण जगत के प्रवर्तक—चित्त के निरोध से ही जगत या भव निरोध हो सकता है। चित्त ही सब कुछ है केवल वही प्रवर्तन एवं विमोचन करने वाला है।[1] विज्ञानवादी मन के बाहर किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं मानते। उनके मतानुसार सभी वस्तुएं प्रतिपल परिवर्तित होती रहती हैं। अतः पूर्णरूप से उनका प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में ज्ञान और ज्ञेय वस्तुएं एक ही काल की नहीं हो सकती हैं। अतः विज्ञान या चित्त ही एकमात्र सार्वकालिक एवं सत् है। अतीत संस्कारों के आलय होने के कारण चित्त को आलय विज्ञान की भी संज्ञा दी गयी है। तात्पर्य यह है कि उसमें सभी ज्ञान बीज रूप में सन्निहित हैं जो परिस्थिति के अनुकूल होने पर विकसित होते हैं। यह चित्त परिवर्तनशील चित्त वृत्तियों का प्रवाह है।[2] भिन्न भिन्न विशेषताओं के कारण चित्त को मन विज्ञप्ति शून्यता निर्वाण धर्मधातु आदि नाम दिये गए हैं।[3] विज्ञानवाद के अनुसार आलय विज्ञान—चित्त

---

१ चित्तं प्रवर्तते चित्तं चित्तमेव विमुच्यते।
चित्तं हि जायते नान्यच्चित्तमेव निरुध्यते॥

—लंकावतारसूत्र, गाथा—१८५।

—बौद्ध दर्शन पं० बलदेव उपाध्याय, पृ० २८१।

२ तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य डा० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय पृ० ६१।
त्रिंशिकाकारिका वसुबन्धु का ५, पृ० २१ २२।

बौद्ध दर्शन पं० बलदेव उपाध्याय पृ० २६०।

३ लंकावतारसूत्र १४०।

ही ग्राह्य और ग्राहक है। अवस्था के अनुसार पंच ज्ञानेंद्रियों का विज्ञान, मनोविज्ञान क्लिष्ट मनोविज्ञान और आलय विज्ञान इसके आठ भेद हैं। लंकावतारसूत्र[1] में आलय विज्ञान को उदधि विषयों को पवन तथा सप्तविध विज्ञान को नृत्यशील तरंगों के रूप में वर्णित किया गया है।[1]

बौद्धमत के परवर्ती सम्प्रदायों में शून्यवाद की अपेक्षा विज्ञानवाद या योगाचार मत का अत्यधिक प्रभाव दिखलाई पड़ता है। इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि माध्यमिक मत की तुलना में योगाचार मत अधिक अर्वाचीन है। इसीलिए योगाचार-मत ने माध्यमिक-मत का पर्यालोचन कर चित्त-तत्त्व को सत्य माना और दर्शन तथा साधना दोनों क्षेत्रों में उसको शताब्दियों के लिए प्रतिष्ठित कर दिया।[2] वज्रयानी सिद्धों के साधना मार्गों में नागार्जुन की शून्यवादी निर्वाण भावना की अपेक्षा असंग की तथता रूपी निर्वाण भावना की अधिक लोकप्रियता परिलक्षित होती है। इस प्रकार वज्रयानी सिद्धों ने चित्त तत्त्व की सत्यता को स्वीकार कर अपने साधना साहित्य में रहस्यपूर्ण साधनात्मक एवं भावात्मक माधुर्यवाद की अवतारणा की है।

तथता का अनुभव

विज्ञानवाद के अनुसार संसार को चित्त की छाया मात्र माना गया है। चर्म दृष्टि से देखने पर जो संसार माया अर्थात मिथ्या प्रतीत होता है वही प्रज्ञाचक्षु अर्थात आत्म-दृष्टि से देखने पर सत्य मालूम पड़ता है। प्रसिद्ध महायानी दर्शन-ग्रंथ 'लंकावतार-सूत्र' में साधक को संसार में रहते हुए ही अपने चित्त में सांसारिक पदार्थों की निःस्वभावता या तथता का अनुभव करने का उपदेश दिया गया है। साधना के क्षेत्र में प्रवृत्त्यात्मकता के सन्निवेश का यही मुख्य आधार है जिसका मधुर मंगल पर्यवसान राग-मार्ग में होता है। यही राग-मार्ग मधुर रस का एकांत निर्भय राजपथ है जहां राग बंधन नहीं मोक्ष का अमोघ साधन बन जाता है।

तान्त्रिक बौद्ध दर्शन

तन्त्र वेदों के समान ही अति प्राचीन है। यह सिद्धि के सरल मार्ग के निरंतर अन्वेषण का ही परिणाम है। जहाँ कहीं भी पटल पद्धति कवच सहस्रनाम और स्तोत्र का सन्निवेश है वहाँ तन्त्र है। बाद में इसमें पुरश्चरण वशीकरण स्तम्भन विद्वेषण उच्चाटन मारण मोहन तथा पंचमकारादि का समावेश किया गया है।[3]

बौद्ध धर्म साधना में तन्त्र का सन्निवेश कब और किन परिस्थितियों में हुआ तथा इसके प्रथम पुरस्कर्त्ता कौन थे—इसके संबंध में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। त्रिपिटकों से यह ज्ञात होता है कि तन्त्र मन्त्र के बीज बुद्ध की मूल शिक्षा में पाए जाते हैं। वहाँ

१ लंकावतारसूत्र दास और आचार्य पृ ४१ श्लो १०२। ३।
२ तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य डॉ नागेन्द्रनाथ उपाध्याय पृ ७६।
३ रामभक्ति में मधुरोपासना डॉ भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' पृ ४२ द्रष्टव्य।

तथागत की अनेक अलौकिक सिद्धियों के भी चमत्कारपूर्ण वर्णन मिलते हैं।[1] विनयपिटक' और गुह्यसमाजतन्त्र' से भी इस धारणा की पुष्टि होती है कि बौद्ध धर्म में भगवान बुद्ध से ही तन्त्र मन्त्र का समावेश हुआ। महायान धर्म में बुद्ध भक्ति, बुद्ध कृपा, विविध देवताओं और देवियों, स्वर्गादि की कल्पनाओं के कारण मन्त्रों एवं धारणियों के विकास में पर्याप्त सहायता मिली। फलतः आगे चलकर महायान धर्म ही मन्त्रनय और पारमितानय—इन दो रूपों में विभक्त हो गया[2] जिनसे मन्त्रयान वज्रयान कालचक्रयान और सहजयान का प्रादुर्भाव हुआ।

धारणी और मन्त्र

धार्यते अनया इति धारणी अर्थात् जो चित्त को सम अवस्था में धारण कर सके वही धारणी है। वसुबन्धु ने बोधिसत्त्व भूमि में चार प्रकार की धारणियाँ मानी—धर्मधारणी अर्थधारणी मन्त्रधारणी और क्षान्तिधारणी।[3] साधक में स्मृति प्रज्ञा और शक्ति का संचार धर्म के आन्तरिक और गुह्य अर्थ का ज्ञान, सिद्धियों की प्राप्ति एवं उदारता तथा करुणोत्पत्ति द्वारा शान्ति की उपलब्धि क्रमशः इन चार प्रकार की धारणियों के फल बतलाये गये हैं। बुद्धत्व प्राप्ति के लिए मन्त्रों और धारणियों के रूप में एक अनतिदूरगामी मार्ग का अनुसंधान कर लिया गया। बुद्धत्व प्राप्ति के लिए अब अनेक जीवन के सतत प्रयासों की कोई आवश्यकता नहीं रह गयी। साधक अब मन्त्रों द्वारा करुणोत्पादन का अभिलाषी बनकर बिना 'अनेक कुशल कर्मों का सम्पादन किये तथा बोधिसत्त्व की क्रमनिर्दिष्ट भूमियों को पार किये ही प्रज्ञा की प्राप्ति धर्मधारणी के उच्चारण से करने लगा। तात्पर्य यह कि मन्त्रों और धारणियों के आगमन से साधक सामान्य व्यावहारिक जीवन में प्रयत्न करुणा-सम्पादन से विरत हो गया।'[4]

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि शून्यवाद विज्ञानवाद और योगाचार के गहन सिद्धान्तों से ऊब कर जब बौद्ध मतानुयायी सुखोपलब्धि की सहज साधना की खोज में अग्रसर हुए होंगे तब निश्चय ही तन्त्र साधना ने उन्हें आकृष्ट किया होगा। तन्त्र के प्रभाव के कारण ही देवों और देवियों की विशेषतः वज्रसत्त्व और महातारा की युगनद्ध मूर्तियों की उद्भावनाएं की गयीं।

बौद्ध धर्म में तन्त्रवाद के प्रवेश का श्रेय योगाचार सम्प्रदाय के प्रतिपादक असंग को दिया जाता है। कुछ लोग शून्यवाद के प्रतिष्ठापक नागार्जुन को गुह्य साधना की प्रवृत्ति का सूत्रधार मानते हैं। असंग के सूत्रालंकार में परावृत्ति शब्द से यौनपरक यौगिक साधना तथा बौद्ध धर्म की मिथुन भावपरक साधना के अभ्यास के स्पष्ट संकेत मिलते हैं। सूत्रालंकार

१ तदुक्तं मन्त्रयोगादि नियमाद् विधिवत् कृतात्।
प्रज्ञारोग्य विभुत्वादि दृष्टधर्मोऽपि जायते॥

—तत्त्वसंग्रह, श्लो० १८-६।

२ एकार्थत्वेऽप्यसंमोहात् बहूपायादुष्करात्।
तीक्ष्णेन्द्रियाधिकाराच्च मन्त्रशास्त्रं विशिष्यते॥

—अद्वयवज्रसंग्रह म० म० डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य पृ० १४ २१।

३ आब्सक्योर रिलिजस कल्ट्स डॉ० शशिभूषणदास गुप्त पृ० २१।

४ तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, पृ० ६७-६८।

में कई पदों में बौद्ध विभुत्व की उपलब्धि परक क्रियाओं के प्रसंग में परावृत्ति शब्द के प्रयोग हुए हैं और उन क्रियाओं के पंचेन्द्रिय परावृत्ति मनसा पि परावृत्ति सार्थोद्ग्रह परावृत्ति विकल्प परावृत्ति प्रतिष्ठा परावृत्ति और मैथुन परावृत्ति—ये छह भेद निर्धारित किये गये हैं तथा बतलाया गया है कि मनोवृत्ति के भेद से कई प्रकार के विभुत्व की उपलब्धि होती है।[1]

परावृत्ति शब्द के अर्थ तथा विशेषकर मैथुनस्य परावृत्तौ के तात्पर्य को लेकर विद्वानों ने भिन्न भिन्न विचार व्यक्त किये हैं। प्रो० एस० लेवी ने मैथुनस्य परावृत्तौ शब्द का अनुवाद रिवोल्यूशन (परिवर्तन) करते हुए इसे मैथुन क्रिया की परावृत्ति (Paravritti of sexual act) कहा है तथा प्रकारान्तर से स्पष्टतः बुद्धों और बोधिसत्त्वों के रहस्यमय युग्मों के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ा है जिनका तान्त्रिक साधना के क्षेत्र में पर्याप्त महत्त्व है। इसे देखते हुए यह सिद्ध होता है कि महायान धर्म के अन्तर्गत चौथी पाँचवीं शताब्दी अर्थात् असंग के समय में ही तान्त्रिक भावों का सन्निवेश हो चुका था।[2] श्री डी० टी० सुजुकि ने स्टडीज इन द लंकावतारसूत्र में परावृत्ति को स्पिरिचुअल रिवल्शन अर्थात् एक विशिष्ट प्रकार के आध्यात्मिक अर्थ में ग्रहण किया है। उनके मतानुसार परावृत्ति प्राप्त करने का अर्थ है द्वन्द्व एवं अहं से पूर्ण संसार के इस तट से निर्वाण के दूसरे तट पर पहुँचना। यह अवस्था आध्यात्मिक अनुशासन या योग से ही प्राप्त होती है। इस अवस्था को प्राप्त कर साधक अहंकारपूर्ण प्रवृत्तियों एवं इच्छाओं से विरत होकर अन्त स्थित हो जाता है तथा उसका पूर्ण आध्यात्मिक जागरण हो जाता है।[3] इस प्रकार 'परावृत्ति' जीवन के प्रति एक विशिष्ट प्रकार

---

१ मनोवृत्तिभिन्न विभुत्व भेद दर्शयति—
पंचेन्द्रिय परावृत्तौ विभुत्व लभ्यते परम्।
सर्वार्थवृत्तौ सर्वेषां गुणाद्वादशतोत्तरे ॥४१॥
मनसोऽपि परावृत्तौ विभुत्व लभ्यते परम्।
विभुत्व तु तरज्ञाने निर्विकल्पे सुनिर्मले ॥४ ॥
सार्थोद्ग्रह परावृत्तौ विभुत्व लभ्यते परम्।
क्षेत्रशुद्धौ यथाकाम भोगसन्दर्शनाय हि ॥४३॥
विकल्पस्य परावृत्तौ विभुत्व लभ्यते परम्।
अव्याघाते समस्ताना सर्वेषां ज्ञानकर्मणाम् ॥४४॥
प्रतिष्ठाया परावृत्तौ विभुत्व लभ्यते परम्।
अप्रतिष्ठित निर्वाणे बुद्धानामचल पदे ॥४५॥
मैथुनस्य परावृत्तौ विभुत्व लभ्यते परम्।
बुद्धसौख्य विहारेऽथ दारासंक्लेशदर्शने ॥४ ॥ —सूत्रालंकार अध्याय ९

२ Prof S Levi while translating the work as revolution suggested that Pravritti of Sexual act alludes without doubt to the mystic couples of Buddhas and Bodhisattvas which has so much importance in Tantrism (Translation of the Sutralamkara p 81 note) If this interpretation is accepted then we have to admit that Tantrik ideas were already prevalent in Mahayana Buddhism in the time of Asanga (4th 5th centuries A D)
—Studies in the Tantras Vol I p 87 by Dr P C Bagachi

३ स्टडीज इन द लंकावतारसूत्र डी टी सुजुकि पृ १८१ ।

की वृत्ति के उद्भव और विनाश से सम्बन्धित है जो चित्त की क्रियाओं के विशेष परिवर्तन का द्योतक है।

डा० विंटरनित्स ने सूत्रालंकार के ४५ और ४६वें पद का अनुवाद करते हुए परावृत्ति का अर्थ किनारे हटाना या परित्याग करना (turning aside discard) बतलाया है तथा प्रा० लेवी की व्याख्या को भ्रान्तिपूर्ण बतलाया है। उनके मतानुसार मैथुन में विरत होने अर्थात् मैथुन क्रिया के परित्याग करने में परम विभुत्व की उपलब्धि वैसी ही होती है जैसे बुद्ध के सौख्यविहारों के भोग में या पत्नी के ऊपर निर्विकार भाव से दृष्टि निक्षेप करने से परम विभुत्व का अनुभव होता है।[1] श्री बागची महोदय ने विंटरनित्स के विचार से असहमति प्रकट करते हुए परावृत्ति को मानसिक क्रियाओं के विपरीत दिशा या विरुद्ध बिन्दु की ओर पलट जाने के अर्थ में ग्रहण किया है। वृत्ति का अर्थ मानसिक क्रियाओं का अग्रमुख मण्डलाकार आवर्तन है तथा आवृत्ति चक्राकार एवं पूर्ण आवर्तन का द्योतक है। परावृत्ति *किसी महदाकांक्षा या उच्चतर प्रयोजन के लिए मानसिक वृत्तियों का रूपान्तरित होना है।* वस्तुतः यह एक विशेष प्रकार की मानसिक क्रान्ति ही है।[2] डा० बागची ने वसुबन्धु रचित 'विज्ञप्तिमात्रसिद्धि (त्रिंशिका) आदि से उद्धरण कर अपने अर्थ को प्रमाणित करने की चेष्टा की है। प्राय चित्त क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण से ढँका रहता है। परावृत्ति चित्त की प्रश्रब्धि की अवस्था है। प्रश्रब्धि दौष्ठुल्य को दूर करने वाला है। प्रश्रब्धि दौष्ठुल्य और नय दौष्ठुल्य के पराभव से आश्रय परावृत्ति या आलय विज्ञान की उपलब्धि सम्भव है। लंकावतारसूत्र में परावृत्ति को अप्रवृत्ति या अविकल्प या निराश्रय की अवस्था कहा गया है।[3]

---

१ मैथुनस्य परावृत्तौ विभुत्वं लभ्यते परम्। बुद्धसौख्यविहारे च दारादर्शने अक्लिष्टे॥ —सूत्रालंकार ४५, ४६ पद, नोट्स ऑन द गुह्य समाज एण्ड द एज ऑफ द तन्त्राज। —डॉ विंटरनित्स

In the turning aside of sexual union supreme greatness is obtained (namely) in the enjoyment (or pleasure ground) of Buddha happiness and in looking without impure thoughts at a wife

—Studies in the Tantras Dr P C Bagachi p 88

२ The word paravritti therefore literally means— turning (the functions of the mind) round to an opposite point So it does not mean even literally as Dr Winternitz thinks turning aside those functions but their transformation for a higher purpose This really amounts to a mental revolution

—Studies in the Tantras Dr P C Bagchi p 88

३ यदा त्वालम्बनं ज्ञानं नैवोपलभते तदा।
स्थितं विज्ञानमात्रत्वे ग्राह्याभावे तदग्रहात्॥
अचित्तोऽनुपलम्भोऽसौ ज्ञानं लोकोत्तरं च तत्।
आश्रयस्य परावृत्तिर्द्विधा दौष्ठुल्यहानितः॥ —त्रिंशिकाकारिका २८-२९।
'अप्रवृत्ति अविकल्पस्य परावृत्ति निराश्रय —लंकावतारसूत्र पृ ५६।

ऊपर दस भूमियो की चर्चा के प्रसग म कहा जा चुका है कि सात भूमियाँ चित्त निर्माण से सम्बधित आठवी भूमि (अचल) निराभास तथा नवी और दसमी भूमियाँ (साधुमती और धर्ममेघा) विहार की भूमियाँ हैं। परावृत्ति की प्राप्ति होने पर ही बोधिसत्व आठवी भूमि म पदार्पण करता है। इससे स्पष्ट है कि परावृत्ति अन्तिम तीन भूमियों से सम्बधित है। अत इन तीन भूमियो की दशा म बोधिसत्व सभी प्रकार के सासारिक प्रपचो एव इन्द्रिय व्यापारो स परे होकर आनन्दमय स्थिति म पहुँच जाता है और मथुनजन्य आनन्द के समान ही सुख का अनुभव या उपभोग करता है। इस निर्वाणदशा भी कह सकते हैं। अत डॉ० बागची के मतानुसार मथुनस्य परावृत्तौ का अर्थ मथुन से विरति न होकर मथुनजन्य आनन्द का उपभोग समझना ही समीचीन प्रतीत होता है।[1] सूत्रालकार के ३७ और ३८वें पद म भी इस प्रकार के रहस्यमय मिलन एव तज्जनित आनन्दमय स्थिति का वर्णन किया गया है। योग दर्शन म भी योग और समाधि के प्रसग म इस प्रकार के रहस्यमय मिलन और तदजनित परमानन्द की चर्चा की गई है। उपनिषदो म भी आत्मा परमात्मा के महामिलन जन्य आनन्द को व्यक्त करने के लिए प्रिय और प्रयसी के सहवास सुख स सम्बधित उपमाओ का विधान किया गया है।

उपर्युक्त विचार बिन्दुओ से यह स्पष्ट हो जाता है कि असग के समय म मथुनपरक शक्ति प्रधान साधना पद्धति अवश्य प्रचलित थी जिसका पर्याप्त सकेत असग ने अपने सूत्रालकार तथा विशेषकर गुह्यसमाजतत्र या तथागतगुह्यक नामक ग्रन्थ म षट कर्म पचमकार सिद्धिया पचध्यानी बुद्धो और उनकी शक्तियो के वर्णन द्वारा दिये हैं। डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य बौद्ध धर्म म शक्तितत्त्व को प्रतिष्ठित करने का श्रेय असग को ही देते हैं। किन्तु बागची सुकुर प्रभृति विद्वान भट्टाचार्य के मन्तव्य को स्वीकार नही करते। गुह्यसमाज तत्र के रचयिता वस्तुत असग ही थे—ऐसा मानने के लिए भी वे कोई प्रामाणिक आधार नही पाते। इसी प्रकार बौद्ध साधना मे शक्ति-तत्त्व के प्रतिष्ठापक के रूप मे नागार्जुन के सम्बन्ध म भी काफी मतभेद है। मत्र यत्र षटकर्म सिद्धियाँ मडल मुद्रा शक्तितत्त्व पच मकार कुण्डलिनी योग अधिकारभेदभाव गुरु शिष्यवाद आदि तात्रिक साधना के प्रमुख तत्त्व हैं। बौद्ध साधना म इन तात्रिक तत्त्वो को समाविष्ट करने वाला जो भी हो इतना स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि छठी सदी के पूर्व महायान धर्म म ये तत्त्व अविकसितावस्था मे अवश्य विद्यमान थ। जहा तक शक्ति तत्त्व का प्रश्न है प्रत्येक देवता के साथ एक एक शक्ति की कल्पना और प्रत्येक साधक के साथ साधना के लिए एक एक मुद्रा या योगिनी की अनिवार्यता जसी विशेषताए छठी शताब्दी के बाद ही प्रविष्ट हुई होगी।[2] अत असग काल मे बौद्ध साधना म शक्ति प्रधान साधना पद्धति स्वीकृत हुई थी कि नही यह निर्विवाद

[1] विस्तार के लिए देखिए स्टडीज इन त बागची भाग १ पृ ६ ६२।

So it has been defined as a state of blissfulness Thereore I think paravritti of Maithuna (verse 46) does not mean turning aside or abnegation of the sexual act but enjoyment of bliss similar to that arising from that act This analogy has been used in Indian philosophical texts beginning with the Upnishads

[2] तात्रिक बौद्ध साधना और साहित्य डॉ० नागेन्द्र उपाध्याय, पृ० ६९।

रूप से नहीं कहा जा सकता। डा० प्रबोधचन्द्र बागची और सुजुकि के मन्तव्य से यह सिद्ध हो जाता है कि परावृत्ति चित्तवृत्तियों का वह मोड़ या क्रान्तिदशा है जहाँ जागतिक पदार्थों के प्रति साधक की दृष्टि और व्यवहार सर्वथा परिवर्तित हो जाता है और वह सबको असामान्य दृष्टि से देखने लगता है। इस प्रकार इस सामान्य दृष्टि और व्यवहार से उलटकर पुनः चित्त के नैसर्गिक बिन्दु की ओर चित्त का आवर्तन ही परावृत्ति है। इसीको निर्वाण कहा गया है। यही चित्त की निर्विकल्पावस्था है। महायान में निर्वाण का भावात्मक अर्थ स्वीकृत हो चुका था। धम्मपद आदि प्राचीन ग्रन्थों में ही निर्वाण को सुखमय माना गया था। अतः ऐसी अवस्था में चित्त की परावृत्त अवस्था को सुखात्मक अवस्था मानना, उसके लिए मिथुन जनित सुख की उपमा देना, धर्ममेघा भूमि से उसकी तुलना करना तथा उसीके समकक्ष उसे मानना सर्वथा उचित है। जिन उपनिषदों से योग-साधना का ग्रहण किया गया जिस आत्मिक परम्परा से निर्विकल्प समाधि को ग्रहण किया गया, उसी परम्परा से परमानुभव और परमावस्था के वर्णन करने की शैली को भी ग्रहण करना सर्वथा स्वाभाविक है।[1] मध्य-युग के निर्गुनियाँ सन्तों ने भी इस प्रकार के औपम्य विधान के पर्याप्त प्रयोग किये हैं। सन्तों की उलटी चाल भी एक प्रकार से परावृत्ति दशा का ही रूपान्तर है जिसे उन्होंने निरंजन सम्प्रदाय से ग्रहण किया था।

मन्त्रयान का उदय

तन्त्र प्रभावापन्न महायान की सौम्य विकासावस्था का नाम मन्त्रयान है तथा उसके उग्र रूप की संज्ञा वज्रयान है। अद्वयवज्रसंग्रह में संगृहीत तत्त्वरत्नावली में महायान के दो विभाग किये गये हैं—मन्त्रयान और पारमितायान। महायान के समय में मन्त्र-तन्त्र की भावना नष्ट नहीं हुई थी, प्रत्युत वह बड़े जोरों से अपनी अभिव्यक्ति पाने के लिए अग्रसर हो रही थी। योगाचार में योग और आचार पर विशेष महत्त्व देना इसी फल के आगमन की सूचना थी।[2] प्रथम अथवा द्वितीय विक्रमी शती का ग्रन्थ मंजुश्रीमूलकल्प में मन्त्र धारणी आदि का यथेष्ट वर्णन मिलता है। नागार्जुन द्वारा प्रतिपादित शून्यवाद के सूक्ष्म दार्शनिक सिद्धान्त सामान्य-जनों के लिए सहज बोधगम्य नहीं सिद्ध हो सके। अतएव धारणियों को अति संक्षिप्त बनाकर सार्थक और निरर्थक शब्द-समूह के रूप में मन्त्रों की सृष्टि हुई और मन्त्र द्वारा मोक्ष प्रदान करानेवाले साधना मार्ग को मन्त्रयान की संज्ञा दी गई। कालान्तर में इसके अन्तर्गत मुद्रा, मण्डल आदि का भी समावेश किया गया। मन्त्रयान-साधना पद्धति की दृष्टि से आर्यमंजुश्रीमूलकल्प विशेष महत्त्वपूर्ण है। यह वज्रयान-साधना का प्रारम्भिक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में शक्तिवाद के साथ-साथ मुद्रा, मण्डल, भगिनी, डाकिनी आदि आसुरी देवी-देवताओं एवं उनसे सम्बन्धित विविध मन्त्रों के विस्तृत वर्णन किये गये हैं।

आगे चलकर मन्त्रयान में अधिकारभेदभाव की प्रधानता हो जाने के कारण साधना के क्षेत्र में प्रवेश पाने का अधिकारी उच्चाधिकार प्राप्त व्यक्ति को ही समझा जाने लगा। अद्वयवज्रसंग्रह में मन्त्रयान को तीक्ष्णेन्द्रिय अधिकार-साध्य बतलाकर गुप्त रूप से इसके

---

१ तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय पृ० ६०-६१।

२ बौद्ध दर्शन मीमांसा प० बलदेव उपाध्याय, पृ० ४२७।

अनुष्ठान का निर्देश किया गया है तथा सवसाधारण के सामने मत्रमूलक साधना के रहस्योद्घाटन को वर्जित माना गया है।

मत्रयान का ही विकसित रूप आगे जाकर तत्रयान कहा जाने लगा जिसने मत्र-तत्र जादू-टोना मोहिनी मत्र इन्द्रजाल आदि तत्वो द्वारा बौद्धमत के आचार स्थान म क्रातिकारी परिवत्तन उपस्थित कर दिया। इसीसे कालान्तर म वज्रयान कालचक्रयान और सहजयान सम्प्रदाय विकसित हुए।

वज्रयान का वज्र माग

बौद्ध धम के जितने याना की चर्चा की गई है उनके दाशनिक सिद्धान्तो एव साधना पद्धतियों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि व एक-दूसरे के ही परम्परागत तथा परिवर्तित रूप हैं। अत मत्रयान वज्रयान और सहजयान वस्तुत एक ही साधना प्रणाली के परिवर्तित एव विकसित रूप कहे जा सकते हैं। मत्रयान म मत्रो और धारणियो के अति रिक्त वज्र को शून्य तत्त्व का प्रतीक या पर्याय मानकर उसस उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थों को साधन क रूप म ग्रहण कर अनुत्तर सम्यक सम्बोधि की प्राप्ति की जाती है। सहजयान म सहज का अथ प्रज्ञा और उपाय क सहगमन से उत्पन्न अन्य तत्त्व है। साधक प्रज्ञोपाय के अद्वय अनुत्तर को सिद्ध कर सामरस्य का अनुभव करता है तथा महासुख की प्राप्ति कर सहज सिद्ध बन जाता है।

वज्रयान म कई प्रकार की प्रवत्तियाँ पाई जाती हैं जिन्हें एक सूत्र म बाँधने के लिए उसमे अनेक आम्नायो की सृष्टि हुई है। अपनी प्रवत्ति और गुरु के निर्देशानुसार साधक साधना करने मे स्वतन्त्र है। साधक के मानसिक विकास को ध्यान म रखकर क्रमश क्रिया धम योग और अनुत्तर की साधना का विधान किया गया है।

वज्रयान का वज्र शब्द अनेकार्थी है। वज्रयान साधना का साधनात्मक और धार्मिक प्रतीक वज्र मे माना गया है। इसका वदिक अथ मणि अश्म और अस्त्र है। वज्र हीरा है जो अतिशय काठिन्य के कारण अप्रवेश्य अछेद्य अदाह्य एव अविनाश्य पदार्थों का प्रतीक माना जाता है। वज्र इन्द्र के अस्त्र को भी कहते हैं। इसे ही धारण करने के कारण बौद्ध वज्रपाणि की अवतारणा हुई है। वज्र को विरुद्ध शक्तियो से बचानेवाले बौद्ध सन्यासियो और भिक्षुओ का अस्त्र भी माना गया है।

सिद्ध साधना मे शून्य का पूरक तत्त्व वज्र को माना गया है। दृढता अभेद्यता अविनश्वता आदि वज्र के लक्षण कहे गये हैं जो शून्यता म पाए जाते हैं। इसीलिए उसे वज्र की सज्ञा दी गई है। पूव मध्य-युग के पालवशी राजाओ के पूव भारत के शासनकाल म नागाजुन के शून्य को वज्र की सज्ञा दी गई। उस लक्ष्य (निर्वाण) को अविनाशी मान कर उसे प्राप्त करने वाले माग का वज्रयान कहा जाने लगा। वज्र तत्त्व वज्रयान म परम तत्त्व का ही वाचक बन गया तथा यह धारणा बद्धमूल हो गई कि यह वज्र पुरुष रूप म बोधिचित मे जाग्रत होकर नरात्म ज्ञान म एकमेक हो जाने के लिए उन्मुख होना है। बौद्ध तन्त्रवाद म वज्र की कल्पना इतनी व्यापक बन गई कि शून्य के अथ म वज्र रूढ बन गया। दवता समाधि काय वाक चित्त मुद्राए शक्तियाँ ज्ञान उपाय योग सभी के लिए वज्र

नाम प्रयुक्त होने लगा। इन्द्र के वज्र की भाँति कहीं कहीं वज्र का धर्म बुद्ध और संघ के रूप में विन्यस्त भी कहा गया है। अन्त में वज्र को पुंसेन्द्रिय तथा पद्म को स्त्रीन्द्रिय के अर्थ में भी ग्रहण किया गया है। आगे चलकर तान्त्रिक-साधना के प्रभाव के कारण वज्र के साथ पंच मकारपरक साधनाओं के संबद्ध हो जाने पर विशुद्धतावादी गोरखपंथियों ने इसका बहिष्कार कर शुद्ध योग को अपना लिया। सूफी सन्त कवि जायसी ने भी पदमावत में आठ वज्रों की चर्चा की है।

वज्रसत्व शून्यता के मूर्त रूप माने गये हैं। वज्र के शून्यता के प्रतीकार्थ के रूप में व्यापक रूप से स्वीकृत हो जाने के पश्चात पंचध्यानी बुद्धों के अतिरिक्त छठे वज्रसत्व की उद्भावना की गयी जो प्रज्ञापारमिता के पति माने गये हैं तथा जो वज्रास्त्र धारण कर युगनद्ध रूप में शक्ति के साथ लीन रहते हैं। वज्रसत्व, वज्रधर, वज्रपाणि तथागत इसी शून्य के विविध नाम हैं। वज्र धारण करने वाला अर्थात कमल-कुलिश साधना में निष्णात बौद्ध सिद्ध वज्रधर कहलाता है। बुद्ध का एक वज्रयानी रूप वज्रधर का भी था जिसमें वे अपनी शक्ति के साथ युगनद्ध साधना में लीन रहते हैं।[1]

अद्वयवज्रसंग्रह' में साधर्म्य के कारण शून्यता को वज्र कहा गया है। यह शून्यता नैरात्मा देवी रूप है जिसके गाढ़ालिंगन में मानव चित्त (बोधिचित्त या विज्ञान) सदैव आबद्ध रहता है। दोनों का यह मधुर मिलन सदैव सुख तथा आनन्द का प्रदायक है। इस शून्यता के साथ महासुख की भावना भी सम्मिलित है।[2] इस प्रकार शून्यता बोधिचित्त या विज्ञान तथा महासुख के संगम के ज्ञान को ही वज्रज्ञान कहते हैं और जिस साधना मार्ग से इस वज्रयान की उपलब्धि की जाती है उसे ही वज्रयान की संज्ञा दी गई है। वज्रयान से बौद्ध धर्म के उस रूप का परिचय मिलता है जिसमें देवता मन्त्र-तन्त्र पंचमकार गुह्यसाधना अभिचारादि तान्त्रिक प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। वज्रयान साधना पद्धति में अद्वैत-दर्शन भूत विद्या शक्ति तत्त्व पंच-मकार तथा राग साधना के साथ संश्लिष्ट बौद्ध विचारों का सम्मिश्रण कर उसे एक प्रगतिशील (Dynamic) मत के रूप में प्रस्तुत किया गया।[3]

अद्वयवज्र ने वज्रयान को मन्त्रनय कहा है तथा उसकी साधना-पद्धति को गुह्य एवं गम्भीर बतलाते हुए उसे तीक्ष्णेन्द्रिय-अधिकार-साध्य कहा है। महायान की विचारधारा की चर्चा के प्रसंग में यह कहा जा चुका है कि किस प्रकार महायान सम्प्रदाय में बुद्ध के मानव व्यक्तित्व के बदले उनके लोकोत्तर स्वरूप का प्रतिपादन किया गया और उन्हें *सामान्य लोक* से ऊपर उठाकर दिव्यलोक का अधिष्ठाता मान लिया गया। कथावत्थु से ज्ञात होता है कि वेतुल्यवादियों ने बुद्ध की लोकोत्तर सत्ता की स्वीकृति के साथ साथ एकाभिप्रायेण मैथुन का सेवन करना भी विधेय मान लिया।[4] ये दोनों सिद्धान्त बौद्ध धर्म की दृष्टि से बड़े ही क्रान्तिकारी सिद्ध हुए। एकाभिप्रायेण मैथुन की स्वीकृति वाले सिद्धान्त का अनुसरण करके ही

---

१ हिन्दी साहित्य कोश पृ० ६९८। विश्वभारती पत्रिका, खण्ड ४ अंक १ में प्रकाशित भन्त शान्ति भिक्षु का लेख द्रष्टव्य।

२ 'अद्वयवज्रसंग्रह का महासुखप्रकाश द्रष्टव्य; पृ ५।

3 A History of Indian Literature Part II pages 387 388

४ कथावत्थु, २३/१।

तन्त्र प्रभावान्त वज्रयान एव सहजयान का आविर्भाव हुआ।

महायान के योगाचार और विज्ञानवाद के गहन सिद्धान्तो का हृदयगम करने की क्षमता साधारण जन समुदाय म नही थी। अतएव साधारण जनता ऐसे सहज-बोधगम्य तथा जीवन के भावात्मक सवेगो से पूर्ण धम सम्प्रदाय की आवश्यकता का अनुभव कर रही थी जिसके द्वारा थोड प्रयास से ही महासुख और महजानन्द की उपलब्धि सम्भव हो सके। वज्र यान और सहजयान के रूप म इसी आवश्यकता की पूर्ति का विराट आयोजन हुआ। इसी मनोरम धम का नाम वज्रयान है—जिसम शून्य निरात्मा है—वह देवी रूप है जिसके प्रगाढ आलिंगन मे मानव चित्त (बोधिचित्त या विज्ञान) सदा बद्ध रहता है तथा यह युगल मिलन सब काल के लिए सुख तथा आनन्द उत्पन्न करता है।[१]

वज्रयान का आविर्भाव

पहले ही कहा जा चुका है कि वज्रयान महायान का ही परिवर्तित रूप है जो मन्त्र यान से सक्रमित होता हुआ तान्त्रिक साधना-पद्धतियो से अधिकाधिक प्रभावित होकर अन्तत वज्रयान के रूप म प्रकट हुआ। तान्त्रिक-साधना के विकास क्रम के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि छठी शती के बाद सम्पूण देश के साधना मार्गों म तान्त्रिक प्रवत्तियो का समावेश होने लग गया था। महापण्डित राहुल साकृत्यायन ने भी मन्त्रयान का समय चौथी शताब्दी से लेकर सातवी शताब्दी (ईसवी) तक स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त डा० विटरनित्स[२] तारानाथ[३] एच० कण[४] म० म हरप्रसाद शास्त्री[५] डा० वि० तो भट्टाचार्य[६] डॉ शशि भूषण दास गुप्त[७] आदि विद्वानो के विचारो के आधार पर यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि महायान के अन्तिम चरण म (लगभग ४ ५वी शताब्दी) मन्त्रतत्त्व के प्रचार प्रसार होने के बाद लगभग ३० वर्षों तक शक्तितत्त्व और पच मकारो की साधना गुरु शिष्य परम्परा की गुप्त एव सीमित दीक्षित मण्डली म चलती रही। इस प्रकार की साधना पद्धति को ही तारानाथ ने अनुत्तर योग-तन्त्रयान कहा है जिससे वज्रयान और पुन उससे कालचक्र-यान और सहजयान विकसित हुआ। जिन धार्मिक एव दार्शनिक परिस्थितियो म वज्रयान का विकास हुआ उनके विहगावलोकन से यह ज्ञात होता है कि महायान के अवसान-काल म बुद्ध अमिताभ बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर मजुश्री आदि देवताओ एव हारीति चन्द्रिका सरस्वती आदि देवियो की प्रतिष्ठा देवी देवताओ की आराधना के लिए स्तोत्रो, मन्त्रो और धारणियो की सृष्टि बोधिसत्त्व के लिए करुणा प्रसार और प्रज्ञा की उपलब्धि की अनिवार्यता शून्यवाद के व्यावहारिक साक्षात्कार की प्रज्ञा की उपलब्धि से अभिन्नता सम्पूण ससार की

१ बौद्ध दशन मीमांसा प बलदेव उपाध्याय पृ ४२८।
२ ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर विंटरनित्स भाग २, पृ ३४ द्रष्टव्य।
३ मिस्टिक टेल्स ऑफ लामा तारानाथ, अनु भूपेन्द्रनाथ दत्त—द्रष्टव्य।
४ मैनुअल ऑफ इण्डियन बुद्धिज्म एच कर्ण, पृ १३३ ११८ १३ द्रष्टव्य।
५ जनल ऑफ एशियाटिक सोसायटी ऑफ बगाल १८९८ स भा १, २, पृ० १७५ १८४ द्रष्टव्य।
६ एन इण्ट्रोडक्शन टु बुद्धिस्ट ऐसोटेरिज्म डॉ वि तो भ —द्रष्टव्य।
७ ऑब्सक्योर रिलिजस कल्ट्स डॉ श भू दा० गुप्त, पृ २४ तथा ऐन इण्ट्रोडक्शन टु तान्त्रिक बुद्धिज्म —द्रष्टव्य।

उत्पत्ति और प्रणाम के लिए चित्त तत्त्व की स्वीकृति, प्रत्यात्मगति की उपलब्धि मन्त्र-तन्त्र और धारणियों की प्रमुखता तथा प्राणी-मात्र के दुःख निवारण के लिए नवीन बोधिसत्त्वों की उद्भावनाएं होने लगी थीं।

उपर्युक्त विचार विन्दुओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि सातवीं शताब्दी से लेकर दसवीं शताब्दी तक अबाध रूप में वज्रयान साधना मार्ग चलता रहा। इस अवधि में अनेक आचार्य हुए जिन्होंने अनेक प्रकार की पद्धतियों का सूत्रपात कर देश विदेश में बौद्ध धर्म को प्रचारित किया। प्रसिद्ध चौरासी सिद्ध पुरुषों एवं उनके शिष्यों ने अपने उपदेशों एवं रहस्यमय गीतों द्वारा जनसाधारण में इसका पर्याप्त प्रचार प्रसार किया। "इतना स्पष्ट है कि चिन्तन, साधना मन्त्र देवता तन्त्र योग आचार और भाषा—इन सभी दिशाओं में बौद्ध धर्म इतना सर्वग्राही कभी नहीं रहा जितना इस काल में।"[1]

कुछ विद्वानों के मतानुसार आदि सिद्ध सरहपाद ही वज्रयानी साधना के प्रथम आचार्य माने जाते हैं। इनका समय ७वीं ८वीं शती के मध्य माना गया है।

हिन्दू-तन्त्रों के दक्षिणाचार और वामाचार के समान बौद्ध-तन्त्रों में क्रियातन्त्र और चर्यातन्त्र को दक्षिणाचार में और योगतन्त्र और अनुत्तरयोगतन्त्र को वामाचार के अन्तर्गत माना गया है।[2] कठोर ब्रह्मचर्य नियमित आहार पान प्रधान दक्षिणाचार में कुशलता प्राप्त करने के बाद ही साधक वामाचार में प्रवेश पा सकता है। वामाचार में वामा या शक्ति या नारी आचार साधन के लिए अनिवार्य तत्त्व या उपकरण के रूप में ग्रहण की जाती है। ७वीं ८वीं शताब्दी के ग्रन्थ वामाचार की पंच मकार समन्वित साधना की ओर संकेत करते हैं। किन्तु बौद्ध सिद्धों की लोक भाषा की ओर सहज सिद्धान्त की प्रतिपादक रचनाएँ भाव-साधना या दिव्य-साधना की ओर प्रवृत्त दिखाई देती हैं जिनका उद्भव सरहपाद के काल से मानना चाहिए।[3]

काजीदावा समदुप ने वज्रयान (मन्त्रयान) के छह प्रमुख भेद किये हैं—क्रिया तन्त्रयान चर्यातन्त्रयान योगतन्त्रयान। फिर योगतन्त्रयान के तीन भेद—महायोगतन्त्रयान अनुत्तर योगतन्त्रयान और अतियोगतन्त्रयान निर्धारित किये गए हैं।[4] डॉ० दास गुप्त ने भी वज्रयान (मन्त्रयान) के चार भेदों को बतलाते हुए क्रियातन्त्रयान और चर्यातन्त्रयान को निम्न तन्त्र तथा योगतन्त्रयान और अनुत्तर तन्त्रयान को उत्तम तन्त्र कहा है। निम्न तन्त्र में विविध बाह्य-पूजा विधानों देवी-देवताओं की पूजा आदि की प्रमुखता है तथा उत्तम तन्त्र योग प्रधान है। परम सत्य की प्रकृति और ध्यान की प्रधानता उसमें पायी जाती है।[5] वज्रयान से सम्बन्धित चार प्रकार के तान्त्रिक बौद्ध-ग्रन्थ मिलते हैं जो सामान्यतः क्रियातन्त्र चर्यातन्त्र योगतन्त्र और अनुत्तरयोगतन्त्र पर आधारित हैं। क्रियातन्त्र विषयक ग्रन्थों में मन्दिर, देव मूर्तियों का निर्माण तथा धार्मिक विधि विधान चर्यातन्त्र विषयक ग्रन्थों में व्यावहारिक आचार

---

१ हिन्दी साहित्य कोश पृ ६६६।
२ दैन इन्ट्रोडक्शन टु बुद्धिस्ट एसोटेरिज्म भट्टाचार्य, पृ० ६५।
३ तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य ना० ना० उ०, पृ० [illegible]।
४ श्रीचक्रसम्भारतन्त्र की भूमिका, सम्पादक, काजीदावा समदुप, पृ ३२।
५ ऑब्स्क्योर रिलिजस कल्ट्स डॉ० शशिभूषण दास गुप्त, पृ० २४।

दर्शन योगतन्त्र विषयक ग्रन्थों में योग साधना एवं अनुत्तर योगतन्त्र विषयक ग्रन्थों में भावात्मक साधना अर्थात माधुर्यमय रहस्यवाद की विवेचना की गई है। वज्रयान का विपुल साहित्य भाण्डार है जिनमें वज्रयानी विवेचनाओं के वर्णन की दृष्टि से आदि कर्म प्रदीप अष्टमी व्रत विधान साधन माला (११वीं शती) साधन-समुच्चय पंचक्रम चंड महारोषणतन्त्र श्री चक्रसम्भार तन्त्र गुह्यसमाज तन्त्र या तथागत गुह्यक ज्ञानसिद्धि (इन्द्रभूति) गुह्यसिद्धि (पद्मवज्र) प्रज्ञोपाय विनिश्चय सिद्धि अद्वयवज्रसंग्रह अद्वैतसिद्धि (लक्ष्मीकरा) विशेष उल्लेखनीय माने गये हैं। साधनमाला में ध्यानी बुद्ध उनके कुल देवी तारा के विभिन्न रूप—वज्रनाग तारा वरदतारा महाचीनक्रमायतारा विश्वमाता मारीची प्रज्ञापारमिता वज्रसरस्वती वज्रवीणासरस्वती आदि वर्णित हैं। चंडमहारोषणतन्त्र में महावज्री त्रिपुरवज्री राजवज्री आदि योगिनियों तथा यौनपरक साधना की विवेचना की गयी है। श्रीचक्रसम्भारतन्त्र में महासुखवाद मन्त्र ध्यान तथा अलौकिक युगनद्धा की विस्तृत मीमांसा मिलती है।

बौद्ध धर्म में शक्ति-तत्त्व की प्रतिष्ठा की दृष्टि से *गुह्यसमाजतन्त्र* महत्त्वपूर्ण है। अणिमादि सामान्य सिद्धियों के साथ साथ बुद्धत्व प्राप्ति की उत्तम सिद्धि की भी विवेचना की गयी है। षडंग योग में निष्णात होने पर ही उत्तम सिद्धि प्राप्त होती है।[1] गुह्यसमाजतन्त्र काया को साधन बाद कठोर आचारादि को सर्वथा अस्वीकार कर सर्वकामोपभोग द्वारा इसी जन्म में बुद्धतत्त्व प्राप्ति की उद्घोषणा करता है।[2] इसमें प्रत्येक ध्यानी बुद्ध के साथ एक एक शक्ति की अवतारणा कर प्रत्येक साधक के साथ एक एक शक्ति या प्रज्ञा या विद्या का रहना परमावश्यक माना गया है। गुण सम्पन्ना योग निपुणा मनोहारिणी सुन्दरी को प्रज्ञा या शक्ति के लिए साधक द्वारा चुना जाता है। तथागतों को साक्षी बनाकर गुरु साधक (शिष्य) और शक्ति का अभिषेक करता है जिसे प्रज्ञाभिषेक कहा गया है। प्रज्ञा (शक्ति) अद्वययोग की सहायिका है। साधक को विद्याव्रत अपनाना पड़ता है अर्थात उसे कभी नहीं छोड़ने की प्रतिज्ञा करनी होती है। विद्याव्रत का तोड़ने वाला कदापि उत्तम सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता है।[3] साधना के लिए मद्य मांस मत्स्य मुद्रा और मैथुन के सेवन को विहित माना गया है।

---

१ गुह्यसमाजतन्त्र पृ० १६२ १६३ द्रष्टव्य।

२ सर्वकामोपभोगैश्च सेव्यमानैर्यथेच्छतः।
अनेन खलु योगेन लघु बुद्धत्वमाप्नुयात्॥
दुष्करैर्नियमैस्तीव्रैः सेव्यमानो न सिद्ध्यति।
सर्व कामोपभोगैस्तु सेवयंश्चाशु सिद्ध्यति॥ —वही पृ २७ ११४।

३ तामेव देवता विद्यां गृह्य शिष्यस्य वज्रिणः।
पाणौ पाणिं प्रस्थाप्य साक्षीकृत्य तथागतान्॥
हस्तं दत्वा शिरे शिष्यमुच्यते गुरुवज्रिणा।
नान्योपायेन बुद्धत्व तस्माद्विद्यामिमां वराम्॥
श्रद्धया सर्वधर्मास्तु द्वयभावेन लक्षिता।
तस्माद्वियोग संसारे न कार्यो भवता सदा॥
इद तत्सर्वबुद्धानां विद्याव्रतमनुत्तमम्।
अतिक्रमति यो मूढः सिद्धिस्तस्य न चोत्तमा॥ —वही, पृ १६१ तथा १६३ द्रष्टव्य।

गुह्यसमाजतन्त्र' में असत्य भाषण, जीवहिंसा, परद्रव्य हरण परनारी सेवन को विधेय मानकर सामाजिक नियमों एवं मर्यादाओं की निरर्थकता बतलायी गयी है। इस ग्रन्थ में उत्तम साधना प्राप्ति की पूर्व पीठिका के रूप में हठयोग की साधना की भी आवश्यकता बतलायी गयी है। उपाय सेवा आदि पारिभाषिक शब्दों की व्याख्याएँ भी की गयी हैं।[1] इसके अतिरिक्त मारण मोहन उच्चाटन, वशीकरण स्तम्भन, विद्वेषण आकर्षण शान्तिक आदि षट कर्मों बोधिचित्तोत्पाद पंचध्यानी बुद्धों और उनकी पंचमायाओं आदि देवी देवताओं के प्रचुर वर्णन मिलते हैं। वज्रधर और वज्रसत्त्व शून्य के मानवीकृत रूप बनकर परमोच्च बौद्ध देवता के रूप में प्रतिष्ठित किये गये हैं।

वज्रयानी साधना का लक्ष्य

वज्रयान की साधना पद्धति तन्त्र प्रभावापन्न है। तन्त्र साधना का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध हठयोग साधना से है जिसका मूल लक्ष्य हकार' और ठकार अर्थात् चन्द्र और सूर्य का सम्मिलन है। इसे ही इडा और पिंगला नाडी अथवा प्राण और अपान वायु का समीकरण भी कहते हैं। विषमता सृष्टि का कारण है तथा समता प्रलय की विधायिका है। प्रलयावस्था अद्वैत की दशा है। जगत में दो विरोधी शक्तियाँ एक दूसरे को धर्षित करने के लिए सतत संघर्षशील रहती हैं। बहिःशक्ति के प्रभुता लाभ करने पर सृष्टि और अन्तःशक्ति की प्रधानता होने पर प्रलय होता है। स्थिति उभय शक्तियों की समानता का द्योतक है। पुरुष प्रकृति शिव शक्ति आदि शब्द इसी आदि द्वन्द्व के निदेशक हैं। अतएव पुरुष प्रकृति शिव शक्ति प्राण अपान शून्यता करुणा प्रज्ञा और उपाय—इन द्विविध शक्तियों में समता लाना सहजावस्था का प्राप्त करना एवं महासुखराज को प्राप्त करना ही वज्रयानी साधना का प्रमुख लक्ष्य है। इसे ही निर्वाण कहा गया है। इसी निर्वाण अथवा सदा एकरस कारण रहित महासुखराज[1] की उपलब्धि वज्रयानी सिद्धों के लिए परमपद की प्राप्ति है। घोर अन्धकार को जिस प्रकार चन्द्रकान्तमणि दूर कर अपने सुनिर्मल प्रकाश से उदभासित होती है उसी प्रकार सहजावस्था में महासुख समस्त पापों को दूर कर प्रकाशित होता है।[2]

प्रज्ञोपाय का अद्वयत्व

तान्त्रिक बौद्ध साधना में प्रज्ञा रूपी शक्ति-तत्त्व को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। प्रज्ञा रूपी शक्ति का प्रतीक त्रिकोण है। मन्त्रों में त्रिकोण ही मूल तत्त्व है। इसी त्रिकोण को

१ गुह्यसमाजतन्त्र, पृ १२० १६५।

२ जयति सुखराज एक कारणरहित सदोदितो जगताम्।
यस्य च निगदन समये वचनदरिद्रो बभूव सर्वज्ञ ॥
—सरहपाद का वचन, सेकोद्देश टीका पृ ६३।

भाव ण भन्त मउभ एहि, नउ भव नउ निव्वाण।
एहु सो परम महासुहउ नउ पर नउ अप्पाण॥ —सेकोद्देश टीका पृ ६३।

३ घोर न्धारें चन्दमणि जिमि उज्जोअ करइ।
परम महासुह एषुकणे, दुरिअ अशेष हरेइ॥ —सरहपाद।

भग भी कहा गया है। इसीलिए हेवज्रतन्त्र म प्रज्ञा को भग वज्रधर धातु महामण्डल महासुख आवास वज्रालय वज्रासन आदि नाम दिये गये हैं। इस सिंहासन बनाकर उस पर समासीन होने वाले को भगवान् कहते हैं।[1]

अनगवज्र ने प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि म प्रज्ञा उपाय निर्वाण भवोत्पत्ति दीक्षा मुद्रा वज्राचार्य पूजा आदि विषयों का विवेचन करते हुए भाव का सङ्कल्प अर्थात समार को रात माना है। अभाव या अगत की कल्पना उनकी दृष्टि म उचित नहीं कही जा सकती। तर्क यह है कि जो दीप जला ही नहीं उसका भला निर्वाण क्या हो सकता है ? अर्थात जलते दीप का ही निर्वाण होता है। ज्ञाता और ज्ञेय की तदाकारता के बाद ही शून्यता की दशा आती है। इस दशा म ससार और निर्वाण दोनों समाप्त हो जाते हैं। यही परम ज्ञान या प्रज्ञा है। कृपा या करुणा ही राग है क्योंकि वह सबका अनुरजन करने वाली है। कृपा या करुणा किनारे लगाने वाली नौका के समान है। इसीलिए इसे उपाय भी कहा गया है। यह मिलन अद्वयाकार है। यह ग्राह्य ग्राहक सत्यवत लक्ष्य-लक्षण विनिर्मुक्त शुद्ध प्रकृत्या निर्मल प्रत्यात्मवेद्य अचल शिव दिव्य धर्मधातु आदि है। यही महासुख है समन्तभद्र है। यह प्रज्ञोपाय भुक्ति और मुक्ति दोनों का सस्थान है।[2]

अद्वयवज्रसग्रह म प्रज्ञा और उपाय के अद्वयत्व की उद्घोषणा बार बार की गई है। प्रज्ञा विरहित उपाय बन्धन है और उपायविरहित प्रज्ञा भी बन्धन है। प्रज्ञासहित उपाय और उपायसहित प्रज्ञा मोक्ष है। दीपक और आलोक के समान ही दोनों का तादात्म्य सम्बन्ध है। प्रमपचक म शून्यता को कन्या और करुणा को वर की उपमा देकर सद्गुरु द्वारा सहज प्रेम प्राप्त करने का बडा ही रोचक वर्णन मिलता है।[3] शून्यता और करुणा के पर्याय के रूप म प्रज्ञा और उपाय के पर्याप्त प्रयोग बौद्ध साधना और साहित्य म किये गये हैं। अश्वघोष लिखित महायान श्रद्धोत्पादसूत्र मे प्रज्ञा और उपाय को बोधि की उपाधियाँ बन लाया गया है। परवर्ती बौद्ध साधना और साहित्य मे भी प्रज्ञा और उपाय ने विविध भूमिकाए धारण की हैं। हेवज्रतन्त्र म प्रज्ञा को सहयोगिनी महामुद्रा जननी भगिनी रजकी नर्तकी दुहिता डोम्बी भगवती नारी वज्रकन्या युवती योनि तथा पद्म के रूप म कल्पित किया गया है। इसी तरह उपाय को योगी वज्र या नर कहा गया है। ज्ञान सिद्धि म स्त्रीन्द्रिय को पद्म और पुसेन्द्रिय को वज्र कहा गया है।[4] अद्वयवज्रसग्रह (प्रमपचक) म प्रज्ञा और उपाय को वधू और वर तथा शक्ति और शिव के रूप म कल्पित कर दोनों के सयोग पर बहुत बल दिया गया है। एक-दूसरे के अभाव मे दोनों निष्क्रिय एव अशक्त मृतवत बन जाते

---

१ बौद्ध धम दशन। आचार्य नरेन्द्रदेव भूमिका—म० म प गोपीनाथ कविराज पृ २४।

२ द्र वज्रयान वक्स में सपादित प्रज्ञोपाय विनिश्चयसिद्धि, प्रथम परिच्छेद, पृ १६ श्लोक ३ ६ ७ ६ १३ १५ १७ १६ २१ २८ २७।

३ अद्वयवज्रसग्रह (प्रमपचक) प हरप्रसाद शास्त्री द्वारा सपादित पृ ५८ श्लो० १८।

४ शुक्र वैरोचनख्यात वज्रोऽक्ष तथाऽपरम्।
स्त्रीन्द्रिय च यथापदम वज्र पुसेन्द्रिय तथा॥११॥ —ज्ञानसिद्धि।

हैं।[1] बोधिचित्त प्रज्ञा और उपाय (शून्यता और करुणा) के अन्य रूप हैं।[2] प्रज्ञा और उपाय एक ही परम तत्त्व के दो रूप है। वज्रयान के परमाराध्य देवता हेरुक को उपाय और उनकी शक्ति वाराही को प्रज्ञा कहा गया है जिनके योग मे अवधूती मडल निर्मित होता है। जल और दूध की तरह प्रज्ञा और उपाय के अद्वयत्व को प्रज्ञोपाय कहते हैं।[3] जिस प्रकार दो लकडियो के रगडने से शुद्ध अग्नि पैदा होती है उसी प्रकार प्रज्ञा और उपाय के सयोग से विशुद्ध और ज्योतिमय ज्ञान प्रकट होता है।[4] प्रज्ञा रूपी शक्ति और उपाय रूपी शिव के समायोग से अद्भुत सुख की उत्पत्ति होती है।[5] शैवमत का शक्ति शिव मथुन पिंड (अर्ध नारीश्वर) ही प्रकारातर से बौद्ध साधना के प्रज्ञोपाय के रूप म कल्पित हुआ है। शक्ति को रक्त या रज तथा शिव को बिन्दु या वीर्य भी कहते हैं। किन्तु हिन्दू तन्त्र म शिव और शक्ति को लेकर जिस प्रकार से नर और नारी-तत्त्व की उदभावना की गयी है उसी प्रकार से बौद्ध तन्त्र म नही। हिन्दू दर्शन से सवथा विपरीत दृष्टिकोण का परिचय देते हुए बौद्धतन्त्र म प्रज्ञा या शक्ति या नारी को निष्क्रिय और अभावात्मक एव उपाय या शिव या नर को सक्रिय और भावात्मक माना गया है। अद्वयवज्र ने शिव शक्ति को बौद्ध परम्परा के अनुसार ही मानकर उनके समायोग को परमाद्वय तथा सत्सुख कहा है। बौद्धयोग म प्रज्ञा को ललना और उपाय को रसना की सज्ञा दी गयी है। हिन्दू योग दर्शन मे इन्हें ही इडा और पिंगला कहते हैं। सुषुम्ना ही अवधूती है जिसे निर्वाण मार्ग और महासुखाश्रय भी कहा गया है।[7] हिन्दू योग दर्शन की इडा चन्द्रमा और शक्ति तथा पिंगला सूर्य और शिव के प्रतीक हैं। बौद्ध योग दर्शन मे इन्हे क्रमश आलि वाम चन्द्र तथा कालि दक्षिण सूर्य भी कहा गया है। प्रज्ञा को ए और उपाय को व मानकर एवं को बुद्ध का रूप माना गया है।[8]

वज्रयानी एवं तत्त्व का रहस्य

वज्रयानी दार्शनिक ग्रथो म प्रज्ञा और उपाय की एकाकार मूर्ति के निदर्शन के लिए एव नामक बीज का विवेचन किया गया है। एव शब्द तीन वर्णों (ए+व+ं) का है

---

१ प्रतिभासो वर कान्त प्रतीत्योत्पादमात्रक।
न स्यात यदि शून्यैव स्यात शून्यता कामिनीमना ॥१॥
शून्यतानिवरा कान्ता मूर्या निरुपमा तु या।
पृथक यदि कदाचित स्यात् बद्ध स्यात् का तनायक ॥२॥ —अद्वयवज्रसग्रह, पृ० ५८

२ हेवज्रतत्र प ल १ हस्तलिखित ग्रथ डॉ दासगुप्त द्वारा, पृ १०२ में उद्धृत।

३ प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि, श्लो० १८ १७।

४ ऐन इन्ट्रोडक्शन टु तान्त्रिक बुद्धिज्म दासगुप्त, पृ० १ ८।

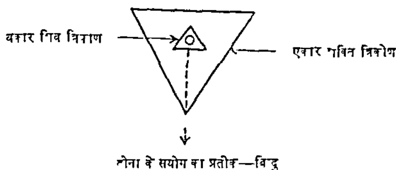
५ लक्षणलक्ष्य निर्मुक्त वाग्व्याहार वर्जितम्।
शिवशक्ति सम योगात् जायते त्वद्भुत सुखम्॥ —अद्वयवज्रसग्रह पृ० २८।

६ शिवशक्तिसमायोगात् सत्सुख परमाद्वयम्। —वही, पृ २८।

७ ललना प्रज्ञास्वभावेन रसनोपाय सस्थिता।
अवधूती मध्यदेशे तु ग्राह्य ग्राहक वर्जिता॥ —हेवज्रतत्र में सरोरुहपाद का वचन।

८ एवकार नमस्कृर्मो । — अद्वयवज्रसग्रह, पृ० २८।

और इसमें प्रयोग धर्म तत्त्व का प्रतीक है। एकार मातृशक्ति, चन्द्र तथा प्रज्ञा का वाचक है। वकार पितृशक्ति, सूर्य तथा उपाय का प्रतीक है। बिन्दु ( ) दोनों के संयोग का सूचक है। एवं ब्राह्मण-तन्त्रों के शिव शक्ति के सम्मिलन का द्योतक है। एकार शक्ति त्रिकोण का सूचक है जो अधोमुख त्रिकोण ▽ है। वकार शिव त्रिकोण का प्रतीक है जो अधोमुख शक्ति त्रिकोण के मध्य में ऊर्ध्वमुख रूप में विद्यमान है। बिन्दु दोनों त्रिकोणों के केन्द्र में स्थित है एवं बीज की यान्त्रिक आकृति इस प्रकार है—



दोनों के संयोग का प्रतीक—बिन्दु

बौद्ध तन्त्र के इस एवं यन्त्र के आध्यात्मिक रहस्य का उल्लेख हिन्दू शास्त्रों में भी किया गया है। वहाँ एकार शृंगार (त्रिकोण) के रूप में शक्ति यन्त्र (भग योनि) का प्रतीक है और वह वह्नि का गृह कहा गया है

त्रिकोणमेकादशम वह्निगेह च योनिकम।
शृङ्गार चैव एकार-नामभि परिकीर्त्तितम॥

एकार शृंगार के तीनों कोण इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति को सूचित करते हैं। बौद्धों के वकार के समान इसीके मध्य में चिचिणी क्रम की स्थिति बतलायी गयी है

त्रिकोण भगमित्युक्त वियतस्थ गुप्तमण्डलम।
इच्छा ज्ञान क्रिया कोण तन्मध्ये चिचिणीक्रमम॥[1]

वज्रयान-साधना में एवं बीज को बुद्धरत्न को सुरक्षित रखने वाला करण्डक कहा गया है। इसकी प्राप्ति ही महासुख की उपलब्धि है क्योंकि यह सब सौख्य आलय है।[2] इस बीज तन्त्र में एकार माता रूप है तथा चन्द्र और प्रज्ञा का द्योतक है। वकार पिता है तथा सूर्य और उपाय का प्रतीक है। बिन्दु दोनों के सम्मिश्रण का फल है, वह अनाहत नाद का प्रतीक है।[3]

---

१ The Mystic Significance of Evam G N Jha Research Institute Journal Vol II Part I 1944 by M M P Gopinath Kaviraj

२ एकाराकृति यद्दिव्य मध्य वकारभूषितम्।
आलय सर्वसौख्याना बुद्धरत्न करण्डकम्॥

३ एकारस्तु भवे माता वकारस्तु पिताधिप।
बिन्दुरनाहत ज्ञान त ज्ञ त अक्षराणि च॥

—सिद्ध काण्हपाद के २१वें दोहे की टीका में उद्धृत हेवज्रतन्त्र के वचन दोहाकोश पृ० १५६।

इस प्रकार एव युगल रूप का वाचक है। परमार्थ न एक है और न दो ही है वरन वह दो होते हुए भी एकाकार है। इसी तत्त्व को वैष्णव साधना में 'युगलमूर्ति' तान्त्रिक साधना में 'यामल' और बौद्ध साधना में युगनद्ध के रूप में स्वीकार किया गया है। जिस प्रकार दो बैल एक ही जुए में बांध जाने पर एकता के सूत्र में बंध जाते हैं उसी तरह यह परम तत्त्व, जो शिव शक्ति अर्थात प्रकृति पुरुष के परस्पर मिलन का प्रतीक है होते हुए भी अद्वैत अद्वय है। एवं ही परमतत्त्व का प्रतिनिधि एवं बीज है।

इसकी प्राप्ति के लिए साधक को सर्वप्रथम वैराग्य का दमन कर वीर पद को प्राप्त करना चाहिए। इसके बाद वह 'सुरतिवीर' एवं बीज को ग्रहण कर अच्युत, महाराग-सुख का उसी प्रकार अनुभव करता है जिस प्रकार कुसुमित कमल के ऊपर बैठकर भ्रमर मकरन्द का रसास्वादन करता है।[1] एवकार का ज्ञाता समग्र विषयों का ज्ञाता हो जाता है। शून्यता और करुणा की अभेदरूपिणी यह महामुद्रा धर्मकाय रूप है। यही बुद्ध का सत्य यथार्थ रूप धारण कर लेता है।[2] इन्हीं कारणों से वज्रयान साधना में एवं बीज को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। इस प्रकार यह रहस्यपूर्ण वज्रयानी मधुर भाव साधना का मुख्याधार है।

वज्रयानी गुरुतत्त्व की मिथुनाकारता

वज्रयान-दर्शन के अंतर्गत परमतत्त्व या तत्त्वरत्न के ज्ञान के लिए सद्गुरु की सेवा एवं कृपा को परमावश्यक माना गया है। गुरु ही वज्राचार्य हैं जो वज्र मार्ग का निर्देशन करने वाले हैं। सूर्य रूपी गुरु की प्रज्ञा रूपी किरणों के स्पर्श से शिष्य का चित्त रूपी सूर्य कान्त मणि प्रज्वलित हो जाता है।[3] दीपक और उसके आलोक के समान प्रज्ञा और उपाय के तादात्म्य सम्बन्ध का ज्ञान साधक को सद्गुरु की कृपा और सदुपदेश के बिना नहीं हो सकता। साधना की गुह्यता दीक्षा की कठोरता क्रिया साधन की प्रधानता तथा स्वानुभूति और अनुभव ज्ञान की परिपक्वता के कारण तान्त्रिक साधना प्रधान मार्गों में गुरु को साक्षात बुद्ध और शिव का रूप माना गया है। इसीलिए योग और तंत्र साधना के क्षेत्र में सद्गुरु की बड़ी आवश्यकता बतलाई गई है। जहाँ जहाँ साधना की गुह्यता है वहाँ वहाँ गुरु तत्त्व की अनिवार्यता मानी गई है। क्रिया प्रधान और भाव प्रधान साधना को सम्पादित करने के लिए सुयोग्य गुरु और अनुकूल प्रज्ञा की बड़ी आवश्यकता है। साधक और मुद्रा का अभिषेक करने वाले कृपालु गुरु ही हैं। अभिषेक के बिना बुद्धत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। वज्रगुरु के द्वारा वज्राचार्य के साथ साधक के किए गए अभिषेक को वज्राभिषेक की संज्ञा दी गई है। अभिषेक हो जाने पर ही साधक बुद्धकुल का सदस्य बनकर मण्डल में अपनी मुद्रा के साथ

१ एक्कार बीअ लइअ कुसुमिअ अरविन्दए।
महुअर रूएँ सुरअवीर जिघइ मअरन्दए॥

—दोहाकोश, दोहा ९।

२ एवकार जे बुज्झिअ ते बुज्झिअ सअल असेस।
धम्म करण्डहो सोहुरे णिअ पहुधर वेस॥

—वही दोहा २१।

३ अद्वयवज्रसंग्रह (प्रेम चक) म म हरप्रसाद शास्त्री पृ ७१० श्लोक ३, ११, २४ २६
१०, २४।

प्रवेश कर आने को बुद्ध और गुरु को प्रज्ञा का अवतार मानकर साधना में प्रवृत्त होना है।[1]

अद्वयवज्र ने प्रेम पंचक में सद्गुरु को दूती भी कहा है जो प्रज्ञा रूपी वधू और उपाय रूपी वर के बीच मध्यस्थता कर दोनों का सम्मिलन कराने वाले हैं। वज्रयान में गुरु को प्रज्ञा और उपाय अथवा शून्यता और करुणा का युगनद्ध रूप अर्थात् मिथुनाकार माना गया है। बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए प्रज्ञा और उपाय का संयोग अत्यावश्यक है।[2] शून्यता और करुणा की युगनद्धमूर्ति अथवा प्रज्ञा और उपाय की समरसता का सम्मिलित रूप होने के कारण ही गुरु को मिथुनाकार कहा गया है। प्रज्ञा और उपाय का सामरस्य ही निर्वाण है। गुरु ही इसका प्रदाता है। वह आनन्द या रति के प्रभाव से शिष्य के हृदय में महासुख का विस्तार करने वाला है।[3] सच्चा गुरु हृदयान्धकार को दूर कर प्रकाश और आनन्द का उल्लास करता है। संतों ने भी ज्ञान रूपी दुल्हिन और साधक रूपी वर के विवाह में गुरु को मध्यस्थ माना है।[4]

तथाभाव एवं समता ज्ञान

ज्ञानसिद्धि में वज्रसत्त्व की उपासना, वज्रयान मत की महत्ता, गुरु महत्त्व, गुरु पूजा, प्रज्ञोपाय का समायोग, महामुद्रा साधना आदि दार्शनिक एवं साधनात्मक विषयों की मीमांसा की गई है। जिन जिन कर्मों से संसार के प्राणी शतकोटि कल्पों तक घोर नरक में पड़ते हैं उन उन कर्मों के ही सम्पादन द्वारा योगी बन्धन विमुक्त होते हैं।[5] वज्रयान में अभिषिक्त होने वाला साधक अपने में तथा सभी प्राणियों में भी तथाभाव को पाता है और यही एक स्वभावत्व की सम्बोधि समताज्ञान है।[6]

पारमिता-साधन और ब्राह्मसुख

वज्रयान साधना के क्षेत्र में पारमिता साधन को विशेष महत्त्व दिया गया है। इस दृष्टि से *अद्वयवज्रसंग्रह* उल्लेखनीय है। पारमिता साधन में प्रज्ञापारमिता पंचपारमिताओं

---

१ ऐन इन्ट्रोडक्शन टु तांत्रिक बुद्धिज्म—दासगुप्त, पृ० १७८ १७९।

२ अद्वयवज्र (प्रेमपंचक)—द्रष्टव्य।

३ सद्गुरु शिष्ये रति स्वभावेन महासुखं तनोति।

—वही।

४ सतगुरु किया विवाह दुलहिनी ज्ञान की।
सतगुरु दिया कराय वे ही जनम न की॥

—पलटू साहब की बानी पृ० १ ६।

५ कर्मणा येन वै सत्वा कल्पकोटिशतान्यपि।
पच्यन्ते नरके घोरे तेन योगी विमुच्यते॥१५॥

—ज्ञानसिद्धि—टु वज्रयान वर्क्स सम्पादित डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य पृ० ३२ ३३
श्लो० १२ १८।

६ सर्वे तथागत ज्ञानमात्मन प्राणिनामपि।
एकस्वभाव सम्बोधौ समता ज्ञानमुच्यते॥८॥

—वही पृ० ३४ ३६ श्लो० ३८, ३६ ४२ ४७ ४८ ५।

के स्वभाव के रूप में स्वीकृत है। प्रज्ञापारमिता से ही पंचपारमिताएं पूर्णता के पद को प्राप्त करती हैं। प्रज्ञा और उपाय का अद्वय, प्रदीप और प्रकाश के समान दोनों के तादात्म्य-सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त करना ही साधक का लक्ष्य होता है। पंचपारमिताओं के साथ प्रज्ञापारमिता सदा सेवनीय है। इससे सुख स्वस्थता और सम्पन्नता की उपलब्धि होती है।[1] तत्त्व रत्नावली में योगाचार और माध्यमिकों के दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए शून्यता और करुणा की सपृक्तता पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। शक्ति ही शून्यता है और शिव ही ज्ञानभावना या करुणा हैं। तन्त्र के अन्तर्गत शिव शक्ति के समायोग से अद्वय रूप परमसुख की उत्पत्ति मानी गई है। किन्तु यहाँ न केवल शिव है और न केवल शक्ति। इसी विशिष्ट भाव-दशा को ब्राह्मसुख की संज्ञा दी गई है। आनन्द ब्रह्म रूप है। उसी को मोक्ष कहा गया है। अतः समस्त दृश्य-जगत को ब्रह्म रूप मानना चाहिए।[2]

बोधिचित्त

बोधिचित्त बौद्ध-साधना पद्धति का आधार है। महायानी, वज्रयानी तथा सिद्ध साधना-पद्धति ने भी चित्त को साधना का केन्द्र बिन्दु माना है। मनुष्य के उत्थान और पतन के तीन बिन्दु इस शरीर में ही विद्यमान हैं जिन्हें उपासना के क्षेत्र में मन, वचन और कर्म तथा बौद्ध साधना के क्षेत्र में काया वाक और चित्त कहा गया है। इन तीनों के वज्र-स्वभाव की प्राप्ति ही वज्रयान साधना का परम लक्ष्य है। इसीसे शून्यता की प्राप्ति हो सकती है। चित्त ही परम तत्त्व है जिससे योग और भोग मुक्ति और भुक्ति, निर्वाण और संसार दोनों की सिद्धि हो सकती है। चित्त की स्थिरता के लिए सहज-सम्बोधि का जागृत होना परमावश्यक है। जब चित्त नैरात्म्य ज्ञान के प्रति जागृत होकर करुणा या उपाय में संयुक्त होता है तब यह कमल वन में विहार करने वाले गजेन्द्र के समान हो जाता है। प्रज्ञोपाय-साधना में प्रवृत्त होने के पहले यह स्पन्द रूप है और प्रवृत्त हो जाने पर वज्र रूप हो जाता है। प्रज्ञोपाय के युगनद्ध सम्पन्न कर लेने पर इसे सहजचित्त कहते हैं। सांसारिकता से मुक्त चित्त को करुणा से सम्बद्ध कर साधना मार्ग में आगे बढ़ाने की पद्धति को बोधिचित्त समुत्पाद कहा गया है। चित्तवृत्तियों का समूल उच्छेद होने पर प्रज्ञा या शून्य की शीतल रजनी का उदय ही 'प्रज्ञाज्ञानाभिषेक-स्नान' का समय है। इस स्थिति में बोधिचित्त नवचन्द्र के रूप में विहार करता है। सिद्धों ने इसके लिए चित्त विशोधन, चित्त-मारण या चित्त-हनन शब्द का भी प्रयोग किये हैं। इसीको अमनस्कार साधना[3] भी कहा गया है।

दार्शनिक दृष्टि से मनुष्य का चित्त चेतना का प्रतिपल परिवर्तनशील प्रवाह है। हर एक क्षण आगे आने वाले क्षण का उत्पादक है। इस प्रकार यह चेतना का प्रवाह अविच्छिन्न

---

१ अद्वयवज्रसंग्रह म० प० हरप्रसाद शास्त्री पृ० २३।

२ शक्तिरूपगगनं संबोधाद् शक्त्याद्वैतावमानिकम्।
यत्सुखं ब्रह्म तत्त्वस्य तत्सुखं ब्राह्ममुच्यते॥
दुःखानामागमो नास्ति सुखं तत्र निरन्तरम्।
आनन्दो ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षेति भण्यते॥

—वही, पृ० ८२६।

३ महायानसूत्रालंकार सिद्ध साहित्य धर्मवीर भारती।

अनन्त और अनादि है। कुशल कर्मों के सम्पादन से यह ऊर्ध्वमुख होकर अंतिम भूमि धर्म मेघा में पहुंच कर पूर्णज्ञान की उपलब्धि करता है तथा अकुशल कर्मों द्वारा स्मृति वासनादि से अशुद्ध होकर द्वादश निदानों के प्रपंच में पड़कर अधोगति को प्राप्त होता है। पूर्णज्ञान अर्थात् बोधि को प्राप्त करने वाला चित्त शून्यता और करुणा का अभिन्न रूप है।[1] साधक के व्यक्तिगत बोधिचित्त को ही वज्रसत्व कहा गया है। बोधिचित्त नित्य प्रभास्वर शुद्ध जिनालय सर्वधर्ममय निःश्रेय एवं निखिलास्पद कारण है।[2] बोधिचित्त की विवर्त्तावस्था को अनुत्तरावस्था भी कहते हैं। अनुत्तर का शाब्दिक अर्थ है सर्वश्रेष्ठ, अनोप अर्थात जिसके बाद कुछ न हो। बौद्ध सिद्धों ने इस शून्यता और करुणा प्रज्ञा और उपाय के एकात्म भाव के अर्थ में ग्रहण किया है। इसे बुद्ध ज्ञान या तत्वज्ञान भी कहा गया है। अनुत्तर उच्च स्तर की साधना है जिसे सहज स्वभाव या वज्रात्मक स्वभाव को पूर्णरूपेण आत्मसात् कर लेने वाले साधक ही सम्पादित कर सकते हैं।

बोधिचित्ताभिषेक

बोधिचित्ताभिषेक के अंतर्गत शिष्य द्वारा वज्राचार्य को सन्तुष्ट करने, नवयौवना सुनयना आभूषणों से सुशोभित मुद्रा की पूजा करने गुरु से दीक्षित होने तदुपरान्त बुद्धकुल में सम्मिलित होने का विधान है। गुरुकरण के बाद शिष्य प्रज्ञा को ग्रहण कर सप्ताभिषेक की क्रिया में प्रवृत्त होता है। उदकाभिषेक मुकुटाभिषेक पट्टाभिषेक वज्रघंटाभिषेक वज्रव्रताभिषेक और अनुज्ञाभिषेक के सम्पन्न हो जाने के बाद शिष्य तथा मुद्रा दोनों मण्डल में प्रवेश करते हैं।[3] इसके लिए साधक का निर्विकार निराकांक्षी तथा कल्पनामुक्त होना परमावश्यक है। उसे आकाश सदृश अपनी भावना करनी चाहिए। ऐसा होने पर ही प्रज्ञा पारमिता की प्राप्ति संभव है।

प्रज्ञोपाय विनिश्चय सिद्धि के पाचवें परिच्छेद में तत्त्वचर्या समयाचार सभी स्त्रियों को प्रज्ञापारमिता के भिन्न रूप मानने मुक्ति के अभिलाषी साधकों के लिए प्रज्ञापारमिता का सेवन करने सामाजिक सम्बन्धों एवं मर्यादाओं की अवमानना करने आदि अनैतिक कर्मों के उपदेश दिये गये हैं। किन्तु इसके साथ साथ इस तरह की साधना में चित्त रत्न को क्षुब्ध नहीं होने देने के आदेश भी दिये गये हैं। चित्तानुकूल योग साधना करने से ही साधक को परमपद की सिद्धि होती है।[4]

---

१ शून्यता करुणाभिन्न बोधिचित्तमिति स्मृतम्। —ज्ञानसिद्धि द्रष्टव्य बज्रयान वक्स पृ ७८।

२ नित्य प्रभास्वर शुद्ध बोधिचित्त जिनालयम्।
सर्वधर्ममय निःश्रेय निखिलास्पदकारणम्॥ ३६॥
—प्रज्ञोपाय विनिश्चयसिद्धि (द्रष्टव्य बज्रयान वर्क्स) पृ० १ श्लो २६।

३ बौद्ध धर्म-दर्शन म० म प गो कविराज आचार्य नरेन्द्रदेव की भूमिका
पृ ३८३७ द्रष्टव्य।

४ तथा तथा प्रवर्तेत यथा न क्षुभ्यते मन।
संक्षुब्धे चित्तरत्ने तु सिद्धिर्नैव कदाचन॥४॥
तस्मात् सिद्धि परामिच्छन् साधको विगतग्रह।
चित्तानुकूल योगेन साधयेत् परमं पदम्॥४१॥ —प्रज्ञोपाय विनिश्चयसिद्धि।

अधिकारभेदवाद

बौद्ध सिद्धाचार्यों ने मुद्रा मथुनपरक प्रज्ञोपाय युगनद्ध की साधना को गुह्यसाधना कहा है। इसमे भीतर श्वास निरोध कर तथा बाहर मुद्रा के साथ समागम द्वारा चित्त का विशोधन करने का विधान है। विभिन्न काल म विभिन्न मुद्राओ स युगनद्ध स्थापित करके बिन्दु को ऊर्ध्वमुखी कर विभिन्न चक्रो म धारण किया जाता है। ज्ञानसिद्धि' म गुह्य साधना पर जोर देते हुए कहा गया है कि वज्रसाधना स सम्बधित इस पुस्तक को किसी अनधिकारी व्यक्ति को नही दिखलाना चाहिए। वज्रज्ञान के प्रतिक्षेप से साधक नरक का भागी होता है।[1] साधना के अनेक माग हैं जिनका अनुसरण साधक अपनी अपनी क्षमता के अनुसार करते हैं। अत जिस साधना म सिद्धि की चर्चा हो, अनेक अलौकिक शक्तिया प्राप्त होती हो, जिनके सुप्रयोग तथा कुप्रयोग से मानव जाति का हित-अहित उत्थान पतन सुख दुख शान्ति-अशान्ति का निणय होता हो, उनम भली भाँति परीक्षित व्यक्तियो को ही दीक्षित होने का अवसर देना चाहिए। इसीलिए वज्रयान के ग्रन्थो म गुरु की योग्यता, शिष्य की पात्रता दीक्षा की कठोरता, साधन विधि की गोप्यता का विधान मिलता है।[2] गुह्य साधना का आधार अधिकारभेदवाद है। अधिकारभेदवाद की स्वीकृति और साधना को एकान्त म करने के कारण ही इसे गुह्य साधना की सज्ञा दी गयी है।

पचबुद्ध और उनकी भार्याएँ

महायान सम्प्रदाय में वरोचन, रत्नसम्भव, अमिताभ, अमोघसिद्धि और अक्षोभ्य ये पाँच ध्यानी बुद्ध माने गये हैं। तान्त्रिक साधना म पचध्यानी बुद्धो की मोहरति ईर्ष्यारति, राग रति वज्ररति और द्वपरति—ये पच भार्याए या शक्तियाँ कल्पित हुई हैं। इन्ही पच रतियो से मोह ईर्ष्या, राग वज्र और द्वप—इन पाँच कुलो की उत्पत्ति हुई। इन पच शक्तियो को वज्रधातेश्वरी, लोचना मामकी, पाण्डरा और आयतारा भी कहा गया है। वज्रयानी देव शृखला की उदभावना इन्ही ध्यानी बुद्धो और भार्याओ के आधार पर हुई है। श्रीसम्पुट म भगवान बुद्ध को चार चक्रो म अपनी चार भार्याओ म क्रमश लोचना मामकी पाण्डरा और तारा स सम्भोग करते हुए बतलाया गया है। वैरोचन बुद्ध सिंह विधृत सिंहासनारूढ श्वेतवण महाशून्य म भगवती जननी क आश्लेष आबद्ध में बतलाए गए हैं। वज्रसत्त्व अक्षोभ्य, नीलवण भगवती जननी लोचना क साथ एकात्म भाव से रत हैं। रत्नसम्भव पीतवण स्वर्णकान्ति अश्व विधृत सिंहासनारूढ ममत्त्वरूप भगवती जननी के निबिड आश्लेष म निमग्न हैं। अमिताभ अस्तोन्मुख सूय की तरह रक्तवण मयूर सिंहासनारूढ हाथ म सष्टि ध्यान का अध विकसित कमल लिये, ध्यान मुद्रा म आसीन भगवती श्वेताम्बरा पाण्डुर वासिनी के आलिंगन म आवेष्ठित हैं। अदृश्य से जो सब आध्यात्मिक शक्तियाँ मानव को ज्ञान के पथ पर मोक्ष की निर्भ्रान्त दिशा की ओर ले चलती हैं उन्हा का समन्वित रूप

---

१ दशन पुरतस्तस्य पि न दातव्य प्रजानता।
वज्रज्ञान प्रतिक्षेपात् नरक याति मोहिता ॥३॥
—ज्ञानसिद्धि—टू वज्रयान वक्स स० वि तो भ०, पृ १ ०, श्लो० ३।

२ तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य ना० ना० उपाध्याय पृ० ११० १११।

अमोघ सिद्धि है। ये आकाश की गम्भीर नीलिमा के साथ मिल एवं अदृश्य सूर्य के पीतवर्ण से उद्भूत उज्ज्वल श्यामलता के वर्ण के समान हैं। पद्म और नक्षत्र सवलित ऊर्ध्वांग म मानव मानवी और निम्नांग म विहग रूप जीव विपुल सिंहासन पर वे आसीन हैं। हाथ मे विश्व-वज्र है। वे सर्वार्थ साधिका सर्व सिद्धि दायिका भगवती तारा के निविड आलिंगन मे वेष्ठित हैं। प्रज्ञा की प्रज्ञानरूपिणी जगन्माता के विभिन्न रूपो म जननी तारा सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं। वे प्रेम और भक्ति के सर्वोच्च आसन पर अधिष्ठित हैं।

मुद्रा साधना

बुद्ध भगवान् ने मुद्रा मडल और तान्त्रिक साधना का कही उपदेश नही दिया है। तन्त्राचार के प्रभाव के कारण परवर्ती बौद्धो ने अपने साधना मार्ग में इन तान्त्रिक आचारों को समाविष्ट कर लिया। बौद्ध तन्त्रो म मुद्रा को मोददायिका नारी के रूप मे कल्पित कर साधना का अनिवार्य अग माना गया। हेवज्रतन्त्र मे वज्र या प्रज्ञा के आह्वान के लिए योगियो की अगुलि भगिमाओ को मुद्रा कहा गया है। करस्फोटो भवेन्मुद्रा अगुल्या मोटन तथा द्वारा स्पष्ट सकेत दिया गया है कि मुद्रा कोई नारी रूप नहीं है। मण्डल चक्र तथा मुद्रा मथुन की साधना पद्धति म स्त्रियो का उपभोग एक अत्यावश्यक आनुष्ठानिक क्रिया के रूप मे स्वीकृत हुआ। सिद्धो ने भगवती नरात्मा या प्रज्ञा पारमिता को महामुद्रा कहा है और उस प्रत्येक नारी में मानकर मोक्ष या निर्वाण का साधन बतलाया है। इसकी साधना बडी कठिन बतलायी गई है। महामुद्रा साधना को सम्पन्न कर लेने के उपरान्त ही कोई साधक सिद्धाचार्य बन सकता था। साधक को अपने योग्य किसी योगिनी को महामुद्रा के रूप म वरण कर अपने गुरु के पास जाना पडता था। वहाँ महामुद्रा रूपा नारी को अभिसिक्त कर साधक उसके साथ मडल चक्र म प्रवत्त होता था। बौद्ध तान्त्रिको के मतानुसार नारी महामुद्रा के शरीर मे पच तथागतो की अवस्थिति मानी जाती थी। अतएव महामुद्रा की साधना म निष्णात साधक को तथागत चक्री भी कहते थ। इस प्रकार के साधको के लिए साधनापरक बाह्य क्रिया कलाप की कोई जरूरत नही समझी जाती थी।

पचमुद्राएँ

पचध्यानी बुद्धो के पांच कुल माने गए है। इन्ही पचकुला से डोम्बी नटी रजकी ब्राह्मणी और चाण्डाली—ये पचमुद्राएँ सम्बन्धित हैं जिन्हे क्रमश वज्र पद्म कर्म तथागत एव रत्नकुल-सभूता कहा गया है। ये मुद्राए मोक्ष दायिनी हैं। इन्हे मुद्रा इसलिए कहा गया है कि ये वज्र की रहस्य शक्ति हैं। पचस्कन्ध-स्वरूपा होने के कारण इनके पाच कुल हैं। इन्हे कुल इसीलिए कहा गया है कि ये काया उत्पन्न करने वाली हैं।[२] महामुद्रा को कई वर्गों म

---

१ प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि अनगवज्र ॥२२॥

२ मुद्रा पच कुलानीति कथ्यते मोक्ष हेतुना।
वज्रमुद्रयते नेनेति मुद्रा तेनाभिधीयते॥
वज्र पद्म तथा कर्म तथागत रत्नमेव च।
कुलानि पचविधाइस्त्रामानि मन्ताद्य॥

बाटा गया है। सिद्धों ने तो महामुद्रा को लेकर नायिका भेद की भी उद्भावना की है। किन्तु उसका आधार हठयोग तथा मुद्रा-मैथुन सम्बन्धी गुह्य संकेत ही है। अन्य मुद्राओं में से डोम्बी में अद्वैत भाव की प्रधानता मानी गयी है। अद्वैत ज्ञान से सम्बन्धित होने के कारण इसे नैरात्म प्रज्ञा भी कहते हैं। डोम्बी को प्राण तथा अपान वायु के निरोध से संबद्ध वायु-तत्त्व से भी सम्बन्धित कहा गया है। डोम्बी परिशुद्धावती नायिका है और कापालिक ही इसका नायक है।

वज्रयान में पवन निरोध के बाद अवधूती मार्ग में चण्डाग्नि प्रज्वलित करने की क्रिया है। शैव साधना में इसको ब्रह्माग्नि कहते हैं। यह चण्डाग्नि समस्त क्लेश और वासनाओं को जलाकर भस्म करने वाली है। नाथपंथी योगियों तथा संतों ने भी इसके वर्णन किये हैं। चण्डाग्नि को प्रज्वलित करने के लिए नौ इन्द्रिय द्वारों को पवन-बंध द्वारा बन्द कर केवल दशम द्वार (ब्रह्मरन्ध्र अथवा वैरोचन) को खोला जाता है।

चण्डाग्नि को ग्रहण करने के कारण अवधूतिका (सुषुम्ना) को चाण्डाली कहते हैं। चाण्डाली सारे चक्रों को पार कर ललाट स्थित कमल चक्र तक जाकर आनन्द उत्पन्न करती है और फिर नाभि चक्र में लौट आती है। इसी चाण्डाली को उसकी ऊर्ध्वगति में डोम्बी और उष्णीष कमल में पहुँच जाने पर 'सहज-सुन्दरी' कहते हैं। सिद्धों ने गृहिणी के रूप में भी प्रज्ञा महामुद्रा का वर्णन किया है। सिद्ध कान्हपा कहते हैं कि 'जैसे लवण जल में घुल मिल जाता है उसी तरह अपनी गृहिणी को अपने चित्त में धारण करना चाहिए।'[1] सिद्धों ने इसे वधू रूप में परिकल्पित कर परिणय वर-यात्रा वधू के प्रसाधन वधू की विदाई आदि विषयों का पर्याप्त वर्णन किया है। सिद्धों ने इसके अतिरिक्त इस प्रसंग में शुण्डिनी मातंगी, शबरी, ग्राम-चाण्डाली, पद्मिनी अवधूतिका, कर्मरङ्गिनी आदि विभिन्न नायिकाओं की उद्भावना कर

वज्र डोम्बि भवेद् मुद्रा पद्म नटी तथैव च।
कर्म्म रजकी समाख्याता ब्राह्मणी च तथागता॥
रत्न चण्डाली ख्यात (?) पंचमुद्रा विनिश्चिता।
कुलानां पंचभूतानां पंचस्कन्ध स्वरूपिणां।
कुल्यते गम्यतेऽनेनेति कुलमित्यभिधीयते॥

—हेवज्रतन्त्र तत्त्वपटल पंचम अध्याय।

(The mudras are of five classes and they will be now described for the cause of emancipation (Moksha) They are called Mudra because they are the secret of the Vajra Vajra Padma Karma Tathagata and Ratna these are the five classes (of mudra) Vajra is nu mi (Dombi)-Mudra, Padma is the dancing girl (nati), mudra Karma is the mistress of dying (rajki) mudra, Tathagata is the pure woman (Brahmi) and Ratna is the chen na li (*i e* Chandali) mudra The five classes of mudra are thus determined They are of five classes as they form the very nature of the five skandhas (?) They are called classes (Kula) because the bodies (Kaya) are produced from them)

—Chinese Translation of Hevajratantra Tokio Ed
XXVII B, p 686

१ दोहाकोश कान्हपा।

अपनी भावात्मक साधना में विस्मयकारी वर्णन किये हैं। धुण्डिनी वह नायिका है जो ललना और रसना दो धड़ों में संचित चित्त के मलरूप चूर्ण को शुक्र नाड़ी की नली द्वारा मन्दिर लाती है। उक्त मन्दिरालय के कई द्वार हैं जिनमें से दशम (बराचन) द्वार से बोधिचित्त रूपी ग्राहक सद्गुरु द्वारा दिये गए चिह्न दिखाकर प्रवेश पाते हैं और शुण्डिनी कपाली या परिद्रावनी के हाथों अमिय रस या सहज रस रूपी वारुणी का पान कर सन्तुष्ट हो जाते हैं। हठयोगपरक अर्थ लेकर सिद्धों और सन्तों ने प्रायः शुण्डिनी या धुण्डिनी या कपाली का रूपक बाँधा है। कबीर ने सहज शक्ति को कलारी, ब्रह्मरन्ध्र की भट्ठी, ज्ञान को महुआ तथा मन्त्र मण्डली को ग्राहक का रूपक देकर अमर-वारुणी के पान का बड़ा ही भावपूर्ण वर्णन किया है।[1] मातंगी नामक नायिका गंगा और यमुना के बीच से नाव खेकर ले जाती है और अपनी नाव पर बैठाकर सभी यात्रियों को एक एक कर पार उतारती है। सिद्धों ने मुग्धा मध्या तथा प्रौढ़ा के रूप में भी अपनी नायिकाओं का चित्रण किया है। शवरपा द्वारा वर्णित शवरी मुग्धा नायिका है जो संसार से दूर उत्तुंग गिरि शिखर पर रहती है तथा मोर-पंखों से अपने को सजाकर अबोध प्रकृति की अल्हड़ बालिका की तरह चहचहाए करती है।[2] कुक्कुरीपा द्वारा वर्णित वधू रूप में मध्या नायिका की प्रगल्भता तथा प्रौढ़ प्रवृत्ति का परिचय मिलता है जो रति प्रिया प्रौढ़ नायिका के समान नायक को पूर्ण रूप से सन्तुष्टि एवं आनन्द प्रदान करने में समर्थ है।[3] यह महामुद्रा की प्रौढ़ा प्रवृत्ति का संकेत है। कृष्णचार्यपा इसीको डोम्बी वधू तथा वामचाण्डाली कहते हैं। उन्होंने इसके साथ पावन परिणय समारोह का वर्णन किया है। पद्मिनी वह नायिका है जो मृणाल बनकर कमल रस को प्रवाहित करने वाली है। अधरात्रि में कमल खिलता है बत्तीस योगिनियाँ इसके दलों पर नृत्य करती हैं। यह पद्मिनी उन्हीं की नायिका है। इसे ही अवधूतिका तथा कमलिनी भी कहते हैं। बौद्धों की भाव साधना के अन्तर्गत बोधिचित्त और शून्यता की प्रणय केलि में विभिन्न रूपकों को व्यक्त करने के लिए नायक तथा नायिका के रूप में तथागत और भगवती नैरात्मा को माना गया अर्थात् तथागत की नायिका को नैरात्म कहा जाता है। इसी विश्व-व्याप्त प्रणय केलि को साधक बोधिचित्त को नायक और नैरात्म ज्ञान को नायिका मानकर अपने चित्त में आयोजित करता है।[4] सिद्धों के आध्यात्मिक परिणय से सम्बन्धित भाव-सूत्रों को पकड़कर सन्तों ने भी आध्यात्मिक परिणय नव वधू, नव वधू के प्रसाधन, साज सिंगार विदाई आदि के बड़े ही भावपूर्ण चित्रण किये हैं। बौद्ध तन्त्र ग्रन्थों में मुद्राओं की आयु जाति रूप आदि का भी विस्तृत विवेचन किया गया है। सेकोद्देश-टीका में मण्डल चक्र साधना में दीक्षित करते समय मुद्रा की आयु बीस वर्ष निर्धारित की गई है। प्रज्ञोपाय विनिश्चयसिद्धि के अनुसार मुद्रा के आलिंगन से साधक में वज्रावेश जाग्रत होता है। परन्तु यह चुम्बन आलिंगन समागमादि स्थिर अनासक्त और अविकारी मन से ही करणीय है। क्षुब्ध आसक्त और विषयी मन से मुद्रा सेवन करने पर ये सारी क्रियाएं भव-पाश का कारण हो जाती हैं। मण्डल चक्र साधनाओं में

१ सन्त कबीर परिशिष्ट—डॉ० रामकुमार वर्मा।
२ चर्यापद शबरपा।
३ चर्यापद कुक्कुरीपा।
४ हिन्दी साहित्य-कोश, पृ० ५८८।

उपर्युक्त मुद्राओं के चुनाव का उत्तरदायित्व गुरु का ही माना गया है।

ज्ञानसिद्धि में मुद्राओं के महत्त्व को बतलाते हुए कहा गया है कि 'कन्या चाहे चाण्डाल या ब्राह्मण या जुगुप्सित कुल की हो सिद्धि के लिए उसका उपयोग करना चाहिए। स्त्री चाहे परम सुन्दरी हो या कुरूपा, उसका तिरस्कार कभी नहीं करना चाहिए। सभी कुलों में उत्पन्न स्त्रियाँ पूजनीया एवं वज्रधारिणी हैं परन्तु उनके साथ ऐसा व्यवहार करना चाहिए जिससे चित्त क्षुब्ध या दूषित न हो। यही सुशोभन कर्म है। नाना भुजाओं वाले देवता की भावना करने से व्रतोपवास से सिद्धि नहीं मिलती।'[1] इष्टदेव के आवाहन एवं अद्वयावस्था की प्राप्ति के लिए योगिनी, मुद्रा, कुमारी या प्रज्ञा का सहयोग एवं सेवन परमावश्यक है। मुद्रा साधना को प्रतीकात्मक ढंग से व्यक्त करने के लिए योगी और योगिनी के लिए क्रमशः 'वज्र' और 'पद्म' जैसे प्रतीक प्रयुक्त हुए हैं। प्रज्ञा या 'शून्यता' की सर्वशेष दशा का दशा का लाभ महामुद्रा है। प्राचीनतम बौद्ध तन्त्रों में इस महामुद्रा को ही शाश्वत नारी भगवती जननी प्रज्ञापारमिता के रूप में चित्रित किया गया है। वह माया के बन्धन से मुक्त शरद ऋतु के मध्याह्न की किरण के समान उज्ज्वल तथा सम्पूर्ण सफलताओं की विधायिका है। वह महामुद्रा संसार और निर्वाण दोनों को एकात्म के बंधन-सूत्र में बाँधे हुए है। वह करुणा घन-तनधारी किसी रूप विशेष से सर्वथा उन्मुक्त महासुख का ही रूप है।

शिव और शक्ति के मिलन से ही विश्व की सृष्टि हुई है—हिन्दू तन्त्रों का यही मत है। किन्तु बौद्ध तन्त्रों में सृष्टि को माना ही नहीं गया है। वहाँ ऊर्ध्व में परम शून्यता की उपलब्धि का लाभ करना सर्वोच्च सिद्धि मानी गई है। शून्यता के प्रति सचेतन होना ही श्रेष्ठ ज्ञान है, प्रज्ञा है। प्रज्ञा सर्वव्यापी वही नारी रूप है जिससे सब-कुछ उत्पन्न हुए हैं और जिसमें सब पर्यवसित हो जाते हैं। यह निष्क्रिय प्रज्ञा जब सक्रिय पुरुष रूप विश्व प्रेम और करुणा (उपाय) के साथ परम ज्ञान की उपलब्धि के लिए युक्त होती है तभी पूर्ण बुद्धत्व की प्राप्ति होती है। अनुभूति विहीन मुक्ति और करुणा विहीन मन से ही नेतिवाद का जन्म होता

---

१ सर्वांगकुत्सितार्यां वा न कुर्यात्त्वमाननाम्।
स्त्रियः सर्वकुलोत्पन्नां पूजयेद् वज्रधारिणीम् ॥८०॥
मनोपवासनियमैर्देवतारूप भावनैः।
नानाभुजसमायुक्तैः सिद्ध्यते नहि साधनैः ॥८६॥

—ज्ञानसिद्धि—टू वज्रयान वर्क्स, ग० ओ० सी० म०, पृ० ३६ ४०, श्लो० ८०, ८३ ८६।

प्रज्ञापारमिता सेव्या सर्वथा मुक्तिकांक्षिभिः।
परमार्थे स्थिता शुद्धा संवृत्या तनुधारिणी ॥२२॥
ललनारूपमास्थाय सर्वत्रैव व्यवस्थिता।
अतोऽर्थं वज्रनाथेन प्रोक्ता बाह्यार्थसम्भवा ॥२३॥
ब्राह्मण्यादि कुलोत्पन्नां मुद्रां वै अन्त्यजोद्भवां।
दुःशीलां पर स्त्रीं च विकृतां विकलां तथा ॥२४॥
जनयित्रीं स्वसारं च स्वपुत्रीं भागिनेयिकाम्।
कामयन् तत्त्वयोगेन लघुसिद्ध्येद्धि साधकः ॥२५॥

—प्रज्ञोपाय विनिश्चयसिद्धि।

है। इसीसे सकीणता और आध्यात्मिक मृत्यु आता है दूसरी ओर युक्ति विहीन अनभूति ज्ञान विहीन अन्ध प्रम विचार विहीन करुणा से विक्षुब्धि और विशृंखलता आती है। पूर्ण बुद्धत्व प्राप्त करने के लिए मन और हृदय प्रम और ज्ञान का समन्वय आवश्यक है। मस्तिष्क और हृदय ज्ञान और प्रम का यही समन्वय तत्त्व शक्ति रूपिणी मुद्रा और शिव रूपी साधक के मिथुनाकार रूप म सम्पादित होकर अभिनव मधुर रस की अभिव्यजना करने वाला है। वज्रयान दशन म नारी (शक्ति) और पुरुष (शिव) को एक प्रकार की सांकेतिक भाषा म रूपक की तरह व्यवहार कर साधना का एक नया सकेत दिया गया है। वस्तुत इन साधको ने पुरुष और नारी विषयक रूपको के सहारे सूक्ष्म ज्ञानलोक की उपलब्धियो का वणन किया है। उनकी ये उपलब्धियाँ विश्वातीत निराकार ज्ञान के ही विभिन्न रूप हैं। इन साधको ने नारी बोधिसत्त्वो की कथा द्वारा प्रज्ञापारमिता या चण्डी का रूपांकन किया है। अत ये सारे वणन परोक्षत सूक्ष्मलोक की उपलब्धियाँ हैं। इन सूक्ष्म उपलब्धियो को उन्होंने स्थूल जगत की कल्पना ग्राह्य व्यावहारिक उपमाओ द्वारा मूत्त रूप दिया है। नारी रूप या पुरुष रूप इन साधको के लिए गणित के समान ही सूक्ष्म है। वज्रयानी साधको क युगनद्ध की कल्पना का यहा वास्तविक अथ है। युगनद्ध' द्वारा साधक को ध्यान क सुदूरतम प्रदेश निवासी ज्ञानलोक का तात्पय अत्यन्त गम्भीर तत्त्व का महा प्रवेश मिलता है।

चार मुद्रा, चार क्षण और चार आनन्द

वज्रयानी सिद्धो ने चार मुद्राओ चार क्षणो और चार आनन्दो की बार बार चर्चा की है। उनके अनुसार चार क्षण हैं—विचित्र विपाक विमद और विलक्षण। इन्ही चार क्षणो के क्रमश चार आनन्द हैं—प्रथमानद परमानद विरमानद तथा सहजानद। प्रथमानन्द की अनुभूति आलिगन चुम्बनादि के समान है। परमानन्द ज्ञान-मुख की दशा है। विरमानन्द समागम सुख के समान है और सहजानन्द महासुख की अनुभूति है तथा समस्त राग विरागो से परे है। मुद्रा के चार भेद हैं—कममुद्रा धममुद्रा महामुद्रा और समयमुद्रा। उपयुक्त चतुर्विध आनन्द क्रमश इन मुद्राओ से ही प्राप्त होते हैं। कममुद्रा यौगिक क्रिया प्रधान धम मुद्रा निर्विकल्प करुणा स्वभावा परमानदक सुन्दरी उपास्य स्वरूपा महामुद्रा ऊर्ध्वोमुख बोधिचित्त द्वारा प्राप्त अनुत्तरज्ञान-दशा एव समयमुद्रा सबसे श्रेष्ठ महाभाव दशा कही गयी है। इस प्रकार तान्त्रिक बौद्ध सिद्ध साहित्य मे साधको और मुद्राओ के माधुयपूर्ण रागात्मक सम्बन्ध के सदभ में मधुर रस की मनोरम झांकी प्रस्तुत की गई है।

चतुर्काय सिद्धान्त

वज्रयानी साधको ने महायानियो के त्रिकाय सिद्धान्त को विकसित कर आनन्दकाय या सुखकाय या महासुखकाय नामक चौथे काय की उद्भावना की तथा इसी काय को वज्र सत्त्व का वास्तविक काय अर्थात वज्रकाय माना। इसी चतुथ काय से तथागत या भगवान शक्ति या भगवती या तारा से सपरिष्वक्त होकर सदव विहार करते रहते हैं। जिसका चित्त शुद्ध है उसके लिए भक्ष्याभक्ष्य या करणीय-अकरणीय नाम की कोई बात नही है। वह ससार

के सभी पदार्थों का उपभोग उन्मुक्त भाव से कर सकता है।[1] किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि सीमा का अतिक्रमण किया जाए। प्रत्येक स्थिति में चित्त को सदैव अविचलित रहना चाहिए।

महासुख

निर्वाण या महासुख की प्राप्ति के लिए प्रज्ञोपाय का सामरस्य आवश्यक है। जब तक द्वन्द्व का मिलन नहीं होता तब तक अद्वय शून्यावस्था तथा परमानंद की उपलब्धि असंभव है। दो को एक किए बिना सृष्टि संहार से परे निरंजन पद की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतएव बुरे कर्मों के त्याग तथा हठात् इन्द्रिय निरोध से ही निर्विकल्पक दशा उत्पन्न नहीं हो सकती है। युगलावस्था की प्राप्ति के बिना विषय त्याग तथा वैराग्य निष्फल है। इसके लिए साधना का एक ही सहज-मार्ग—राग मार्ग है। इस राग रूपी राज मार्ग पर आरूढ़ होने के लिए कठिन तपश्चर्या आदि कठोर नियमों की कोई आवश्यकता नहीं है। श्री समाजतन्त्र के अनुसार दुष्कर नियमों के करने से शरीर केवल दुःख पाकर सूखता है चित्त दुःख के समुद्र में डूब जाता है। अतः इस प्रकार विक्षेप होने से सिद्धि नहीं मिलती।[2] अतएव साधक पंच कामों का परित्याग कर तप द्वारा आत्मपीडन न करे। वह योग तन्त्रानुसार सुखपूर्वक बोधि प्राप्ति की साधना करे।[3]

वज्रयान के सिद्धान्तानुसार देह रूपी वृक्ष के चित्त रूपी अंकुर को विशुद्ध विषय रस के द्वारा सिंचन करने पर यह वृक्ष कल्पवृक्ष बन जाता है और उसमें आकाश के समान निरंजन फल फलता है। तभी महासुख की प्राप्ति होती है।[4]

महाराग

वज्रयानी साधना पद्धति में तरुणी महामुद्रा के प्रति साधक की अनन्यासक्ति को महाराग कहा गया है। यह चित्त-सम्बोधि का लक्षण है। महामुद्रा के बिना बोधि का मिलना संभव नहीं है। जिस प्रकार तरुणी महामुद्रा के प्रति साधक का अनन्य स्नेह होता है उसी प्रकार भगवती प्रज्ञा भी महामुद्रा के रूप में साधक से अटूट प्रेम करती है। नायक तथा नायिका के रूप में उपाय तथा प्रज्ञा मन तथा वाक् बोधिचित्त और नैरात्मा अथवा साधक और महामुद्रा इस महाराग रूपी स्थायी भाव के आश्रय हैं। लौकिक राग विराग से परे होकर इस महाराग के स्वरूप को जानना ही मोक्ष का हेतु है। शून्यता और करुणा के अद्वैत से ही

१ जर्नल एशियाटिक रिसर्च सोसायटी ऑफ बंगाल १८९८ भा० १ पा० २, पृ १७५ १८४।
२ दुष्करैर्नियमैस्तीव्रैः, मूर्तिः शुष्यति दुःखिता।
दुःखाद्विक्षिप्यते चित्तं, विक्षेपात् सिद्धिरन्यथा॥ —श्री समाजतन्त्र।
३ पञ्चकामान् परित्यज्य तपोभिर्न च पीडयेत्।
सुखेन साधयेद् बोधिं योगतन्त्रानुसारतः॥ —वही।
४ तनुतरुचित्ताङ्कुरको विषयरसैर्यदि न सिच्यते शुद्धैः।
गगनव्यापी फलदः कल्पतरुत्वं कथं लभते॥
—'चर्याचर्यविनिश्चयसिद्धि' के मुनिदत्त कृत प्रथम पाद की टीका में उद्धृत सरहपाद का वचन।

बोधिचित्त की स्थिति आती है। करुणा ही राग है जो शून्यता में मिलने के लिए तत्पर है। करुणा या कृपा प्राणियों को दुःख से मुक्त कर उन्हें अनुरंजित करने वाली है। राग से ही मनुष्य बन्धनग्रस्त होता है और राग से ही बन्धन विनिर्मुक्त होता है।[1] तात्पर्य यह कि राग या महाराग या सुख जैसे शब्दों का प्रयोग प्राणियों के उद्धार प्रयत्न तथा सघन आनन्द के लिए किया गया है जो प्रज्ञा और उपाय के व्यवस्थित और सुसंगत सम्मिलन से उत्पन्न होता है।[2] इस राग को वज्रराग भी माना गया है। महामुद्रा के प्रति आसक्त हो जाने से यही वज्रराग महाराग हो जाता है और वह साधक को भव बन्धन से मुक्त कर देता है। भौतिकता की दृष्टि से ग्रहण किये जाने पर यह भव पाश में जकड़ने वाला है तथा महामुद्रा के प्रति आसक्त होने पर मोक्ष प्रदायक बन जाता है।

पंचमकार

वज्रयान साधना के अन्तर्गत शक्ति या मुद्रा या प्रज्ञापारमिता को परमावश्यक तत्त्व मानकर मद्य मांस मत्स्य मुद्रा और मैथुन—इन पंचमकारों का सेवन मारण मोहन उच्चाटन वशीकरण स्तम्भन विद्वेषण आकर्षण शान्तिक आदि षट्कर्मों एवं अन्य आभिचारिक कर्मों के सम्पादन का आवश्यक बतलाया गया है। तान्त्रिक बौद्ध-साधना में मंडल चक्र में साधक के दीक्षित करने तथा साधक और उसकी सहयोगिनी मुद्रा के अभिषेक-तत्त्व की अत्यधिक महत्ता के कारण भी पंचमकारादि को पर्याप्त प्रश्रय दिया जाने लगा जिससे साधना के नाम पर अश्लीलता एवं विषय वासना का नग्न नर्तन होने लगा। वज्रयानी सिद्धों ने प्रकृत अर्थों में ही पंचमकार को ग्रहण किया। साधना के लिए सभी प्रकार के मादक पदार्थों का सेवन पर स्त्री गमन एवं हय मांस हस्तिमांस श्वान-मांस यहाँ तक कि महामांस का भक्षण विहित माना जाने लगा।[3]

यहाँ यह ध्यातव्य है कि तन्त्र एवं आगम ग्रन्थों में प्रतीक के रूप में ही पंचमकार का विवेचन किया गया है। इसका सम्बन्ध वस्तुतः अन्तर्योग से माना गया है। सहस्रदल कमल या सहस्रार चक्र में स्थित चन्द्रकूप से प्रस्रवित होने वाला अमृतरस ही मद्य है।[4] जो साधक ज्ञान रूपी खड्ग से पाप और पुण्य की बलि देता है वही मांस का सेवन करने वाला है।[5] इड़ा और पिंगला रूपी गंगा-यमुना में प्रवाहित होने वाले श्वास प्रश्वास ही मत्स्य हैं।[6]

---

१ रागेण बध्यते लोको रागेणैव विमुच्यते। —हेवज्रतन्त्र।

२ एन ऍ इंट्रोडक्शन टु तांत्रिक बुद्धिज्म, दासगुप्त पृ १३५ १३७ तथा तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य, न ना व०, पृ १४८ द्रष्टव्य।

३ गुह्यसमाजतन्त्र म वि तो म पृ २६।

४ व्योम पंकज निस्यन्द सुधापान रतो नरः।
मधुपायी समः प्रोक्तः इतरे मद्यपायिनः॥ —कुलार्णवतन्त्र।

५ पुण्यापुण्य पशुं हत्वा ज्ञानखड्गेन योगवित्।
परे लयं नयेद् चित्तं मांसाशी स निगद्यते॥ —कुलार्णवतन्त्र।

६ गंगायमुनयोर्मध्ये मत्स्यौ द्वौ चरतः सदा।
तौ मत्स्यौ भक्षयेद् यस्तु स भवेन् मत्स्यसाधकः॥ —आगमसार।

श्वास प्रश्वास का नियमन कर प्राणवायु को सुषुम्ना म प्रवाहित करना ही मत्स्य-सेवन' है। असत संग का त्याग कर सत्संग का सेवन करना ही 'मुद्रा' है।[1] सुषुम्ना और प्राण का संगम ही मैथुन है।[2] इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह पचमकार वस्तुत अन्तर्योग की साधना है और इन शब्दों के प्रयोग प्रतीकात्मक हैं। किन्तु बाद म जैसा प्राय हुआ करता है पचमकार को अनधिकारी व्यक्तियों ने स्थूल रूप म ग्रहण कर लिया और यह अपने आदर्श से च्युत होकर नष्ट भ्रष्ट हो गया तथा उच्छृंखलता एव विकृतियों का साधन बन गया।

युगनद्ध का रहस्य बोलककोलयोग

प्रज्ञोपाय के अद्वयत्व के आधार पर साधनामाला म अद्वत रस की उदभावना की गई है। साधनामाला' के अनुसार जिस प्रकार सिद्ध रस के सयोग से ताम्र अपने कलुष का परित्याग कर शुद्ध स्वर्ण बन जाता है उसी प्रकार मानव शरीर अद्वत रस के सयोग स सभी प्रकार के विकारो को छोडकर विशुद्ध हो जाता है।[3]

बौद्ध धर्म म तान्त्रिक साधना के प्रभाव के कारण शिव और शक्ति के सम्मिलन के समानान्तर 'युगनद्ध' की उदभावना की गई। कालान्तर म यह प्रवृत्ति बौद्ध सहजियो की सहज-साधना के मुख्य तत्त्व के रूप म प्रतिष्ठित हो गई। वज्रयान-साधना म प्रज्ञा और हृदय को आलिंगनबद्ध सयुक्त या सपरिष्वक्त रूप को ही युगनद्ध कहा गया है। वस्तुत युगनद्ध' द्वैत का अद्वैत म तिरोधान है जिस अद्वैत की भी सज्ञा दी गई है।

'युगनद्ध' वह स्थिति विशेष है जहाँ 'सक्लेश' और 'व्यवदान' की अभिन्नता' द्वारा ससार और निर्वाण की विभिन्न भावनाओ का सर्वथा निरसन हो जाता है परम निवृत्ति के कारण एकात्मा की अवस्था प्राप्त हो जाती है। इसी को युगनद्ध कहते हैं। यह ग्राहक और ग्राह्य सान्त और अनन्त प्रज्ञा और उपाय शून्यता और करुणा पुरुष और नारी का पूर्णत सम्मिलन किंवा सामरस्य है। अतएव पुदगल नैरात्म्य और धर्म नैरात्म्य प्रज्ञा और उपाय, शून्यता और करुणा, सवृति और परमार्थ को पूर्णत एक कर देने का नाम ही युगनद्ध है। काय वाक और चित्त की लयता के आश्रय म प्रवेश करना इसस पर होना तथा पुन क्लेश युक्त ससार की ओर अभिमुख न होना ही युगनद्ध की अवस्था प्राप्त करना है।[4] 'अद्वयवज्र सग्रह' म शून्यता को नारी और करुणा को पुरुष मानकर दोनो के अद्वय को युगनद्ध' कहा गया है। यही धर्मकाया है। इसी सिद्धान्त का अनुगमन कर वज्रयानी देवतागण अपनी शक्तियो के साथ रति क्रीडा म सलग्न चित्रित हुए हैं। भगवान् वज्रधर अपनी शक्ति भगवती

---

१ सत्सगेन भवेत् मुक्तिरसत्सगेषु बन्धनम्।
असत्सग मु च यत्तु तन्मुद्रा परिकीर्तिता ॥ —विजयतन्त्र।

२ इडा पिंगलयो प्राणान् सुषुम्नायां प्रवर्तयेत्।
सुषुम्नाशक्तिरुदिष्टा जीवोऽयन्तु पर शिव
तयोस्तु सगमो देवै सुरत नाम कीर्तितम् ॥ —मेरुतन्त्र।

३ साधनमाला स० वि० भी० भ०, पृ० ८२।

४ तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य, न० ना० व०, पृ० १४३।

प्रज्ञा (नरात्मा, वज्रवाराही वज्रधातश्वरी) क साथ हरू वज्रवराचनी क साथ पचध्यानी बुद्ध अपनी-अपनी भार्याओ के साथ अन्य स्थिति म पाए जात हैं। वज्रधर दशा प्राप्त साधक अपनी सहयोगिनी मुद्रा के साथ मथुन साधना द्वारा युगनद्ध सम्पन्न करता है। इसी को प्रज्ञोपाय-साधना भी कहते हैं।

बोधिचित्त को जाग्रत् कर प्रज्ञा और उपाय के युगनद्ध की साधना को सिद्धा न 'बोल' कक्कोलयोग की भी सज्ञा दी है। यह गुह्य तान्त्रिक साधना थी जो कपूर के किसी प्रयोग से सम्बधित थी।[1] कपूर के रूप म सहज का सिद्धि का सकतात्मक उल्लेख निन्गोपा क दोहाकोश की टीका म किया गया है। कक्कोल का सकताथ कमल या प्रज्ञा है। बोल', कुलिश वज्र या उपाय को कहते हैं। कक्कोल' म बोल का प्र श्पण कर उसका कुन्दरु याग करने से कपूररूपी सहज उत्पन्न होता है। दोहाकोश की टीका म कममुन्ग म मथुन-काल म इसका प्रयोग बतलाया गया है।[2] युगनद्ध बुद्धत्व की वह अवस्था है जिसम सभा द्वत सम्पन्न रूपों का अद्वय रूप म पयवसान हो जाता है। इस अभिव्यक्त करने के लिए वज्रसत्व वज्रो पम अद्वय अनुत्पन्न आदि शब्द प्रयक्त किये गए हैं। शवमत और शाक्तमत क कामकला और कामश्वर *और कामश्वरी क सामरस्य के सिद्धात भी इसी अन्यत्व की ओर इगित* करते हैं।[3]

युगनद्ध का प्रतीक स्त्रीत्व और पसत्व क पारस्परिक समन्वय या विलक्षण एक्य भाव का प्रतिपादक है। यह मनुष्य के वास्तविक जीवन म उठने वाली समस्याओ का मानसिक समाधान देने वाला है।[4] युगनद्ध सासारिक पदार्थों की अनेकता म एकता का निर्देशक है। सभी पदाथ अद्वय हैं। सिफ बाह्य रूप द्वतमूलक प्रतीत होते हैं। यही अद्वयत्व युगनद्ध का रहस्य है।[5]

'गुह्यसिद्धि म महामुद्रा को ही भगवती नरात्मा का प्रतीक माना गया है। नरात्मा शून्यता को कहते हैं। बुद्ध भगवान क रूप म भगवती नरात्मा क साथ रहते हैं। बोधिचित्त जाग्रत होकर उपाय के रूप म नरात्मा म एकमेक होकर शून्यता को प्राप्त होता है।

अनगवज्र की प्रज्ञोपाय विनिश्चयसिद्धि मे कहा गया है कि महामुद्रा की उपलब्धि क लिए समस्त नारिया का उपभोग करना साधक का कतव्य है। लौकिक अर्थों मे यह निकृष्टतम साधना कही जा सकती है किन्तु इसके गूढाथ के प्रकाशित होने पर इस साधना का प्रत्यक्ष पथ निर्देश हा जाता है। हरएक व्यक्ति की प्रकृति म ही भगवती जननी या प्रज्ञापारमिता का जो अश है अथात विश्वातीत ज्ञान की जो सम्भावना है उसका उपभोग करना विश्व प्रम के वश म उसे आयत्त करना ही महामुद्रा की उपलब्धि क आकाक्षी साधक का प्रमुख कतव्य है। हमारी इन्द्रियाँ भी ता नारिया क समान ही हैं। जब तक इनका भोग नही किया

---

१ स्टडीज इन तन्त्राज भाग १ पी सी बागची द्रष्टव्य।

२ दोहाकोश की टीका द्रष्टव्य।

३ ऐन इण्ट्रोडक्शन टु तान्त्रिक बुद्धिज्म डॉ० शशिभूषणदास गुप्त, पृ १२५ १२६।

४ युगनद्ध दि तान्त्रिक मोड ऑफ लाइफ हर्बर्ट वी ग्वेंथर, प्रीफेस, पृ० १, इण्ट्रोडक्शन, पृ० ६।

५ वही, पृ १५७ गुह्यसमाजतन्त्र, पृ० १६१।

जाए तब तक इनसे छुटकारा नहीं मिल सकता। शक्ति साधना में भोग द्वारा भोग-त्याग करने का आदर्श एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। सगुणोपासना में माया के मोह-पाश से मुक्त होने के लिए भक्ति का अवलम्बन भी इसी सत्य को उद्घाटित करता है।

गुह्यसमाजतन्त्र में अनंगवज्र ने कहा है कि 'जो साधक माँ, बहन, पुत्री और भगिनी के साथ व्यभिचार में लिप्त रहते हैं वही तत्त्वयोग में साधक होते हैं। तात्पर्य यह है कि साधक को परिवार युक्त सभी नारियों के साथ काम-सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए। लौकिक दृष्टि से देखने पर तो यह सर्वथा हेय है किन्तु परिवार और नारी के गूढार्थ को जान लेने पर इसकी सार्थकता स्पष्ट हो जाती है। लौकिक उपमाओं द्वारा साधकों ने अपनी आध्यात्मिक उपलब्धियों को अपात्रों से बचाकर रखने का ही उपक्रम किया है। गोपनीयता की रक्षा के लिए ही साधकों ने संधा भाषा की विशिष्ट शैली को ग्रहण किया है। साधकों की सूक्ष्म दृष्टि में परिवार का अर्थ है व्यक्ति की सत्ता और अन्तर्चित्त तथा प्रकृति और नारी का अर्थ है प्रकृति में भगवती जननी के समस्त विभिन्न अंग (तेज, तप क्षिति और मरुत) एवं उनके प्राण जो हमारे चित्त के विभिन्न केन्द्रों में अवस्थित हैं। वही साधना की भाषा में नारी रूप में चित्रित की गई है। प्रत्येक केन्द्र में जब सक्रिय पुरुष रूप उपाय के साथ निष्क्रिय नारी रूप प्रज्ञा संयुक्त होगी तभी परिवार की सभी नारियों के साथ यौन मिथुन साधित होगा और महामुद्रा या सर्वोच्च ज्ञान की शून्यता का लाभ साधक कर सकेगा। संक्षेप में युगनद्ध और उसकी निगूढ़ एवं अतिगोपनीय माधुर्यभावपरक साधना का यही रहस्य है।

समरस की स्थिति

विश्व की विविधता में एकता की अनुभूति तथा समस्त विषमताओं या नानात्व के अन्तर्गत एक अविच्छिन्न अखण्ड आनन्द विलास की धारा में परम तत्त्व के दर्शन का नाम ही समरसावस्था है। इस दशा में हीन मध्यम, उत्कृष्ट तथा अन्य सभी पदार्थों में समानता का अनुभव करना एवं सतत वैसी ही भावना करना सामरस्य है।[1] समरस सहजावस्था है। इसमें न प्रज्ञा का भाव रहता है और न उपाय का द्वैत का किसी प्रकार अनुभव ही नहीं होता। ऐसी स्थिति में उत्तम मध्यम कनिष्ठ और अन्य सभी समान हैं। सम का अर्थ है एकात्मता तथा रस का अर्थ है चक्र। इस संसार चक्र के पदार्थों की एकात्मता की उपलब्धि ही समरसोपलब्धि है। दार्शनिक दृष्टि से समरस का अर्थ अद्वय और युगनद्ध है। इस अवस्था की प्राप्ति होने पर सम्पूर्ण संसार एकरसमय एवं एकरागमय हो जाता है। इस अवस्था में पहुँचने पर पर-अपर सुख दुःख राग विराग आदि का अनुभव नहीं रह जाता।[2] योग साधना द्वारा इस सहजावस्था को प्राप्त कर साधक सम्पूर्ण जगत् को आनन्दार्णव जैसा पाता है। सारी द्विधा समाप्त हो जाती है तथा सर्वत्र आनन्द रस की ही वृष्टि होने लग जाती है। यही

---

१ हीनमध्योत्कृष्टा य एव अन्यानि यानि तानि च।
सर्वतानि समानीति द्रष्टव्य तत्त्वभावत॥
—हेवज्रतन्त्र, पृ २२ तथा आब्सक्योर रिलिजस कल्टस, दासगुप्त, पृ २४ पर उद्धृत।

२ तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य न० ना० उ०, पृ १४८।

महासुख की सहजावस्था है। इसी को बौद्ध तन्त्रों में प्रज्ञा और उपाय अथवा शून्यता और करुणा के सम्मिलन से सिद्ध होना बतलाया गया है। यहाँ यौन-यौगिक साधना द्वारा उपलब्ध अद्वयत्व निर्देश के लिए समरस शब्द का प्रयोग किया गया है। हिन्दू तन्त्र इसीको शिव शक्ति का समरस होना अथवा भाव को रसत्व से सिद्ध होना मानता है।

महासुख

महासुख समरसता और सहजानन्द का वह रूप है जो न तो श्रुतिगोचर है और न दृष्टिगोचर न पवन उसे झकझोर सकता है न अग्नि उसे जला सकती है न पानी उसे भिगो सकता है न वह बढ सकता है न वह घट सकता है न वह अचल है और न गतिशील है। उपनिषदों के ब्रह्म से इस महासुख की नेतिपरकता सर्वथा विलक्षण है। जिस भव-बन्धन में पड़कर व्यक्ति जरा मरण का शिकार बन जाता है उसी में लगकर वह महासुख को प्राप्त कर लेता है। महासुख अनिर्वचनीय अनुपम तत्त्व है जिसमें पूरे गुरु की सहायता से ही साधक प्रवृत्त हो सकता है।

महासुख की उपलब्धि ही समस्त वज्रयानी साधना-पद्धति का प्रमुख लक्ष्य है। इसमें योगाभ्यास और मिथुन योग एक दूसरे से मिले हुए हैं। महासुख ही सभी प्रकार की गुह्य साधनाओं का सार है और सहजावस्था या सहज स्थिति की प्राप्ति ही परम साध्य है। वही भगवान वज्र-सत्त्व है। यह सहज स्थिति देहस्थ होकर भी देहज नहीं है। यह स्वसंवेद्य एवं स्वसम्बन्ध है। इस अवस्था में ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञान—सबका एक में निरोभाव हो जाता है।[1]

सहज विलास और निर्वाण

वज्रकाय या सहजकाय में पहुंचकर शक्ति शून्यता में रूपान्तरित हो जाती है तथा साधक का शुद्ध-बुद्ध चित्त भगवान वज्रसत्त्व के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार शून्यता और वज्रसत्त्व के सम्मिलन से महासुख की प्राप्ति होती है। चित्त महासुख रूपी वारुणी का पान कर मदमस्त हो स्वयं वज्रसत्त्व बन जाता है। इसीको साधकों ने सहज विलास की स्थिति कहा है जिसमें प्रवेश करते ही बोधिचित्त का उदय होता है और अनाना प्रकार का पूर्ण निरोधान हो जाने पर सहजानन्द की प्राप्ति होती है।

बौद्ध तन्त्रों में महासुख और निर्वाण एक ही अर्थ में व्यवहृत किये गए हैं। अद्वय युगनद्ध समरस सहजसुख सहजानन्द सहज विलास निर्वाण महासुख और सुखराज शब्द प्राय एक दूसरे के पर्यायवाची माने गए हैं। महासुख भावात्मक है तथा निर्वाण अभावात्मक। किन्तु बौद्ध ग्रन्थों में निर्वाण शब्द बड़ा ही विवादास्पद है। कुछ ग्रन्थों में निर्वाण को भावात्मक[2] सुखात्मक और परमसुख तथा कुछ ग्रन्थों में अभावात्मक कहा गया है। किन्तु

१ द्रष्टव्य—ऐन इण्ट्रोडक्शन टु तान्त्रिक बुद्धिज्म दासगुप्त तथा हेवज्रसंहिता।
तस्माद् जगत्सर्वं सहज स्वरूपमुच्यते।
स्वरूपमेव निर्वाणं विशुद्धाकार चेतस।

२ द्रष्टव्य—'मिलिंद पञ्हो, धम्मपद', ज्ञानसिद्धि आदि।
निब्बानं परमं सुखम्। मज्झिम निकाय, १, ५०८।

बौद्ध तान्त्रिक ग्रन्थों में महासुख के अर्थ में ही निर्वाण को ग्रहण कर उसे 'सदासुखमय' माना गया है। निर्वाण' शब्द वस्तुतः अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। 'निर्वाण' का सतत सुखमय स्थिति आनन्द और मुक्ति का केन्द्र बुझ जाना जन्म-जरा मरण का पूर्ण निरोध समस्त वासनाओं और संस्कारों के निरोध से प्राप्त होने वाली शान्ति अखण्ड परमानन्द, सब-बीज आप्तकामना की पराकाष्ठा, बुद्धों का परम संस्थान—सुखावती दुःख निरोध आदि अनेक अर्थों में व्यवहृत किया गया है।[1] इन्द्रभूति ने 'ज्ञानसिद्धि' में महासुख को अनिर्वचनीय कहा है।[2] सिद्ध सरहपाद के अनुसार यह सुखराज अद्वय कारण रहित तथा सम्पूर्ण जगत में प्रकाशित है। स्वयं बुद्ध को भी इसके अभिव्यंजन में वचन-दरिद्र होना पड़ा था। बौद्ध तान्त्रिक-साधना की महासुखावस्था के समान ही संतों की उन्मुनी अवस्था है।[3]

वज्रयोग-दर्शन

वज्रयान-साधना तान्त्रिक प्रभावापन्न होने के कारण क्रिया प्रधान है। वज्रयान योग-साधना को वज्रयोग कहा गया है। वज्रयानी योग सिद्धि की प्रक्रिया कठिन है। योग सिद्धि के पूर्व शून्यता अनिमित्त अप्रणिहित, अनभिसंस्कार—इन चार विमोक्षों की प्राप्ति आवश्यक मानी गई है। इन्हीं के अनुरूप विशुद्धयोग, धर्मयोग मन्त्रयोग और संस्थानयोग—ये चार वज्रयोग कहलाते हैं। इनसे काय वाक् चित्त और ज्ञान के वज्र भाव का आविर्भाव होता है। इन चारों में चित्त क्रमशः करुणा मैत्री मुदिता और उपेक्षा भावों का अनुभव करता है। ये चार प्रकार के योग चतुर्विध अवस्थाओं के मल का नाश करते हैं। इनसे चतुर्विध आनन्द की उत्पत्ति होती है। इसके अन्तर्गत गुरु की अनिवार्यता गुह्यता शिष्य धर्म शरीर का महत्ता चक्र-विधान नाड़ी-कल्पना प्राण साधना आदि विषयों पर बहुत जोर दिया गया है। तान्त्रिक बौद्ध-साधना में गुरु को बुद्ध के समान ही माना गया है। उनकी दृष्टि में गुरु-पद ही बुद्ध पद है। आचार्य अवधूतीपा ने कुदृष्टि निर्घातनम में शिष्य या साधक के शैक्ष और अशैक्ष—दो भेद बतलाये हैं। शैक्ष अर्थात अविकसित मानस वाले साधक के लिए क्रिया और धर्म के नियमों का पालन आवश्यक है। इन्हीं आचार विषयक नियमों को 'चर्या' कहा गया है। अशैक्ष साधक का मानस विकसित होता है। अतः उनके लिए आचारगत नियमों के पालन की पाबन्दी नहीं होती। वे उनसे ऊपर उठ होते हैं। अतः वे योग और अनुत्तर की साधना करते हैं तथा सहज स्वभाव को ही सर्वाधिक महत्त्व देते हैं।

१ निर्वाण के पर्यायवाची शब्द— The harbour of refuge the cool cave the island amidst the floods the place of bliss emancipation liberation safety tranquillity the home of ease the calm the end of suffering the medicine of all sufferings the unshaken the ambrosia the un material the imperishable the abiding the further shore the unending the bliss of effort the supreme joy the ineffable the holy city

—A Dictionary of Pali Language Rhys Davids

२ ज्ञानसिद्धि—टु वज्रयान वर्क्स में डॉ० वि० भो० सं०, पृ० ४७, श्लो० १।

३ अपरि सुखराज एक कारणरहित स तेन्द्रियो जगत्।
यस्य च निर्गमने वचनदारिद्र्यो बभूव सर्वज्ञ ॥

—सरहपाद का दोहा, मेकोर री टीका, म० म० ह० शास्त्री, पृ० ९१।

काया की महत्ता और वज्रयानी चक्र विधान

वज्रयानी सिद्धो के साधना केन्द्रो म जालन्धर, कामरूप ओडियान तथा श्रीहट्ट प्रमुख तन्त्रपीठ माने जाते थे। बौद्ध हठयोग-साधना में ये तन्त्रपीठ काया-नगर के भीतर कल्पित किये गए हैं। तान्त्रिक बौद्ध-योग म काया को सबसे आश्रय-स्थल माना गया है। परम तत्व को जानने और प्राप्त करने के लिए यह काया-तन्त्र ही सबसे बडा साधन है। जो ब्रह्माण्ड म है वही पिण्ड म है। इसी धारणा के अनुसार तान्त्रिक बौद्ध योगियो ने काया के भीतर विभिन्न दल वाले कमलो चक्रो एव नाडियो की स्थिति मानी है। मानव देह का मेरु दण्ड बाह्य ससार में स्थित मेरु पवत है। शरीर म ही मणिपुर अनाहत विशुद्ध और सहस्रार—ये चार चक्र हैं जिनका सम्बन्ध क्रमश निर्माण काय सभोग-काय धम-काय और सहज काय से है। मेरुदण्ड के निचले भाग म स्थित निर्माण-काय हृदयस्थित धम काय कण्ठ स्थित सभोग-काय तथा शीर्षस्थ सहज-काय हैं। सहस्रार को उष्णीष कमल या महासुख कमल भी कहते हैं। महासुख कमल-चक्र म चार सभोगचक्र मे सोलह धमचक्र मे आठ और निर्माण कमल-चक्र म चौसठ दल कल्पित किये गए हैं। सेकोद्देश टीका म क्रमश चार सोलह बत्तीस और चौसठ दलों की उदभावना की गई है। हरएक चक्र म एक मुद्रा एक अधिष्ठात्री देवी और एक बीजाक्षर (वण) की अवस्थिति मानी गयी है। निर्माण चक्र की मुद्रा कममुद्रा अधिष्ठात्री देवी लोचना और वण ए हैं। धमचक्र की मुद्रा धममुद्रा अधिष्ठात्री देवी मामकी तथा वण व हैं। सभोगचक्र की मुद्रा महामुद्रा अधिष्ठात्री देवी पाडरा तथा वण म हैं। सहस्रारचक्र की मुद्रा समयमुद्रा अधिष्ठात्री देवी तारा तथा वण या हैं। ये देविया क्रमश करुणा मत्री मुदिता तथा उपेक्षा की प्रतीक हैं।

वज्रयानी नाडी विज्ञान

हिन्दू तान्त्रिको के समान ही बौद्ध तान्त्रिको ने इस शरीर म बहत्तर हजार नाडियो की कल्पना की है। इनमे बत्तीस मुख्य तथा तीन प्रमुख नाडियाँ हैं जिन्हे ललना (इडा) रसना (पिंगला) और अवधूतिका (सुषुम्ना) कहते है। बायी ओर स्थित होने के कारण ललना को वाम तथा दायी ओर स्थित होने के कारण रसना को दक्षिण भी कहते हैं। डा० प्रबोधचन्द्र बागची ने विविध साधना मार्गों मे इन दोनो नाडिया के लिए प्रयुक्त होने वाले अनेक पर्यायवाची शब्दो का उल्लेख किया है।[1]

जहाँ तक बौद्ध तन्त्रो का प्रश्न है इनमे विशेषकर आलि-कालि प्रज्ञा-उपाय रक्त

---

१ वाम—ललना इडा, चन्द्र शशिन् सोम अपान, धमन आलि नाद प्रज्ञा गगा शुक्र, बली स्थूल रजस अधम अस्थिर अपर, पृथिवी अभेद, अचित्त अविद्या तमस अभाव, प्रकृति शक्ति सभोगकाय और ग्राहक।

दक्षिण—रसना पिंगला सूय रवि अग्नि प्राण चमन कालि, बिन्दु उपाय, यमुना, रक्त पलित सूक्ष्म, रेतस धम, स्थिर पर, धौ, भेद, चित्त विद्या, रजस भाव पुरुष शिव निर्माणकाय और ग्राह्य।

— Studies in the Tantras Part I
Dr P C Bagchi page 69

गुह्य और ग्राहक-ग्राह्य शब्दों के प्रयोग मिलते हैं। ललना मदन के पास से निकल कर बायी ओर से नाभि देश में जाती है। रसना नाभि देश से प्रारम्भ होकर मदन के पास दायी ओर से जाती है। इनके मध्य हृत्कमल से अवधूती निकलती है जिसे बोधिचित्त भगवती नैरात्मा और सहज सुन्दरी कहा गया है। यह अवधूतिका स्वयं सहजानन्द स्वरूपा है तथा सहजानन्द प्रदात्री है।[1] वज्रयानी सिद्धों ने अवधूतिका अथवा भगवती नैरात्मा के सहज विलास का बड़ा ही माधुर्य भावपूर्ण वर्णन किया है। इस प्रसंग में अनेकानेक शृंगारपरक रूपकों के प्रयोग द्वारा उन्होंने यौगिक माधुर्यवाद का बड़ा ही सुन्दर निदर्शन किया है। तान्त्रिक बौद्धयोग का मुख्य उद्देश्य बोधिचित्तोत्पाद है। इससे ही प्रज्ञा और उपाय का पूर्ण योग होता है जिससे महासुखावस्था की उपलब्धि होती है। भाव-अभाव के जगत जाल में पड़े अशान्त चित्त से इस महासुखावस्था की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः चित्त को अचंचल बनाने के लिए उसकी अधोगति को अवरुद्ध करना पड़ता है। इसके लिए प्रत्याहार, ध्यान प्राणायाम धारणा, अनुस्मृति और समाधि—ये षडंग योग साधन आवश्यक माने गए हैं।[2] इसके अतिरिक्त हठयोग की मुद्राओं, बन्धों आसनों और प्राणायाम की भी आवश्यकता बतलायी गई है। गुह्यसमाजतन्त्र में हठयोग को प्रारम्भिक साधना के लिए सहायक कहा गया है।

प्राण-साधना

प्राण और अपान के नियन्त्रण के लिए पूरक कुम्भक और रेचक क्रियाएँ की जाती हैं जिनमें क्रमशः ओं, आः हूं—इन तीन वर्णों के मन्त्र के जप का विधान है। इससे चित्त एकाग्र होकर ऊर्ध्वमुख होता है और उष्णीष कमल में प्रवेश कर महासुख रस का आस्वादन करता है। बौद्ध तन्त्रों के बोधिचित्तोत्पाद तथा हिन्दू-तन्त्रों की कुण्डलिनी उत्थापन क्रिया में बहुत समानता है। जिस प्रकार निर्माणचक्र में चाण्डाली जाग्रत होकर आगे बढ़ती हुई उष्णीष कमल में प्रवेश कर बोधिचित्त को महासुख रस का पान कराती है उसी प्रकार मूलाधार चक्र से कुण्डलिनी जाग्रत होकर क्रमशः षट्चक्रों को पार करती हुई ब्रह्मरन्ध्र या सहस्रार चक्र में प्रवेश करती है। जीवात्मा सहस्र दल स्थित चन्द्र-तत्त्व के प्रस्रवित होने वाले अमृत का पान कर मस्त हो जाती है। विकासावस्था के अनुसार चाण्डाली को डोम्बी योगिनी सहजसुन्दरी, नैरात्मा आदि कई नाम दिए गए हैं। यहां सहजसुन्दरी बोधिचित्त को मध्य पथ से उष्णीष कमल में पहुंचाने वाली है तथा यही सिद्धाचार्यों के सहज विलास की सूत्रधारिणी है। इसी प्रसंग को लेकर सिद्धाचार्यों की वाणी में मधुर रस की बड़ी ही मार्मिक अभिव्यंजना की गई है। इसी भाव सूत्र को पकड़ कर नाथपंथी योगियों एवं निर्गुनियाँ सन्तों ने भी साधनात्मक तथा भावात्मक माधुर्यवाद की अप्रतिम प्रतिष्ठा की है।

---

1 An Introduction to Tantrik Buddhism—Dasgupta Page 170-174

२ द्रष्टव्य—(क) गुह्यसमाज तन्त्र।

(ख) दैन इन्ट्रोडक्शन टु तान्त्रिक बुद्धिज्म।

(ग) द हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसोफी ख० २—सुरेन्द्रनाथदास गुप्त।

(घ) षडंगयोग।

कालचक्रयान

कालचक्रयान का अर्थ होता है 'समय या नाश का चक्र'। इसमें काल को समय मृत्यु या नाश के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। काल चक्रयान को कुछ विद्वान 'बौद्धमत या एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय, कुछ वज्रयान का पूर्ववर्ती धर्म-सम्प्रदाय तथा कुछ दसवीं सदी में प्रचलित वैष्णव धर्म की बौद्ध शाखा मानते हैं।[1] पि० तो नामक सिद्ध इसके प्रमुख आचार्य कहे जाते हैं। सेकोद्देश टीका कालचक्रतन्त्र आदि ग्रन्थों से विदित होता है कि कालचक्रयान वस्तुतः योग प्रधान साधना मार्ग था जिसमें धर्म धातु और आकाश के लक्षणों वाले अच्युत क्षण को काल कहते हैं। वही काल वज्रयान है वही बिन्दु रूप है। इसके सार्वत्रिक अर्थ को स्पष्ट करते हुए का को शान्त कारण ल को लय च को चलचित्त और क्र को *क्रम-बन्धन का वाचक कहा गया है।[2] काल की स्थिति भी देह में है। वह प्राणवायु की गति* के रूप में है। उसी को वशीभूत करना चाहिए।

मन्त्रयान के तीसरे नाम से भी कालचक्रयान का वर्णन मिलता है। इसमें आदि बुद्ध तथा शक्ति के मिलन से संसारोत्पत्ति मानी गई है।[3] आदि बुद्ध ध्यानावस्थित होकर डाकिनी के समान भयंकर शक्तियों की सृष्टि करते हैं। उनकी पशाचिक लीला के कारण मन्त्रयान काल चक्रयान के रूप में बदल गया। कालचक्रयान के अन्तर्गत समस्त विश्व इस देह में ही स्थित है।[4] काल भी दिन रात पक्ष मास वर्ष आदि रूपों में प्राण-वायु की क्रियाओं के रूप में ही इस देह में विद्यमान रहता है। अतः प्राणायाम की साधना ही योग का लक्ष्य है। कालचक्रयान के साधक आदि बुद्ध को मुख्य देवता मानते हैं। वज्रयान की तरह यहाँ भी बुद्ध के चतुर्काय की कल्पना की गई है। सहजकाय की प्राप्ति के लिए यौन यौगिक साधना की आवश्यकता मानी गई है। आदि बुद्ध शून्यता-करुणा की मूर्ति हैं। काली उनकी शक्ति (प्रज्ञा) है। कालचक्रयान में काल उपाय और करुणा के तथा चक्र प्रज्ञा और शून्यता के पर्याय हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि आदि बुद्ध या कालचक्र युगनद्ध किंवा शिव शक्ति के युगल रूप में अद्वयत्व के प्रतीक हैं।[5]

वज्रयान में जिसे महासुखावस्था कहा गया है उसी को कालचक्रयान में तुरीयावस्था की संज्ञा दी गई है। यह साधना की वह सिद्धावस्था है जब चित्त में करुणा का आविर्भाव होता है। विशुद्धियोग से ही यह अवस्था प्राप्त होती है तथा साधक सहजानन्द को प्राप्त करता है। इस प्रकार कालचक्रयान में भी आदि बुद्ध और शक्ति (काली) के समागम शिव शक्ति के अद्वयत्व, युगनद्ध तत्त्व उपाय और प्रज्ञा तथा करुणा और शून्यता के सम्मिलन, सहजकाय की प्राप्ति के लिए यौन-यौगिक साधना बुद्ध के चतुर्काय की कल्पना आदि के कारण साधनात्मक एवं भावात्मक माधुर्यवाद की अभिनव अवतारणा हुई है।

---

१ जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, नं० १४, फरवरी १८८३—नोट ऑन दि ओरिजिन ऑफ दि कालचक्र एण्ड आदि बुद्ध सिस्टम, मि० एलेक्स डे० कोरोस पृ० ५७ ५६ द्रष्टव्य।

२ ककारात्कारणे शान्ते लकारात्लयो अत्रवै।
चकाराच्चलचित्तस्य क्रकारात्क्रमबन्धने ॥ —सेकोद्देश टीका करेल्ली, पृ० ८।

३ ऐन इण्ट्रोडक्शन टु तान्त्रिक बुद्धिज्म दासगुप्त पृ० ७२ ७३।

४ श्रीकालचक्रमूलतन्त्र द्रष्टव्य।

५ बौद्ध दर्शन प० बलदेव उपाध्याय पृ० ४४६ ४६।

जैन-दर्शन

जैन धर्म त्याग और वैराग्य प्रधान है। इसीलिए जैन-साधना साहित्य में ज्ञान त्याग वैराग्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि निवृत्ति प्रधान तत्त्वों का ही विशेष प्रतिपादन किया गया है। जैन-साधकों की दृष्टि में आध्यात्मिक जगत में ज्ञान, दर्शन और शील की संगति ही जीवन है। भगवान् महावीर अनन्त ज्ञानी अनन्त दर्शनी और खेदज्ञ थे। यही है उनके यशस्वी जीवन का दर्शन। जो दूसरों के खेद को नहीं जानता वह अपने खेद को भी नहीं जानता। जो दूसरों की आत्मा में विश्वास नहीं करता वह अपने-आपमें भी विश्वास नहीं करता। भगवान् महावीर ने आत्मा से आत्मा को तौला। उनका जीवन दर्शन धर्म का दर्शन है। धर्म उनकी वाणी का प्रवाह नहीं है। वह उनकी साधना से फूटा है।[1] भगवान महावीर के मतानुसार जीव सर्वव्याप्त हैं। वे चल और अचल, नित्य और अनित्य उभयविध हैं। आत्मा के कभी अनात्मा नहीं होने के कारण वह नित्य है। किन्तु पर्याय के विवर्त के चलते रहने के कारण वह अनित्य भी है। जरा मरण दुःखप्रद हैं। दुःख का कारण विषमता है जो राग और द्वेष जन्य है। जब तक मनुष्य की सहज आनन्द वृत्ति और आत्मिक चैतन्य भाव जाग्रत नहीं होता तभी तक वह बाह्य उपकरणों से आमोद प्रमोद प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। जिस क्षण आत्मिक चैतन्य का अवगुंठन हट जाता है, सहज सुख का स्रोत हहरा कर फूट निकलता है और तब मनुष्य उस सहज आनन्द रस में निमज्जित हो समरसावस्था को प्राप्त हो जाता है। ऐसा प्राणी नीरस हो ही नहीं सकता।

भगवान् महावीर के सम्यग् दर्शन के अन्तर्गत मिट्टी पानी अग्नि वायु वनस्पति और चर-अचर सभी सजीव हैं। निरपेक्ष भाव से इन सबकी उचित रक्षा सेवा और सम्मान करना परम धर्म है। इसके लिए साधक को रति और अरति दोनों से विरत होकर मध्यस्थ बनना चाहिए।

जैन ब्रह्म-भावना

जैनों का ब्रह्म आध्यात्मिकता का साक्षात् प्रतीक है। आचार्य योगीन्दु ने 'परमात्म प्रकाश' में अनेक स्थलों पर शुद्ध आत्मा को ब्रह्म की संज्ञा दी है।[2] उनके अनुसार आत्मा जब कर्म-मल का प्रक्षालन कर लेती है तब स्वयं ब्रह्म बन जाता है। जैनों की यह ब्रह्म भावना किसी से प्रभावित नहीं है। वह अपनी पूर्व-परम्परा से ही अनुप्राणित है।

वीतराग भगवान् में अनुराग सम्भव है

कुछ विद्वान् जैनों की ब्रह्म भावना में अन्तर्गत प्रेम भाव नहीं पाते। उनका कहना है कि वीतरागियों का सम्प्रदाय होने के कारण उनमें अनुराग भक्ति का होना सम्भव नहीं था। किन्तु इस प्रकार की धारणा सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है। जैन-धर्म साहित्य में निर्गुण-सगुण दोनों प्रकार के भक्ति भावों का सामंजस्य मिलता है। सिद्ध और अर्हन्त को क्रमशः निर्गुण और

[1] जैन परम्परा का इतिहास मुनि नथमल पृ० २८।

[2] परमात्म प्रकाश योगीन्दु—१ ३६ दोहा द्रष्टव्य।

सगुण कहा जा सकता है। इन्हीं को आचार्य योगीन्दु ने निष्कल और सकल की संज्ञा दी है।[1] विक्रम की पाँचवीं शताब्दी में होने वाले आचार्य पूज्यपाद ने "अर्हदाचार्येषु बहुश्रुतेषु प्रवचने च भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः" कहा है।[2] इससे स्पष्ट है कि वीतराग भगवान् में अनुराग सम्भव है। आचार्य योगीन्दु के अनुसार 'पर' में किया गया राग पाप का कारण है। वीतराग परमात्मा 'पर' नहीं अपितु 'स्व' आत्मा ही है। अतः जिनेन्द्र में किया गया राग 'स्व' का राग कहलाएगा।[3] इसीलिए जिनेन्द्र के राग को मोक्षदायक माना गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भावपाहुड, आचार्य समन्तभद्र ने स्वयम्भूस्तोत्र और शिवार्यकोटि ने भगवती-आराधना में इस तथ्य की पुष्टि की है। उपर्युक्त विचार बिन्दुओं से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जिस प्रकार जैनों की ब्रह्म भावना उनकी अपनी पूर्व-परम्परा से अनुप्राणित है उसी तरह भगवान के प्रति प्रेम भावना भी उन्हें विरासत के रूप में प्राप्त हुई है। जिन शासन की अधिष्ठात्री देवियों से परिसेवित जिनेन्द्र की उद्भावना के मूल में यही परम्परागत प्रेम भावना क्रियाशील है। इन्हीं भाव सूत्रों के माध्यम से एकान्त योगिनी और वैराग्य प्रधान जैन-साधना के अन्तर्गत मधुर भाव का सन्निवेश हुआ है।

सूफ़ी-दर्शन

सूफी मत

इसलाम के प्रेम प्रवण रहस्यवादी फकीर सूफी नाम से प्रसिद्ध हैं। सूफियों के दर्शन को तसव्वुफ कहते हैं। सूफी साधक विरक्त संसार-त्यागी और परमात्मा के प्रेम की पीर में बेसुध रहने वाले थे। उनके चिंतन का एकमात्र विषय परमात्म प्रेम था। परम प्रियतम परमात्मा से एकमेव होने के लिए वे निरन्तर प्रयत्नशील रहते थे तथा उसी की उपलब्धि को वे साधना का शीर्षफल मानते थे।

सूफी शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के मत प्रचलित हैं। सामान्यतः 'सूफ' शब्द से इसका उद्भव माना जाता है, जिसका अर्थ ऊन होता है। सफा (पवित्रता) अह्ल सुफ्फा (मदीना में मसजिद के सामने का एक चबूतरा) सफ्फे अव्वल सोफिया (ज्ञान) सफ (पंक्ति) सोफिस्ता आदि शब्दों से भी 'सूफी' शब्द के सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास किया गया है। निकल्सन, ब्राउन, मारगोलियथ आदि विद्वानों एवं अनेक मुसलिम आलिमों ने 'सूफ' शब्द से ही सूफी की व्युत्पत्ति को स्वीकार किया है। इस प्रकार व्यापक रूप से इसलाम के प्रेम प्रभावापन्न रहस्यवादी साधकों के लिए ही सूफी शब्द का प्रयोग किया जाता रहा है।

सूफी मत और उसके अध्यात्म दर्शन के आदिस्रोत की जानकारी के लिए इसलाम से परे मुहम्मद साहब से और भी आगे जाकर शामी जाति की उस भाव भूमि पर विचार करना आवश्यक है जिसमें मादन भाव की प्रधानता पायी जाती है। शामी धर्म ग्रंथों में मादन भाव को प्रतिष्ठित करने वाले अनेक प्रसंग मिलते हैं। सूफियों के इल्हाम के विधाता

१ परमात्म प्रकाश, योगीन्दु—१ २५ पृ ३२।

२ आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, काशी ६ २४ पृ ३३६।

३ योगीन्दुदेव (छठी शताब्दी ई०) परमात्म प्रकाश, बम्बई १६३७ ई०, ६१वाँ दोहा पृ ६१, १७४वाँ दोहा पृ ३१७।

कमरांडो नबी ही थे, जिन्हें शामियों में नबी मतान कहा जाता था। नबी उल्लास एवं भावावेश वाला भक्त होता था जो विशेष अवसरों पर चित्तवृत्ति में विलक्षण सुखद परिवर्तन लाने के लिए सुरापान एवं मादक द्रव्यों का सेवन करता था। भावों के प्रबल उद्वेग के कारण नबियों को मूर्च्छा भी आ जाती थी। इस भावावेश की तीव्रावस्था में उनके मुंह से जो कुछ निकलता था, वह 'इलहाम' माना जाता था। इसके अतिरिक्त नबियों में कई प्रकार की गुह्य साधनाओं का भी विधान था। गुह्य साधना से सम्बन्धित साधक मंडली में उल्लासोद्रेक का पूर्ण विधान था। सूफी मत के सर्वस्व—मादन भाव का मूल स्रोत यही गुह्य मंडली है जिसमें कहीं सुरा सेवन हो रहा है, कहीं राग अलापा जा रहा है कहीं उछल-कूद मची है कहीं कोई तान छिड़ी है, कहीं स्वांग रचा जा रहा है कहीं हाल आ रहा है कहीं इल्हाम हो रहा है, कहीं करामात दिखाई जा रही है कहीं कोई किसी हाल में बेहाल है तो कहीं कोई किसी चीज में मग्न।[1] इससे स्पष्ट है कि सूफी प्रेम साधना के प्रमुख तत्त्व—मादन भाव के जन्मदाता उक्त नबी ही हैं और उन्हीं की भावना एवं धारणा की रक्षा का सच्चा प्रयत्न सूफीमत या तसव्वुफ है। अन्य मतों की तरह सूफीमत में भी आत्मा-परमात्मा और जगत तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध तथा साधना के चरम लक्ष्य के सम्बन्ध में अनेक प्रकार से विचार किया गया है। किन्तु यह स्मरणीय है कि सूफियों की तत्त्व-मीमांसा उतनी स्वच्छ और प्रांजल नहीं है जितनी वेदान्तियों की। इसका कारण यह है कि जिन निर्द्वन्द्व एवं निर्भय परिस्थितियों में वेदान्त-दर्शन का विकास हुआ, उनसे सर्वथा भिन्न एवं प्रतिकूल परिस्थितियों में सूफी-दर्शन का प्रतिपादन किया गया। सूफियों को इसलाम और कुरान द्वारा स्वीकृत तथ्यों को आधार मान कर ही चलना पड़ता था, क्योंकि उनकी उपेक्षा का एक ही परिणाम था प्राणदंड। इसलाम विहित मार्ग अत्यन्त अनुदार एवं संकीर्ण था। अतएव सूफी तत्त्व चिंतकों को इसलाम विहित मार्ग के साथ ही अपने साधना मार्ग का निर्धारण करना पड़ा। यही कारण है कि तसव्वुफ में जीव जगत् और ईश्वर की व्याख्या तो की जाती रही, किन्तु उसमें ईश्वर की ही प्रधानता रही। उपनिषदों में ब्रह्म और आत्मा के समन्वय में वस्तुतः जिस अन्त का निरूपण किया गया है उसमें ईश्वर नाम की परम सत्ता नहीं है। पर सूफियों के सामने सबसे बड़ी बाधा सदा यही रही है कि उनको अल्लाह से ही अपने अध्यात्म का आरम्भ करना होता है। फलतः वह बहुत कुछ एकांत और अद्वैत भाव तक ही सीमित रह जाता है और उसमें अद्वैतवाद का प्रौढ़ प्रतिपादन स्पष्टतः नहीं हो पाता।[2]

ईमान का वास्तविक आधार अल्लाह

कुरान के अनुसार अल्लाह, रसूल, किताब, फरिश्ते एवं कयामत को सत्य मानना ही ईमान है तथा ईमान का यथार्थ आधार अथवा आस्था के अभीष्ट का वास्तविक आलम्बन एकमात्र अल्लाह है। देव दृष्टि से अल्लाह के अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं है। सूफियों का ईमान असीम, व्यापक और उदात्त है। उनकी धारणा है कि मनुष्य परमात्मा अथवा उसकी विभूति के अतिरिक्त किसी दूसरी वस्तु पर ईमान ला ही नहीं सकता। तथापि कुरान

१ तसव्वुफ और सूफीमत श्री चन्द्रबली पांडे, पृ० ७०।
२ वही, पृ० ११०।

आदि की पूजा भी उसी परम प्रियतम की आराधना है। स्वतन्त्र चिन्तन के फलस्वरूप सूफी तत्व चितक इसलामी अल्लाह के बदले हुए के प्रतिपादन की ओर अवश्य उन्मुख हुए किन्तु देश-काल और प्रतिकूल परिस्थितियों के दबाव के कारण उनकी आराधना अल्लाह को प्रतीक मानती रही।

प्राचीन अरब अनेक देवी देवताओं को स्वीकार करते हुए भी एकमात्र अल्लाह को ही महादेव मानते थे। मुहम्मद साहब के अल्लाह बहुत अशों म प्राचीन अल्लाह ही हैं।[1]

अल्लाह की सत्ता और शक्ति

कुरान म अल्लाह की साकार सत्ता का विशद विवेचन मिलता है। अल्लाह की साकार सत्ता ही इसलाम की शासिका है। कुरान मे अल्लाह के सिंहासन, अग प्रत्यग की शोभा-समृद्धि अलौकिक साकार स्वरूप के विस्मयकारी वणन किये गये हैं। कुरान म अल्लाह को ही कर्त्ता भर्त्ता हर्त्ता सब कुछ कहा गया है। उसकी शक्ति अपरम्पार है। उसकी इच्छामात्र से सृष्टि का उदभव विकास और विनाश होता है। वही स्वग-नरक का विधायक है। वह अल्लाह बेमिसाल है। वह आदि है अन्त है व्यक्त है स्वयभू है भगवान् है रब है, रहीम है उदार है घोर है ज्ञानी है नित्य है और कर्त्ता है। सक्षेप म वह प्रत्येक भाव का आश्रय है आलबन है। वह भक्तों पर असीम कृपा और अभक्तो पर अमित क्रोध भी करता है। वह आनन्द भोग की सामग्री नहीं बनाया जा सकता। हालांकि वह अपने भक्तो के लिए समस्त वभव विलास और सुख-सभार का विधान करने वाला है।[2]

अल्लाह परम प्रेमास्पद एव निखिल सौन्दय निधि

सूफ़ी कुरान-सम्मत परमात्मा के स्वरूप को मानकर अपने प्रम पथ पर अग्रसर होते हैं। वे सनातन पथी इसलाम के समान ही एकमात्र अल्लाह की परम सत्ता को स्वीकार करते हैं। किन्तु सूफियों का अल्लाह एकमात्र सवशक्तिमान परमेश्वर ही नहीं है अपितु वह परम प्रेमास्पद और निखिल सौन्दय निधि भी है। सूफी इसी प्रियतम के वियोगी हैं। वे अल्लाह की आराधना स्वग-सुख की प्राप्ति के लिए नहीं अपितु अल्लाह के सभोग के लिए करते हैं। उनम भय के साथ-साथ अल्लाह का प्रमाकषण भी है। वे उस परम सौन्दय निधि पर मुग्ध हैं। वे उसके लावण्य पर अपने को कुर्बान करने वाले हैं। वे अल्लाह की अश कुर्सी के बजाय उसके 'जमाल' पर अपने को न्योछावर करते हैं। वे उसके दीदार के लिए बहिश्त को ठुकरा कर जहन्नुम म भी जाने के लिए तरसते रहते हैं। अल्लाह भी उसको अपनी ओर खीचने के लिए कभी कोई बुत बन कर कभी रसूलों की जगह आप ही उतर कर ससार के कण-कण मे फूल पत्तियों मे अपना जल्वा दिखाता है और परम प्रम की बाँसुरी बजाकर देखने ही देखते हृदय मे समा जाता है। वही से वह अपनी अलौकिक आत्म क्रीडा करने लग जाता है।[3]

---

१ तजमानुल कुरआन, तफसीर सूरत फातहा जिल्द अव्वल म १९३१ ई पृ ८।
—मौलाना अबुलकलाम आज़ाद।

२ इनसाइक्लोपीडिया ऑफ इसलाम—अ लाह पर लेख द्रष्टव्य।

३ तसव्वुफ अथवा सूफीमत श्री चन्द्रबली पांडे पृ ६६ द्रष्टव्य।

सूफी एकेश्वरवाद

सनातनपंथी इसलाम की भाँति सूफी भी एकेश्वरवाद में आस्था रखते हैं। किन्तु दोनों के दृष्टिकोण में पर्याप्त अन्तर है। सनातनपंथी इस्लाम की तरह सूफी भी जात (सत्ता) सिफ्त (गुण) और कर्म में परमात्मा को अद्वितीय और निरपेक्ष मानते हैं। किन्तु इसलाम और सूफी दृष्टिकोण में मुख्य अन्तर यह है कि इसलाम जहाँ परमात्मा को दृश्यमान् जगत से भिन्न मानते हैं वहाँ सूफी तत्त्व चिन्तक सम्पूर्ण दृश्य जगत में एकमात्र परमात्मा की सत्ता को परिव्याप्त देखते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि समस्त प्रतीयमान सत्ता परमात्मा में अन्तर्निहित है और निखिल विश्व परमात्मा के साथ एक है। इसके अतिरिक्त इसलाम का परमात्मा जहाँ भय उत्पन्न करने वाला है वहाँ सूफियों का परमात्मा परमप्रेम-स्वरूप तथा प्रीति का प्रकाश है। वह परम सत्य होने के साथ ही साथ परम कल्याण और परम सौंदर्य स्वरूप है।

सूफीमत के अन्तर्गत परमात्मा विषयक दो प्रकार के सिद्धान्त प्रचलित हैं। इन्हीं दोनों सिद्धान्तों के आधार पर सूफी तत्त्व चिन्तकों के दो वर्ग — वुजूदिया और शुहूदिया नाम से प्रचलित हैं जो क्रमशः 'वहदतुल्वुजूद' सिद्धान्त के प्रवर्तक मुहिउद्दीन इब्नुल अरबी तथा वहदतुश्शुहूद सिद्धान्त के प्रवर्तक शेख करीमे जीली के तत्त्व चिन्तन से प्रभावित हैं। मुहिउद्दीन इब्नुल अरबी के सिद्धान्तानुसार परमात्मा ही एक मात्र सत्ता है। हमावुस्त अर्थात् सब-कुछ वही है यही इस सिद्धान्त का केन्द्रीय विचार है। इसके अनुसार सम्पूर्ण दृश्यमान् जगत उसी परम सत्ता की अभिव्यक्ति है। जाव सृष्टि कर्ता की बाह्य अभिव्यक्ति है। मनुष्य परमात्मा का चेतन अंश है, जिसे सिर कहते हैं। किन्तु मनुष्य के ज्ञान का क्षेत्र अत्यन्त सीमित है। अतएव वह उस परम चैतन्य परमात्मा के अंशमात्र को ही व्यक्त कर सकता है। इस प्रकार जीव यद्यपि सत्य है परमात्मा की तरह एकमात्र सत्य नहीं।

इसके अतिरिक्त अरबी ने विवेक और तर्क के आधार पर इमाम गज्जाली की उस मान्यता का भी खंडन किया है जिसमें कहा गया है कि ईश्वर का ज्ञान बिना जगत पर विचार किए ही हो जाता है। अरबी के मतानुसार जगत् की उपेक्षा करने से ईश्वर का ज्ञान-बोध नहीं हो सकता। ईश्वर परम सत्ता नहीं एक उपास्य देवता है। ऐसी स्थिति में उपासना के लिए उपासक का होना अनिवार्य है। जगत् की सत्ता को न मानने पर परम तत्त्व की स्थापना संभव है किन्तु किसी उपास्य की कल्पना कम सम्भव हो सकता है।

शेख करीमे जीली ने इमाम गज्जाली का समर्थन करते हुए अरबी के आक्षेपों का निराकरण उसी प्रकार से किया है जिस प्रकार से रामानुजाचार्य ने शंकराचार्य के आक्षेपों का निराकरण किया था। जीली परमात्मा और जीव दोनों की सत्ता को स्वीकार करते हैं। जीव की सत्ता शून्यवत् है जिसे अपने अस्तित्व की सिद्धि के लिए परमार्थ सत्ता की अपेक्षा है। यह जगत् प्रपंच परमात्मा के गुणों का समाहार है। परमात्मा अपने गुणों के माध्यम से अपनी सत्ता को चरितार्थ करता है।

परमात्मा के चार गुण और चार रूप

जीली ने अल्लाह के गुणो के चार विभाग किये हैं—जात जमाल जलाल और कमाल। इन्हीं चार गुणो म क्रमश अल्लाह के चार रूप—सत्ता माधुय ऐश्वय और अदभुत परिलक्षित होते हैं। अल्लाह की एकता नित्यता और सत्यता का सम्बन्ध उसकी सत्ता से है। उदारता क्षमा आदि गुणो स माधुय का बोध होता है शक्ति शासन आदि गुणो से उसके ऐश्वय का ज्ञान होता है और बाह्य और आभ्यन्तर प्रथम और अन्तिम आदि विरोधी गुणों से उसकी अद्‌भुत शक्ति का बोध होता है। इनम मस्तिष्क या बुद्धि का विषय जात और कमाल है तथा हृदय के लिए अल्लाह का 'जमाल' और जलाल' है क्योकि इनम ही राग द्वेष का विधान है। अल्लाह और जीव या इसान के सम्बन्ध का परिचय जमाल और जलाल मे मिल जाता है।

अल्लाह के गुण (सिफ्त) जब जाहिर होते हैं तब उनका नामकरण होता है। वे नाम दपण के समान हैं जो परम सत्ता के सभी रहस्यो का उद्‌घाटन करने वाले हैं। जीली के मतानुसार उसकी अभिव्यक्ति सम्पूण सत्ताओ मे अन्तर्निहित है और वह सृष्टि के प्रत्येक अणु परमाणु मे अपनी पूणता को अभिव्यक्त करता है। वह खण्डो म विभक्त नही है। सृष्टि के सम्पूण पदाथ उसकी पूणता के कारण है उसके दिये हुए नाम से ही नाम वाले हैं। सृष्टि बफ के समान है और तेज-स्वरूप परमात्मा जल के समान है जो बफ का मूल है। उस जमी हुई वस्तु का नामकरण बफ हुआ है पर जल ही उसका असली नाम है।[१] इन्ही सकेतो के आधार पर सूफीमत के अन अल हक्क का प्रतिपादन हुआ है।

अल्लाह और इसान अथवा जीव

ऊपर कहा जा चुका है कि जमाल और जलाल मे अर्थात माधुय बोध और ऐश्वय बोध मे अल्लाह और इसान अथवा जीव के सम्बन्ध का परिचय मिल जाता है। अल्लाह और इसान के पारस्परिक सम्बन्ध के सिलसिले म सूफिया ने सवत्र अद्वैत का ही समथन किया है। जीव अल्लाह से भिन्न नही है। बफ और पानी की तरह तत्त्वत दोनो एक हैं। भारतीय अद्वैत के समान सूफियो के अद्वैत के भी कई रूप हैं। हल्लाज के मतानुसार जीव पूणत ब्रह्म नही बन सकता। अल्लाह और इसान का अद्वैत पानी और शराब के समान ही है। इसीलिए वहाँ लाहूत (देवत्व) और नासूत (मनुष्यत्व) की अवतारणा की गई है। हल्लाज के मतानुसार वह जिसमे इश्क करता है वह स्वत वही है। वस्तुत एक ही शरीर म दो प्राण हैं जो एक दूसरे स प्रणयाबद्ध हैं। फक यही है कि प्रमी क स्वरूप बोध स प्रियतम का दशन लाभ होता है और प्रियतम के साक्षात्कार स दोनो की सत्ता का स्पष्टीकरण हो जाता है। रूमी के मतानुसार प्रमी और प्रियतम के युगल शरीर म मिथुनाकार एक ही आत्मा बसती है यद्यपि बाह्य रूप से दोनो भिन्न लगते हैं।[२] जीली के कथनानुसार प्रमी और प्रियतम एक ही की आत्मा हैं जो क्रम स दो शरीर मे अवस्थित हैं। फारिज ने प्रमी को सदव प्रिय और प्रिय को सदव प्रमी कहा है। तात्पय यह है कि सत्ता ही सत्ता स प्रणय-व्यापार रत है।

१ हिन्दी साहित्य कोश पृ ८६।
२ स्टडीज इन इसलामिक मिस्टीसिज्म पृ० १०८।

मनुष्य की उत्पत्ति अल्लाह के 'जमाल' और 'जलाल' के संयोग से हुई है। मनुष्य के पिंड में जो कुछ है, वही ब्रह्माण्ड में विकीर्ण है। मनुष्य सृष्टि का शृंगार है। वह अल्लाह का प्रतिरूप है। उसमें अल्लाह की रूह है। उसके सहारे ही अल्लाह अपने को अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार अल्लाह इंसान में अपने को ही चरितार्थ करता है। अतः इंसान तत्त्वतः हक है। हक से ही उसका आविर्भाव और हक में ही उसका तिरोभाव होता है। परम सत्ता के साथ जीव के मिलन को कहीं शराब और पानी, कहीं सागर और सरिता और कहीं आग और लोहा की तरह कहा गया है। इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि सूफी महामिलन के लिए लालायित रहते हैं। वे सदैव प्रियतम के रोम रोम में समा जाने के लिए प्रेम की पीर में तड़पते रहते हैं। वे सन्त परम प्रियतम का प्रेमी बन कर रहना चाहते हैं और उसी के प्रेम में लीन होकर रहने की अभिलाषा करते हैं। इस प्रकार सूफी तत्त्व चिंतक सर्वत्र परमात्मा और जीव के अद्वैत का ही किसी न किसी रूप में प्रतिपादन करते हुए प्रतीत होते हैं।

अल्लाह और जगत्

सूफी परमात्मा को अनन्त सौंदर्य निधि और अनन्त विभूति-सम्पन्न मानते हैं। यही निर्विकार रसानन्द-सौंदर्य-स्वरूप परमात्मा सृष्टि के रूप में अपने-आपको अभिव्यक्त करता है। अतः अनन्त यह जगत परमात्मा के अनन्त सौन्दर्य को अभिव्यक्त करता है।

हदीस के अनुसार अल्लाह ने आत्म ज्ञापन की कामना से प्रेरित होकर सृष्टि का विधान किया। भारतीय मनीषियों ने भी माना है कि रमण की कामना से परम पुरुष द्विधा और फिर बहुधा हो जाता है। कुरान ने 'कुन' के आधार पर सृष्टि की उत्पत्ति बतलाई है। अरबी की दृष्टि में संसार शाश्वत प्रपंच है। वह स्वतन्त्र नहीं, पर नित्य है। जामी के मतानुसार अल्लाह परम सौन्दर्य निधि है और वह प्रेम की इच्छा रखता है। इनकी दृष्टि में विश्व सत्य का प्रत्यक्ष रूप है और सत्य विश्व का परोक्ष भीतरी मूल तत्त्व है। विश्व अपने विकास के पूर्व सत्य से अभिन्न था और सत्य विकास के अनन्तर विश्व से अभिन्न है।[1]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि परमात्मा परम सत्ता है और सृष्टि असत् है। जिस प्रकार अन्धकार से प्रकाश का बोध होता है उसी प्रकार असत जगत से परम सत का ज्ञान प्राप्त होता है। सूफियों के अनुसार दृश्यमान जगत परमात्मा का प्रतिबिंब है। 'सूर्य का प्रकाश जल में पड़ता है और जल में पड़ने वाले उसके प्रतिबिम्ब से हम सूर्य का दर्शन करते हैं। प्रतिबिम्ब को अपने अस्तित्व के लिए सूर्य की अपेक्षा है। प्रतिबिम्ब हजारों बार बन बिगड़ सकता है उससे सूर्य का कुछ आता जाता नहीं। यहाँ पर सूर्य परम सत्ता जैसा है, जब असत् के दर्पण जैसा और प्रतिबिम्ब सृष्टि के जैसा। सत्ता ही वास्तविक है असत उसका नकारात्मक रूप है।[2]

जिस प्रकार आँख की पुतली में पूरी प्रतिच्छवि उतर आती है उसी प्रकार सृष्टि में परमात्मा की प्रतिच्छवि प्रतिबिम्बित होती है। मनुष्य में परमात्मा का सत और सृष्टि

१ तसव्वुफ अथवा सूफीमत श्री च द्रबली पांडे, पृ० १४२।
२ हिन्दी साहित्य कोश पृ० ८६०।

का असत् दोनो ही मौजूद हैं। मनुष्य के अन्तर का ईश्वरीय अंश विशुद्ध सत्ता के स्फुलिंग के समान है जो सतत अपने उद्गम स्थल पर लौट कर उसके साथ एकमेक होने की चेष्टा करता रहता है। सूफी साधक प्रेम साधना द्वारा अपने अहम् का पूर्ण विलोपन कर अपने परम प्रियतम के महामिलन के लिए निरंतर प्रेम की पीर म तपते रहते हैं।

साराश यह है कि सूफी दर्शन भाव प्रधान अद्वैत का प्रतिपादक है। इसलाम की कट्टरता और असहिष्णुता के कारण सूफी अद्वैतवाद का दार्शनिक पक्ष उतना सुस्पष्ट नहीं हो सका है कि उसे केवलाद्वैतवाद विशिष्टाद्वैतवाद तथा द्वैताद्वैतवाद मे से किसी एक के अन्तर्गत निश्चयात्मक रूप से रखा जा सके। *किन्तु जीवात्मा और परमात्मा की अन्तता के* कारण दोनो के मधुर मिलन का रति द्वार अवश्य खुल गया है। इश्क मजाजी ही इश्क-हकीकी का सोपान है तथा काम मिलावे राम सो इस मादन भावपरक सिद्धान्त की विधिवत स्थापना हो गयी है।

निश्चयत दार्शनिक वाद के रूप म सूफी अद्वैतवाद भले ही परिपुष्ट न हो सका हो किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि सूफियो का भाव प्रधान अद्वैतवाद ही उनके मादन भाव की उपासना का उदगम स्थल है जहा से मधुर रस की स्रोतस्विनी कल-कल निनाद करती हुई *प्रवाहित हुई है तथा जन मानस को ईश्वराराधन के सजीवन रस से आप्यायित करती हुई* जीवात्मा रूपी आशिक और परमात्मा रूपी माशूक के महामिलन के आनन्दाम्बुधि म पर्यवसित हो गयी है।

प्रेम-दर्शन

सामान्य रूप से मधुर रस का साध्य तत्त्व जीवात्मा और परमात्मा का एकात्म भाव है। उपास्य और उपासक का एकात्म भाव ही मधुर रस साधना का चिरसाध्य है। इन दोनो की तादात्म्य स्थिति ही प्रेम दशा कहलाती है। दर्शन शास्त्र मे भी इन्ही दोनो के एकत्व का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार प्रेम और दर्शन दोनों का लक्ष्य उपास्य और उपासक म एकत्व-स्थापन करना है। इस एकत्व रूप प्रेम-दशा को प्राप्त करने वाले भक्ति भावापन्न साधक ही सच्चे प्रेम रसिक कहे जाते हैं।[1] परमात्मा और प्रेम सूरज और उसकी धूप के समान अभिन्न हैं।[2] इसी प्रकार प्रेम दशा को प्राप्त होकर शक्ति और शक्तिमान भी एक हो जाते हैं।[3]

जीवात्मा और परमात्मा के तात्त्विक स्वरूप और पारस्परिक सबध के निर्धारण तथा सम्यक स्पष्टीकरण के लिए एव अपने-अपने साधन मार्गों को पुष्ट आधार देने के लिए ही

१ जीव ईश मिलि दोय नामरूप गुण परिहरे।
रसिक कहावे सोय ज्यों जल धोन शकरा॥ —भगवत्तरसिक की वाणी पृ ७७।

२ प्रेम हरी को रूप है त्यों हरि प्रेम सरूप।
एक होइ द्वै में लसै ज्यों सूरज अरु धूप॥
—हनुमान प्र पोद्दार लिखित 'गोपीप्रेम, पृ १२ से उद्धृत।

३ जल तरंग भूषण कनक, घट माँटी पटतत।
खेल खिलारी ज्यों सदा ओत प्रोत लसत॥ —सुधमबोधिनी पृ० १४।

समय-समय पर विभिन्न धर्माचार्यों ने अनेकानेक द्वैत अद्वैत-परक दार्शनिक मतवादों की स्थापना की है। इस प्रकार परमात्मा और जीवात्मा उपास्य और उपासक शक्तिमान और उनकी शक्तियों के तात्त्विक स्वरूप और उनके एकात्म भाव के प्रतिपादन के लिए जहाँ तत्त्ववेत्ताओं ने विभिन्न दार्शनिक सिद्धांतों की अवतारणा की है वहाँ शक्तिमान और उनकी शक्तियों के रागात्मक संबंध की सिद्धि के लिए सहृदय साधकों एवं भावुक भक्तों ने प्रेम दर्शन के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाए तो सगुण निर्गुण साधनात्मक एवं भावात्मक सभी प्रकार के साधकों ने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से प्रेम को ही परम पुरुषार्थ माना है और प्रेम-दर्शन के सिद्धान्त को ही प्रमुख साधन तत्त्व के रूप में ग्रहण किया है। इसका कारण यह है कि प्रेम प्राणीमात्र की नैसर्गिक एवं व्यापक वृत्ति है। लौकिक और अलौकिक सारी लीलाएँ प्रेम की प्रेरणा से ही निरन्तर सम्पादित हो रही हैं।[1] प्रेम वृत्ति मनुष्य की सभी चित्तवृत्तियों के मूल में है और अत्यन्त व्यापक एवं गहरी होने के कारण प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से यह मनुष्य की सभी चित्तवृत्तियों का स्वरूप निर्धारण, नियमन और संचालन करने वाली है। सामान्य रूप से किसी पदार्थ को प्राप्त करने में मानव मन की तीन वृत्तियाँ सक्रिय दिखलाई पड़ती हैं। वह सबसे पहले ईप्सित पदार्थ के संबंध में जानना चाहता है। इसी को ज्ञान (Knowing) कहा गया है। उसकी जानकारी प्राप्त कर लेने के बाद उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करने की आवश्यकता होती है। इसी को क्रिया (कर्म) या संकल्प-वृत्ति (Willing) की संज्ञा दी गयी है। अन्ततः उसके साथ स्थायी संबंध स्थापित करने के लिए तथा तज्जन्य आनन्द प्राप्त करने के लिए उससे मन लगाने या अनुरक्त होने की आवश्यकता है। इसीको चाह या 'इच्छा' (Feeling) कहते हैं। सारांश यह है कि ज्ञान कर्म और इच्छा—इन तीनों के मूल में प्रेम ही प्रेरक-तत्त्व के रूप में काम कर रहा है। किन्तु इन तीनों में से इच्छावृत्ति के साथ प्रेम का सर्वाधिक प्रगाढ़ संबंध है। ईप्सित पदार्थ से मन लगाना और सात्त्विक आनन्द के लिए उसे चाहना स्वयं आनन्द प्राप्त करना और दूसरे को आनन्दित करना इससे भी आगे बढ़कर स्वसुखी भाव की अपेक्षा तत्सुखी भाव को प्रश्रय देना ही प्रेम की मूलभूत भावना है।

इस प्रकार प्रेम में चित्त की तीनों वृत्तियों (ज्ञान कर्म और इच्छा) का सुन्दर समन्वय होता है। प्रेम मूलतः इच्छा है जो ज्ञान का निर्देशन या नियन्त्रण पाकर विशिष्ट या संयत रूप ग्रहण करता है। बिना ज्ञान के इच्छा अंधी है और बिना इच्छा के ज्ञान पंगु और क्रिया के बिना दोनों निष्क्रिय हैं। इच्छा गति देती है ज्ञान उसका उचित दिशा निर्देश करता है और क्रिया दोनों के समन्वयात्मक स्वरूप प्रेम को अभिव्यक्त करती है अथवा दोनों क्रिया के माध्यम से अभिव्यक्ति का मार्ग खोजते हैं।[2]

प्रेम-वृत्ति की इसी विलक्षणता व्यापकता एवं सहजता के कारण भगवद् प्रेम पिपासु भावुक भक्तों एवं साधकों ने दार्शनिक मतवादों की दुरूहता जटिलता एवं शुष्कता से हट

---

१ प्रेम नचावत नचत सब, जँह लौं धामी धाम।
सो नागर हित नामवस सेवक चित विश्राम ॥ —सुधर्म बोधिनी लाडिलीदास, पृ० ८।

२ आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौन्दर्य। डॉ० रामेश्वरलाल खंडेलवाल, पृ० १०२।

कर प्रशस्त प्रेम-पथ का अनुगमन किया है जहाँ अमर प्रेम रसायन का आस्वादन करके भक्ति भावापन्न साधक प्रेम को मूकास्वादनवत्' केवल अनिर्वचनीय मानता है। किसी योग्य पात्र मे ही यह प्रकाशित होता है। यह गुण रहित, कामना रहित प्रतिक्षण वर्धमान अविच्छिन्न सूक्ष्मतर एव अनुभव रूप है। इसे प्राप्त करने वाला प्रेम को ही देखता है प्रेम को ही सुनता है प्रेम का ही वर्णन करता है और प्रेम का ही चिन्तन करता है।[1]

नारद ने भक्ति को परम प्रेम रूपा और अमृत-स्वरूपा[2] कह कर तथा शाडिल्य ने भक्ति को ईश्वर में परानुरक्ति अर्थात सर्वोत्तम एव गभीर अनुराग की सज्ञा देकर स्पष्ट रूप से यह उद्घोषित कर दिया है कि प्रेमी उपासक और प्रेमास्पद उपास्य का नित्य अचचल सयोग ही प्रेम साधना का परम ध्येय है। इस प्रकार प्रेम भक्ति का सर्वस्व है तथा अन्य साधना मार्गों का भी वह प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से प्रमुख प्रेरक तत्त्व है। तभी तो सगुण और निर्गुण से परे काया नगर बसाने वाले तथा हृदय मन्दिर मे अपने प्रियतम के मधुर मिलन का रस पान करने वाले अन्तस्साधना के अभिलाषी आत्माराम योगी भी प्रेम पियाला' की महिमा का वर्णन करते नही अघाते। साराश यह है कि मधुर रस-साधना का मूलाधार प्रेम है तथा इसके दार्शनिक स्वरूप को प्रकाशित करने वाला प्रमुख व्यावहारिक सिद्धान्त प्रेम दर्शन का सिद्धान्त है। अतएव मधुर रस के दार्शनिक विवेचन के प्रसग मे उसके प्रमुख साधन तत्त्व प्रेम दर्शन के विभिन्न तत्त्वो पर विचार करना परम आवश्यक है।

प्रेम तत्त्व 'प्रेमापुमर्थोमहान्

भारतवर्ष के प्राचीनतम साहित्य वैदिक वाङमय मे कई प्रेम प्रसगो की अवतारणा हुई है, किन्तु विस्मय की बात है कि वहाँ ऐसे किसी भी प्रसग मे प्रेम शब्द का स्पष्ट प्रयोग नही मिलता। दाम्पत्य प्रेम के लिए चक्रवाक और चक्रवाकी के युग्म का उदाहरण देना[3] प्रणयी श्यावाश्व आत्रेय द्वारा अपनी प्रणयिनी के लिए कठोर तपश्चर्या करना[4] यमी का अपने भाई यम के लिए काम-पीडित होना[5] पुरूरवा द्वारा उर्वशी पर अनुरक्त होना आदि[6] प्रेमपूर्ण प्रसगो मे भी प्रेम शब्द के प्रयोग का अभाव है। वैसे प्रिय प्रिया प्रेय या प्रेष्ठ जैसे शब्दो के प्रयोग मिलते हैं किन्तु उनसे प्रेम शब्द के अर्थ की प्रतीति नही होती। वैदिक साहित्य मे काम शब्द के बहुल प्रयोग मिलते हैं। एक ओर काम शब्द से जहाँ सृष्टि सकल्प रूपी परम तत्त्व का बोध होता है वहाँ दूसरी ओर उससे कामीजनोचित अभिलाषा की भी प्रतीति होती है।[7] इससे ज्ञात होता है कि उस समय प्रेम के अर्थ मे

---

१ अनिर्वचनीय प्रेम स्वरूपम्। मूकास्वादनवत्। प्रकाशते क्वापिपात्रे। गुणरहित कामनारहित प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्न सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्। तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति। —नारदभक्तिसूत्र ५१ से ५५ सूत्र।

२ वही सूत्र २ और ३।

३ अथर्ववेद, का १४ सू २ म० ६४।

४ श्रौतसूत्र १६ ११ ६।

५ ऋग्वेद १० १ ।

६ वही, १ ६५ और ५ ४१ १६।

७ वही, म ५ सू ४१, म ७।

कदाचित 'काम' शब्द का प्रयोग होता था जो 'कामना' का आशय प्रकट करता था।[1] आगे चल कर भक्ति मार्ग की प्रतिष्ठा तथा उसके अन्तर्गत हृदय की रागात्मिका वृत्ति की प्रधानता के कारण श्रीमद्भागवत आदि पुराणों एवं नारदभक्ति सूत्र आदि ग्रंथों में प्रेम शब्द के स्पष्ट प्रयोग मिलते हैं। मध्यकालीन साधना में प्रेम भाव के समाविष्ट हो जाने पर ब्रह्म का माधुर्य रूप इतना अधिक प्रभावशाली बन जाता है कि प्रेमी साधक प्रेम में प्रेम-स्वरूप परमात्मा का साक्षात्कार कर धन्य हो उठते हैं और बड़ी सचनिष्ठा के साथ उद्घोषणा करते हैं कि 'प्रेमापुमर्थोमहान्' अर्थात प्रेम ही परम पुरुषार्थ है मोक्ष नहीं। इतना ही नहीं, उनका यह भी दृढ़ विश्वास है कि ब्रह्म को ज्ञानमय समझने वाले उसके एक लघु अंश को जान पाते हैं पर उसे प्रेममय समझने वाले उसके सम्पूर्ण रूप को जानते हैं।"[2]

प्रेम अनेकार्थक एवं अत्यन्त व्यापक शब्द है। प्राच्य एवं पाश्चात्य कोशकारों ने 'प्रेम' के भौतिक रूपों के साथ साथ उसके आध्यात्मिक रूपों पर भी विचार किया है। इस प्रकार उन्होंने प्रेम को स्थूल इन्द्रियों तक ही परिसीमित न कर मन के सूक्ष्म और उदात्त भाव जगत् के विषय के रूप में भी स्वीकार किया है।[3] प्रेम के संबंध में पाश्चात्य जीवन दर्शन से प्रभावित विद्वानों के विचार से भक्तिवादी साधकों के विचार सर्वथा भिन्न हैं। मनोविज्ञान शास्त्र और शरीर शास्त्र के आधुनिक विद्वान् 'प्रेम' को एक प्रकार की बुभुक्षा मानते हैं जिसकी अनुभूति प्रत्येक प्राणी और प्रत्येक अवयव को स्वाभाविक रूप से होती है। प्रसिद्ध मनोविज्ञान वेत्ता फ्रायड ने काम-वासना को जीव जगत की मूलवृत्ति स्वीकार करते हुए समस्त भौतिक अथवा आध्यात्मिक भावपरक संबंध के मूल में यौन विषयक प्रेम के अपरिष्कृत या परिष्कृत रूप को माना है। समाजविज्ञान वेत्ताओं की दृष्टि में प्रेम सामाजिक संबंधों का एक भावात्मक अंशमात्र है। उनकी दृष्टि में प्रेम को अनावश्यक महत्त्व प्रदान करना निरर्थक है, किन्तु प्रेम प्रभावापन्न भक्तों और साधकों के मतानुसार प्रेम सामाजिक जीवन का ही नहीं, अपितु समस्त साधना का मूलाधार है। यह भक्ति भाव का अनिवार्य तत्त्व ही नहीं, उसका शाप फल भी है। इसीलिए नारद, शाण्डिल्य आदि भक्तिशास्त्र के प्रतिष्ठापकों ने भक्ति की प्रमलक्षणा बतलाते हुए प्रेम को उसका अनिवार्य तत्त्व माना है। नारद के अनुसार भगवान् के प्रति अपने सभी कर्मों का सर्वात्म समर्पण कर देना तथा क्षणमात्र भी उनके विस्मरण से परम व्याकुलता का अनुभव करना भक्ति-साधना के अनिवार्य अंग हैं।[4]

---

१ मध्यकालीन प्रेम साधना : प० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १२।

२ वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥ —श्रीमद्भागवत, १।२।११।

३ प्रेमा ना प्रियता हार्दं प्रेम स्नेहोऽथ दोहदम्। —अमरकोश, प्रथमकाण्डम्।
A f[illegible]

४ तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परम व्याकुलता।
—नारदभक्तिसूत्र सूत्र १९।

चैतन्य मतानुयायी वैष्णव साधकों ने भक्ति के रागानुगा रूप को सर्वाधिक प्रश्रय प्रदान कर प्रेम को पंचम पुरुषार्थ माना तथा श्रीमद्भागवतपुराण में वर्णित गोपी भाव को सर्वश्रेष्ठ बतलाया। वृन्दावन के षट् गोस्वामियों ने जिनमें रूपगोस्वामी का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है भक्ति रस के अन्तर्गत अन्य सभी रसों का समावेश करके मधुर रस का शास्त्रीय विवेचन किया तथा इसके आधारभूत तत्त्व प्रेम की व्याख्या करते हुए बतलाया कि जिस भाव द्वारा हमारी अन्तरात्मा स्निग्ध कोमल एवं निर्मल हो तथा जो ममत्वातिशयांकित हो उसी के *प्रगाढ़ रूप को सुधीजन प्रेम की संज्ञा देते हैं।*[1] कृष्णदास कविराज के अनुसार साधन भक्ति के अभ्यास द्वारा रति अथवा अनुराग का भाव उदय होता है जो प्रगाढ़ हो जाने पर प्रेम नाम से पुकारा जाता है।[2] स्वामी अभेदानन्द के अनुसार प्रेम वह आकर्षण शक्ति है जो सभी प्राणियों में पाई जाती है। भौतिक स्तर पर इसी शक्ति को गुरुत्वाकर्षण कहते हैं तथा आत्म-तत्त्व के स्तर पर इसी को प्रेम की संज्ञा दी जाती है। मानवीय प्रेम के अन्तर्गत वैयक्तिक सुखोपभोग की कामना प्रधान होती है। किन्तु ईश्वरीय प्रेम सर्वथा निष्काम एवं विश्वात्म रूप होता है। इस प्रकार प्रेम मूलतः आध्यात्मिक है।[3]

मध्यकालीन प्रेम-साधकों ने प्रेम को अपने प्रेमास्पद के प्रति अत्यन्त दृढ़ व्यक्तिगत अनुराग के रूप में प्रदर्शित किया है तथा अपने उपास्य के प्रति अर्पित मनोबुद्धि और अर्पिताखिलाचार द्वारा उसे सार्वजनीन बनाकर विश्व प्रेम में स्थापित कर दिया है।

प्रेम आत्मा का भूषण है। प्रेम के रसास्वादन के लिए ही आत्मा ने एक बार पुनः देह पिंजर में बन्दी होना स्वीकार किया है। प्रेम के अभाव में बाह्य सौन्दर्य निरर्थक है। प्रेम संजीवन मूरि है। जिसके हृदय में प्रेम का संचार नहीं वह मांस वेष्टित अस्थियों का ढेर मात्र है।[4] स्वामी विवेकानन्द ने प्रेम के समष्टिगत रूप का महत्त्व बतलाते हुए कहा है कि जब मैं स्वयं को विश्वव्यापी समझता हूँ तब मुझमें स्वार्थता नहीं रह जाती परन्तु जब मैं भ्रमवश यह सोचने लगता हूँ कि मैं स्वयं मर्यादित हूँ तब मेरा प्रेम संकीर्ण तथा विशेष भावापन्न हो जाता है। विश्व की सभी वस्तुएं ईश्वर-जन्य हैं और इसीलिए वे प्रेम पात्र हैं। यही ध्यान में रखना चाहिए कि समष्टि के प्रेम में ही अंश का प्रेम अन्तर्भूत है।[5] हैवलाक एलिस के शब्दों में जब तक विषय सुख की इच्छा का तिरोधान नहीं हो जाता तब तक प्रेम का कमनीय और मनोहर कुसुम नहीं विकसित होता।[6] स्वामी रामतीर्थ के विचार में सच्चा प्रेम सूर्य के समान आत्म प्रकाश को फैलाता है। प्रेम का अर्थ है सौन्दर्य का साक्षात्कार

---

१ सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयांकितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते ॥१॥
—हरिभक्तिरसामृतसिन्धु रूपगोस्वामी (अच्युत ग्रन्थमाला, काशी) पृ० ११८।

२ साधन भक्ति हइते हय रतिर उदय।
रति गाढ़ हइले तारे प्रेम नामे कय॥
—चैतन्यचरितामृत कृष्णदास कविराज।

३ ह्यूमैन एफेक्शन एण्ड डिवाइन लव स्वामी अभेदानन्द, पृ० ७-३८।

४ ऋषि नित्यानन्द तामिलनाद् (अजमेर) पृ० ३ ४।

५ आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौन्दर्य डॉ० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल पृ० ८६।

६ Psychology of Sex Havelock Ellis Vol V Page 133

यह सत्य है कि जिसने कभी प्रम नही किया उसे ईश्वरानभूति कभी नही हो सक

तात्पय यह है कि प्रम हमारे चतुर्दिक व्याप्त प्रत्येक वस्तु और व्यापार निष्कष है। यह एक भावना मात्र नही है। यह सत्य है। यह आनन्द-रूप है सृष्टिया क मूल म है। यह ब्रह्म से नि सृत विशुद्ध चेतना का उज्ज्वल प्रकाश है। प्र म अपनी चेतना के ऊध्वमुखी विकास करने तथा उसे निखिल सृष्टि के ऊपर प्रसारि से ही हम ब्रह्म विहार कर सकते हैं तथा असीम परमानन्द का सानिध्य प्राप्त कर स केवल प्रम रहित व्यक्ति ही अपने प्रमास्पद के प्रमोपहारा का उनकी उपयोगिता के मूल्याकन करते हैं किन्तु उपयोगिता क्षणिक एव अपूण होती है। यह हमारे सम्पूण कभी नही ग्रहण कर सकती है।[2] उपयुक्त ईश्वरीय सम्पक अथवा असीम परमा सानिध्य को प्राप्त करने के लिए प्रम ही चरम लक्ष्य है तथा मानवीय अस्तित्व का उद्देश्य है।[3] इस ससार की सारी वस्तुए नश्वर हैं केवल प्रेम अविनाशी है जो मृत्यु पता बताने वाला है तथा जीवन और मृत्यु की दरार को पाटने वाला है। प्रम के अभाव वभव भार है तथा ज्ञान ऐसा क्षुद्र प्रकाश है जो जडता को बढ़ाता है। वस्तुत प्रम वह म उष्मा है जो हृदय को अनिवचनीय तत्त्व प्रदान करता है। आदान म नही प्रदान म ही का वास्तविक आस्वाद सन्निहित है। प्रम के अतिरिक्त अन्य सभी निस्सार हैं।[4]

प्राच्य एव पाश्चात्य विचारकों की प्रेमविषयक उपयुक्त मान्यताओ म अनुसा सामान्य रूप से प्रम क आत्मपरक और वस्तुपरक दो पक्ष प्रकट होत हैं। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि स विचार करने पर ये दोनो पक्ष प्रम की एक ही मूल भावना के दो रूप हैं।

---

1 True love like the sun expands the self Love means perception of beauty A man who has never loved can never realise God that is a fact

—Heart of Rama Swami Ramtirth Pages 130 131 and 133

2 For love is the ultimate meaning of everything around us It is not a mere sentiment it is truth it is the joy that is at the root of all crea tion It is the white light of pure consciousness that emanates from Brahma It is through the heightening of our consciousness into love and extending it all over the world that we can attain Brahma Vihara communion with this infinite joy He who has no love in him values the gifts of his lover only according to their usefulness But utility is tempo rary and partial It can never occupy over whole being

—Sadhana Tagore (1947) P 107

3 To achieve the contact or communion Love is the final aim and pur pose of human existence

—Radhakrishnan From preface to Dilip Kumar Roy s Among the great 1950)

4 All things must die but love alone eludes mortality overleaps the tombs and bridges the chasm of death with generation Our wealth is a weariness and our wisdom is a little light that chills but love warms the heart with unspeakable solace even more than when it is given than when it is received All other things are futile let us cherish it

—The Mansions of Philosophy Will Durant (1929) P 170-171

प्रेम और काम तत्सुखी और स्वसुखी भाव

प्रेम और काम म परमार्थ और स्वार्थ का अन्तर है। प्रेम म जहाँ तत्सुखी भाव की प्रधानता होती है वहाँ काम म स्वसुखी भाव की प्रगाढता है। प्रम म अपने सुख की अपेक्षा अपने प्रमास्पद के सुख की प्रवृत्ति ही तीव्र रहती है किन्तु काम म मनुष्य केवल स्व-सुख की ही आकांक्षा करता है। काम और प्रम के अन्तर को स्पष्ट करते हुए श्रीकृष्णदास कविराज ने बतलाया है कि आत्मेन्द्रिय सुख की इच्छा काम है तो श्रीकृष्ण-सुख की इच्छा प्रेम। काम अन्धतम है तो प्रम निमल भास्कर।[1] आचार्यहजारी प्रसाद द्विवेदी ने जड विषयक अनुराग को काम तथा भगवद विषयक अनुराग को प्रेम की संज्ञा दी है क्योंकि जडात्मक विषयक अनुराग से प्राप्त सुख सुख नहीं सुखाभास है।[2]

प्रेम और काम के उपर्युक्त अन्तर के रहते हुए भी मधुर रसोपासना के अन्तर्गत काम का ऐकान्तिक अभाव नही माना जा सकता क्योंकि इन्द्रियो के माध्यम से ही प्रम अभिव्यक्त होता है। श्री वल्लभरसिक के अनुसार कामरूप के बिना प्रम नही हो सकता तथा जहाँ कामरूप ही है वहा प्रम नही है।[3] तात्पर्य यह है कि प्रेम के लिए कामना आवश्यक है और प्रम के उदय होने पर कामना का विसर्जन ही श्रेयस्कर है। शक्ति और शक्तिमान के नित्य विहार म कामरूप चेष्टाए और क्रियाए तत्सुख सुखित्व की भावना से ओत प्रोत रहती हैं। इसीलिए शक्तिमान के नित्य विहारपरक प्रम मे नित्यता शुद्धता सरसता और अखडता है। यह आदि-अन्तहीन नितनूतन तथा सदा एकरस है।

साराश यह है कि यौन सम्बन्ध से उद्भूत वासनायुक्त प्रम म जहाँ तत्सुख सुखित्व का सर्वथा अभाव रहता है वहाँ शक्ति और शक्तिमान के नित्य विहारपरक प्रम म तत्सुखी भाव ही सर्वस्व माना जाता है। इसमे प्रिया प्रियतम और सभी सहचर और परिकर एक

---

१ आत्मेन्द्रिय प्रीति इच्छा तार कम नाम।
श्रीकृष्णेर प्रीति इच्छा तार प्रेम नम॥
× × ×
अतएव काम प्रेमे बहोत अन्तर।
काम अन्धतम प्रेम निर्मल भास्कर॥
—श्री चैतन्यचरितामृत कृष्णदास कविराज आदिलीला, चतुर्थ परिच्छेद।

२ मध्यकालीन धर्मसाधना आ ह प्र द्विवेदी पृ० २१३।
आदि अन्त जाको भयो सो मन प्रम न रूप।
आवत जात न जानिए जैसे छाँह (अ) रु धूप॥
—ध्रुवदासकृत बयालीस लीला प्रीति चौवनी।
× × ×
छिनहीं चढ़े छिन ऊतरै सा तो प्रम न होय।
अघट प्रम पिंजर बसे प्रम कहावै सोय॥
—कबीरदास।

३ काम रूप बिन प्रेम न होइ।
काम रूप जह प्रेम न होइ॥
—श्रीवल्लभरसिक की वाणी।

दूसरे के प्रीत्यर्थ ही प्रेम-व्यापार में प्रवृत्त होते हैं। जहाँ तुम मेरे हो की अधिकार प्रवृत्ति काम करती है वहाँ प्रेम केवल स्व-सुख की क्षुद्र वासना से परिचालित होता है। इस स्थिति में प्रेम आत्म चैतन्य प्रकाश के रूप में प्रस्फुटित नहीं होता। स्थूल भोग-वृत्ति मांसाचार और इन्द्रियपरायणता के कारण वह काम या मोह कहा जाता है और इससे प्राप्त आनन्द निकृष्ट माना जाता है। किन्तु इसके विपरीत जहाँ 'मैं तुम्हारा हूँ' की समर्पण प्रवृत्ति से प्रेम-व्यापार सम्पादित होता है, वहाँ उसका विशुद्ध रूप प्रकट होता है। इसमें एकमात्र प्रिय का सुख प्रिय की परितृप्ति और प्रिय का आनन्द ही प्रेमी का लक्ष्य होता है। इसके लिए सर्वस्व विसर्जन करने में भी उसे परम सन्ताप का अनुभव होता है। इस विशिष्ट प्रेम दशा में प्रेमी का अपना कुछ नहीं रह जाता। तन, मन, धन सब प्रेमास्पद के सुख और आनन्द के लिए वह समर्पित कर देता है।[1] भारतीय साधना साहित्य में राधा भाव और गोपी भाव का प्रेम इसका आदर्श माना गया है। इसीलिए भक्तजन इस प्रकार के निर्मल प्रेम तथा इससे प्राप्त उदात्त आनन्द को छोड़ कर और किसी दूसरे प्रकार के प्रेम और आनन्द की कल्पना तक नहीं करते, क्योंकि इसी कोटि का प्रेम जीवन्मुक्ति प्रदायक माना गया है।[2]

प्रेम और आनन्द

आनन्द प्रेम का शाश्वत धर्म है। प्रेम और आनन्द चन्द्र और चन्द्रिका के समान एक दूसरे से अभिन्न हैं। प्रेम का मिलन रस तो आनन्द का आगार है ही, इसके विरह रस में भी प्रिय की मधुर स्मृति के रूप में आनन्द का उद्रेक होता रहता है। तभी तो विरही जन विरह-वेदना में तपना भी सुखकर मानते हैं तथा अपने प्रेमास्पद के लिए अपना सर्वस्व गँवा कर भी विलक्षण आनन्द, तृप्ति और सन्तोष का अनुभव करते हैं। प्रेम का यह सानन्द रस नवजीवन प्रदान करने वाला है। साधकों ने प्रेम की इस आनन्दानुभूति का वर्णन अनेक प्रकार से किया है। प्रेम के बादल से जब आनन्द रस की वृष्टि होती है तब अन्तरात्मा सराबोर हो जाती है और समस्त वन राजि अर्थात् बाह्य-जगत भी हरा भरा हो जाता है। तात्पर्य यह है कि प्रेम के आनन्द रस में अन्तर्जगत और बाह्य-जगत को मधुर रस से आप्यायित करने की अप्रतिम शक्ति है। सभी प्रकार के तापों का शमन करके पूर्ण पुरुष से परिचित कराने में यह पूर्णतया समर्थ है।[3]

---

1. तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा॥
   सो मन सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीतिरसु एतनहि माहीं॥
   —तुलसीकृत रामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड और चातकचौंतीसी के दोहे द्रष्टव्य।
2. श्रीमद्भागवत १०, ३३, ३५, ३६, ३७ ३८।
3. कबीर बादल प्रेम का, हम परि बरष्या आइ।
   अंतरि भीगी आत्मा, हरी भई बनराइ॥३४॥
   पूरे सूँ परच्या भया, सब दुख मेल्या दूरि।
   निर्मल कीन्हीं आत्मा, ताथैं सदा हजूरि॥३५॥
   —कबीर ग्रन्थावली, गुरुदेव को अंग, पृ० ४।

आनन्द की उदात्त अनुभूति का आधार : प्रेमतत्त्व

दार्शनिक दृष्टि से प्रेम और आनन्द का मूल स्रोत आत्म दर्शन है। एक ही परम तत्त्व का समष्टि रूप परमात्मा है तथा व्यष्टि रूप आत्मा है। सत चित और आनन्द तीनों की समष्टि ही ब्रह्म है। अतएव आत्मा में भी ब्रह्म के ये तीनों रूप विद्यमान हैं। इसी आधार पर आत्म-साक्षात्कार को ब्रह्म साक्षात्कार और आत्मानन्द को ब्रह्मानन्द माना गया है। ब्रह्म के सत चित और आनन्द ये तीनों रूप मिल कर ही उसके पूर्ण और शाश्वत स्वरूप को अभिव्यक्त करते हैं। ब्रह्म के सत चित और आनन्द ये तीनों ही रूप अनुभव गम्य हैं किन्तु इनमें उसका आनन्द स्वरूप ही सहज बोध गम्य है।[१] निर्गुण निराकार ब्रह्म के सगुण और साकार रूप की अवतारणा का यही रहस्य है। आत्मा भी इसी आनन्द स्वरूप के साक्षात्कार के लिए निर्गुण रूप को त्याग कर सगुण रूप धारण करता है।[२] अपने निर्गुण स्वरूप में आत्मा जीव देह की उपाधि अज्ञान ईश्वर की उपाधि माया प्रकृति के शुद्ध (विशुद्ध सत्व) और अशुद्ध (सत्व रज और तम) गुणों देशकाल कार्य-कारण भाव ज्ञान और द्वन्द्वादि के परे पूर्णनिरुपाधि प्रकाशवान और पूर्ण सत्ता है जो तटस्थ मौन एकरस अचिन्त्य अरूप और अनाम होकर अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को समेट कर व्यक्ति में विद्यमान रहती है। किन्तु आत्मा का सगुण स्वरूप देह और चित्त के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। प्रेमानुभूति से ही आत्मा प्रकाशित होती है तथा आनन्द-कला की ज्योति प्रस्फुटित होती है। निर्विकार प्रेमानुभूति विराट व्यापक और अतिशय प्रभावशाली होती है जिससे अन्तःकरण में स्थित आत्मा का सद्य अनुभव तथा साक्षात्कार होता है तथा जीव जगत और निखिल प्रकृति के रहस्य का उद्घाटन हो जाता है। निर्मल प्रेमानुभूति की इस विशिष्ट भाव दशा में चराचर जगत के सभी पदार्थ एक ही विराट्-सत्ता में सूत्र में गूथे हुए मणिगण के समान संयुक्त प्रतीत होते है।[३] विशुद्ध प्रेमानुभूति की इस विशिष्ट भाव दशा के पहले सब-कुछ निर्जीव निरानन्द और जड मालूम पड़ते हैं किन्तु इस अनुभूति को प्राप्त करते ही सभी प्राणमय आनन्दमय और चेतनमय हो उठते हैं। इसी विशुद्ध प्रेमानुभूति से मनुष्य प्रकृति बंधनों से विमुक्त होता है और देह तथा चित्त से ऊपर उठकर अपनी आत्मा के आनन्दमय स्वरूप से एकाकार हो जाता है।[४]

साराश यह है कि आत्मा ही प्रेम भावना का उद्गम स्थल है। आत्मा के विचार से प्रेम नित्य आत्मा का शाश्वत धर्म है। प्रेम की यथार्थ सत्ता के मर्मोद्घाटन का तथा उसकी उदात्त अनुभूति का एकमात्र आधार आत्म-तत्त्व ही है।[५] चित्त की भूमि पर उदित होने

१ नारद भक्तिसूत्र ५८।

२ हंस शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद्वरसदृतसद् व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्॥
—कठोपनिषद् अ० २, वल्ली २ मंत्र २।

३ मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥७॥ —श्रीमद्भगवद्गीता अ ७ श्लो ७।

४ नारद भक्तिसूत्र सूत्र ४६ ४७ ५ ६ ६८ और ७१।

५ सर्वो हि आत्मास्तित्वं प्रत्येति न नाहमस्मीति। यदि हि नात्मत्व प्रसिद्धिः स्यात् सर्वो लोको नाहमस्मीति प्रतीयात्। —ब्रह्मसूत्र १ १ १ पर शांकरभाष्य।

तथा इन्द्रियों के माध्यम से अभिव्यक्त होने के कारण प्रेम का वृत्ति प्रवृत्ति धर्म के समान प्रतीत होता है। इस प्रकार प्रेम चित्त का गुण ठहरता है क्योंकि वह चित्त से उत्प्रेरित होकर देह के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि देह से सम्बद्ध होकर ही चित्त वृत्तियों को उपजाता है और चित्त से सम्बद्ध देह ही उन वृत्तियों के अनुरूप आचरण करता है। तात्पर्य यह है कि देह सम्बन्ध बिना किसी भी वृत्ति का उदय नहीं होगा।[1] यही सिद्धान्त प्रेम-वृत्ति के सम्बन्ध में भी सिद्ध होता है किन्तु प्रेम वृत्ति के पोषण और विकास के लिए आत्म-तत्त्व का आधार परमावश्यक है। अतः प्रेम के पूर्ण विकास के लिए आत्मा और देह सभी की पूरी पूरी आवश्यकता है। आत्मा रूपी प्रकाश जल पवन आदि के बिना प्रेम बीज का पल्लवन व विकास नितान्त असम्भव है। आत्म-तत्त्व प्रेम विकास में सहायक होकर पुनः आत्मा में ही लौट जाता है। आत्मा प्रेम प्रकाशन के लिए चित्त भूमि पर उतरती है। सब-कुछ काम कर प्रेम पुनः अपने मूल स्थान आत्मा या परमात्मा में ही लौट आएगा। प्रेम रूपी अमर-अग्नि आत्मा से उत्पन्न होकर काष्ठ के समान जड़ क्षणभंगुर देह को समाप्त कर स्वयं पुनः अविकृत रूप में आत्म तत्त्व को ही लौट जाती है। अतः प्रेम का प्रकाशन चित्त या देह के द्वारा ही सम्भव हो सकता है यद्यपि वह अपने आदि रूप में आत्मा में ही निवास करता है। अतः सिद्ध है कि प्रेम आत्मा की ही वस्तु है और वह शाश्वत आत्मा का शाश्वत धर्म है।[2] इस प्रकार आत्म-तत्त्व में निमत्त चित्त भूमि में सञ्चरण करने वाला तथा देहेन्द्रिय को प्रकृत माध्यम से प्रकाशित करने वाला प्रेम ही जीवन का सारभूत पदार्थ है परम पुरुषार्थ है। इसका मधुर पयवमान दिव्य ज्योतिर्मय, सूक्ष्म एवं आनन्दमय आत्म जगत में ही होता है। समस्त आनन्द प्रदायक इन्द्रिय व्यापारों के मूल में आत्मा की प्रेरणा की क्रियाशीलता रहती है। वही प्रेम की मधुर अनुभूति को चेतनता उदात्तता एवं दिव्यता प्रदान करती है। प्रेम की उदात्त अनुभूति की विशिष्ट भाव-दशा में प्रेम आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं रह जाता।[3] ऐसी अवस्था में चित्त और देह के माध्यम से प्रकाशित होने वाला प्रेम प्रकृति धर्म से विरहित हो जाता है और प्रकृति बन्धन का कारण न बनकर मुक्ति की आनन्द प्रदायिका बन जाती है। समस्त अन्तःकरण रूप चित्त जितना ही अधिक निर्विकार होता है शाश्वत आत्मा का शाश्वत प्रेम प्रकाश उतना ही प्रोज्ज्वल होकर आगे इन्द्रियों की ओर विकीर्ण होता है। आत्म तत्त्व की स्निग्ध मनोभूमि पर प्रेम की उदात्त अनुभूति ही भक्ता और सत्ता की प्रेम-साधना का प्रमुख रूप है। यही मधुर रस का शाश्वत स्वरूप है तथा मधुरोपासना का रहस्य है।

१ आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौन्दर्य डॉ० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल, पृ० ६६।
२ वही, पृ० १०१।
3 Love is a condition of Soul Plato Phaedrus P 5
× × ×
Love is God and God is Love'
—Studies in a Dying Culture by Christopher Candwell P 132
' First that love exists only in relation to some object and ecord that that object must be something of which he is at present in want'
—Plato Symposium, P 77 78
—आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौन्दर्य, पृ० १०२ से उद्धृत।

प्रेम वृत्ति के विविध रूप

प्रेम वृत्ति के सम्यक् प्रकाशन के लिए द्वैत की कल्पना अनिवार्य है। उपास्य और उपासक, स्वामी और सेवक, प्रेमी और प्रेमिका और सखा-सखा आदि मानवीय युगल सम्बन्धों के बिना प्रेम वृत्ति चरितार्थ नहीं हो सकती। वस्तुतः प्रेम के अनेक रूप माने गये हैं किन्तु प्रस्तुत मधुर रस के सन्दर्भ में प्रेम के प्रमुख रूपों का संक्षिप्त विवेचन ही अपेक्ष्य है।

प्रेम एक ऐसा सार्वजनीन और सर्वव्यापक भाव है जो लौकिक क्षेत्र में अनेक भूमिकाओं में प्रकट होता है। इसके अतिरिक्त अलौकिक अथवा अद्वितीय प्रेमास्पद के प्रति चरितार्थ होते हुए भी वह कई रूपों में अभिव्यक्त होता है। प्रमुख मानवीय भाव-बन्धनों *तथा उनके अनुरूप की जाने वाली उपासना विधियों के अनुसार प्रेम शान्त, दास्य, सख्य,* वात्सल्य और मधुर (दाम्पत्य) भावों में विशेष रूप से प्रकाशित होता है।

दाम्पत्य-प्रेम

शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य भाव के अन्तर्गत प्रेमानुभूति की वैसी तीव्रता नहीं पायी जाती जैसी दाम्पत्य भाव के अन्तर्गत उसकी तीव्रानुभूति होती है। दाम्पत्य भाव के प्रेम में आत्म-समर्पण अर्थात् तत्सुखे सुखित्व की भावना अपने चरम रूप में चरितार्थ होती है। यही कारण है कि मध्यकालीन धर्म साधना के क्षेत्र में ईश्वरीय प्रेम का सर्वाधिक प्राणमय प्रकाशन उसी प्रसंग में हुआ है जहाँ प्रेमी भक्तों ने अपने प्रेमास्पद भगवान् को कान्ता भाव से ग्रहण किया है। कान्ता भाव के अन्तर्गत भक्त अपने को प्रिया तथा भगवान को अपना प्रियतम मानकर उपासना करता है तथा उसके सभी संयोग वियोग जन्य अन्तर्दशाओं की अनुभूति करता है जिन्हें लौकिक नायिका अपने नायक के मिलन और विरह में अनुभव करती है। संयोग और वियोग की विविध भाव दशाओं में मग्न होकर भावुक भक्त अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त करता है। उसे इस बात का पूरा विश्वास रहता है कि सर्वव्यापक प्रभु प्रेम के वशीभूत होकर ही प्रकट होते हैं। इसीलिए वह सुगति, सुमति, सम्पति, ऋद्धि-सिद्धि, विपुल विभवादि सबको त्याज्य मान कर केवल अनुदिन वर्द्धमान हेतु रहित हरि पदानुराग की कामना करता है।[1] अपने इष्टदेव के प्रति अन्तरंगता तथा तज्जन्य आनन्द-लाभ की दृष्टि से कान्ता भाव की उपासना सर्वश्रेष्ठ मानी गई है।

कान्ता भाव के प्रेमोन्माद में भक्त को अपने प्रेमास्पद भगवान के प्रति एकात्म भाव की उन्मत्त एवं गम्भीर अनुभूति होती है। यहाँ तक कि प्रेमोन्मादना के कारण वह सुध-बुध खो बैठता है और उसकी चेष्टाएँ लोक बाह्य जैसी प्रतीत होती हैं।[2] जीवात्मा और परमात्मा

---

१ प्रभु व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना।

× × ×

चहौं न सुगति सुमति संपति कछु रिधि सिधि बिपुल बड़ाई।
हेतु रहित अनुराग रामपद बढ़ु अनुदिन अधिकाई॥ —रामचरितमानस।

२ निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी॥
दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा। को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा॥
कबहुँक फिरि पाछें पुनि जाई। कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई॥
अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई। प्रभु देखैं तरु ओट लुकाई॥ —रामचरितमानस अरण्यकांड।

के एकात्म भाव की सम्यक् अभिव्यक्ति के लिए भावुक भक्तों एवं सन्तों ने उपासना के क्षेत्र में स्त्री-पुरुष के दाम्पत्य-सम्बन्ध की उद्भावना की है तथा इसके मधुर भाव-सम्बन्धों का प्रतीकात्मक प्रयोग किया है।

सामान्य रूप से प्रेम की तीन कोटियाँ मानी गई हैं। देवता, ऋषि एवं अन्य पूज्य गुरुजनों के प्रति लघुजनों द्वारा की जाने वाली प्रीति को 'श्रद्धा' या 'भक्ति' कहते हैं। समवयस्क मित्रों या प्रेमी प्रेमिका की पारस्परिक प्रीति को 'प्रणय' की संज्ञा दी गयी है। पुत्रादि या अन्य स्नेह भाजन के प्रति गुरुजनों द्वारा की जाने वाली प्रीति को वात्सल्य कहा जाता है। प्रेम की इन तीन कोटियों में समवयस्क प्रेमी प्रेमिका की प्रणय लीला सर्वाधिक व्यापक और प्रभावशाली मानी गयी है क्योंकि प्रेम की इसी कोटि में सम्भ्रम रहित पूर्ण तादात्म्य भाव की मधुर अनुभूति होती है तथा शारीरिक और मानसिक सम्बन्धों का सहज और पूर्ण विकास होता है।[1] अतएव दाम्पत्य भावपरक माधुर्य भाव ही मानवीय प्रेम का उत्तम एवं विकसित रूप है।

ईश्वरीय प्रेम

उपर्युक्त सभी प्रेम रूपों का चरम विकास ही ईश्वरीय प्रेम है। ईश्वरीय प्रेम की सर्वाधिक तीव्रानुभूति तथा सम्यक् अभिव्यक्ति दास्य-सेवक भाव, सख्य भाव और वात्सल्य भाव की अपेक्षा कान्ता भाव में ही सम्भव होती है। इसीलिए निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार के साधना मार्गों में कान्ता भावपरक मधुरोपासना को प्रश्रय दिया गया है। किन्तु इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि निर्गुणोपासक सन्तों ने जहाँ स्वकीया प्रेम[2] को आदर्श मानकर मधुरोपासना में मर्यादित रूप को उपस्थित किया है वहाँ सगुणोपासक वल्लभाचार्यों ने अपने भगवत्प्रेम की तीव्रता को प्रदर्शित करने के लिए परकीया प्रेम[3] को ही आदर्श मान कर अपनाया है। पूर्वराग, प्रेमाकर्षण, भावावेश की तीव्रता, रसोल्लास, प्रेम की परिपूर्णता, नित नूतनता एवं रमणीयता की दृष्टि से भी स्वकीया प्रेम की अपेक्षा परकीया प्रेम अधिक स्पृहणीय माना गया है।

स्वकीया प्रेम की अपेक्षा परकीया प्रेम में प्रेमानुभूति को अति तीव्र बनाने वाले विरह और मान की भी अतिशयता रहती है। प्रेम दर्शन के तत्त्वज्ञों ने विरह को प्रेम की शाश्वत गति कहा है। वस्तुतः विरह ही प्रेम का जीवन है। विरह की आँच में तप कर प्रेम तप्त स्वर्णवत् शुद्ध बन जाता है और प्रेमी के हृदय में 'स्व-सुखीभाव' के बदले तत्सुखीभाव का प्रादुर्भाव हो जाता है। इस प्रकार विरह और मान-समन्वित परकीया भाव मधुर रस के आस्वादन में अति सहायक सिद्ध होता है।

[1] पं० परशुराम चतुर्वेदी लिखित 'हिन्दी काव्यधारा में प्रेम-प्रवाह', पृ० ५१-५७।

[2] करग्रहविधिं प्राप्ताः पत्युरादेशतत्पराः ।
पातिव्रत्यादविचलाः स्वकीयाः कथिता इह ॥
—उज्ज्वलनीलमणि हरिवल्लभा प्रकरण, पृ० ४६।

[3] रागेणैवार्पितात्मानो लोकयुग्मानपेक्षिणा ।
धर्मेणास्वीकृता यास्तु परकीया भवन्ति ताः ॥
—वही, पृ० ५१।

नित्य विहार-प्रेम

तात्त्विक दृष्टि से शक्ति और शक्तिमान के नित्य विहार प्रेम में कभी वियोग नहीं होता। इसमें मिलन विरह से परे समरसता की स्थिति सदैव विद्यमान रहती है तथा शक्ति शक्तिमान के परम विलक्षण मधुर प्रेम रस में निरंतर मग्न रहती है। इसमें संयोग ही संयोग है वियोग कभी होता ही नहीं। अतएव प्रेम को नित नूतन और आस्वाद्य बनाये रखने के लिए सूक्ष्म विरह और सूक्ष्म मान की उद्भावना की गयी है। इस प्रकार के सूक्ष्म विरह और सूक्ष्म मान से संयुक्त प्रेम में प्रिया प्रियतम एक पल भी एक दूसरे से वियुक्त नहीं रह सकते किंतु साथ रहकर विरह सदृश अतृप्ति का अनुभव करते हुए और अधिक सामीप्य की कामना से आनंदित एवं पुलकपूर्ण बने रहते हैं।[१]

भक्तिशास्त्र के अनुसार माधुर्य प्रेम के पाँच प्रकार के रसों में से शान्त रस की सिद्धि प्रेम की अवस्था तक दास्य रस की सिद्धि राग की अवस्था तक सख्य और वात्सल्य रस की सिद्धि अनुराग की अवस्था तक होती है। इनमें मधुर ही एक ऐसा विलक्षण रस है कि वह भाव की अवस्था तक पहुँचने में समर्थ है। भाव के दो भेदों में रूढ़-दशा तक कृष्ण महिषी गण (स्वकीयाएं) तथा अधिरूढ़ दशा तक केवल गोपियाँ (परकीयाएं) ही पहुँच पाती हैं। अतएव प्रेम की चरम परिणति—महाभाव दशा की प्राप्ति का एकमात्र श्रेय परकीया भाव का ही है।

मधुर रस आत्मा का रसमय अनुभव

प्रेम का प्रमुख धर्म आत्मा को तृप्त करना है। यह आत्म-तृप्ति श्रद्धा भक्ति वात्सल्य दाम्पत्य आदि किसी भी प्रेम रूप से संभव हो सकती है किन्तु इसके लिए प्रेम की उच्चता परमावश्यक है। प्रेम सम्बन्धों में दीप शिखा सा मनुष्य की ऊर्ध्वमुख चेतना या आत्मतत्त्व का जितना ही अधिक समावेश होता है प्रेम उतना ही व्यापक उदात्त और दिव्य बनकर आत्मा को संतृप्त मुक्त और विमल बनाने में समर्थ होता है। तात्पर्य यह है कि प्रेम मनुष्य को स्व की क्षुद्र सीमा से बाहर निकाल कर पर की सीमा का अतिक्रमण करते हुए सर्व के निस्सीम लोक में पहुँचाने वाला है। इस विशिष्ट अवस्था में प्रेम आत्मा के रसमय अनुभव के रूप में सिद्ध होता है तथा जीवन की पूर्णता का परिचायक बन जाता है। आत्मा के इसी रसमय अनुभव से अनिर्वचनीय आनन्द और शान्ति उपलब्ध होती है। साधना के क्षेत्र में मधुर रस साधना के सन्निवेश एवं कान्ता भाव की मधुरोपासना का यही एकमात्र लक्ष्य है। मधुर रस की दृष्टि से प्रेम सृष्टि का सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक नियम है। यही शाश्वत आत्मा का चिरंतन धर्म है। संक्षेप में प्रेम ही जीवन की संजीवनी शक्ति है वही मनुष्य की भौतिक और आध्यात्मिक कर्म-कौशल की प्रतिभा है वही दिव्य चेतना की स्फूर्ति है तथा सृष्टि और आनन्द की अमर प्रेरणा है। इसीलिए सामान्य रूप से प्रेम को धर्म अर्थ, काम और मोक्ष से परे पंचम पुरुषार्थ की संज्ञा दी गयी है। भावुक भक्तों ने उपास्य और उपासक के बीच कान्ता भावपरक मधुर प्रेम-सम्बन्ध की उद्भावना द्वारा प्रेम के पूर्ण रूप को प्रतिष्ठित किया है।

---

१ ब्रजभाषा के कृष्ण-काव्य में माधुर्य भक्ति डॉ॰ रूपनारायण, पृ॰ १५४।

इस प्रकार प्रेम-दर्शन का सिद्धान्त 'अपूर्ण' को 'पूर्ण' से मिलाने का तथा उस पूर्णता प्राप्त करने का विलक्षण साधन है। इसकी सबसे बड़ी विलक्षणता यह है कि प्रेम भावना की यह उदात्त अनुभूति इन्द्रियों के माध्यम से भी प्राप्त होती है। अतएव प्रेम-दर्शन के इस रहस्य को जानने वाले साधक और कवि इन्द्रियों की सहजानुभूति के माध्यम से ही मुक्ति पाने की कामना करते हैं। ऐसा वे इसीलिए करते हैं कि उनकी दृष्टि में निखिल-सौन्दर्य रसानन्द स्वरूप ब्रह्म भी अपने-आपको इन्द्रियों में अभिव्यक्त कर रहा है। इस तरह प्रेम-दर्शन और उसके व्यावहारिक रूप का सारभूत तत्त्व मधुर रस ही है जो बन्धनों के बीच मधुर मुक्ति की उपलब्धि और तज्जन्य आनन्द रस के आस्वादन का अभिनव सोपान है।

चतुर्थ खण्ड

मधुर रस का काव्यशास्त्रीय विवेचन

'रस' के विभिन्न अर्थ

'रस' शब्द अनेकार्थी है। प्रायः इसका प्रयोग किसी तरल पदार्थ, मिठास, लुनाई, प्रेम, आनन्द, प्रीति भाव, इन्द्रिय-सुख, रति भाव आदि अर्थों में किया जाता है। ऊख का रस, आम का रस, रसगुल्ले का रस—ऐसा कहने से किसी विशेष पदार्थ की तरलता का ही बोध होता है किन्तु षटरस भोज्य-पदार्थ के वर्णन द्वारा एक ही साथ कटु, तिक्त, कषाय, अम्ल, लवण तथा मधुर रसों का परिज्ञान होता है। इसमें तरलता के बदले किसी विशेष पदार्थ के विशिष्ट गुण का ही बोध कराया जाता है। इसी तरह जब हम वाणी के रस की चर्चा करते हैं तब उससे वाणी की कोमलता एवं मधुरता का ही संकेत मिलता है। इसी प्रकार 'रस छलकना', 'रस बरसाना', 'रस झरना', 'रस भींगना' आदि से प्रीति भाव, प्रेम प्रवणता, प्रमोल्लास, प्रेमानन्द और आनन्दातिरेक की अभिव्यंजना की जाती है। 'रस' को गोरस मान कर 'इन्द्रिय-सुख' तथा 'गो-दुग्ध' के अर्थों में भी इसके पर्याप्त प्रयोग मिलते हैं।[1] कभी कभी शब्द, रूप, गन्ध, स्पर्शादि गुणों के साथ 'रस' शब्द का प्रतिष्ठापन किया जाता है। 'रसरंग', 'रसकेलि', 'रस-तरंग', 'रस रास', आदि द्वारा कभी कभी रतिभाव का द्योतन कराया जाता है। कविगण कभी-कभी रूप रस की उद्भावना करके सौन्दर्य के [illegible] धर्म में आती जैसी चमत्कारक तरलता का प्रकाशन करते नहीं थकते। सहृदय प्रयोजन रूप रस का पान करते नहीं अघाते।[2] भक्तों को यही रस भक्ति रस, हरि रस, नाम रस, राम रस और कथामृत बनकर आप्यायित करने वाला है जिसका एक बार पान कर लेने के बाद फिर उसकी खुमारी कभी नहीं उतरती।[3] यही रस कहीं बतरस बनकर प्रेमी और प्रेमिका के बीच अपूर्व माधुर्य भाव की सृष्टि करने वाला है जिसके लालच में पड़कर नायक नायिका अनेक प्रकार की भंगिमाओं का अवलम्बन करते हैं।[4]

---

१ गोरस ढूँढ़त फिरत हो, गोरस चाहत नाहिं।

× × ×

'गोरस के काज लाज बस के बहाइबो।

२ रूप रस पीवत अघात ना हुते जो तब,
सोई अब आँखि ह्वै उबरि गिरिबो करैं। —रत्नाकर उद्धवशतक।

३ 'हरिरस पीया जानिए, कबहुँ न मिटै खुमार।
—कबीर।

४ बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै भौंहनि हँसै, देन कहै, नटि जाय॥ —बिहारीलाल।

आयुर्वेद में रस शब्द के प्रयोग रसायन, पारद, वीर्य, जल आदि के अर्थों में मिलते हैं। वहाँ भक्ष्य, चोष्य, लेह्य और पेय—इन चार प्रकार के भोजनों के योग द्वारा रसायन की उत्पत्ति कही गयी है। यह रस जलरूप, श्वेत, शीतल, मधुर, स्निग्ध और गतिशील है जो शरीर और धातुओं को पुष्ट करने वाला है। प्रसंग के अनुसार अनेक अर्थों में रस शब्द के प्रयोग किये गए हैं। सारांश यह है कि रस आनन्द-स्वरूप है तथा आस्वाद्य है।

विश्वकोश में गन्ध, स्वाद, विष, राग, शृंगार, द्रव, वीर्य, जल, पारद आदि के लिए रस शब्द प्रयुक्त हुआ है।[1] अमरकोश में धी वर्ग में रूप, गन्ध आदि के साथ रस का वर्णन किया गया है।[2] पुनः इसी वर्ग में तिक्तादि षटरसों की भी चर्चा की गयी है।[3] वैश्य वर्ग में पारद तथा नानार्थ वर्ग में शृंगारादि के लिए रस शब्द के प्रयोग किये गए हैं।[4]

वेद और उपनिषदों में 'रस' शब्द के प्रयोग

रस शब्द का सबसे प्राचीन प्रयोग वेदों में मिलता है। ऋग्वेद में गो-दुग्ध[5], सोमरस[6] (मधुपेय) और उदक[7] के लिए प्रायः रस शब्द के प्रयोग मिलते हैं। अथर्ववेद में भी मधुरस (सोमरस), गो-दुग्ध तथा उदक के अर्थ में रस शब्द का व्यवहार किया गया है।[8] वेदों में जिन अर्थों के पर्याय के रूप में रस शब्द प्रयुक्त हुआ है उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि रस में स्वाद की भावना ही प्रमुख है। इसी के आधार पर उपनिषदों में रस को प्राण-स्वरूप मानकर उसे सारभूततत्त्व की संज्ञा दी गयी है।[9] तैत्तिरीयोपनिषद में ब्रह्म को रसरूप मानकर उसे ही वास्तविक आनन्द-स्वरूप बतलाया गया है। जरा-मरण के चक्र में निरन्तर पिसने वाली जीवात्मा रसरूप सच्चिदानन्द परब्रह्म को प्राप्त कर ही परमानन्द को प्राप्त होती है।

---

१ रसो गन्धे रसे स्वादे तिक्तादौ विषरागयोः।
शृंगारादौ द्रवे वीर्ये देहधात्वम्बुपारदे॥ —विश्वकोश।

२ रूपं शब्दो गन्ध रस स्पर्शाश्च विषया अमी। —अमरकोश पंक्ति २६१।

३ तिक्तो अम्लश्च रसाः पुंसि तद्वत्सु षडमी त्रिषु। —वही पंक्ति २६५।

४ शृंगारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रस। —वही पंक्ति २७८-२७९।

५ 'जम्भे रसस्य वावृधे'। ऋ० वे० मं० १। अ० ८। सू० ३७।५

६ वृष्णे त इन्दुर्वृषभ पीपाय स्वादू रसो मधुपेयो वराय॥ —मं० ६। अ० ४। सू० ४४।२१

७ यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः॥ —ऋ० मं० १०। सू० अ० १।९।२

८ रसो गोषु प्रविष्टो यः —अथर्व० १४.२.५८।
रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः। —वही १०.८.४४।

× ×

दिवो नु मां बृहतो अन्तरिक्षाद् अपां स्तोको अभ्यपप्तद्रसेन।
समिन्द्रियेण पयसाऽहमग्ने छन्दोभिर्यज्ञैः सुकृतां कृतेन। —अथर्व० ६.१२४.१

९ सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानां हि रसः प्राणो वा अङ्गानां रसः प्राणो हि वा अङ्गानां रसस्तस्माद्यस्मात्कस्माच्चाङ्गात्प्राण उत्क्रामति तदेव तच्छुष्यत्येष हि वा अङ्गानां रसः॥ १९॥
—बृहदारण्यकोपनिषद् तृतीय ब्राह्मणम्॥

जो पुण्यस्वरूप ब्रह्म है वही तृप्ति का हेतु रस के तुल्य आनन्द देने वाला है। यह जीवात्मा उस प्रकार के आनन्द को पाकर ही आनन्दयुक्त होता है। वैसा आनन्द और सुख अन्य किसी कर्म से नहीं मिलता क्योंकि वह परमेश्वर आनन्द स्वरूप है। इस कारण उससे मेल करने वाले को वही आनन्दित करता है। यदि यह निराकार प्रकाशमान आनन्द स्वरूप परमेश्वर न हो तो कौन अपना सम्बन्धी जीने की चेष्टा करे? इस प्रकार मधु से मधुरता का बोध होता है और मधुरता से आनन्द का द्योतन होता है, जिसका प्रतिपादन तैत्तिरीयोपनिषद में किया गया है।[1]

इस प्रकार रस के भौतिक और मानसिक दो रूप स्पष्ट हो जाते हैं। भौतिक रूप में रस स्थूल इन्द्रिय-सुख या आस्वाद का बोध कराने वाला है।

छान्दोग्योपनिषद में रस के आठ प्रकारों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि इन निखिल प्राणियों का रस आधार पृथिवी है पृथिवी का रस जल है जल का रस उस पर निर्भर करने वाली ओषधियाँ हैं, ओषधियों का रस उनसे पोषण प्राप्त करने वाली पुरुष देह है, पुरुष का रस वाणी है वाणी का रस ऋचा है ऋचा का रस साम है और साम का रस उद्गीथ है।[2]

नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरत ने अथर्ववेद से रस को ग्रहण कर उसे नाट्य में प्रधान तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि में रस के बिना कोई नाट्यार्थ प्रवर्तित नहीं हो सकता।[3] दूसरे शब्दों में वे रस को नाट्य में सौरभ और सौन्दर्य का विधायक मानते हैं।

'शतपथ ब्राह्मण' में 'रस' को मधु के पर्याय के रूप में माना गया है। 'ब्रह्म रसमय है और रसमय मधुमय' है। ('रसो वै मधु'—शतपथ ब्राह्मण)। यह जड जगत चिज्जगत का प्रतिफलन है। चिज्जगत जगत में विपर्यस्त होकर जड-जगत में स्थूल रूप धारण कर लेता है। विपर्यस्त प्रतिफलन के कारण चिज्जगत और जड जगत में रसों की स्थिति का क्रम भी उल्टा हो जाता है। चिज्जगत में सबसे ऊपर मधुर रस, उसके बाद क्रमशः वात्सल्य सख्य दास्य और शान्त की स्थिति है किन्तु जड जगत में सबसे ऊपर शान्त उसके बाद क्रमशः दास्य सख्य वात्सल्य और सबसे निम्नस्थ मधुर रस की स्थिति है। वस्तुतः परम वस्तु रस रूप तत्त्व है और यह सारा जगत उससे ओत प्रोत है। फलतः यह

---

1 'रसो वै सः ॥ रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति ॥ को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात् ॥ यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् ॥ एष ह्येवानन्दयाति ॥ (सप्तमोऽनुवाक)
—तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्ली ॥२॥

— —

'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् ॥ आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ॥ आनन्देन जातानि जीवन्ति ॥ आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ॥ सैषा भार्गवी वारुणी विद्या ॥
—वही, भृगुवल्ली, षष्ठोऽनुवाक।

— —

'प्रशान्तिसमृद्धममृतम्' इत्युपास्ते' ॥ —वही दशमोऽनुवाक।

2 एषां भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपो रसोऽपामोषधयो रसः ओषधीनां पुरुषो रसः पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग्रस ऋचः साम रसः साम्न उद्गीथो रसः ॥२॥ स एष रसानां रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः ॥३॥ —छान्दोग्योपनिषद् प्रथमोऽध्याय प्रथम खण्ड ॥१॥

3 'न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते। —नाट्यशास्त्र षष्ठाध्याय, स. बलदेव उपाध्याय पृ. ७१।

सम्पूर्ण सृष्टि मधुमय है। इसका अणु अणु मधु रससिक्त है। प्रकृति म एक से एक मधुर स्वाद भर हैं। दाख क अणु अणु म कौन इतनी माधुरी भर देता है? पुष्पों के पराग म या मधुकोष म जो मधुरिमा है उसका स्रोत कहाँ है? वेदो म सूय की रश्मियो को मधु की नाडियाँ कहा गया है। य अनन्त रहस्यपूर्ण रश्मियाँ ही नाना पदार्थों की सृष्टि कर रही हैं। इनम ही मधुर स्वाद की उत्पत्ति का एक विचित्र रहस्य विद्यमान है। प्रकृति के भौतिक धरातल पर जिस मधुरता का हम आस्वादन करत हैं वह किसी एक घटना का परिणाम नही है। प्राण के धरातल पर जो क्रिया सृष्टि है जो प्राण मात्रा है उसम भी उन मधु नाडियो का रश्मि जाल फैला हुआ है। वस्तुत प्राण के आधिदविक धरातल से ही उतर कर वह मधु रस स्थूल भूता म आता है। प्राणा म जो मधु है वही लौकिक जगत म रूपायित होता है। स्थूल भूतो का मधु तो उसी की अनुभूति है। प्राणो म जो माधुय का अनुभव है वह और भी सूक्ष्म स्रोतो से आता है। वह प्रज्ञा मात्रा या मन का धरातल है। मधु रस का उद्गम वही कही है। जो मन बाह्य विषयो से मिठास पाता है वही जब मुड कर भीतर की ओर मिठास खोजता है तब उसे अपने ही चैतन्य-केन्द्र म मधु का भरा हुआ पात्र प्राप्त हो जाता है। इसी मधु कोश की प्राप्ति दिव्य मनोराग का आस्वाद है। इस अभय मधु-कोश का पता पा लेने पर हमारी वृत्तियाँ मधु पर टूट पडने वाली मक्खियो की तरह अपने आपको उस पर न्याछावर कर देती हैं। इसी मधु रस की उपलब्धि जीवन का उपनिषद है।

भरत के बाद दश्य तथा श्रव्य दोनो प्रकार के काव्य शास्त्रियो ने प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप स रस सिद्धान्त के विकास म महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। अलकारवादियो म भामह दण्डी उद्भट और रुय्यक वक्रोक्तिवादी कुन्तक औचित्यवादी क्षेमेन्द्र ध्वनिवादी आनन्दवधन तथा पडितराज जगन्नाथ ने रस सिद्धान्त को प्राजल एव प्रौढ बनाने के स्तुत्य प्रयास किय हैं। नाट्यशास्त्र का प्रणयन करने वाले धनजय शारदातनय सिंगभूपाल रामचन्द्र गुणचन्द्र आदि न भी रस शास्त्र को नवीन वचारिक विभूति से अलकृत करने के प्रशसनीय काय किये हैं। रसवादी भोज और भानुदत्त ने भी इस दिशा म नवीन स्थापनाओ द्वारा इसे नई दृष्टि दी है।

इस प्रकार भरत सूत्र के व्याख्याता लोल्लट शकुक भट्टनायक और अभिनवगुप्त पण्डितराज जगन्नाथ ध्वनिविरोधी महिम भट्ट ने भारतीय दर्शनो की मिट्टी लगा कर इस पौध को प्रवृद्ध होने और विराट होकर सब पर छा जाने का सामर्थ्य प्रदान किया है और लोक भूमि का सहारा लेकर भी अलौकिक ब्रह्मानन्द की समानता म उपस्थित होने वाले रस को महनीय और काम्य बना दिया है। इसी प्रकार भगवद्गीता के रस म भीग हुए तरल हृदय गौडीय गोस्वामी वग ने प्रेम और माधय के साथ-साथ भक्त के हृदयवेग का पुट देकर रस का सवथा एक नवीन पटभूमि प्रदान कर दी है जिससे रसा की सख्या म विशेष वद्धि होन का अवसर मिला है। अवश्य ही इस काय के लिए श्री जीवगोस्वामी रूपगोस्वामी तथा मधुसूदन सरस्वती का नाम सदव स्मरणीय रहगा।[1] भक्तिरसामृतसिन्धु के अवगाहन करने वाले इन रसवादी आचार्यों क आशीर्वाद स सम्पूर्ण सगुणमार्गी काव्य साहित्य एकबारगी चमत्कृत हो उठा है साथ ही निगुणमार्गी काव्य साहित्य पर भी इस विचार सरणि का

१ रस सिद्धान्त स्वरूप और विश्लेषण आनन्दप्रकाश दीक्षित पृ ४ ।

व्यापक प्रभाव पड़ा है जिसके परिणाम-स्वरूप निर्गुणोपासना के अंतर्गत भी माधुर्यमय रहस्यवाद के मनोरम, सूक्ष्म, अतीन्द्रिय एवं अलौकिक भाव-लोक की सृष्टि हुई है।

रस की कल्पना

नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरत मुनि के अनुसार 'द्रुहिण' नाम के किसी आचार्य ने सर्वप्रथम रस की कल्पना की।[1] स्वयं भरत मुनि ने पहले शृंगार, रौद्र, वीर और बीभत्स इन चार रसों की ही कल्पना की।[2] परन्तु 'अग्निपुराण' के अनुसार जो अक्षर परब्रह्म सनातन अज और विभु है उसका सहज आनन्द यदा-कदा अभिव्यक्त हो जाता है। यह अभिव्यक्ति चैतन्य चमत्कारपूर्ण और रसमय होती है। उसके आदिम विकार को अहंकार की संज्ञा दी गयी है। अहंकार से अभिमान (ममता) की उत्पत्ति हुई, जो त्रिभुवन में व्याप्त है। उस अभिमान से रति उत्पन्न होकर परिपुष्ट हुई। तदनन्तर राग (रति) से शृंगार, तीक्ष्णता से रौद्र, गर्व से वीर और संकोच से बीभत्स रस की उत्पत्ति हुई। इसके बाद पुनः शृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और बीभत्स से भयानक रसों की अवतारणा हुई।[3]

ईश्वर रसरूप है। श्रुतियों ने भी 'रसो वै सः' कहकर उसकी पुष्टि की है। अतएव रसरूप ईश्वर को रसों का आधार मानना तथा उसके द्वारा रसों का विकास दिखलाना सर्वथा समीचीन प्रतीत होता है। रस वस्तुतः रसरूप ब्रह्म के आनन्द की ही

---

१ एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना।
पुनश्च भावान् वक्ष्यामि स्थायिसञ्चारिसत्त्वजान् ॥१६॥ —नाट्यशास्त्र षष्ठाध्याय पृ० ६६।

२ तेषामुत्पत्तिहेतवश्चत्वारो रसाः। तद्यथा शृङ्गारो रौद्रो वीरो बीभत्स इति ॥ —वही पृ० ७१।

३ अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम्।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम् ॥१॥
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया ॥२॥
आद्यस्तस्य विकारो यः सोऽहङ्कार इति स्मृतः।
ततोऽभिमानस्तत्रेदं समाप्तं भुवनत्रयम् ॥३॥
अभिमानाद्रतिः सा च परिपोषमुपेयुषी।
व्यभिचार्यादिसामान्याच्छृङ्गार इति गीयते ॥४॥
तद्भेदाः काममितरे हास्याद्या अप्यनेकशः।
स्वस्वस्थायिविशेषोऽथ परिपोषस्वलक्षणाः ॥५॥
सत्त्वादिगुणसन्तानाज्जायन्ते परमात्मनः।
रागाद्भवति शृङ्गारो रौद्रस्तैक्ष्ण्यात्प्रजायते ॥६॥
वीरोऽवष्टम्भजः सङ्कोचभूर्बीभत्स इष्यते।
शृङ्गाराज्जायते हासो रौद्रात्तु करुणो रसः ॥७॥
वीराच्चाद्भुतनिष्पत्तिः स्याद्बीभत्साद्भयानकः।
शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः ॥८॥
बीभत्साद्भुतशान्ताख्याः स्वभावाच्चतुरो रसाः।
लक्ष्मीरिव विना त्यागान्न वाणी भाति नीरसा ॥९॥

—अग्निपुराण तृतीय अध्याय (रस निरूपणम्)

अभिव्यक्ति है। आनन्द का यथार्थ उद्रेक ही रसत्व को प्राप्त होकर विभिन्न रसों की सृष्टि करता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि शृंगार, वीर, रौद्र और बीभत्स इन चार मुख्य रसों के बाद पुन आठ रसों की उद्भावना की गई। काव्यप्रकाशकार ने भी पहले आठ ही रसों और उनके आठ स्थायी भावों की चर्चा की।[1] बाद में उन्होंने निर्वेद को नवम स्थायी भाव कहकर शान्त रस नामक नवम रस की उद्भावना की।[2] ये स्थायी भाव ही विभाव, अनुभाव और संचारी भाव की सहायता से लोकोत्तर आनन्द रूप में परिणत होकर अभिव्यक्त होते हैं और रसत्व की संज्ञा प्राप्त करते हैं।

भरतोक्त आठ रसों के अतिरिक्त अन्य रसों की स्वीकृति के सम्बन्ध में विद्वानों द्वारा काफी तक वितर्क किये गये हैं। शान्त रस की स्वीकृति के सम्बन्ध में भी काफी विवाद है। शान्त रस के समर्थक विद्वान उसकी प्राचीनता बतलाते हुए प्राचीन शान्त रस प्रधान ग्रन्थों के आधार पर उसे परम्परया स्वीकृत मानते हैं। अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र में आई हुई क्वचिद्धर्म क्वचित्क्रीडा क्वचिदर्थ क्वचिच्छ्रम तथा इसी तरह की अन्य कुछ उक्तियों के आधार पर उसे भरत-सम्मत ही माना है।[3] आनन्दवर्धन, पण्डितराज जगन्नाथ आदि आचार्यों ने महाभारतादि शान्त रस प्रधान ग्रन्थों के आधार पर भरतोक्त आठ रसों का विवेचन करते हुए काव्यप्रकाशकारोक्त शान्त रस को भी नवम रस के रूप में स्वीकार किया है।

रसगंगाधरकार ने लिखा है कि जो लोग नाटकों में शान्त रस को नहीं मानते हैं उन्हें भी किसी प्रकार की बाधा न होने के कारण एवं महाभारतादि ग्रन्थों में शान्त रस ही प्रधान है यह बात सब लोगों के अनुभव से सिद्ध होने के कारण उसे काव्यों में अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। इसी कारण मम्मट भट्ट ने भी अष्टौ नाट्ये रसास्स्मृता इस तरह प्रारम्भ कर

---

१ शृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्य ष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥२९॥
× × ×
रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चैव स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः॥३०॥
—काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास।

२ निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः।
रतिर्देवादिविषया तथाऽञ्चित भाव प्रोक्त ॥३५॥ —वही।

३ प्रतीयत एवेति। मुनिना यतोऽयमत एव क्वचिच्छ्रम इत्यादि वदता।
—लोचन पृ० ३६१।
× × ×
दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रामजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति॥ ११४ और ११२ द्रष्टव्य।
—नाट्यशास्त्र प्रथमोऽध्याय।
× × ×
धर्मकामोऽर्थकामश्च मोक्षकामस्तथैव च।
स्त्री पुंसयोस्तु संयोगो यः कामः स तु संस्मृत ॥६१॥
—नाट्यशास्त्र, अ० २४/६१।

शान्तोऽपि नवमो रस ' इस तरह लिख कर उपसंहार किया है ।[1]

इसके विपरीत शान्त रस के विरोधी भरत द्वारा इसके स्वीकृत नहीं होने के कारण इसे विक्रियाजनक, असार्वजनीन अनभिनेय एवं नाटक के लिए अग्राह्य मानते हैं । दूसरी बात यह है कि शान्त रस में राग द्वेषाभाव के कारण हृदय संवाद संभव नहीं है ।[2] तीसरी बात यह है कि शान्त रस का अन्तर्भाव वीर तथा वीभत्स रस में संभाव्य है । इस प्रकार उपर्युक्त कारणों से शान्त रस को एक स्वतन्त्र रस के रूप में मानने का कोई प्रयोजन उसके विपक्षियों को नहीं प्रतीत होता ।

इस प्रकार शान्त रस को एक स्वतन्त्र रस की कोटि में रखा जाय कि नहीं इसमें सम्बन्धित खण्डन मण्डनपरक पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है । अधिकांश विद्वान शान्त रस के स्थायीभाव शम या निर्वेद या तृष्णाक्षय अथवा आत्म विश्रामजन्य परमानन्द के महत्त्व को मानते हुए शान्त रस की अवस्थिति को आवश्यक ही नहीं अनिवार्य मानते हैं । महर्षि कृष्णद्वैपायन के कथनानुसार संसार में जितने कामप्रद सुख हैं जितने दिव्य और महान सुख हैं वे तृष्णा-क्षय-सुख के सोलहवें भाग के बराबर भी नहीं हैं ।[3] मानव जीवन में त्याग द्वारा ही सच्ची शान्ति और परमानन्द की प्राप्ति होती है । ऐसी स्थिति में शान्त रस की अस्वीकृति असम्भव है । शान्त रस के अनेक आचार्यों ने वात्सल्य का प्रकट चमत्कार वाला होने के कारण दसवें रस के रूप में स्वीकार किया तथा वात्सल्य रूपी स्नेह को इसका स्थायी भाव माना । पुत्रादि ही इसके आलम्बन हैं । बाल सुलभ चेष्टाएं आदि उद्दीपन हैं । आलिंगन अंग स्पर्श सिर चुम्बन अंग पुलक आनन्दाश्रु आदि इसके अनुभाव हैं और अनिष्ट शंका हर्ष, गर्व आदि संचारी भाव हैं ।[4] पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने 'वात्सल्य रस

---

१ यद्यपि नाट्ये शान्तो रसो नास्तीत्यभ्युपगम्यते तथापि बाधकाभावात् महाभारतादिप्रबन्धानां शान्तरसप्रधानतया अखिललोकानुभवसिद्धत्वाच्च काव्ये सो ऽवश्यं स्वीकार्यः । अतएव 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृता' इत्युपक्रम्य 'शान्तोऽपि नवमो रस' इति मम्मटभट्टैरभ्युपगमः ।

—रसगंगाधर पृ० ३० ।

२ अन्ये तु वस्तुतस्तस्याभावं वर्णयन्ति—अनादिकाल—
प्रवाहायातरागद्वेषयोरुच्छेत्तुमशक्यत्वात् । —दशरूपक चतुर्थ प्रकाश
× × ×
न च तथाभूतस्य शान्तरसस्य सहृदयाः स्वादयितारः सन्ति ।

—वही ।

३ यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥

—महर्षि कृष्णद्वैपायन ।

४ स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः ।
स्थायी वत्सलतास्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम् ॥२५१॥
उद्दीपनानि तच्चेष्टा विद्याशौर्यदयादयः ।
आलिंगनांगसंस्पर्शशिरश्चुम्बनमीक्षणम् ॥२५२॥
पुलकानन्दबाष्पाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः ।
संचारिणोऽनिष्टशंकाहर्षगर्वादयो मताः ॥२५३॥
पद्मगर्भच्छविर्वर्णो दैवतं लोकमातरः । —साहित्यदर्पण तृतीय परिच्छेद ।

नीपक निबन्ध म इसके ऊपर काफी विस्तार के साथ विचार किया है। शान्त रस के सम्बन्ध मे भी काफी तक वितर्क किये गए हैं किन्तु एतद्विषयक प्रचुर काव्य सम्पदा को देखते हुए अधिकाश विद्वानो ने वात्सल्य को एक स्वतन्त्र रस के रूप म स्वीकार किय जाने का समर्थन किया है।

रसा की सख्या यही तक आकर समाप्त नही हुई है। इनके अतिरिक्त नय नये रसा की कल्पना होती रही है जिनम मधुर रस या भक्ति रस या उज्ज्वल रस सख्य रस लौल्य रस मृग्य रस कार्पण्य रस क्रीडनक रस वाह्य प्रशा त तथा माया रस प्रणाम और भ्रान्ति रस देशभक्ति रस आदि अनेक रसा की उदभावनाए की गयी हैं जिनम मधुर रस विशेष रूप से उल्लेखनीय एव महत्वपूर्ण है। इस सम्बन्ध म वास्तविकता यह है कि भाव ही उत्कर्ष पाकर रस का स्वरूप धारण करते हैं। रस आनन्द का वाचक है। आनन्द अखण्ड एव सदा एक रस है। अत उसका भेद नही किया जा सकता। फिर भी आनन्दानुभूति के कई साधन हो सकते हैं। आन द का मूल चित्त की अद्वयता है। जिस समय चित्त एकाग्र होकर किसी एक विषय म मयुक्त हो जाता है उस समय आत्मा अपने स्वाभाविक आनन्द की स्थिति म पहुच जाती है। रस को जिस समय हम आन द रूप म ग्रहण करते हैं उस समय वह सदा एकरस और अविभाज्य रहता है। परन्तु रसोत्पत्ति करने वाले भिन्न भिन्न कारणो पर दृष्टि डालने से उसके अलग अलग विभाग करने की आवश्यकता हो जाती है। रसो की सख्या वृद्धि के लिए रसो पत्ति करने वाले ये भिन्न भिन्न कारण भी बहुत हद तक उत्तरदायी हैं।

रसो की सख्या वृद्धि के सम्बन्ध म दूसरी विचारणीय बात यह है कि इन सारे रसो का सम्बन्ध मनुष्य की प्रवृत्तियो और तज्जन्य भावात्मक गुणो (Emotional Qualities) से है। मनुष्य मे सामान्यत पलायन (Escape) सघर्ष (Combat) हटाव या दूरीकरण (Repulsion) वात्सल्य रक्षा (Parental) प्रजनन (Pairing) औत्सुक्य (Inquisitive ness) अधीनता (Submission) अस्तित्व स्थापन (Assertion) सामाजिकता (Sociality) भोजनोपार्जन (Food seeking) प्राप्ति (Acquisition) निर्माण (Construction) और हास्य (Laughter) की प्रवृत्तियाँ होती हैं जिनके अनुरूप क्रमश भय (Fear) क्रोध (Anger) घृणा (Disgust) स्नेहादि कोमल भाव (Tender Emotion) दुख (Distress) काम (Lust) जिज्ञासा या कौतूहल (curiosity) दैन्य (Feeling of subjection) आत्म गौरव (Elation) मिलनेच्छा (Feeling of loveliness) क्षुधा या इच्छा (Appetite of craving) अधिकार या स्वत्व स्थापन (Feeling of ownership) निर्माणोत्साह (feeling of creativeness) और प्रसन्नता (Amusement) के भावात्मक गुण पाये जाते हैं।

उपयुक्त सारी प्रवृत्तियाँ और उनम सम्बन्धित सारे भावात्मक गुण परम्परया स्वीकृत शृगार हास्य करुण रौद्र वीर भयानक अद्भुत वीभत्स और शान्त रसो और उनके सचारी भावो के अन्तर्गत समाविष्ट किए जा सकते हैं। किन्तु मानव जीवन के वैविध्य विस्तार और उसके स्वभावो की सकुलता को देखते हुए मनुष्य के भावो की कोई सीमा रेखा नही खीचा जा सकती। अतएव नवरसेतर रसो की उद्भावनाए कपोल कल्पित एव निरर्थक नही मानी जा सकती। मनुष्य के नवोन्मेषशील मानस एव उसमे सम्बन्धित प्रचुर काव्य कलात्मक

अभि यक्तियों के अनुरूप नये नये रसों की उदभावना सर्वथा स्वाभाविक समीचीन एवं अपरिहार्य है।

रसों की सख्या-वृद्धि के सम्बन्ध में एक और विचारणीय तथ्य यह है कि काल भेद के अनुसार साहित्य भी विविध रूपात्मक होता चला गया है। और उसकी विविधता केवल गद्य या पद्य के भेदों की दिशा में ही नहीं दिखाई देती, अपितु विषय चयन और जीवन के बहुमुखी विकास के साहित्यिक अवतरण में भी भिन्नता दिखाई पड़ती है। फलत साहित्य में प्रयुक्त होने वाले आलम्बनों का रूप भी बदलता चला है। निश्चय ही इस परिवर्तन के साथ साथ रसों के भेदों में कुछ बातें घटायी भले ही न जा सकें बढ़ायी अवश्य जा सकती हैं।[1]

रस निरूपण के अन्तर्गत रस की निष्पत्ति रसास्वाद रस की एकता अनेकता, रस के भेद अभेद और उनका सोदाहरण निरूपण रसों की परस्पराश्रयिता और विरोध, रसों की पारस्परिक श्रेष्ठता अथवा हीनता आदि अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों का समाधान आवश्यक है किन्तु प्रस्तुत प्रकरण का मुख्य प्रतिपाद्य मधुररस का सद्धान्तिक विवेचन करना है न कि विभिन्न रसों का सांगोपांग निरूपण करना। अतएव मधुर रस के सन्दर्भ में जो आवश्यक एवं अपरिहार्य विषय है वहीं तक विचारों को सीमित रखने का प्रयास किया गया है।

मधुर रस की परिभाषा

वैष्णव रस-साधना के अन्तर्गत वैष्णव आचार्यों ने भक्ति को प्रधान रस मानते हुए शान्त दास्य सख्य वात्सल्य और मधुर को मुख्य रस तथा हास्य, अद्भुत वीर करुण रौद्र भयानक और बीभत्स को गौण रस माना है।[2] गौडीय वैष्णव आचार्यों ने राधाकृष्ण को

---

१ रस सिद्धान्त स्वरूप और विश्लेषण, पृ २८७ —डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित।

२ रसस्य स्वप्रकाशत्वमखण्डत्वं च सिद्धयति ॥
पृथगेव भवेद्भेदो मुख्यगौणतया रसे ॥६४॥
भेदाद्भक्तिरसो द्वेधा मुख्यगौणतया द्विधा ॥
पञ्चधापि रतेर्भेदान्मुख्यस्तु कथ्यते ॥६५॥
सात्वत्व तथा गौण इति भक्तिरसो द्वधा।
मुख्यस्तु पञ्चधा शान्त प्रीति प्रेयांश्च वत्सल ॥६६॥
मधुरश्चेत्यमी ज्ञेया यथा पूर्वमनुत्तमा ॥
हास्याद्भुतस्तथा वीर करुणो रौद्र इत्यपि ॥६७॥
भयानक सबीभत्स इति गौणश्च सप्तधा ॥
एवं भक्तिरसो भेदाद् द्वयोर्द्वादशधोच्यते ॥६८॥
—भक्तिरसामृतसिन्धु रूपगोस्वामी। (द० वि ल० ५)

शान्त दास्य सख्य वात्सल्य आर मधुर रस नाम।
कृष्णभक्ति रस मध्ये ए पाँच प्रधान ॥
हास्याद्भुत वीर करुण रौद्र बीभत्स भय।
पञ्चविध भक्ते गौण सप्त रस हय ॥
पञ्च रस स्थायी व्यापि रहे भक्तमने।
सप्त गौण आगन्तुक पाइये कारणे ॥
—कृष्णदास कविराजकृत, चै० च० म० लीला परि० १९ पृ २८२

आलम्बन बनाकर शृंगार रस का भक्तिपरक निरूपण करते हुए मधुर रस की मार्मिक अभिव्यंजना की है। श्री रूपगोस्वामी ने भक्तिरसामृतसिंधु में भक्ति रस किंवा मधुर रस को ही प्रकृत रस माना है तथा अन्य रसों को उसी की विभिन्न विकृतियां एवं प्रभेद के रूप में स्वीकार किया है। उक्त ग्रंथ में उन्होंने क्रमशः शान्त भक्ति प्रीतिभक्ति प्रेयोभक्ति वत्सल भक्ति और मधुर भक्ति रस का विशेष विवेचन किया है। भक्ति भेदानुसार कृष्णरति के शान्तरति दास्यरति सख्यरति वात्सल्यरति और मधुररति ये पांच भेद हैं।[१] अपने दूसरे ग्रंथ उज्ज्वलनीलमणि में रूपगोस्वामी ने भक्ति रस राज मधुर रस का विस्तार के साथ प्रतिपादन किया है।[२] राधाकृष्ण व्रजवल्लभाएं वृन्दावन आदि विभावादिकों से आस्वाद्यमान मधुरा रति ही मधुर नामक भक्तिरस है।[३] कृष्ण और वल्लभाएं इसके आलम्बन विभाव हैं जिनमें कृष्ण विषयालम्बन तथा उनकी वल्लभाएं आश्रयालम्बन मानी गई हैं। इस भक्ति रसराट मधुर रस का स्थायी भाव मधुरा रति है।[४] यह मधुरा रति एकपक्षी नहीं उभय आनन्दप्रद है मिथ संभोग है। यह दोनों से दोनों का (श्रीकृष्ण और उनकी वल्लभाएं) संभोग की प्रेरणा देती रहती है इसीलिए इसे प्रियता की भी संज्ञा दी गई है।[५] व्रजवल्लभ कृष्ण का व्रजवल्लभाओं के साथ जो नित्यलीला विलास है वही इस प्रख्यात मधुर रस की आत्मा है। क्योंकि श्रीकृष्ण की द्विविध लीलाओं में ऐश्वर्य की अपेक्षा माधुर्य की लीला ही श्रेष्ठ है।[६] श्रीकृष्ण के गुण चेष्टा अंग-सौरभ वंशी स्वरादि इसके उद्दीपन विभाव हैं। स्मित नृत्य गीतादि अनुभाव एवं स्तम्भादि सात्त्विक अनुभाव हैं। निर्वेद हर्षादि तैंतीस संचारी भाव हैं। इस प्रकार युक्त विभावों अनुभावों और संचार्यादिकों द्वारा जब सहजानन्द शुद्ध स्नेहधारात्मक रति। भक्ति माहात्म्यबोधजा प्रेमपरिप्लवता सात्त्विक रति रूप भाव या वृत्ति[७] भगवान् के माहात्म्य बोध के साथ नाना भूमिकाओं में विकसित होकर जब भक्तजनों

१ भक्त भेदे रति भेद पंच परकार।
शान्तरति दास्यरति सख्यरति आर॥
वात्सल्यरति मधुररति पंचविभेद।
रतिभेदे कृष्णभक्ति रस पंचभेद।
—कृष्णदास कविराज कृत चैतन्य चरितामृत मध्यलीला परि० १९ पृ० ८२।

२ मुख्यरसेषु पुरा यः संक्षेपेणोदितो रहस्यत्वात्।
पृथगेव भक्तिरसराट् स विस्तरेणोच्यते मधुरः॥२॥
—उज्ज्वलनीलमणि द्वि० सं० (निर्णयसागर प्रेस) पृ० ४।

३ वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः स्वाद्यतां मधुरा रतिः।
नीता भक्तिरसः प्रोक्तो मधुराख्यो मनीषिभिः॥३॥ —वही पृ० ५।

४ स्थायीभावो विभावेऽस्मिन् कथ्यते मधुरा रतिः।
—उ० नी० पृ० ३८०।

५ मिथो हरेर्मृगाक्ष्याश्च संभोगस्यादिकारणम्।॥७॥
मधुरापरपर्याया प्रियताख्योदिता रतिः॥
—हरिभक्तिरसामृतसिंधु द० वि० ५।८६।

६ प्रीति संदर्भ जीवगोस्वामी, पृ० ७४७१५ द्रष्टव्य।

७ सर्वोत्तमा निश्चित स्नेहधारात्मक रिणी।
वृत्ति प्रेम परिप्लवता भक्तिमाहात्म्य बोधजा॥ —शाण्डिल्यसूत्र।

के हृदय म रसास्वादन की स्थिति तक पहुचती है[1] तब इसे भक्तिरस राज मधुर रस क नाम स अभिहित किया जाता है।

चित्त म दबे हुए सात्विक रति रूप सस्कार स्मृति रूप आभ्यन्तर निमित्त द्वारा अथवा शास्त्र वर्णित अतसीकुसुमापमयकान्ति आदि कमनीय स्वरूप तथा अर्चादि विग्रहा के दशन से वत्ति या भाव के रूप म परिणत होते हैं। स्मृति या कल्पनाजन्य वस्तु से अथवा इन्द्रिय प्रणाली द्वारा बाह्य वस्तु से उपराग या आभोग के अनन्तर मन म जो ग्राह्य ग्रहणाकारा प्रतीति होती है वही वत्ति है। मनुष्य की यह वत्ति स्थिर नही रहती। यह अन्यान्य वत्तियो द्वारा विच्छिन्न होती रहती है। साधन भक्ति द्वारा चित्त के समापन्न होने पर यह वत्ति स्थिर हो जाती है। इस स्थिति मे वह वत्तिमात्र न रहकर शक्ति का रूप ग्रहण कर लेती है। भक्त को यहीं भक्ति रस अथवा मधुर रस की अनुभूति होती है जो विषयावच्छिन्न चित्त नन्दाभूत लौकिक रस का साध्य-तत्त्व है।[2] कहा जाता है कि स्वय चतन्यदेव ने रूपगोस्वामी को इस प्रख्यात मधुर रस किंवा भक्ति रस का परिज्ञान कराया था जिसस प्रेरित होकर उन्होने भक्तिरसामृतसिंधु और उज्ज्वलनीलमणि जसे एतदविषयक ग्रन्थ रत्नो का प्रणयन किया। इस प्रकार पहली बार वष्णव रस-भावना से अन्तगत भक्तिरसराट मधुर रस की सुव्यवस्थित एव शास्त्रीय व्याख्या का आरम्भ हुआ। आगे चलकर कृष्णदास कविराज ने चतन्य चरितामत नामक ग्रन्थ मे इसकी विशद विवेचना की। कृष्णदास कविराज के मतानुसार साधन भक्ति द्वारा कृष्ण रति का उद्रेक होता है। यही रति प्रगाढ होकर प्रम बन जाती है। प्रम का अथ है भाव बन्धन जो रति का अमर बीज है। प्रम निरन्तर वधमान होता हुआ क्रमश स्नेह मान प्रणय राग, अनुराग भाव और महाभाव म परिणत होता हुआ चरमोत्कष को प्राप्त होता है।[3] ये सभी कृष्ण भक्ति रस के स्थायी भाव कहे गये हैं।

---

[1] स्वाद्यत्व हृदि भक्तानामानीता श्रवणादिभि ।
एषा कृष्णरति स्थायी भावो भक्तिरसो भवत् ॥५॥

—हरिभक्तिरसामृतसिंधु द० वि १ लहरी।

२ इत्थ च लौकिक रसे शृगारादौ विषयावच्छिन्नस्यव चिदानन्दांशस्य स्फुरणादानन्दांशस्य न्यूनत्व भगवदाकारोवन चेतोवृत्ति लक्षणे भक्तिरसे तु अनवच्छिन्न चिदानन्दघनस्य भगवत स्फुरणा त्स्यताधिक्यमानन्दस्य। अतो भगवद्भक्ति रस एव लौकिक रसानुपेक्ष्य परमरसिद्धै मेव्य ।'

—भक्ति चन्द्रिका यतिवर नारायण तीर्थ।

३ साधन भक्ति हैते रतिर उदय।
रतिगाढ हले तार प्रेम नाम कय ॥
प्रेमवृद्धि क्रमे नाम स्नेह मान प्रणय।
राग अनुराग भाव महाभाव हय ॥

एइ सब कृष्ण भक्ति रस स्थायीभाव।
स्थायी भावे मिलि यदि विभाव अनुभव ॥
सात्विक व्यभिचारी भावेर मिलने।
कृष्णभक्ति रस हय अमृत आस्वादने ॥

—चैतन्यचरितामृत, म लीο परि० १९, पृ० २५२।

ये ही स्थायीभाव युक्त विभाव, अनुभाव एवं सात्विक व्यभिचारी के संयोग से कृष्ण भक्ति मधुर रसामृत का आस्वादन इन चित्त जनों को कराते हैं। कृष्णादि इसके आलम्बन विभाव वंशी स्वरादि उद्दीपन विभाव स्मित, गीत, नृत्यादि अनुभाव स्तम्भादि सात्विक अनुभाव और निर्वेद हर्षादि तेंतीस व्यभिचारी भाव हैं। ये सब मिलकर ही अत्यन्त चमत्कारी मधुर रस की सृष्टि करते हैं।[1]

अलौकिक शृंगार रस

मधुर रस को अलौकिक शृंगार उज्ज्वल रस भक्ति रस आदि कई नामों से अभिहित किया गया है।

सामान्य रूप से शृंगार शब्द का प्रयोग ऐसे रूढ अर्थों में किया जाता है कि वह भक्ति भावापन्न मधुर रस का व्यंजक नहीं हो सकता। यही कारण है कि शृंगार के लौकिक और अलौकिक दो भेद किये गये हैं। देव विषयक रति प्रधान शृंगार को अलौकिक शृंगार माना गया है। भक्तिशास्त्रकारों ने भी भक्ति के अनेक रूप बतलाये हैं जिनमें शृंगार परक मधुराभक्ति को सर्वोपरि स्थान दिया गया है।

उज्ज्वल रस

उज्ज्वल रस में व्यवहृत उज्ज्वल शब्द के दो अर्थ माने गये हैं—शृंगार और माधुर्य। नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरत मुनि ने शृंगार रस का वर्ण श्याम और वेश उज्ज्वल बतलाया है।[2] इसमें रति स्थायी भाव से शृंगार निष्पन्न होता है तथा उसका वेश उज्ज्वल होता है। शृंगार रस का वर्ण श्याम है और वेश उज्ज्वल है—यह उद्भावना सम्भवतः शृंगार के देवता विष्णु के श्याम वर्ण और पीताभ कान्तिमान और उज्ज्वल वेश के आधार पर ही की गयी है। पन्द्रहवीं सोलहवीं शताब्दी में रूपगोस्वामी ने उज्ज्वलनीलमणि नामक अद्वितीय भक्ति रस शास्त्र का प्रणयन कर उज्ज्वल शब्द को अत्यन्त उत्कर्ष पर पहुँचा

प्रेमादिक स्थायीभाव सामग्री मिलने।
कृष्णभक्ति रसरूपे पाय परिणामे।
विभाव अनुभाव सात्विक व्यभिचारी।
स्थायीभाव रस हय मिलि एइ चारि॥

—चैतन्य चरितामृत म० ली परि २३ पृ २६।

१ द्विविध विभाव आलंबन उद्दीपन।
वंशीस्वरादि उद्दीपन कृष्णादि आलम्बन॥
अनुभाव स्मित नृत्य गीतादि उद्भास्वर।
स्तम्भादि सात्विक अनुभावेर मिलर॥
निर्वेद हर्षादि तेंत्रिश व्यभिचारी।
सब मिलि रस हय चमत्कारकारी॥

—वही परि २३ पृ २६

२ तत्र शृंगारो नाम रतिस्थायिभावप्रभव उज्ज्वलवेषात्मकः।

—नाट्यशास्त्र ६ ४५ ४६।

किया। उक्त ग्रंथ में 'उज्ज्वल' शब्द अलौकिक रागानुगा मधुर भक्ति के लिए व्यवहृत किया गया है जिसमें शृंगार का पूर्ण अन्तर्भाव दिखलाया गया है। राधा कृष्ण इस उज्ज्वल रस के आलम्बन हैं और भक्त रूप व्रजवल्लभागण उसका आश्रय हैं। उज्ज्वल के साथ नीलमणि शब्द का प्रयोग श्याम वर्ण विष्णु देवता वाले उज्ज्वल वेशात्मक शृंगार रस का ही परिचायक है। इससे यह स्पष्ट है कि उज्ज्वल रस का मूलाधार स्वच्छता शुचिता पवित्रता और दर्शनीयता का द्योतन करने वाली रति ही है। भरत मुनि ने अपने उपर्युक्त कथन को स्पष्ट करते हुए कहा है कि संसार में जो पवित्र स्वच्छ और दर्शनीय हो, वह शृंगार से उपमित होता है। उज्ज्वल वेश वाला शृंगारवान कहा जाता है।[1] रूपगोस्वामी ने भक्तिरसामृतसिन्धु में भक्ति के पाँच भाव—शान्त दास्य, सख्य वात्सल्य और माधुर्य बतलाये हैं। उज्ज्वलनीलमणि में उन्होंने भक्ति के पाँचवें भाव माधुर्य का उज्ज्वल रस के रूप में विशद विवेचन किया है। अष्टछाप के यशस्वी भक्त कवि नन्ददास ने भी उज्ज्वल रस के सुभाव की बाँकी छवि का मार्मिक विवेचन किया है।[2]

भक्ति रस

भक्ति रस वैष्णव रस साधना का मूलाधार है। इसका साहित्य जितना ही विस्तृत है उतना ही इसका विवेचन विविधतापूर्ण एवं गम्भीर है। भगवद्भक्तिचन्द्रिका में परा भक्ति को रस मानते हुए भक्ति की रस रूप में स्थापना की गयी है और उसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि अनासंग की जननी पर अपर के बोध के विपरीत सामरस्य की उपस्थितिकारिणी परम प्रेमरूपा, परमानन्ददायिनी मधुरा भक्ति भक्तों के द्वारा पराभक्ति कहलाती है।[3] निष्कर्ष यह है कि पराभक्ति अथवा मधुराभक्ति ही भक्ति रस के नाम से अभिहित की जाती है। वैसे रूपगोस्वामी ने भक्ति रसों के मुख्य और गौण दो वर्ग बतलाये हैं और उनमें शान्त प्रीत प्रेयस वात्सल्य और मधुर—इन पाँचों को मुख्य भक्ति रस कहा है।[4] किन्तु इनमें मधुर रस की प्रधानता होने के कारण यह भक्ति रस का ही वाचक बन गया है और इस प्रकार उज्ज्वल रस मधुर रस और भक्ति रस एक-दूसरे के पर्याय बन गये हैं और इनके आलम्बन और उद्दीपन भी एक ही मान गये हैं। अतः आगे मधुर रस उज्ज्वल रस और भक्ति रस को सर्वथा अपृथक मानकर ही इसका विवेचन किया जाएगा।

---

१ नाट्यशास्त्र, ६।४६।

२ उज्ज्वल रस को यह सुभाव बाँकी छवि छावै।
बक चहनि पुनि कहनि बक मति रसहिं बढ़ावै ॥४७॥

—रासपंचाध्यायी नन्ददास।

३ परत्रानासंग जनयति रतिर्वा नियमतः
परस्मिन्नेवास्मिन् समरसतया पश्यति इमम्।
परप्रेमास्पैव भवति परमानन्दमधुरा
पराभक्तिः प्रोक्ता रस इति रसज्ञैस्तु चरैः।

—भगवद्भक्तिचन्द्रिका (प्रमृतरसोल्लास)।

४ 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु', दक्षिण विभाग, ५ लहरी, ६५-६८।

मधुर रस का काव्यशास्त्रीय विकास क्रम

मधुर रस की स्थापना का श्रेय काव्यशास्त्र की अपेक्षा भक्तिशास्त्र को अधिक है। धर्मप्राण भारतवर्ष में मधुर भावापन्न भक्ति रस की स्वीकृति सर्वथा स्वाभाविक ही है। भक्तिविषयक प्रचुर साहित्य सम्पदा को देखकर ही यह स्पष्ट हो जाता है कि किस तरह यह भाव भक्ति साधना युग युग से भारतीय लोक मानस को उत्प्रेरित एवं अनुप्राणित करती आई है। भक्ति के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक दोनों पक्षों का सम्यक निरूपण भारतीय वाङ्मय की प्रमुख विशेषता है। जहाँ श्रीमदभागवत, श्रीमद्भगवद्गीता, भगवदभक्तिचन्द्रिका, *शाण्डिल्य भक्तिसूत्र, नारद भक्तिसूत्र, हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, उज्ज्वलनीलमणि*, भगवद्भक्तिरसायन, अलंकार-कौस्तुभ, रसकलिका, भक्तिसंदर्भ, प्रीतिसन्दर्भ आदि धार्मिक एवं शास्त्रीय ग्रंथों में भक्ति तत्त्व का सूक्ष्म एवं विस्तृत सैद्धांतिक विवेचन किया गया है, वहीं भक्ति रसायन के तत्त्वज्ञ द्रवचित्त आत्माराम भक्तों एवं सन्तों की आत्मोल्लासपूर्ण अमर वाणियों द्वारा उसके व्यावहारिक पक्ष को भी प्रस्तुत किया गया है। मधुर रस के व्यावहारिक पक्ष के अभिव्यंजन के लिए सर्वप्रथम उसके काव्यशास्त्रीय सैद्धांतिक पक्ष पर विचार करना परमावश्यक है। अतएव आगे मधुर या भक्ति रस के काव्यशास्त्रीय सैद्धांतिक पृष्ठाधार का निर्देश करते हुए उसका सावयव निरूपण किया जाएगा।

काव्यशास्त्र प्रणेताओं में सबसे पहले दंडी ने प्रेयोऽलंकार के उदाहरण द्वारा मधुर रस की सांकेतिक उद्भावना की है। प्रेयोलंकार के उदाहरण में उन्होंने कृष्ण के प्रति विदुर की और महेश्वर के प्रति रतिवर्म नामक राजा के प्रीतिपूर्ण उद्गारों को उद्धृत किया है। इतना ही नहीं उन्होंने 'भक्ति मात्र समाराध्य सुप्रीतश्च ततो हरि' की उद्घोषणा द्वारा भक्ति की नींव डाल दी है।[1] दंडी ने भक्ति तथा प्रीति को एक दूसरे का पर्याय स्वीकार किया है। यही कारण है कि उन्होंने शृंगार रस का स्थायी भाव रति मानकर उसे प्रीति से विभिन्न दिखलाने की चेष्टा की है।[2] भामह ने भी दंडी के समान प्रेयस को प्रीति या रति से सम्बंधित माना है और प्रेय प्रियतराख्यानम के रूप में बतला कर उसके मधुर स्वरूप को सामने रखने का प्रयास किया है। उद्भट ने उसे रसवत अलंकार से भिन्न भाव काव्य के रूप में एक अलंकारमात्र स्वीकार कर प्राय भावमात्र को प्रेयस माना है। भक्ति या प्रीति को प्रेयान नाम से एक नये रस के रूप में उपस्थापित करने का सर्वप्रथम श्रेय रुद्रट को है। रुद्रट ने स्नेह प्रकृति प्रेयान कहकर प्रेयान रस का स्थायी भाव स्नेह माना और अन्तःकरण की आर्द्रता से सर्वत्र स्नेह पद का सिद्ध होना बतला कर उसके अन्तर्गत अन्यान्य सुहृद्-व्यवहार का समाविष्ट कर लिया।[3] आगे चलकर काव्यशास्त्रियों ने रुद्रट की प्रेयान रसविषयक मान्यता के आधार पर प्रथम वात्सल्य, प्रीति, श्रद्धा, स्नेह आदि अनेक नये-नये रसों की उद्भावनाएं कीं। इन नये नये रसों की स्थापना को लेकर पर्याप्त खंडन

---

१ काव्यादर्श २/२७७।

२ प्राक्प्रीतिर्दर्शिता सेयं रतिः शृंगारतां गता। —वही २/२८१।

३ स्नेह प्रकृति प्रेयान् ...स्नेहपदं भवति सर्वत्र। —काव्यालंकार पृ. १६/१६।

...यो प्रति सुहृदो व्यवहारो य मतस्तत्र। —वही, १६/१८।

महन किये गए। अभिनवगुप्त ने उपर्युक्त सभी रसों को नवरसों के अंतर्गत ही समाविष्ट कर लेने की चेष्टा की। इसी प्रकार हेमचन्द्र शारदातनय धनंजय भोज पण्डितराज जगन्नाथ आदि ने भी भक्ति आदि नवेतर रसों का खण्डन करते हुए नवरसों में ही इन सबका अंतर्भाव दिखलाया। इतना सब कुछ होते हुए भी वात्सल्य एवं भक्ति रस का प्रभाव अक्षुण्ण बना रहा। इतना ही नहीं वैष्णव रस-साधना के प्रस्थान आचार्यों ने भक्ति रस को एक प्रकृत रस के रूप में स्वीकार ही नहीं किया अपितु इसकी प्राचीनता सम्पन्नता, व्यापकता एवं रसरूपता को दिखलाते हुए इसे 'रसराट' के महिमामय पद पर अधिष्ठित किया। इस दृष्टि से बंगाल के वैष्णव आचार्यों की देन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भक्ति को स्वतन्त्र रस मानकर मधुर भक्ति रस को श्रेय देना वैष्णव रस साधना की मौलिक विशेषता है।

मधुर रस की श्रेष्ठता

वैष्णव धर्म का मूलाधार भक्ति भावना है। अतएव सभी वैष्णव मतानुयायी भक्ति की महिमा आवश्यकता उपादेयता और रसमयता की बार बार उद्घोषणा करते हैं। भगवद्भक्तिचन्द्रिका में रस के रूप में भक्ति की प्रतिष्ठा की गई है तथा उसकी सार्वभौम सत्ता एवं सर्वश्रेष्ठता को सिद्ध करते हुए उसे सामरस्य की उपस्थितिकारिणी एवं परमप्रेम रूपा परमानन्द प्रदायिनी मधुरा भक्ति कहा गया है। यही मधुरा भक्ति किंवा पराभक्ति मधुर रस का अधिष्ठान है। भक्ति रसायन में मधुसूदन सरस्वती ने समाधिजन्य परमसुख के समान ही भक्तिसुख को सिद्ध करते हुए निर्विवाद रूप से उसकी श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है।[1] उनके मतानुसार कान्ता भाव सर्वान्वित मधुर रस के अतिरिक्त अन्य रसों में पूर्ण सुख का स्पर्श नहीं रहने के कारण एकमात्र मधुर रस ही एकान्तिक रूप से पूर्ण सुखमय है। इसीलिए रसमयी भगवद् रति के सामने अन्य रस कम ही प्रतीत होते हैं जैसे आदित्य के समक्ष खद्योत।[2] मधुर रस के सबसे बड़े प्रतिपादक श्री रूपगोस्वामी ने मधुरोपासनाजन्य परमानन्द के समक्ष समाधिजन्य ब्रह्मानन्द को परमाणु-तुल्य भी नहीं स्वीकार किया।[3] उन्होंने भक्ति के सामने ज्ञान कर्म और योग को सर्वथा नगण्य मानते हुए मोक्ष को भी तुच्छ माना है। यही कारण है कि भक्ति रसामृत का आस्वादन करने वाला भक्त कभी मोक्ष की वाञ्छा नहीं करता।[4] 'उज्ज्वलनीलमणि' में उन्होंने मधुर रस को भक्ति रसराट की संज्ञा देकर निश्चय ही परमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया है।[5] श्री मधुसूदन सरस्वती ने

१ 'समाधि सुखतोऽपि भक्तिसुखस्याधिकतात्‌—यस्मात्‌—
भक्तियोगसुखस्य परमानन्दरूपत्वमिति निर्विवादम्‌। —भक्ति रसायन १/६।

२ कान्तादि विषया वा रसाद्यास्तत्र नेदृशाः।
रसं व पुष्यते पूर्ण सुखास्पर्शित्व कारणात्‌॥
परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रति।
खद्योतेभ्य इवादित्यप्रभेव बलवत्तरा॥—भगवद्भक्तिरसायन २/७७-७८।

३ ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत्‌ परार्द्धगुणीकृतः॥१६॥
नैति भक्तिसुखाम्भोधेः परमाणुतुलामपि॥—हरिभक्तिरसामृत सिन्धु पू० वि०, १ लहरी।

४ हरिभक्तिरसामृतसिन्धु पूर्वभाग १ लहरी ११-१३।

५ उज्ज्वलनीलमणि, १/२—इष्टव्य।

भी भक्ति रस मे नवरसा का अन्तर्भाव दिखाकर उसके रसराजत्व को प्रमाणित किया है। उनके मतानुसार भक्ति भी अय रसो के समान ही युक्त विभाव अनुभाव सचारी आदि के सयोग स चित्र न्यवद रसत्व को प्राप्त करती है। अय देवतादि से सम्बधित होने के कारण रति को भाव की सज्ञा दी जाती है किन्तु परमात्म विषयक हो जाने पर यह रति अलौकिक आनन्ददायिनी बन जाती है तथा विलक्षण भक्ति रस की सृष्टि होती है।[1] भक्ति रस के सम्बन्ध म पुरुषाथ चतष्टय की कल्पना समीचीन नही प्रतीत होती क्योकि एकमात्र पुरुषाथ दुख की आत्यतिक निवत्ति है अथात दुख से असस्पष्ट सुख है और इसे भगवद्भक्ति से ही प्राप्त किया जा सकता है। भक्ति से ज्ञान की कोई तुलना नही की जा सकती क्योकि द्रतचित्त व्यक्ति के लिए भक्ति ही साध्य है और अद्रुतचित्त व्यक्ति के लिए ज्ञान।[2] भक्ति या चित्त प्रसाद लोभ के साधन के रूप म ज्ञान भक्ति रस का सचारी मात्र रह जाता है।[3] भक्ति स्वय अपना साधन और साध्य दोनो है। इसलिए भक्ति को साधनभक्ति और फल भक्ति दोनो कहते हैं। अन्त करण का भगवदाकारता का नाम ही भक्ति है और वही रस का स्थायीभाव है। ईश्वर इसके आलम्बन विभाव हैं तुलसी चन्दनादि उद्दीपन विभाव हैं तथा हर्षाश्रु नेत्रविकारादि इसके अनुभाव हैं।[4] अमल म सब कुछ प्रभुमय प्रममय है। परमानन्द रूप प्रभु का प्रतिबिम्ब ही भक्त के अन्त करण पर पडता है।[5]

'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' मे मधुर रस का विवेचन

श्री रूपगोस्वामी ने हरिभक्तिरसामृतसिन्धु नामक ग्रन्थ की विभिन्न लहरियो म सामान्य भक्ति, साधनात्मिका भक्ति भावात्मिका भक्ति प्रेम निरूपिता भक्ति वधी भक्ति रागानुगाभक्ति भाव भक्ति प्रेमाभक्ति शान्तभक्ति प्रीतिभक्ति प्रेयोभक्ति वत्सल भक्ति मधुर भक्ति और इनके भेद प्रभेदो का सूक्ष्म विवेचन किया है एव शान्त भक्ति रस प्रीति भक्ति रस प्रेयोभक्ति रस वत्सल भक्ति रस तथा मधुर भक्ति रस और इनके आलम्बन उद्दीपन स्थायीभाव तथा अनुभावादिको के सूक्ष्म निरूपण द्वारा वष्णव रस साधना पर पूर्ण प्रकाश डाला है।

श्री रूपगोस्वामी ने कृष्ण रति को भक्ति रस का स्थायी भाव माना है। श्रीकृष्ण विषयक रति के मुख्या और गौणा दो प्रधान भेद हैं। मुख्या रति के शुद्ध सत्त्व के आधार पर स्वार्था और परार्था नामक दो भेद बतलाये गये हैं। पुन शुद्धा प्रीति सख्य वात्सल्य और प्रियता या मधुरा नामक इसके पाँच भेदो का वणन किया गया है। व्यक्ति वशिष्ट्य के अनुसार इन रति भेदो का स्फटिक पर सूय की किरणो के प्रतिबिम्ब के समान अलग-अलग प्रभाव दृष्टिगत होता है। शुद्धा के सामान्या स्वच्छा और शमप्रधाना तीन भेद बतलाये गए

---

१ भगवद्भक्तिरसायन १/१३।
२ वही पृ ५।
३ वही पृ २।
४ वही पृ ४ म०।
५ वही पृ १८।
६ ह भ र० सि दक्षिण विभाग विभाव लहरी (विस्तार के लिए द्रष्टव्य)।

हैं। पुन प्रीति सख्य और वात्सल्य के केवला और सकुला नामक दो भेद कहे गए हैं। गौणी रति क क्रमश हास्य विस्मय उत्साह, शोक, क्रोध भय और जुगुप्सा नामक सात भेद हैं। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि श्री रूपगोस्वामी न रति' के अन्तर्गत ही सभी स्थायी भावों को परिगणित कर लिया है। इनके साथ ही इन स्थायी भावों के देवता वर्ण आदि के भी वर्णन किये गए हैं।[1] प्राक्तनवर्तमानकालिक सद्भक्ति वासना विगलित द्रुतचित्त म ही यह विलक्षण भक्ति आस्वाद्य बनती है तथा प्रेमाभक्तियुक्त विभावादि का के संयोग से आस्वाद्य बनकर मधुर रसामृत का वर्षण करती है।

निखिल रस मूर्ति कृष्ण तथा उनके भक्त ही इसके आलम्बन विभाव हैं। कृष्ण भक्तों को क्रमश शान्त दाससुतादि सखा गुरु और प्रेमी-वर्ग मे परिगणित कर उनके आधार पर ही भक्ति के कई भेद उपस्थित किये गए हैं। कृष्ण क रूप गुण चेष्टाएँ प्रसाधनादि और इनके अनेकानेक भेद प्रभेद इसके उद्दीपन विभाव हैं। अनुभावो के उद्भास्वर और सात्त्विक—ये दो भेद किये गए हैं। उद्भास्वर के गीता (गीतादि) और क्षपणा (नृत्यादि) दो भेद हैं। सात्त्विको की सख्या आठ मानकर क्रमश स्निग्ध दिग्ध और रुक्ष नामक तीन प्रकार बतलाए गए हैं। इसी प्रकार कुछ नवीन व्यभिचारी भावो को परम्परागत तैंतीस व्यभिचारियों में ही अन्तर्भाव दिखलाते हुए उन्हें स्वतन्त्र और परतन्त्र नामक दो कोटियों म रखा गया है। रतिशून्य, रत्यनुस्पर्शन और रतिगन्धि स्वतन्त्र के ये तीन भेद माने गए हैं। 'परतन्त्र' के भी भेद हैं—वर और अवर। पुन वर क साक्षात और व्यवहित इन दो भेदों की चर्चा की गयी है। मुख्यरति के पोषक को साक्षात् तथा गौणी रति के पोषक को व्यवहित भी माना गई है।[2]

शान्तभक्ति रस

श्री रूपगोस्वामी ने भक्तिरसामृतसिंधु' के पश्चिम विभाग की पाँच लहरियों म क्रमश शान्तभक्ति रस प्रीतिभक्ति रस प्रेयोभक्ति रस वत्सलभक्ति रस और मधुरा भक्ति रस का विस्तृत विवेचन किया है। शान्तभक्ति रस का स्थायी भाव शान्तरति है। शम और शान्त इसके दो प्रकार हैं। चतुर्भुज भगवान और शान्त लोग ही इसके आलम्बन हैं। गीता उपनिषद आदि धर्म ग्रन्थों का श्रवण सतजन का सत्सग तीर्थ स्थलों का सेवन तुलसी-गन्ध शास्त्र सम्वाद आदि इसके उद्दीपन विभाव हैं। निरपेक्षता, निष्कामता, निर्वैर भाव निरहंकारता, निर्ममता सुख दुःख सम भाव, ध्यानादि इसके शीत असाधारण अनुभाव हैं। जँभाई अंगमोड़न, स्तव आदि शीत साधारण अनुभाव कह जाते हैं। निर्वेद धृति, हर्ष, मति स्मृति विषाद उत्सुकता आवेग और वितर्कादि इसके सचारी भाव हैं। नाट्य म यद्यपि शांत को नाम स्थायी की निर्विकारता के कारण स्थान नहीं दिया जाता किन्तु रतियुक्त होने के कारण शान्तरति पर आधारित इस रस का तिरस्कार नहीं किया जा सकता यही शान्त तथा शान्तभक्ति रस म भेद है।[3]

---

[1] वही पाँचवीं लहरी द्रष्टव्य।

[2] हरिभक्तिरसामृतसिन्धु चतुर्थ लहरी।

[3] रस सिद्धान्त स्वरूप और विश्लेषण—डॉ आनन्दप्रकाश दीक्षित (पृ० २७४)।

प्रीतिभक्ति रस

अनुग्राह्य की दासता और लाल्य के भेद से प्रीतिभक्ति रस के दो भेद हैं—सम्भ्रम प्रीति और गौरव प्रीति। इसके आलम्बन द्विभुज कृष्ण तथा दास हैं। प्रभु के निर्देशवशवर्ती विश्वस्त प्रभनाज्ञानविनम्रितधिय जन ही दास कहलाते हैं। दास के भी चार वग हैं—अधिकृत आश्रित पारिषद और अनुग। शरण्य ज्ञानिचर और सेवानिष्ठ नाम से आश्रित के तीन भेद किये गय हैं। इसी प्रकार पुरस्थ और व्रजस्थ दो प्रकार के अनुग भी बतलाय गए हैं। धय्य धीर और वीर पारिषद के तीन वग हैं। अनुग्रह प्राप्ति पदरज प्राप्ति भक्तों का सत्सग असाधारण उद्दीपन तथा मुरली नाद शृगनाद स्मितपूवक देखना आदि इसके साधारण उद्दीपन विभाव हैं। उदभास्वर सुहृद का समादर विराग ईर्ष्याहीन मत्री आदि इसके शीत साधारण अनभाव हैं। हष गव धति निर्वेद विषण्णता दय चिन्ता स्मृति शका मति, औत्सुक्य चपलता वितक आवग ह्री जडता मोह उन्माद अव हित्था बोध स्वप्न क्लम व्याधि मृति इसके व्यभिचारी भाव हैं। स्वय सभ्रम प्रीति ही इसका स्थायी भाव है जो क्रमश विकसित होती हुई प्रमा स्नेह और राग बन जाती है। ह्रास तथा शका से रहित बद्धमूल प्रीति को प्रमा की सज्ञा दी गयी है। प्रमा के कारण चित्त के सान्द्र द्रव्य की स्थिति को स्नेह कहा गया है और दुख की स्थिति म भी सुख उत्पन्न करने वाली विशिष्ट भाव-दशा को राग कहते हैं। राग के अयोग और योग नाम से दो भेद हैं। पुन अयोग के भी उत्कठित और वियोग नामक दो प्रकार निर्धारित किय गये हैं। वियोग सभम प्रीति मे ताप कृशता आदि दस अवस्थाए उत्पन्न होती हैं। सिद्धि तुष्टि और स्थिति नाम स योग की भी तीन कोटिया बतलायी गयी हैं।

गौरव प्रीति के उद्दीपन विभावो म वात्सल्य, स्मित प्रक्षा आदि का परिगणित किया गया है।[1] पुन इसम भी प्रमा स्नेह राग और अयोग योगादि क्रम से अनेक भेद प्रभेदो को स्वीकार किया गया है। गौरव प्रीति के उद्दीपन विभावो म वात्सल्य को समाविष्ट कर देने से प्रीतिभक्ति रस मे शृगार के साथ वात्सल्य रस का समावेश कर लिया गया है। मूल स्थायी रति को देखते हुए उपयुक्त दोनो रसो का एक म ही अतर्भाव कर लेना अनुचित नही कहा जा सकता।

प्रेयोभक्ति रस

सख्यभक्ति को ही प्रयोभक्ति कहा गया है। हरि तथा उनके वयस्य ही प्रयोभक्ति रस के आलम्बन हैं। पुर और व्रज के सम्बन्ध स वयस्य दो प्रकार के होते है। सम्बन्ध की प्रगाढता के अनुसार सखाओं के क्रमश सुहृद सखा प्रियसखा और प्रियनमसखा चार भेद हैं। वय रूप शृग वेणु विनोद और प्रष्ठजन इसके उद्दीपन विभाव हैं। उनकी क्रीडाए ही प्रमुख अनुभाव हैं। उग्रता त्रास और आलस्य को छोडकर सभी इसके सचारी भाव माने गय हैं। योग म मृति क्लम आदि तथा अयोग म मद हष गव निद्रा धति आदि त्याज्य हैं। विमुक्त-सभ्रम सख्यरति ही इसका स्थायीभाव है। यह सख्यरति उत्तरोत्तर

१ उद्दीपनास्तु वात्सल्यस्मित प्रेक्षाऽदयो हरे।—भ० र० सि०, प वि०, ल० २।७१।

बढ़ती हुई क्रमशः प्रणय प्रेम स्नेह और राग के भावानुसार कई प्रकार का बतलायी गयी है। इसके अन्तर्गत भी विप्रयोग की दस दशाओं की उद्भावना की गयी है।

वत्सलभक्ति रस

वत्सलभक्ति रस के आलम्बन कृष्ण तथा उनके गुरुजन हैं तथा वात्सल्य रति ही इसका स्थायी भाव है। श्रीकृष्ण का वय रूप वेश शैशवानुरूप चापल्यादि क्रियाएँ इसके उद्दीपन विभाव हैं। परिस्थितियों के अनुसार इनके अनेक भेद प्रभेद की उद्भावना की जा सकती है। सिर सूँघना शरीरावयवों का स्पर्श आशीर्वचन लालन-पालन हितोपदेशादि इसके अनुभाव हैं। स्तम्भादि आठ सात्विकों के अतिरिक्त स्तन्यस्राव नामक नवम सात्विक की भी परिकल्पना की गयी है। पूर्वोक्त प्रीतभक्ति रस के व्यभिचारियों के साथ साथ अपस्मार को भी इसमें परिगणित किया गया है। वात्सल्य रति यशोदा आदि में स्वभावतः प्रौढ़ होती है किन्तु अन्य व्यक्तियों में प्रेम स्नेहादि के उत्कर्ष के अनुसार इसकी कई दशाएँ संभव हैं। वियोगावस्था में चिन्ता, विषाद निर्वेद जड़ता दैन्य चपलता उन्माद और मोहादि का अधिक उद्रेक होता है। कुछ नाट्यज्ञों ने इसे रस रूप स्वीकार किया है।[1]

मधुर रस

मधुर रस के प्रतिपादकों में श्री रूपगोस्वामी का सर्वाधिक महत्त्व माना गया है। भक्तिरसामृतसिंधु नामक ग्रन्थ में उन्होंने मधुर रस का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि आत्मोचित विभावादि द्वारा मधुर रति जब सदाशय व्यक्तियों के हृदय में परिपुष्ट होती है तब उसे मधुर नामक भक्ति रस की संज्ञा दी जाती है। यह मधुर रस निवृत्त जनों के लिए अनुपयोगी दुरूह तथा रहस्यपूर्ण है। यद्यपि यह मधुर रस बहुत ही विशाल एवं विस्तृत है।[2] इस प्रसंग में निवृत्त शब्द की व्याख्या करते हुए श्री रूपगोस्वामी ने स्पष्ट लिखा है कि निवृत्त जन वे हैं जो इस मधुर रस के साथ प्राकृत शृंगार रस की समानता स्वीकार कर इस भागवत रस से विमुख हो गये हों अथवा जो प्राकृत शृंगार रस के साथ इसका साम्य स्वीकार इसकी ओर आकृष्ट हुए हों। लौकिक भ्रान्ति या इन्द्रियसुख के प्रलोभनवश इसकी ओर आकृष्ट होने वाले अनेक लोग परम भागवत पद के अधिकारी हो गये हैं।

चिज्जगत् और जडजगत् में रसों की स्थिति

जड जगत् को चिज्जगत् का प्रतिफलन बतलाया गया है। चिज्जगत् विपर्यस्त होकर

---

1. श्रीकृष्णे रसमिति नन्दन्ति कविजनः। हि० भ० र० सि० प० वि०, श्लो० ४७, २७।
2. आत्मोचितैर्विभावाद्यैः पुष्टिं नीता सतां हृदि।
मधुराख्यो भवेद् भक्तिरसोऽसौ मधुरा रतिः ॥१॥
निवृत्तानुपयोगित्वाद् दुरूहत्वादयं रसः।
रहस्यत्वाच्च संक्षिप्य विततांगोऽपि लिख्यते ॥२॥—हि० भ० र० सि० प० वि० ल० ५

जड जगत मे स्थूल रूप धारण कर लेता है। वस्तुत परम वस्तु रस रूपतत्त्व है।[1] भक्तो की रुचि या स्वभाव के अनुसार भगवदविषयक रति या लगन शान्त दास्य सख्य वात्सल्य और मधुर स्वभाव की होती है। इन पंच स्वभावो के अनुसार शान्ता प्रीता प्रेयसी अनुकम्पा और कान्ता—ये पाँच प्रकार की रति होती है। जड जगत के वषयिक क्षेत्र मे विपयस्त प्रतिफलन के कारण शान्त को सबसे श्रेष्ठ उसके बाद क्रमश एक दूसरे को निम्न मानते हुए मधुर को कान्ता विषयक प्रकृत शृगार के रूप म स्वीकार कर सबस निम्न स्थान दिया जाता है जडविषयक होने के कारण कान्तारति को सर्वाधिक निकृष्ट माना जाता है। किन्तु चिदजगत म जाकर रसो की यह स्थिति सवथा विपरीत हो जाती है। विपयस्त प्रतिफलन के कारण इसम मधुर रस का स्थान सर्वोपरि तथा शान्त रस का स्थान क्रमश सबस निम्न हो जाता है। भक्तो के अनुसार जड जगत् चिदजगत की प्रतिच्छाया है जो माया के दपण मे प्रतिबिम्बित हुई है।[2] दपण म छाया उलटी दिखलाई पडती है। ऊपर की वस्तु नीचे और नीचे की वस्तु ऊपर हो जाती है। विपयस्त प्रतिफलन के कारण शान्त दास्य सख्य वात्सल्य और मधुर रस की रतियो की भी ऐसी ही अवस्था होती है। जड जगत म जो प्रकृत शृगारपरक मधर रस सबसे निम्नस्थ है वही भगवदविषयक हो जाने पर शीर्षस्थ हो जाता है। जड जगत का वषयिक सुखो से सवलित निकृष्ट शृगार रस भगवदविषयक शृगार हो जाने पर उत्कृष्ट मधुर रस मे परिणत हो जाता है।

क्या मधुर रस शृगार रस का भक्तिपरक नाम है?

कुछ आचार्यों ने मधर रस को शृगार रस का भक्तिपरक नाम दिया है। किन्तु भक्तिशास्त्र की मर्यादा के अनुसार ऐसा मानना उचित नही प्रतीत होता क्योकि शृगार कामाश्रित है और मधर रस विशुद्ध रूप से प्रमाश्रित है। भक्ति आनन्द और सौन्दय का आधारभूत रस प्रम ही है। प्रम सत्तामात्र की व्यापक शक्ति है तथा विश्व को सगठित करन वाला अति सूक्ष्म सूत्र है। दूसरी बात यह है कि प्रकृत जनो का शृगार और मधुर एक रस नही हो सकते। केवल कृष्ण प्रियाओ के लिए शृगार और मधर रस एक माने गये है क्योकि उन कृष्ण वल्लभाओ के लिए काम और प्रम म कोई अन्तर नही है। इसका प्रमुख कारण यह है कि जडविषयक अनराग को काम कहा जाता है क्योकि इसम नाना स्वार्थों स वलित वषयिक सुख की वासना की प्रधानता रहती है। इससे भिन्न भगवद्विषयक अनराग को प्रम कहते हैं क्योंकि इसम निष्कामता शुचिता सात्त्विकता तथा आत्मोत्सग की भावना चरमोत्कष पर रहती है। व्रजागनाओ की समस्त कामनाओ के आश्रय स्थल स्वय परम प्रमनिधि और परम सौन्दयनिधि साक्षात भगवान कृष्ण ही थ। अतएव व्रजागनाए जो कुछ करती थी श्रीकृष्ण के सुख के लिए ही। उनकी विलासच्छा की तुष्टि ही उनका एकमात्र ध्येय था। ऐसी स्थिति म व्रज वल्लभाओ के काम को जड

१ जैवधम अध्याय ३१ द्रष्टव्य।

२ वा गुन की परछाँई री मया दरपन बीच।
गुन तें गुन न्यारे नहीं अमर बेलि मिलि बीच॥
—भ्रमरगीत नन्ददास।

विपरीत मानना सर्वथा अनुचित ही कहा जाएगा। उपर्युक्त विचार बिन्दुओं से यह स्पष्ट है कि मधुर रस अपने आप में पूर्ण भगवान के प्रति भक्त की कान्ताविषयक रति की रसात्मक अभिव्यक्ति है। कृष्ण तथा उनकी वल्लभाएं ब्रह्म और उनकी शक्तियाँ इसके आलम्बन हैं। सर्वत्र परिव्याप्त उसकी सार्वभौम सत्ता शक्ति और सौन्दर्यादि ऐश्वर्य और माधुर्य गुण और मुरली स्वरादि इसके उद्दीपन विभाव हैं। नयन-कोण से देखना मुसकराना आदि इसके अनुभाव, आलस्य उग्रता को छोड़कर शेष सभी इसके व्यभिचारी भाव तथा मधुरा रति इसका स्थायी भाव है। विप्रलम्भ और संभोग इसके दो भेद माने गये हैं जो अवस्था भेद के अनुसार कई कोटियों में विभाजित किये गये हैं। आगे इन पर विस्तार के साथ विचार किया जाएगा।

जडादिविषयक शृंगारादि रस के साथ मधुर रस का मौलिक वैषम्य

जडादिविषयक शृंगार रस के साथ अनिर्वचनीय मधुर रस के एक और मौलिक वैषम्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बतलाया है कि अलंकार शास्त्रों में विवृत शृंगारादि रस केवल जडोन्मुख नहीं होते उनके भाव की स्थिति भी जड में ही होती है। अलंकार शास्त्रों में बताया गया है कि शृंगारादि रसों के रत्यादि स्थायी भाव संस्कार रूप से मन में स्थित रहते हैं। यह संस्कार या वासना पूर्व जन्मोपार्जित भी होती है और इस जन्म की अनुभूति भी हो सकती है। अब आत्मा तो निर्लेप है उसके साथ पूर्व जन्म के संस्कार तो आ ही नहीं सकते फिर स्थायी भाव के संस्कार आते कैसे हैं? इसका उत्तर शास्त्रों में इस प्रकार दिया गया है कि आत्मा के साथ सूक्ष्म या लिंग शरीर भी एक शरीर से दूसरे में संक्रमित होता है। इस सूक्ष्म शरीर में ही पाप पुण्य आदि के संस्कार रहते हैं।[1] बृहदारण्यकोपनिषद्, सांख्यकारिका, श्रीमद्भगवद्गीता, वेदान्तशास्त्र आदि ग्रन्थों में इसकी बार बार पुष्टि मिलती है। बृहदारण्यकोपनिषद् में उपर्युक्त बातों की पुष्टि करते हुए बतलाया गया है कि यह आत्मा विज्ञान मन प्राण पृथ्वी जल वायु आकाश तेजस काम अकाम क्रोध अक्रोध धर्म अधर्म आदि सबको लेकर निकलती है। मनुष्य जैसा साधु असाधु, पाप पुण्य कर्म करता है वैसा ही उसको भोगना पड़ता है।[2]

सांख्यकारिका में लिंग शरीर की व्याख्या द्वारा इन्हीं बातों की पुष्टि की गयी है। मृत्यु के समय प्रकृति के तेइस तत्त्वों में से अन्तिम अति स्थूल पंचतत्त्वों को छोड़कर शेष अठारह तत्त्व पुरुष के साथ ही निर्गत हो जाते हैं। जब तक मनुष्य ज्ञान प्राप्त किये बगैर

---

1 मध्यकालीन धर्म साधना डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी। पृ० २८४।

2 स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयस्तद्यदेतदिदंमयोऽदोमय इति यथाकारी यथाचारी तथा भवति। साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन॥

—बृहदारण्यकोपनिषद् ४।४।५।

मरता है तब तक ये तत्त्व उसके साथ ही साथ लगे रहते हैं।[1] शास्त्रकारों ने अनेक ग्रंथों में अनेक प्रकार से इन्ही बातों की पुष्टि की है।[2] जिनकी सांगोपांग चर्चा करना यहाँ अनपेक्षित है। उपर्युक्त बातों का इतना ही तात्पर्य यह है कि स्थायी भावों के संस्कार इसी लिंग शरीर में संभव है। अतएव इसके जड होने के कारण उसकी प्रवृत्ति का जडोन्मुख होना भी सर्वथा स्वाभाविक है।

अलंकार शास्त्रों के अनुसार रस न तो कार्य है और न ज्ञाप्य है। यदि रस कार्य होता तो विभावादि के समाप्त हो जाने पर समाप्त नहीं हो जाता। कारण के नष्ट हो जाने पर कार्य नष्ट हो जाय ऐसा देखने में नहीं आता है। इससे भिन्न मधुर रस शाश्वत है वह आत्मा का धर्म है वह इन्द्रियविषयक न होकर भगवद्विषयक है। वह स्थूल जड जगत की वस्तु न होकर चिद्जगत की वस्तु है। उसके विभावादि सभी शाश्वत हैं। अतएव प्राकृत शृंगारादि के समान इसके लिए संभवासंभव प्रसंग के उठने का कोई प्रश्न ही नहीं है।

मधुर रस की अलौकिकता

आत्मा का सर्वाधिक स्थूल बाह्य आवरण स्थूल देह है। इसी को उपनिषदों में अन्नमय कोश की संज्ञा दी गयी है। इसके अन्य आवरण प्राणमय कोश ज्ञानमय कोश विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश हैं जो क्रमशः अधिकाधिक सूक्ष्म होते गये हैं। गीता में भी इसी को दूसरे प्रकार से बतलाया गया है।[4] इन पंचकोशों के आस्वाद्य रस भी इसी प्रकार क्रमशः सूक्ष्म होते गये हैं। स्थूल रसनादि इन्द्रियों के उपभोग्य रस सर्वाधिक स्थूल एवं वैषयिक सुख विकार प्रवण होते हैं। इससे अधिक सूक्ष्म वह रस है जिसका आस्वादन मनन चिन्तन द्वारा किया जाता है। इसमें स्थूल शारीरिकता के बदले सूक्ष्म मानसिकता का प्राधान्य होता है। अतः इस प्रकार के रस को मानसिक रस की संज्ञा दी जाती है। बुद्धि द्वारा आस्वाद्य विज्ञानमय रस इससे अधिक मानसिक एवं सूक्ष्म होता है। सर्वाधिक सूक्ष्म आत्मा द्वारा आस्वाद्य आनन्दमय रस सूक्ष्मतम है। इसी को सर्वश्रेष्ठ भक्ति रस की संज्ञा दी गयी है। भक्तजन अपने अपने स्वभाव और रुचि के अनुरूप इस अलौकिक भक्ति रस का आस्वादन अनेक भाव से करते हैं। मधुर रस को उसी का सर्वाधिक भाव प्रवण सर्वश्रेष्ठ स्वरूप माना गया है। इस अनिर्वचनीय मधुर रस की सम्यक् धारणा स्थूल इन्द्रियों से तो संभव ही नहीं है। सूक्ष्म मन और बुद्धि द्वारा भी यह अगम्य है। क्योंकि मधुर रस चिन्तन और बोध का विषय न होकर शुद्धचित्त का सूक्ष्म आत्मा का विषय है अतएव वह अनुपम अनिर्वचनीय और अलौकिक है।

---

१ माण्डूक्यकारिका — ४।

२ वेदान्तसार १३ तथा उसकी विद्वन्मनोरंजनी टीका।

× × ×

सुरेश्वराचार्य का पंचीकरणवार्तिक आदि।

३ स च न कार्य विभावादि विनाशेऽपि तस्य संभव प्रसङ्गात् नापि ज्ञाप्य सिद्धस्य तस्या संभवात्।

—काव्यप्रकाश चतुर्थ उल्लास (॥२८॥)

४ इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।

मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥ —श्रीमद्भगवद्गीता। अ० ३।

मधुर रस मे प्रेम की आन्तरिकता

प्रेम भक्ति, आनन्द और सौन्दर्य जीवन के विविध तथा परस्पर सम्बद्ध रस हैं। ये ही जीवन को प्रिय बनाने वाले उपकरण हैं। किन्तु भक्ति, आनन्द और सौन्दर्य में भी आधारभूत रस प्रेम ही है। भक्ति पूज्य के प्रति प्रेम है आनन्द प्रेम की आन्तरिक भावना और गति है और सौन्दर्य प्रेम का आश्रय है। मानव जगत् पशु जगत् वनस्पति और जड़-जगत् में आकर्षण विकर्षण का यह अनिवार्य तत्त्व विद्यमान है। शारीरिक प्राणिक, मानसिक और आन्तरात्मिक—इन चार स्तरों पर प्रेम के चार रूप होते हैं। शारीरिक स्तर पर होने वाले प्रेम में भौतिक आकार और रूप के कारण आकर्षण होता है। प्राणिक स्तर पर होने वाले प्रेम में कभी-कभी अनाकर्षक भौतिक आकार और रूप के प्रति आकर्षण होता है। इस प्रकार के प्रेम में चढ़ाव-उतार नाटकीय ढंग से होता रहता है। मानसिक स्तर पर होने वाला प्रेम मनुष्य की स्थूल व्यावहारिकता में स्निग्ध आत्मा है। मानवीय व्यक्तित्व मे प्राण के दो रूप होते हैं—एक बाह्य और स्थूल दूसरा आन्तरिक और सूक्ष्म। इसमें प्रथम केवल व्यक्तिगत रूप है और द्वितीय व्यक्ति में उसका गुह्य व्यापार है। इसमें अधिक आन्तरिकता व्यापकता सूक्ष्मता और स्थायित्व होते हैं और सम्पूर्ण अनुभव आत्म-दान से अनुप्रेरित और परिप्लावित प्रतीत होते हैं। इसकी उदारता और मधुरता अपूर्व होती है। इसमें विचार चिन्तन और आदर्शों के साम्य से व्यक्ति परस्पर मानसिक बौद्धिक प्रेम अनुभव करते हैं। इसमें सामान्य प्राणिक प्रेम का आवेग नहीं होता, सूक्ष्म प्रेम का आत्म-दान भी नहीं एक पारस्परिक प्रगाढ़ सहानुभूति होती है। परन्तु मानव मानव के सम्बन्धों में अन्तर प्रेम वह अपूर्व प्रेम है जो उनके व्यक्तित्व के सजगतम और गम्भीरतम भाग को उनकी अन्तरात्माओं अथवा चैत्य पुरुषों को आपस में जोड़ देता है। इसमें व्यक्ति आत्मा-से आत्मा का स्पर्श अनुभव करते हैं जो अवर्णनीय रूप में मधुर, सूक्ष्म और एकत्वपूर्ण होता है। शुद्ध निरपेक्ष आत्म-दान इसकी शैली है और पूर्ण एकत्व इसका ध्येय है। यह भोग मुक्त है। यही यथार्थ दिव्य प्रेम है। इसे चरितार्थ करने के लिए मन प्राण की शुद्धि करना उन्हें आत्मदान का स्वर्णिम नियम सिखाने की साधना परमावश्यक है। ये विविध प्रेम-सम्बन्ध पुरुष-पुरुष में, स्त्री स्त्री में तथा पुरुष-स्त्री में हो सकते हैं। इसका निरूपण विवेचन कठिन है।[1] हृदय स्थित चैत्य पुरुष का प्रेम जीवन का गूढ़ रहस्य है। भक्ति साधना द्वारा ही इसे पहचाना और पाया जा सकता है।

मधुर भाव का हृदय मे प्रतिष्ठापन

स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध मे प्रेम का भाव कठिन हो जाता है। क्योंकि काम बहिर्मुख प्राणिक आवेग है जो प्रेम का घातक है। यह अनेकानेक प्रतिक्रियाओं का उत्पादक है। अतः इन्द्रियजन्य काम के संयम और नियम में आने से ही प्रेम का मधुर भाव हृदय में प्रतिष्ठित हो पाता है। पाश्चात्य मनोविश्लेषण का सिद्धान्त काम और प्रेम में कोई अन्तर नहीं मानता और इसी के अभाव को दुःख का कारण बतलाता है। वास्तव में काम क्षण स्थायी एवं विकार प्रवण है एक निम्न वृत्ति है जो प्रेम के प्रतिष्ठित होने में बाधक है। इससे भिन्न प्रेम की स्वाभाविक गति में

1 What is called love is sometimes onething sometimes another most often a confused mixture

—Arbindo

एक अनन्तता और असीमता के भाव विद्यमान रहते है। इसके लिए प्रमाधार की विशिष्टता आवश्यक है और यह ईश्वर ही हो सकते हैं। एकमात्र परमात्मा ही प्रेम का परम विषय है। प्रेम के स्वाभाविक विकास से भी व्यक्ति अन्त म भागवत प्रेम का अभीप्सु बन जाता है। इस भागवत प्रेम रस का प्रभाव अवर्णनीय है। केवल एक बार इस महावारुणी के पान कर लेने पर फिर इसकी खुमारी कभी नही उतरती।[1] तभी तो हेतु रहित अनुदिन अधिकाधिक वर्धमान राम-पद के अनुराग के सामने भागवत प्रेम रस रसिक साधक सुगति सुमति सम्पत्ति ऋद्धि सिद्धि मान बडाई सबको अत्यन्त तुच्छ समझता है।[2] काव्य म रहस्यवाद इसी दिव्यानुभूतिजन्य आन्तरिक प्रेम का प्रकाशन है। वस्तुत प्रेम का मधुर भाव और उसका आनन्द सत्ताविषयक अन्तिम शब्द है। ये ही परम रहस्य है परम गुह्य तत्त्व हैं।[3]

अलौकिक मधुर रस का प्रादुर्भाव

अपने अलौकिक माधुर्य से मन रूप चातक को मतवाला करने वाले सर्वश्रेष्ठ मधुर रस का प्रादुर्भाव बडा ही कठिन एव दुरूह है। इसके योग्य अधिकारी बनने के लिए बहुत ही कठोर साधना की आवश्यकता बतलाई गई है। विषयी की विषया के प्रति जसी निरतिशय आसक्ति होती है वसी ही अनन्यासक्ति इसके लिए अपेक्षित है। सर्वतोभावेन निष्काम होकर अपना सर्वस्व भगवदर्पण करने के उपरान्त ही साधक सर्वोत्कृष्ट मधुर रस का अधिकारी हो सकता है। जीव तीन प्रकार के होते है—विषयी साधक और सिद्ध। इन्हा के अनुरूप प्रेमी की भी तीन कोटिया होती हैं—भीतिमार्गी प्रतीतिमार्गी और प्रीतिमार्गी। भीतिमार्गी की परिपक्वता म प्रतीति माग सधता है और प्रतीति माग की परिपक्वता म प्रीति माग सधता है। इस प्रीति माग म माध्य के प्रति साधक की तन्मयता प्रेम की ऐकान्तिकता सर्वात्म-समर्पण भाव एव आत्मनिवेदनासक्ति चरम सीमा पर पहुच जाती है। इसी विशिष्ट भाव दशा का वर्णन करते हुए मधुर रस के ममन भक्त शिरोमणि चण्डीदास न कहा है कि हे बन्धु! तुम मेरे प्राण हो! मैंने देह मन कुल शील जाति और मान आदि सब-कुछ तुमको सौप दिए हैं। कृष्ण! तुम अखिल

१ नाम खुमारी नानका चढी रहै दिन रैन।"

—नानक।

और सखी मद पी पी माती
मैं बिनु पीया ही माती।
प्रेम भठी को मैं मद पीया
छकी फिरूँ दिन राती॥

—मीरा।

२ चहौं न सुगति सुमति सम्पति कछु
रिधि सिधि विपुल बडाई।
हेतु रहित अनुराग रामपद
बढै अनुदिन अधिकाई॥

—एक भक्त।

Love and Anand are the last words of being the secret of secrets the mystry of mystries —Shri Arbindo

जग के नाथ हो योगियों के आराध्य धन हो। हम गोप ग्वालिनियाँ अतिहीन हैं, भजन-पूजन नहीं जानती। प्रेम के रस में ढालकर मैंने अपना तन मन तुम्हारे चरणों में डाल दिया है। तुम्हीं मेरी गति हो, तुम्हीं मेरे पति हो मेरा मन और किसी को नहीं चाहता। मुझे सब लोग कलंकिनी कह कर पुकारते हैं इसका मुझे दुःख नहीं है। बन्धु! तुम्हारे लिए कलंक का हार गले में धारण करने में मुझे सुख है। क्या भला है और क्या बुरा—यह मैं नहीं जानती। हे प्यारे! मेरा पाप पुण्य सब केवल तुम्हारे चरण ही हैं।[1]

जब साधक अपने चिर आराध्य की भजन क्रिया में प्रवृत्त होता है तो उसे अनेक अनर्थों का सामना करना पड़ता है। फिर वह अनर्थों का सामना करते हुए उत्साहपूर्वक उसमें प्रवृत्त रहता है। इसे 'उत्साहमयी दशा' कहते हैं। किन्तु पुनः उसे आशा निराशा आन्दोलित करने लगती है। उसका चित्त चंचल हो उठता है फिर भी वह दृढ़ता के साथ भजन में संलग्न रहता है। इसे 'व्यूढ़ विकल्प दशा' कहते हैं। पुनः संसार के प्रति राग विराग की भावना उसे आन्दोलित करती है। उसके मनोराज्य में भोग विषयों को लेकर द्वन्द्व होने लगता है। इसे 'विषय-संगरा दशा' कहते हैं। फिर भी वह भजन क्रिया को भंग नहीं होने देता। किन्तु कभी-कभी उसके नियम में शिथिलता आ जाती है। इसे नियम-क्षमा की दशा कहते हैं। इसके उपरान्त तरंग रंगिणी की दशा आती है और साधक भक्ति की तरंगों में हिलोरें लेने लगता है। साधक अनिष्ठिता भक्ति की दशा में 'निष्ठिता भक्ति' की भूमिका में प्रवेश करता है। धीरे धीरे निष्ठा का उदय होने पर 'रुचि' उत्पन्न होती है। रुचि द्वारा चित्त की मसृणता आती है जिससे भगवत्प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा का जागरण होता है। पुनः क्षान्ति अव्यर्थकालत्व विरक्ति मानशून्यता

---

१ बन्धु! तुमि ये आमार प्राण!
देह मन आदि तोमारे सँपेछि
कुल शील जाति मान॥
अखिलेर नाथ तुमि हे कालिया!
योगीर! आराध्य-धन॥
गोप-गोयालिनी हम अति हीन।
ना जानि भजन पूजन॥
पिरीति रसेते ढालि तनु मन।
दियाछि तोमार पाय॥
तुमि मोर गति तुमि मोर पति।
मन नाहि जाय आन॥
कलंकी बलिया डाके सब लोके
ताहाते नाहिक दुख।
बन्धु तोमार लागिया कलंकेर हार
गलाय परिते सुख॥

भाल मन्द नाहि जानि
कहे चण्डीदास पाप पुण्य मम
तोमार चरण खानि॥

—चण्डीदास।

आशाबन्ध समुत्कण्ठा नाम गान में सदा रुचि हरिगुण वर्णन में आसक्ति परमधाम में निवास के लिए प्रीति आदि अनुभवों का स्फुरण होता है। ये ही भावांकुर भावक साधक के परिचायक हैं। श्रद्धा साधु संग भजन अनर्थनिवृत्ति निष्ठा रुचि आसक्ति भाव और अन्त में प्रेम—ये ही इसके विकास क्रम हैं।[1] कृष्णदास कविराज ने भी चैतन्य चरितामृत में मधुर रस के प्रादुर्भाव पर विचार करते हुए लिखा है कि कृष्णरति का उदय सहज भाव से नहीं होता। बड़े सौभाग्य से किसी किसी जीवात्मा में श्रद्धा फिर साधु संग फिर हरिगुणगाथा—श्रवण-कीर्तन में रुचि अनर्थनिवृत्ति भक्ति निष्ठा रुचि आसक्ति रत्यांकुर और प्रेम का प्रादुर्भाव होता है।[2] तात्पर्य यह है कि पहले भक्त के हृदय में प्रेमोदय होता है। फिर मन में भगवान् से मिलने की इच्छा का जागरण होता है और अन्त में भक्त और भगवान् का आन्तर मिलन होता है। अतएव अर्थ धर्म काम और मोक्ष से परे प्रेम ही पंचम पुरुषार्थ है क्योंकि मधुर भाव के बिना अखण्ड और संकोचहीन मिलन असम्भव है। भक्ति शास्त्रकारों ने बतलाया है कि जब तक भोग और मोक्ष की पिशाचिनी स्पृहा हृदय में विद्यमान है तब तक प्रेम-सुख का अभ्युदय कथमपि नहीं हो सकता।[3] जब तक इन्द्रिय मन और बुद्धि का पूर्ण निग्रह न हो जाए तब तक कोई मधुरा भक्ति की सुकोमल भाव भूमि में प्रवेश पाने का अधिकारी नहीं हो सकता। लोक परलोक के अगणित वर्णित सुखों और मोक्ष सुख की कामना का जब तक सर्वतोभावेन विलोपन नहीं हो जाता तब तक इस मधुर प्रेम रस के प्रांगण में कोई प्रवेश नहीं पा सकता। श्री चैतन्य महाप्रभु के कथनानुसार तृण से भी सुनीच होकर वृक्ष से भी सहिष्णु बनकर मान विसर्जन कर तथा दूसरे को मान प्रदान कर ही हरि की सेवा सम्भव है।[4] मन मन्दिर से वासना की धूलि झाड़ कर भक्ति जल से उसे प्रक्षालित कर

---

१ आदौ श्रद्धा ततः साधुसंगोऽथ भजनक्रिया।।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः ॥६॥
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति ॥
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः ॥७॥

—हरिभक्तिरसामृतसिन्धु पू० वि०, ४ लहरी।

२ कोन भाग्ये कोन जीवे श्रद्धा यदि हय।
तबे सेइ जीव साधु संग करय ॥
साधु संग हैते हय श्रवण कीर्तन।
साधन भक्त्ये हय सर्वानर्थ निवर्तन ॥
अनर्थ निवृत्ति हैले भक्तिनिष्ठा हय।
निष्ठा हैते श्रवणाद्ये रुचि उपजय ॥
रुचि हैते हय तबे आसक्ति प्रचुर।
आसक्ति हैते जन्मे चित्तेर अंकुर ॥
सेइ रति गाढ़ हैले धरे प्रेम नाम।

—चैतन्यचरितामृत मध्यलीला परि० २३ पृ० २२८।

३ भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते ॥
तावद् भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत् ॥११॥

—हरिभक्तिरसामृतसिन्धु पू० वि० २ लहरी।

४ तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन सेवितव्यः सदा हरिः ॥

—श्री चैतन्य महाप्रभु।

तथा ज्ञान-लोक का दीपक जला कर प्रेम सिंहासन पर भगवान् की मानस-मूर्ति स्थापित करना ही परब्रह्म की सेवा कही जाती है। इसी प्रसंग में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि जब सारा अभिमान और अहंकार दूर हो जाएगा ज्ञान और पाण्डित्य शान्त हो रहेंगे तब वह परमाराध्य जिसकी नत्यमान भ्रू-लता वर्णाग्रभाग भ्रू-लता के कारण मुख-श्री अत्यन्त मधुर हो उठी है जिसका वर्णाग्रभाग अशोक-कलिका से विभूषित है ऐसा कोई नवीन निकष प्रस्तर के समान कान्तिवाला किशोर कभी रस से मन और बुद्धि बबस कर डालेगा।[1]

मधुर रस और उसका स्थायी भाव

'उज्ज्वलनीलमणि' में श्री रूपगोस्वामी ने मधुर रस का सावयव निरूपण किया है। नायक भेद नायक-सहायक भेद हरिवल्लभा, श्रीराधा नायिका भेद यूथेश्वरी भेद दूती भेद सखी भेद आलम्बन, उद्दीपन अनुभाव सात्त्विक भाव, व्यभिचारी भाव स्थायी भाव शृंगार भेद मान विप्रलम्भ सम्भोगादि के विस्तृत विवेचन द्वारा मधुर रस को एक स्वतन्त्र रस के रूप में सिद्ध किया गया है तथा इसे रसराज की उपाधि से विभूषित किया गया है। उपर्युक्त विषयों में से अधिकांश का परम्परागत ढंग से ही वर्णन किया गया है। किन्तु स्थायी भाव आदि के प्रसंग में कतिपय नवीन तथ्यों को उद्घाटित करने का स्तुत्य प्रयास भी परिलक्षित होता है।

निखिल रसामृत मूर्ति परमब्रह्म और उनके विग्रह एवं चिन्मयी शक्तियाँ या वल्लभाएँ ही दिव्य मधुर रस के आलम्बन हैं और इन दोनों की प्रियता (मधुरा रति) ही इस दिव्य मधुर रस का स्थायी भाव है जो दोनों को सम्भोग की प्रेरणा देती रहती है। तात्पर्य यह है कि भगवद् रति ही मधुर रस का स्थायी भाव है जो साधक की रुचि प्रवृत्ति और स्वभाव के अनुसार शान्ता प्रीता प्रेयसी अनुकम्पा और कान्ता रतियों के नाम से पाँच प्रकार की बतलाई गई हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि किस प्रकार साधनभक्ति के द्वारा भक्त के हृदय में रति का उदय होता है जो प्रगाढ़ होकर प्रेम के नाम से अभिहित होता है। वही प्रेम क्रमशः विकसित होकर स्नेह मान प्रणय राग अनुराग भाव और महाभाव में परिणत हो जाता है। इन सबको भी मधुर रस का स्थायी भाव माना गया है।[2] ये ही स्थायी भाव निरन्तर अन्तर में सुप्रकाशित होकर निखिल रसानन्द-स्वरूप परमात्मा के साथ अनन्त आनन्दमय मधुर मंगल-सम्बन्ध का समारम्भ करने वाले हैं। इस प्रकार परमात्मा के प्रति मधुर मनोराग (Sweet Sentiments) ही इस दिव्य मधुर रस का स्थायी भाव है। परमात्मा की स्वरूप शक्ति-संवित्-सार शुद्ध विशेषात्मिका ह्लादिनी चित्तवृत्ति ही भाव है। भगवत्प्राप्ति की अभिलाषा, उनकी सेवा की अभिलाषा, उनके सौहार्द-लाभ एवं आन्तर मिलन की अभिलाषा में भाव भक्ति प्रेम सूर्य की किरणों के समान उदित होकर चित्त को मसृण कर देता है। चित्त जब सम्यक्रूपेण मसृण हो जाता है तब परम आनन्द के उत्कर्ष में घनीभूत भाव

---

१ भ्रूवल्लितायवक्त्रनामधुराननश्री वर्णेन्दिवोरकशोकबिम्बदलपूर ।
का नवीननिकषोपमतुल्यवेषो वशीकरोति मामवशीकरोति ॥
—म० भ० सा० के पृष्ठ २२७ पर उद्धृत ।

२ चैतन्य चरितामृत मध्यलीला, परि० २१, पृ० ३८८ द्रष्टव्य ।

ही प्रेम कहलाता है।[1] मन के अवस्था भेद के अनुसार ही भावोदय होता है। गरिष्ठ मन स्वर्ण पिण्ड के समान लघिष्ठ मन तूल के समान गम्भीर मन समुद्र के समान गाम्भीयरहित मन क्षुद्र जलाशय के समान महिष्ठ मन नगर के समान और क्षोदिष्ठ मन झोपड़ी के समान होता है। कर्कश चित्त वज्र स्वर्ण और लाक्षा के समान है और भाव अग्नि के समान है। प्रेम अथवा निर्मल निविड भाव विभाव अनुभाव सात्विक और व्यभिचारी भावों के संयोग से भगवद् रति में चमत्कार आ जाता है। यही भगवद् रति या ईश्वर के प्रति प्रिय मनोराग या मधुरा रति भक्ति रस राट मधुर रस का स्थायीभाव है जो अविरुद्ध या विरुद्ध सभी प्रकार के भावों को आत्मसात् करके सम्राट की तरह सबको वश में करके विराजमान है। यही मधुरा रति नामक प्रिय स्थायी भाव है जो साधक की रुचि प्रवृत्ति और अवस्था भेद के अनुरूप शान्त दास्य सख्य वात्सल्य और मधुर इन पाच मुख्य रसों और हास्य अद्भत वीर करुण रौद्र भयानक और वीभत्स इन सात गौण रसों का आस्वादन कराती है।

मधुरा रति के भेद

मधुर रस का स्थायीभाव मधुरा रति[2] अभियोग से विषय से सम्बन्ध से अभिमान से तदीयविशेष से उपमा से और स्वभाव से सात प्रकार की होती है जिन्हे क्रमश अभियोगजा वषयिकी सम्बन्धजा अभिमानजा तदीय विशेषजन्य उपमाजन्य और स्वाभाविकी की सज्ञा दी गई है। स्व तथा पर भेद से अनुराग की अभिव्यक्ति को अभियोग कहते हैं। इसके अन्तर्गत स्व और पर भेदानुसार दो प्रकार की भावाभिव्यक्ति सम्भव है। शब्द स्पर्श रूप रस एव गन्ध से उत्पन्न रति को वषयिकी कहते हैं। कुल रूप शौर्य सौशील्य आदि की समग्रता के आधिक्य से समुद्भूत रति सम्बन्धजा है। अनेक रमणीय पदार्थ अथवा व्यक्ति के होते हुए भी किसी एक ही की प्रार्थना या अभिलाषा करना अभिमान है। पद चिह्न गोष्ठ तथा प्रिय सख्यादि तदीयविशेष हैं। सादृश्य से उत्पन्न रति को उपमाजन्य कहते हैं। इन सम्पूर्ण बाह्य हेतुओं की अपेक्षा न करनेवाली रति स्वाभाविक है। व्रजागनाओं में प्राय यही रति विद्यमान है[3]। निसर्ग तथा स्वरूप के नाम से स्वाभाविकी रति के दो भेद माने गए हैं। सुदृढ अभ्यास जन्य संस्कार को निसर्ग-स्वभाव तथा स्वत सिद्धभाव को स्वरूप स्वभाव कहा गया है। पुन कृष्णनिष्ठ ललनानिष्ठ और उभयनिष्ठ नाम से स्वभाव के तीन प्रकार बतलाए गए हैं। स्व भावज मधुरा रति गोकुलदेवियो में ही विद्यमान है।

व्रजवल्लभाओ को दृष्टि से मधुरा रति के तीन भेद

श्रीकृष्ण की वल्लभाओं का स्वभावज रति को दृष्टि में रखकर अर्थात् नायिका की दृष्टि से साधारणी समजसा और समर्था नाम से मधुरा रति के तीन प्रकार हैं—साधारणी मधुरा रति

---

१ सम्यङ मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कित ॥
भाव स एव सान्द्रात्मा बुधै प्रेमा निगद्यते ॥१॥ — भ र सि, पू वि ४ लहरी।

२ स्थायिभावोऽत्र शृगारे कथ्यते मधुरा रति । —उज्ज्वलनीलमणि पृ ३८८।

३ प्रोक्ता भावाभियोगाद्या विलासाधिक्यहेतवे ॥३६॥
रति स्वभावजैव स्यात्प्रायो गोकुलसुभ्रुवाम् । —वही पृ ४०६।

कुब्जादि में विद्यमान है। इसके अन्तर्गत 'आत्मतर्पणकतात्पर्या' अर्थात् अपनी ही तृप्ति मुख्य होती है। यह साधारणी मधुरा रति हरि के साक्षात् दर्शन से उत्पन्न होती है। यह अति सान्द्र नहीं होती तथा सम्भोगेच्छा से युक्त रहती है। सम्भोगेच्छा के ह्रास से इसका भी ह्रास होता है।[1]

इसमें भिन्न समंजसा मधुरा रति सत्यभामा रुक्मिणी आदि महिषियों में विद्यमान है। यह हरिगुणादि के श्रवणादि से उत्पन्न सघन तथा पत्नी भाव से समन्वित अभिमानवाली सान्द्र रति है जिसमें सम्भोगेच्छा कभी-कभी खण्डित भी होती है। इसमें उभयनिष्ठा रति की प्रधानता रहती है।

गोकुल देवियों में विद्यमान समर्था मधुरा रति सर्वश्रेष्ठ मानी गई है। यह केवल कृष्णार्थ होती है। साधारण रति से सम्भोगेच्छा जब तादात्म्य उपलब्ध करती है तब वह समर्था रति कहलाती है। यह सम्भोगेच्छा विशेष से बाधित या खंडित नहीं होती। यह नित्य एवं एकरस है। इसमें अद्भुत विलास-लहरियों का चमत्कार उत्पन्न करनेवाली शोभा विद्यमान है। इसमें केवल कृष्ण के सौख्यार्थ ही उद्यम होता है। शनैः शनैः यही रति प्रौढ़ता को प्राप्त होकर महाभाव दशा में परिणत हो जाती है। साधक भक्तजन ब्रजदेवियों के कृष्णविषयक भाव को स्वरूप लक्षण से तथा कृष्ण के ब्रजदेवी विषयक भाव को तटस्थलक्षण से आस्वादन करते हैं।[2]

उज्ज्वलनीलमणि' में श्री रूपगोस्वामी ने मधुरा रति के उपर्युक्त साधारणी, समंजसा और समर्था रति की पारस्परिक महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि ये क्रमशः मणि के समान नातिदुर्लभ चिन्तामणि के समान सुदुर्लभ तथा कौस्तुभमणि के समान अनन्यलभ्य होती हैं।[3] राम भक्ति साहित्य में भी इसी प्रकार स्वसुखी, चित्सुखी एवं तत्सुखी भाव भक्ति की उद्भावना की गई है।

सारांश यह है कि समर्था मधुरा रति सान्द्रतमा होती है और यही रति प्रगाढ़ होकर प्रेमरूप को प्राप्त होती है और परिवर्धित होकर क्रमशः स्नेह, मान, प्रणय राग अनुराग भाव और महाभाव-दशा को प्राप्त करती है। जिस प्रकार बीज से ऊख उत्पन्न होता है फिर उससे रस रस से गुड़ गुड़ से खांड, खांड से शर्करा और शर्करा से सितापला अथवा मिश्री बनती है उसी प्रकार रति, प्रेम स्नेह मान, प्रणय राग, अनुराग, भाव और महाभाव में क्रमशः विकसित होकर पूर्णता को प्राप्त करती है।

भावानुसार मधुरा रति के भेद

भावानुसार मधुरा रति के आठ प्रमुख भेद हैं—प्रेम स्नेह मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव।

---

१ नातिसान्द्रा हरे प्राय साक्षाद्दर्शन सम्भवा।
सम्भोगेच्छानिदानेय रति साधारणी मता ॥३६॥ —उ० नी ,पृ ४०८।

२ इष्टे गाढ़ तृष्णा राग एइ स्वरूप लक्षण।
इष्ट आविष्टता एइ तटस्थ लक्षण ॥
—चैतन्य चरितामृत, कृष्णदास कविराजकृत मध्य० २२/८६।

३ साधारणी निगदिता समञ्जसा समर्था च।
कुब्जादिषु महिषीषु च गोकुलदेवीषु च क्रमत ॥१७॥
मणिवच्चिन्तामणिवत्कौस्तुभमणिवत्त्रिधाभिमता।
नातिसुलभेयमभित सुदुर्लभा स्यादनन्यलभ्या च ॥१८॥ —उ० नी०, पृ० ४०७।

प्रेम

प्रेम का अर्थ है भाव बन्धन। यह रति का अमर बीज है। भाव की प्रगाढता का नाम प्रेम है। अन्त करण का सर्वापेक्षा बडा आकर्षण प्रेम हुआ करता है। अत प्रेम ईश्वर के प्रति अनन्यार्पण है। इसीको परामक्ति की सन्ना दी गई है। नारद भक्ति-सूत्र म प्रेम को अनिर्वचनीय गुण रहित कामना रहित प्रतिक्षण वर्धमान अविच्छिन्न सूक्ष्मतर तथा अनुभव रूप कहा गया है।[1] भक्ति अपनी चरमावस्था म मुक्ति का भी अतिक्रमण कर जाती है और प्रेम नाम से अभिहित होती है। अतएव ईश्वर क प्रति मन की अविच्छेद्य स्वाभाविक अनुरक्ति को ही प्रेम कहते है। इसीको प्रेम भक्ति भी कहा गया है। सभी प्रकार के भक्तो एव सन्तो ने साधना के क्षेत्र मे बार-बार प्रेम की अनिवार्यता और उसकी व्यापकता की उद्घोषणा की है। भक्त शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास ने स्पष्टत कहा है कि उनके परमाराध्य भगवान् राम को एकमात्र प्रेम भाता है।[2] सत कबीर ने भी प्रेम की अविचलित गति की महिमा का बखान करते हुए उसकी अनिवार्यता का यशोगान किया है।[3] भक्तो एव सन्तो की प्रेम भावना अत्यन्त विस्तृत और व्यापक है। सन्तो ने तो अनिवार्य रूप मे प्रेम को अग और विरह को अग' लिख कर अपनी प्रेम भावना को अभिव्यक्त किया है। सक्षेप म प्रेम जागतिक तत्त्व है सत्तामात्र की व्यापक शक्ति है तथा विश्व को सगठित करने वाला अलक्ष्य सूत्र है।

सामान्यत प्रेम के दो भेद हैं—विधि मार्ग स चलने वाला महिमाज्ञानयुक्त प्रेम और राग मार्ग से चलने वाला ऐश्वर्यज्ञानशून्य प्रेम। ऐश्वर्य भाव और माधुर्य भाव—इन्ही दो भावों से भगवान् का अनुभव हो सकता है। इसमे प्रथम कोटि का प्रेम शास्त्राश्रित होता है। इसम भगवान् के ऐश्वर्य ज्ञान एव महिमा ज्ञान से अभिभूत साधक शास्त्राचारो का अनुगमन करता हुआ सर्व शक्तिमान परमेश्वर को पापो का दण्ड देनेवाला मानकर भीति भाव स प्रभु की उपासना करता है। दूसरी कोटि का प्रेम क्रमश अपने माधुर्य को प्रकाशित करते हुए सूर्य के समान चित्तरूपी नवनीत को अपने प्रभाव से द्रवित करता है। इसम प्राणो के स्वत स्फूर्त आवेग स भगवान् के रूप-गुण लीला माधुर्य की बातें सुनकर मन म लालसा का उदय होता है प्रियतम प्रभु क प्रति नैसर्गिक रसमयी आविष्टता दीख पडती है। इसी को रागभक्ति की सज्ञा दी गई है। इसम सब कुछ भगवत्प्रीत्यर्थ किये जाते हैं। अर्थात् इसम भगवान को सुखी बनाने की ऐकान्तिक वासना की ही प्रधानता रहती है। उज्ज्वलनीलमणिकार क अनुसार ध्वस कारण के रहते हुए भी सर्वथा ध्वसरहित अवस्था म स्त्री पुरुष क मध्य भाव-बन्धन या मधुर बन्धन को प्रेम कहते हैं। इसके तीन भेद हैं—मन्द मध्य और प्रौढ। प्रिय को सहन करने न-करने के अनसार इसकी तीन दशाए

---

१ अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूपम्। —ना भ सू० ५१।
गुणरहित कामना रहित प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्न सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्।' —वही, ५४।

२ रामहि केवल प्रेम पिआरा। जानि लेहु जो जाननिहारा॥ —मानस तुलसीदास।

३ छिनहि चढै छिन उतरै सो तो प्रेम न होय।
अघट प्रेम पिंजर बसै प्रेम कहावै सोय॥

जा घट प्रेम न सचरै सो घट जानु मसान।
जैसे खाल लुहार की साँस लेत बिन प्रान॥ —सत कबीर।

हैं जिन्हें क्रमशः प्रकृष्ट प्रकृष्टतर और प्रकृष्टतम कहते हैं। इनमें क्रमशः असहिष्णुता कुछ सहिष्णुता और विस्मृति के लक्षण दृष्टिगत होते हैं।

स्नेह

चित्तरूपी नवनीत को अपने माधुर्य की रश्मियों से द्रवित करने वाला प्रेम ही स्नेह कहलाता है। प्रेम की उत्कृष्टता जब दर्शन करने पर भी अतृप्ति ही उपस्थित करती है और हृदय अत्यन्त द्रवित हो जाता है तब स्नेह की अवस्था होती है जो क्रमशः अंग संग दर्शन तथा श्रवण के आधार पर कनिष्ठ मध्यम और श्रेष्ठ कही जा सकती है।'[1] यह स्नेह प्रेमानुभूति को उसी प्रकार उद्दीप्त कर देता है, जिस प्रकार तेल दीपक की ऊष्मा और प्रकाश को बढ़ाता है। दूसरे शब्दों में स्नेह मन की द्रवणशीलता का ही नाम है। स्नेह के दो भेद बतलाए गए हैं—घृत स्नेह और मधुर स्नेह। घृत स्नेह में आदर तथा मधुर स्नेह में आत्मीयता की अतिशयता रहती है।

मान

मान स्नेह का उत्कृष्ट परिणति है। यह स्नेह की उत्कृष्ट दशा है जिसमें अदाक्षिण्य विद्यमान रहता है। दूसरे शब्दों में अतिशय प्रियत्व के अभिमान से प्रणय-कौटिल्य का आभास ग्रहण करने पर जो भाव-वैचित्र्य को ग्रहण करता है उसे 'मान' कहते हैं। वस्तुतः यह प्रेमातिरेकावस्था में उपेक्षा का अभिनय है। इसके दो भेद हैं—उदात्त और ललित। 'उदात्त के 'दाक्षिण्योदात्त' और वाम्यगन्धोदात्त नामक दो भेद होते हैं। इसी प्रकार ललित के भी दो भेद हैं—कौटिल्य और नर्मललित।

प्रणय

मान में जब विस्रम्भ की अर्थात् अपने देह, मन प्राण आदि से प्रेमास्पद के साथ अभेद की भावना जाग्रत् होती है तब उसे 'प्रणय' कहते हैं। दूसरे शब्दों में विस्रम्भरूप विश्वासमय रति को ही प्रणय कहा जाता है। प्रणय निष्कामी सात्त्विकी एवं शुचिता मूर्ति है। इसमें आत्मोत्सर्ग की चरमसीमा होती है।[2] विस्रम्भ-रूप प्रणय के दो प्रकार हैं—मैत्र और सख्य। उदात्त के साथ मैत्री का सुमैत्र और ललित के साथ सख्य को सुसख्य कहते हैं। प्रणय कभी स्नेह में उत्पन्न होकर मान की दशा में पहुँच जाता है और कभी स्नेहाधिक्य के कारण मानोद्भव के बाद प्रकट होता है।

राग

अतिशय अभिलाषा से युक्त होने पर 'प्रणय' ही 'राग' में परिणत हो जाता है। इसमें प्रणयातिशय हृदय में दुःख के रहते हुए सुख का प्रकाश होता है। राग के दो भेद हैं—नीलिमा और रक्तिमा। नीलिमा के दो प्रकार हैं— नीली राग' और 'श्यामाराग'। जिसमें रंग-परिवर्तन न हो और अव्यक्त रहे उसे 'नीली राग' कहते हैं। श्यामा राग धीरे धीरे व्यक्त होने वाले राग को कहते

---

[1] रस सिद्धान्त : स्वरूप और विश्लेषण—डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित, पृ० २७८।

[2] 'निष्कामी है प्रणय शुचिता-मूर्ति है सात्त्विकी है।
होती सीमा चरम इसमें आत्मोत्सर्ग की है।' —प्रियप्रवास हरिऔध।

हैं। इसी प्रकार रक्तिमा के दो भेद होते हैं—कुसुम्भ राग और मंजिष्ठ राग। शीघ्र ही दूसरे में घुल जाने वाले को कुसुम्भ राग कहते हैं। हरिवल्लभाओं में कुसुम्भ राग मलिन नहीं होता। मंजिष्ठ राग स्थायी और स्वतन्त्र होता है। यह अनाश्रय है तथा अनन्यसापेक्ष तथा निरन्तर अपनी कान्ति को बढ़ाता जाता है। राधा माधव में यही राग विद्यमान रहता है। उपर्युक्त चतुर्विध रागों में अनुरक्ति की निविडता एवं प्रकाशवत्ता उत्तरोत्तर अधिकाधिक होती जाती है।

अनुराग

राग अपने विषय को नये-नये रूपों में अनुभव कराके तथा स्वयं भी नया नया रूप धारण करके अनुराग नाम ग्रहण करता है। अनुराग में प्रिय और प्रिया के प्रेम वैचित्र्य का अनुभव होता है तथा प्रिय के सम्बन्ध में अप्राणियों में भी जन्म लेने की लालसा जाग्रत होती है। इसमें परस्पर वशी भाव विद्यमान रहता है। दूसरे शब्दों में अपने इष्टदेव में अनुभव किये हुए सौन्दर्य गुण और माधुर्य को जो नित्य नवीन रूप में आस्वादनीय बनाने लग जाए और स्वयं भी नित्य नवीन बनता चला जाए वह राग अनुराग कहा जाता है। प्रेम की नित-नूतनता इसकी प्रमुख विशेषता है।[१] अनुराग के कई स्तर हैं। यथा—परवशी भाव प्रेम-वैचित्र्य अप्राणि जन्म-लालसा विप्रलम्भ विस्फूर्ति। परवशी भाव में आत्मसमर्पण प्रेम-वैचित्र्य में विरह की स्नेहमयी आशंका अप्राणि जन्म लालसा के अन्तर्गत प्रियतम के स्पर्श सुख की प्राप्ति के लिए निर्जीव वस्तुओं में जन्म लेने की आकांक्षा तथा विप्रलम्भ विस्फूर्ति में विरह में प्रिय की झलक देखी जाती है। तन्मयता ही अनुराग की महत्वपूर्ण सीढ़ी है। विप्रलम्भ-दशा में ही इसका प्रकर्ष दृष्टिगोचर होता है क्योंकि विरह में अपार शक्ति है। हठयोग की सारी शक्तियाँ यह अपने साधक को क्षण में प्रदान कर देता है।[२] श्री शंकराचार्य ने प्रोषितपतिकाओं को उपासना के दृष्टान्त के रूप में उपस्थित किया है।[३] श्रीमद्भागवत में भी विरह दशा की दिव्योन्मादमय स्थिति का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया गया है।[४]

परम अनुराग

कामिनी कंचन और कीर्ति के प्रति अनुराग की बातें संसार में सर्वत्र देखी सुनी जाती हैं। किसी किसी में इन नश्वर वस्तुओं की ओर परम अनुराग भी हो जाता है। जब अनुराग इस कोटि का हो जाए कि उस वस्तु के बिना एक क्षण के लिए भी चैन न पड़े और चित्त का समस्त

---

१ से हो पिरीत अनुराग बखानिय तिले तिल नूतन होय। —विद्यापति।

२ देहि गति योगिनि की छिन में वियोगिनि को
विरह महन्त की अनोखी यह बात है।

३ विशेषणवाक्यस्योरच अन्वयव्यतिरेकेण प्रयोगो दृश्यते
ध्यायति प्रोषितनाथा पतिम् इति निरन्तर स्मरणा पतिं
प्रति सोत्कण्ठा सा एवम् अभिधीयते। —ब्रह्मसूत्र ४/१/८ (भाष्य)।

४ वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥ —श्रीमद्भागवत, ११/१४/२४।

बल्कि पूर्णरूप से उसी अनुराग-योग्य वस्तु में केंद्रित हो जाए, तब समझना चाहिए कि अनुराग परम अनुराग की कोटि में पहुच गया। परम अनुरागी का अपने इष्ट के साथ सयोग मछली और जल का सा होना है और वियोग चातक का-सा होना है। वह स्वप्न में भी अपने इष्ट को छोड कर किसी अन्य की कल्पना नहीं करता है। इसी दशा मे अनुराग पराकोटि म पहुच जाता है। इस स्थिति म आराध्य-आराधक का भावाद्वैत हो उठना सहज हो जाता है। इस अवस्था में आराध्य आराधक के मध्य अनिर्वचनीय द्वैताद्वैत विलक्षण स्थिति रहती है। सक्षेप में परम अनुराग दग्ध हेमवत् शुद्ध निर्मल उज्ज्वल कामगंधहीन स्वाभाविक गोपी प्रेम का पर्याय है।[1]

भाव

प्रतिक्षण वर्धमान अनुराग की चरम दशा स्वय संवेद्य होकर भाव की संज्ञा प्राप्त करती है। उतार के समय समुद्र की तरगें जिस प्रकार कूलों को आप्लावित कर देती हैं उसी प्रकार अनुराग भी सम्पूर्ण मन प्राण को आप्लावित करता है और सबको प्रभावित कर पुन केंद्रित हो जाता है। इस प्रकार भाव प्रेम का परम निर्यास है प्रेम का परम सार है[2] अनुराग का उत्कर्ष है जो स्व सवेद्य दशा को प्राप्त कर प्रकाशित होने वाला है। मधुरा रति में भाव उच्चतर अवस्था है। यह चित्त का रजन करने वाला तथा चित्त की कठोरता को दूर कर उसे नवनीत-कोमल बनाने वाला है। भाव ही अनुराग का महान् आश्रय है।

भाव क्या है इस एक दृष्टान्त द्वारा बतलाते हुए कहा गया है कि 'श्री राधिका का चित्त अन्यान्य बालिकाओं के समान बाल्य क्रीडा म रत था। सहसा उन्हें एक दिन चित्रपट म मुरलीधर श्रीकृष्ण की भुवन-मोहिनी श्रीमूर्ति देखने को मिली। यह भी मालूम हुआ कि इस निखिल रसानन्दमूर्ति का नाम श्यामसुन्दर है। दूरागत वंशी ध्वनि उन्हे सुनाई पडी। उसी क्षण उनके मन म प्रेम विकार उत्पन्न हुआ। बाल्य क्रीडा से मन उचट गया क्षणभर म उनका चित्त बदल गया। योगिनी के समान वे शिखिपिच्छचूडालकृत वंशीधर श्यामसुन्दर के ध्यान म निमग्न हो गई। आहार निद्रा सखियो के साथ आलाप, सलाप सब बन्द हो गया। वे घर के कोने म बैठकर श्याम सुन्दर का ध्यान करने लगी।' इसी का नाम भाव है।

महाभाव

भाव का उत्कर्ष महाभाव की आख्या से अभिहित होता है जो समर्था रति के लिए ही सभव है। इसम सम्भोग विलास की अत्यन्त चमत्कारी ऊर्मियो का प्रादुर्भाव होता है।[3] व्रजदेवी

१ कामगन्धहीन स्वाभाविक गोपीप्रेम।
निर्मल उज्ज्वल शुद्ध येन दग्ध हेम॥
कृष्णेर सहाय गुरु, बान्धव, प्रेयसी।
गोपिका हयेन प्रिया, शिष्या सखी दासी॥
गोपिका जानेन कृष्णेर मनेर वांछित।
प्रेमसेवा परिपाटी इष्टसेवा समाहित॥
—चैतन्यचरितामृत चतुर्थ अध्याय।

२ प्रेमेर परम सार तार नाम भाव।
—चैतन्यचरितामृत चतुर्थ अध्याय।

३ सर्वाद्भुत विलासोर्मि चमत्कारकरश्रिय।
सम्भोगेच्छा विशेषोऽस्या रतेर्जातु न भिद्यते॥४१॥
—उज्ज्वलनीलमणि पृ० ४११।

से सम्वर्धित एव सम्बद्ध होने पर भाव महाभाव में परिणत हो जाता है। यह महाभाव अति दुर्लभ वरामृत-स्वरूप होता है। यह मन को स्वरूप में मिला लेता है।[1] जिस प्रकार बीज अंकुरित होकर ईख फिर ईख से रस रस से गुड़ गुड़ से खाँड खाँड से शक्करा शक्करा से मिश्री और मिश्री से सितोपला बन जाती है उसी प्रकार मधुरा रति प्रेम स्नेहादि के सोपानों से होकर उत्तरोत्तर अधिकाधिक माधुर्य ग्रहण करती हुई 'महाभाव' की अनन्यलभ्य-दशा को प्राप्त हो जाती है। इसमें हरि की प्रवृत्ति हरिवल्लभा की प्रवृत्ति का और हरिवल्लभा की प्रवृत्ति हरि की प्रवृत्ति का अनुसरण करती चलती है। तात्पर्य यह है कि अनुराग असमोर्ध्व चमत्कारिता प्राप्त करके जब उन्मादक हो जाता है तब उसे महाभाव की संज्ञा दी जाती है। महाभाव का उदय होने पर संयोगावस्था में पलक का गिरना भी असह्य हो जाता है कल्प का समय भी क्षण के समान अनुभूत होता है और विरहावस्था में क्षण काल भी कल्पवत् सुदीर्घ प्रतीत होता है।

महाभाव के भेद

महाभाव के दो भेद हैं—रूढ और अधिरूढ। जिस महाभाव में सारे सात्त्विक भाव उद्दीप्त होते हैं उसको रूढ महाभाव कहते हैं। यह श्रेष्ठ अमृत के तुल्य स्वरूप—सम्पत्ति धारण कर चित्त को निज-स्वरूप प्रदान करता है। रास रसनिमग्ना गोपियों में स्वर भंग प्रकम्प रोमांच अश्रु स्तम्भ वैवर्ण्य स्वेद और मूर्छा—ये आठों सात्त्विक भाव परिलक्षित होते हैं। इस प्रकार रूढ महाभाव सात्त्विकों की परम उद्दीप्त स्थिति है। सम्भोग और विप्रलम्भ दोनों ही अवस्थाओं में क्षणमात्र के लिए विरह असह्य हो जाता है। इसमें हृदय को विलोडित करने की विलक्षण शक्ति होती है। इस दशा में प्रेमी साधक को एक क्षण एक कल्प की तरह और एक कल्प एक क्षण की तरह प्रतीत होता है। प्रियतम की सुखमय अवस्था में भी अनिष्ट शंका के कारण खिन्नता रहती है तथा मोह मूर्च्छा आदि के अभाव में भी पूर्ण आत्मविस्मरणशीलता विद्यमान रहती है।

कृष्णदास कविराज ने शान्त दास्य सख्य वात्सल्य एवं मधुर नामक पंचविध भक्ति रस पर विचार करते हुए कहा है कि मधुर रस अन्य सभी रसों से प्रबल है। शान्त और दास्य के योग और वियोग एवं सख्य और वात्सल्य के योगादि अनेक प्रकार हैं। किन्तु रूढ और अधिरूढ महाभाव केवल मधुर रस में ही सम्भव है। रूढ महाभाव महिषीगण में तथा अधिरूढ महाभाव गोपियों में होता है।[2] जहाँ रूढ भाव उक्त अनुभावों से आगे बढ़कर किसी विशिष्ट दशा को

---

१ मुकुन्दमहिषीवृन्दैरप्यसावतिदुर्लभः।
व्रजदेव्येक संवेद्यो महाभावाख्ययोच्यते ॥१५४॥
वरामृतस्वरूपश्रीः स्वं स्वरूपं मनो नयेत्।
स रूढश्चाधिरूढश्चेत्युच्यते द्विविधो बुधैः ॥१५५॥ —उज्ज्वलनीलमणि पृ० ४६२-४६३।

२ पंचविधरस शांत दास्य सख्य वात्सल्य।
मधुर नाम शृंगार रस सबाते प्राबल्य॥

शान्तादि रसेर योग वियोग दुइ भेद।
सख्य वात्सल्य योगादिर अनेक विभेद॥
रूढ अधिरूढ भाव केवल मधुरे।
महिषीगणे रूढ अधिरूढ गोपिकानिकरे॥ —चैतन्यचरितामृत, मध्यलीला, परि० २३, पृ० २६०।

प्राप्त होता है उसको अधिरूढ भाव कहते है।[1] यह रूढ भाव की विशेष उत्कर्ष-दशा है। एक दृष्टान्त द्वारा 'अधिरूढ महाभाव' की महत्ता को बतलाते हुए कहा गया है कि एक दिन श्री राधिका के प्रेम के विषय में जिज्ञासा करने पर शंकरजी ने पार्वतीजी से कहा कि हे शिवे! लोकातीत वैकुण्ठगत एवं कोटि-कोटि ब्रह्माण्डगत त्रिकाल सम्बन्धी सुख दुःख यदि विभिन्न रूप में राशीभूत हों तो भी वे श्रीराधा के प्रेमोद्भूत सुख-दुःख सिन्धु की एक बूँद की भी तुलना नहीं कर सकते।[2]

पुनः श्रीराधिका श्रीललिता से कहती हैं कि हे सखि! श्रीकृष्ण यदि व्रज में लौटकर नहीं आते हैं तो निश्चय ही मैं उनको इस जीवन में नहीं पाऊँगी। अतः इतनी वेदना सहकर अब इस शरीर रक्षा का कोई प्रयोजन नहीं है। अब यह शरीर भी चला जाए, यह पंचतत्त्व को प्राप्त होकर स्पष्ट रूप से आकाशादि स्वकारण रूप भूतों में लीन हो जाय। परन्तु मैं विधाता से हाथ जोड़कर प्रार्थना करती हूँ कि मेरे शरीर के पंचभूत प्रियतम श्रीकृष्ण से सम्बन्धित भूतों में ही विलीन हो जाए। जल-तत्त्व उस बावड़ी के जल में मिल जाए जहाँ प्रियतम कृष्ण जल विहार करते हों, तेजस्तत्त्व उस दर्पण में समा जाय जिसमें प्रियतम श्रीकृष्ण अपना मुँह देखते हों, आकाश-तत्त्व उस आँगन के आकाश में चला जाय जिसमें प्रियतम श्रीकृष्ण क्रीड़ा करते हों, पृथ्वी-तत्त्व उस धरती पर समा जाय जिस पर प्रियतम श्रीकृष्ण विचरण करते हों और वायु-तत्त्व तालवृन्त अनिल में समा जाय जो प्रियतम श्रीकृष्ण को शीतल वायु प्रदान करता हो।[3]

सारांश यह है कि अधिरूढ महाभाव भाव समुद्र की अगाधता और अनन्तता का परिचायक है। रूढ में सात्त्विक विशेष उद्दीप्त रहते हैं और अधिरूढ में रूढ के समान अनुभावों के साथ विशेष रूप से काम के अव्याप्ति रूप अनुभावों का दर्शन होता है।[4]

अधिरूढ महाभाव के दो भेद

अधिरूढ महाभाव के दो प्रकार हैं—मोदन और मादन। मादन सात्त्विकों का अत्यन्त उद्दीप्त सौष्ठव है और इसका सम्बन्ध राधिका यूथ से है। विश्लेषण दशा में मादन ही मोहन कहलाता है। मोहन अधिरूढ भाव के उद्घूर्ण और चित्रजल्प दो भेद माने गये हैं। उद्घूर्ण में नाना प्रकार की अवश क्रियाएँ होती हैं तथा 'चित्रजल्प' में प्रिय सखा से वार्त्तालाप किया जाता है। उद्घूर्ण के दो अंग हैं—विरह चेष्टा और दिव्योन्माद। विरह चेष्टा के अन्तर्गत नाना

१ रूढोक्तेभ्योऽनुभावेभ्यः कामप्याप्ता विशिष्टताम्।
यत्रानुभावा दृश्यन्ते सोऽधिरूढो निगद्यते ॥१६६॥ —उज्ज्वलनीलमणि, पृ० ४३२।

२ लोकातीतमजाण्डकोटिगमपि त्रैकालिकं यत् सुखं
दुःखं चेति पृथग्यदि स्फुटमुभे ते गच्छतः कूटताम्।
नैवाभासतुलां शिवे तदपि तत्कूटद्वयं राधिका
प्रेमोद्यत्सुखदुःखसिन्धुभवयोर्बिन्द्वोरपि ॥१५७॥ —उ० नी० पृ० ४३२।

३ पञ्चत्वं तनुरेतु भूतनिवहाः स्वांशे विशन्तु स्फुटं
धातारं प्रणिपत्य हन्त शिरसा तत्रापि याचे वरम्।
तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयाङ्गन-
व्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलः ॥ —श्री रूपगोस्वामी।

४ इसे सिद्धान्त स्वरूप और विश्लेषण पृ० २०८ वें पृष्ठ में देखिए।

दिल्ष्टेऽपिमूच्छना अर्थात् प्रिय के आलिंगन म होते हुए भी प्रिया का मूच्छित होना, असह्यदुःख स्वीकारादपि तत सुखकामिता अर्थात स्वय असह्य वेदना सहकर प्रिय के सुख की कामना करना ब्रह्माण्ड क्षोभकारित्वम् अर्थात सारे ससार को दुखी कर डालने का प्रवत्ति तिरश्चामपि रोदनम् अर्थात् पशु-लोक का रोदन मृत्युस्वीकारात स्वभूतरपि तत्सग तृष्णा अर्थात मृत्यु वरण कर भी प्रियतम के सग की अभिलाषा आदि परिलक्षित होती हैं। इस प्रकार विरह-दशा म अपने को ही कृष्ण मान लिया जाता है। चित्रजल्प क प्रजल्प, परिजल्प विजल्प उज्जल्प सजल्प अवजल्प अभिजल्प आजल्प प्रतिजल्प और सुजल्प नामक दस अग हैं।[1]

सयोग म अधिरूढ महाभाव 'मादन' कहलाता है यह सात्विको का सुदीप्त सौष्ठव है। मादन वह श्रेष्ठ मनोदशा है जो सवभावोद्गम का उल्लास करन वाली और परात्पर है। इसका सार आनन्द या 'ह्लाद है। यह केवल राधा म सदा सम्भव है। इसकी गति अत्यन्त सुष्ठु तथा मदन की तरह दुगम है। इसम सहस्रश नित्य विलास क्रीडाए चलती रहती हैं।[2] इस प्रकार अनेक लीला प्रकारो से इसका सम्बन्ध है।

लीला

विलास की इच्छा का नाम ही लीला है। किसी प्रयोजन से रहित क्रिया को ही लीला कहते हैं। इसम उस क्रिया से बाहर किसी काय की सृष्टि नही होती और उत्पन्न हुआ काय भी अभीष्ट नही होता और न वह क्रिया कर्ता म लेशमात्र भी प्रयास की सृष्टि करती है। अपितु अन्त करण मे पूर्ण आनन्द भर जाने से उस आनन्द के उल्लास म कार्योत्पादन के समान एक क्रिया उत्पन्न होती है। उसीका नाम लीला है। इसम लीला ही एकमात्र प्रयोजन है।[3] इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वर रस स्वरूप होते हुए भी रस के पिपासु है।

१ अधिरूढ महाभाव दुइ त प्रकार।
सम्भोग मादन विरहे मोहन नाम तार॥
मादने चुम्बनादि हय अनन्त विभेद।
उद्घूर्णा चित्रजल्प मोहने दुइ भेद॥
चित्रजल्प दश अग प्रजल्पादि नाम।
भ्रमरगीता दशश्लोक त होते प्रमाण॥
उद्घूर्णा विरहचेष्टा दिव्योन्माद नाम।
विरहे कृष्णस्फूर्ति आपना के कृष्ण ज्ञान। —चैतन्यचरितामृत मध्यलीला, परि० २३ पृ० २९।

२ सवभावोद्गमोल्लासी मादनो य परात्परा।
राजते ह्लादिनीसारो राधायामेव य सदा॥२ ३॥

योग एव भवेदेष विचित्र कोऽपि मादन।
यद्विलासा विराजन्ते नित्यलीला सहस्रधा॥२ ॥
मादनस्य गति सुष्ठु मदनस्येव दुगमा।
न निवक्तु महेन्द्रस्या तेनाम्यो मुनिनाप्यलम्॥२ ६॥ —उज्ज्वलनीलमणि पृ० ४६६ ८०१।

३ लीलानामविलासेच्छा कायव्यतिरेकेण कृतिमात्रम्। न तया कृत्या बहि कार्य जन्यते। जनितमपि कार्य नाभिप्रेतम्। नापि कर्तरि प्रयाम जनयति। किन्त्वन्त करणे पूर्णे आनन्दे तदुल्लासेन कार्य जननसदृशी क्रिया काचिदुत्पद्यते। तत्र नहि किंचित् प्रयोजनमस्ति। लीला एव प्रयोजनत्वात्। —सुबोधिनी भाग ३ द्रष्टव्य।

मधुर रस के आलम्बन

नायक और नायिका रस के आलम्बन होते हैं। मधुर रस के आलम्बन निखिल रसामृतार्णव परमात्मा और उनके प्राणप्रिय भक्तजन हैं। भक्ति काव्यशास्त्र की रचना मुख्यतः कृष्णोपासक वैष्णवाचार्यों ने की है। अतएव उन्होंने निखिल रसानन्द मूर्ति व्रजेन्द्रनन्दन कृष्ण और उनकी कान्ता महाभाव-स्वरूपा श्रीराधा को ही नायक-नायिका के रूप में परिकल्पित किया है।[1] श्रीकृष्ण मधुर रस के विषयालम्बन हैं तथा उनकी वल्लभाएँ इसके आश्रयालम्बन हैं। इसी प्रकार परमात्मा और जीवात्मा अथवा भगवान् और उनके भक्त भी क्रमशः विषयालम्बन तथा आश्रयालम्बन माने गए हैं। परमात्मा ही एकमात्र भोक्ता हैं तथा समस्त चिद्गुणत्वगण प्रकृति रूप में उसकी भोग्या हैं। जड़ जगत् में कोई जीव भोक्ता है तो कोई भोग्या है। इस मूल तत्त्व के विपर्यय के कारण सारे व्यापार हेय एवं लज्जास्पद हो जाते हैं। तत्त्वतः जीव जीव का भोक्ता नहीं हो सकता। अतएव परमात्मा ही एकमात्र भोक्ता हैं तथा समस्त प्राणी उनका भोग्या हैं।

परमात्मा-स्वरूप श्रीकृष्ण के निखिल रसामृत-मूर्ति होने के कारण उनमें सम्बन्धित सारे विषय रस-स्वरूप ही हैं। उनका सौरम्य से उद्वर्तन स्नेह से अभ्यंजन माधुर्य में स्नान लावण्य से मार्जन सौन्दर्य से अनुलेपन और त्रैलोक्य श्री से शृंगार होता है। श्रीकृष्ण धीरललित नायक शिरोमणि हैं।[2] वे मधुर रस की रसमयी मूर्ति तथा उसके आश्रय हैं। निरन्तर अपनी वल्लभा महाभाव-स्वरूपा राधा के साथ क्रीड़ा करते हैं।[3] इस प्रकार अपनी वल्लभाओं के साथ सदैव काम क्रीड़ा करना ही इनका उज्ज्वल चरित है। अपनी रूप-माधुरी वेणु-माधुरी और ऐश्वर्य माधुरी से ये पुरुष, स्त्री स्थावर जंगम सबके चित्त को आकृष्ट करने वाले हैं। अपने अपने स्वभावानुसार भक्तों के हृदयों में जो भिन्न भिन्न प्रकार के रसों का उद्रेक होता है उनके वे आश्रय हैं। कृष्ण साक्षात् मन्मथ मन्मथ रसराज मूर्तिधर शृंगार हैं। उनका रूप-माधुर्य लक्ष्मीकान्तादि के साथ-साथ उनके अपने मन को भी हरण करने वाला है जिससे अपने आपको ही वे आलिंगन करना चाहते हैं।[4] कृष्ण अनन्त गुण-सम्पन्न हैं जिनमें से कुछ

१ नायक नायिका दुइ रसेर आलम्बन।
सेइ दुइ श्रेष्ठ राधा व्रजेन्द्र नन्दन॥ —चैतन्यचरितामृत, मध्यलीला परि० २४, पृ० २६२।

२ 'व्रजेन्द्रनन्दन कृष्ण नायकशिरोमणि।' —चैतन्यचरितामृत, म० ली, परि २३, पृ० २६१।

३ नायकेर कृष्ण हयेन धीरललित।
निरंतर कामक्रीडा याहार चरित॥ —वही, परि ८, पृ० १४१।

४ रसमयमूर्ति कृष्ण साक्षात् शृंगार।

पुरुष योषित् किवा स्थावर जंगम।
सर्व चित्ताकर्षक साक्षात् मन्मथ मदन॥
नाना भक्तेर रसामृत नानाविध हय।
सेइ सब रसामृतेर विषय आश्रय॥
शृंगार रसराजमय मूर्तिधर।
अतएव आत्मापर्यन्त सर्व चित्तहर॥
लक्ष्मी कान्तादि अवतारे हरे मन।
लक्ष्मी आदि नारी गणेर करे आकर्षण॥
आपन माधुर्य हरे आपनार मन।
आपना आपनि चाहे करिते आलिंगन॥ —चैतन्यचरितामृत परि ८ पृ० १४०-१४१

पचास[1] और कहा चौसठ गुण[2] प्रधान माने गए हैं। अपनी अनुरंजनी शक्ति द्वारा समस्त विश्व का आनन्दोत्पादन करने वाले इन्दीवर-श्रेणी के समान अपने कोमल श्यामल अंगों से अनंगोत्सव का विस्तार करने वाले ब्रजसुन्दरियों द्वारा स्वच्छन्द भाव से समालिंगित मूर्तिमान शृंगार के समान मुग्ध होकर वसंत विहार करने वाले साक्षात् शृंगार-स्वरूप परमब्रह्म भगवान् कृष्ण मधुर रस के मुख्य आलम्बन हैं।[3]

प्रेमी रूप में नायक कृष्ण के पच्चीस गुण माने गये हैं। पति और उपपति दोनों रूपों में कृष्ण का उपस्थित किया गया है। उपपति के रूप में ही प्रेमी कृष्ण के प्रेम का—शृंगार भाव का परमोत्कर्ष होता है। उपपति भाव का प्रेम प्रकृति नायक के लिए वर्जित माना गया है कृष्ण के लिए नहीं क्योंकि रसावतार श्रीकृष्ण की अलौकिक लीला भूमि को प्राप्तकर यह वंदनीय बन जाता है।[४] परकीया भाव की रति के लिए ही कृष्ण का अवतरण हुआ था। इसी के आधार पर कहा जाता है कि नायक चूडामणि कृष्ण व्रज में पूर्णतम हैं मथुरा में पूर्णतर हैं और द्वारिका में पूर्ण हैं। सारांश यह है कि परमब्रह्म कृष्णादि अथवा उनके अवतार रूप राम कृष्णादि का कान्त रूप ही मधुर रस का मुख्याधार है।

मधुर रस के आश्रयालम्बन कान्तागण

जिस प्रकार निखिल रसानन्द मूर्ति रसावतार परम सौन्दर्यनिधि परमप्रेमास्पद कान्त रूप परमात्मा मधुर रस के विषयालम्बन हैं उसी प्रकार कान्ता भाव से भगवान् की सेवा उपासना करने वाले सब कुछ भगवद्प्रीत्यर्थ समर्पित करने वाले रागात्मिका पथ के साधक ही मधुर रस के आश्रयावलम्बन हैं। वैष्णव आचार्यों ने भक्ति-काव्यशास्त्र में शृंगार के साक्षात् रूप रसावतार कान्त रूप श्रीकृष्ण को और उनकी कान्ताओं को मधुर रस के क्रमशः विषयावलम्बन और आश्रयावलम्बन के रूप में विस्तृत विवेचन किया है।

कृष्ण कान्ता के भेद

कृष्ण कान्ताओं के तीन वर्ग हैं—लक्ष्मीगण महिषीगण और व्रजांगनागण।[५] लक्ष्मीगण श्रीकृष्ण के नारायण रूप की सहकारी उनकी अंग विभूति तथा वैभव विलासांश रूप हैं। ये

१ हरिभक्तिरसामृतसिंधु … वि … लहरी १६ ३६ द … य।
२ चैतन्यचरितामृत, मध्यलीला परि २३ पृ २ … द्रष्टव्य।
३ विश्वेषामनुरञ्जनेन जनयन्नानन्दमिन्दीवर'
श्रेणी श्यामलकोमलैरुपनयन्नङ्गैरनङ्गोत्सवम्।
स्व … व्रजसुन्दरीभिरभितः प्रत्यङ्गमालिङ्गित
शृंगारः सखि मूर्तिमानिव मधौ मुग्धो हरिः क्रीडति॥ —गीतगोविन्द।
४ अत्रैव परमोत्कर्ष शृंगारस्य प्रतिष्ठितः। —उज्ज्वलनीलमणि पृ १४।

लघुत्वमत्र यत्प्रोक्तं तत्तु प्राकृतनायके।
न कृष्णे रसनिर्यासस्वादार्थमवतारिणि॥२०॥ —वही पृ १५।
५ कृष्णेर कान्तागण देखि त्रिविध प्रकार।
लक्ष्मीगण एकनाम महिषीगण आर॥
व्रजांगनारूप आर कान्तागण सार। —चैतन्यचरितामृत आदिलीला परि ४ पृ० २४।

ऐश्वर्यमयी हैं माधुर्यमयी नहीं। श्रीकृष्ण की व्रजलीला का सुख इन्हें प्राप्य नहीं है। लक्ष्मी देवी देह से ही श्रीकृष्ण को प्राप्त करना चाहती हैं। अतएव कृष्ण का सगम-सुख और रास विलास की अधिकारिणी वे नहीं हो पाती क्योंकि यह सुख गोपीरागानुरक्ता से ही सम्भव है। गोप-कुमार कृष्ण की प्रेयसी गोपियाँ ही हैं। अत देवी या अन्य स्त्री को कृष्ण अगीकार नहीं कर सकते और गोपी-देह के बिना कृष्ण का रास विलास-सुख मिल ही नहीं सकता।[1] लक्ष्मीगण जहाँ भगवान् कृष्ण की वैभव विलासांश रूपा एव अश विभूति हैं वहाँ महिषीगण द्वारिकाधीश कृष्ण की सहचरी उनका बिम्ब प्रतिबिम्ब रूप एव प्रभाव प्रकाश-स्वरूपा हैं।[2]

व्रजागनागण श्रीकृष्ण की वल्लभाएँ हैं। इनके बिना मधुर रस का उल्लास नहीं हो सकता। व्रजागना रूप कान्तागण का सार है, जिसका चरम विस्तार श्रीराधिका में होता है।[3] ये ही व्रजदेवियाँ आकार और स्वभाव के भेद से कृष्ण सग-सुख रास विलास एव कृष्ण रति नामक मधुरा रति के कारण हैं। व्रजवल्लभ श्रीकृष्ण का व्रजागनाओं के साथ जो लीला विलास है वही मधुर रस की आत्मा है। दोनों की प्रियता (मधुरा रति) जो दोनों से दोनों को सयोग की प्रेरणा देती रहती है इस अलौकिक मधुर रस का स्थायी भाव है। कृष्ण की कान्ताएँ बहुत हैं। उनमें बहुत-सी कान्ताओं के बिना मधुर रस का पूर्णोल्लास सम्भव नहीं है।

श्रीकृष्ण वल्लभाओं की दो कोटियाँ स्वकीया और परकीया

श्रीकृष्ण की वल्लभाएँ स्वकीया और परकीया दोनों प्रकार की हैं। इनकी प्रेयसियाँ परमाद्भुत किशोरियाँ हैं जो नव-नव वर माधुरी की आधार-स्वरूपा हैं। उनके अग प्रत्यग भगवान्

---

१ तार स्पर्श नाहि जाय पतिव्रता धर्म।
कौतुकेते लक्ष्मी चाहे कृष्णेर सगम॥
—वही, मध्य० परि ९, पृ १९०।

गोप जाति कृष्ण गोपी प्रेयसी ताहार।
देवी वा अन्य स्त्री कृष्ण ना करे अगीकार॥
लक्ष्मी चाहे सेइ देहे कृष्णेर सगम।
गोपीरागानुगता हइया ना कैल भजन॥
अन्य देहे ना पाइये रास विलास। —वही, पृ० १९१।

२ लक्ष्मीगण हन तार अश विभूति।
बिम्ब प्रतिबिम्ब रूप महिषीर तति॥
लक्ष्मीगण तार वैभव विलासांश रूप।
महिषीगण प्रभाव-प्रकाश स्वरूप॥
—चैतन्यचरितामृत, आदि लीला परि० ४ पृ २८।

३ व्रजागना रूप आर कान्तागण सार।
श्री राधिका हैते कान्तागणेर विस्तार॥
आकार स्वभाव भेदे व्रजदेवीगण।
कायव्यूह रूप तार रसेर कारण॥
बहुकान्ता बिना न हे रसेर उल्लास।
लीलार सहाय लागि बहुत प्रकाश॥ —वही।

की प्रणय-तरंग से करम्बित हैं। वे रमण रूप से भगवान् का भजन करनेवाली हैं।[१] श्रीकृष्ण की सोलह हजार स्वकीयाएं कही गयी हैं जिनम रुक्मिणी सत्यभामा जाम्बवती अर्कनंदिनी शब्या भद्रा कौशल्या तथा माद्री श्रेष्ठ माना गया है। परकीयाओं की दो कोटियाँ हैं—कन्यका और परोढाए। कन्यकाएं अविवाहिता दुर्गा का व्रत करने वाली एव मुग्धा के गुणों से युक्त हैं और परोढाएं विवाहिता होने पर भी श्रीकृष्ण के संभोग-सुख की आकांक्षिणी अपुत्रवती व्रजांगनाएं हैं। परकीया के तीन अवान्तर भेद किये गए हैं—साधनपरा देवी और नित्यप्रिया। इनमे नित्यप्रिया का स्थान सर्वोपरि है। नित्यप्रियागण कृष्ण के समान ही नित्य सौंदर्य वदान्य आदि गुणों से मंडित हैं जिनम राधा सवश्रेष्ठ मानी गयी हैं। वे नित्यनववयवादी विदग्ध लज्जावती और महाभावोत्कर्ष की अभिलाषा रखनेवाली कृष्ण की प्रमुख नित्यप्रिया हैं।

परकीया मे मधुर रस का अत्यंतोल्लास

स्वकीया और परकीया दोनो प्रकार के भावो म मधुर रस चरितार्थ होना है। दोनो प्रकार की नायिका मे मधर रस की अवस्थिति है। किन्तु स्वकीया की अपेक्षा परकीया भाव मे मधर रस का सर्वाधिक उल्लास होता है। जिस प्रकार शान्त से दास्य मे दास से सख्य मे सख्य से वात्सल्य म और वात्सल्य से मधुर रस म भगवद्विषयक रति का क्रमश अधिकाधिक उत्कर्ष होता है उसी प्रकार स्वकीया भाव की अपेक्षा परकीया भाव म मधुर रस चरमोत्कर्ष पर पहुंच जाता है। हालांकि सत वाणी म प्रतिपादित मधुर रस-साधना के सम्बन्ध म ऐसी बात नही कही जा सकती। सतो ने परकीया भाव की सवत्र विगहणा की है जो सती की अग विषयक वाणियो म सवत्र दृष्टिगत हाता है। किंतु वष्णव रस-साधना के अतगत परकीया भाव ही मधुर रस के परमोत्कर्ष का आधार है। व्रजांगनाएँ ही इस परकीया भाव की परमावधि हैं और उनमे राधा सर्वोपरि है।[२]

परकीया भाव की श्रेष्ठता

जिस प्रकार कान्त रूप श्रीकृष्ण के पति रूप की अपेक्षा उपपति रूप म मधुर रस का परमोत्कर्ष पाया जाता है उसी प्रकार व्रजांगनाओ के स्वकीया भाव की अपेक्षा परकीया भाव म ही मधर रस का परमोल्लास तरंगायित होता है। जिस प्रकार दीप बुद्धि से चिन्तामणि ग्रहण करने की प्रवृत्ति और उसकी प्राप्ति हाती है उसी प्रकार जार बुद्धि से भी भगवान् म प्रवृत्ति हाती है और उसम भगवत्प्राप्ति होती है। श्रीकृष्ण का गोपियो के साथ विहार प्रकृत काम नही

१ नवनववरमाधुरीधुरीणा प्रणयतरंगकरम्बितान्तरंगा।
निजरमणतया हरिं भजन्ती प्रथमत ता परमाद्भुता किशोरी॥
—ह भ र सि, प वि, ५ लहरी, पृ० ४२६ २७।

२ अतएव मधुर रस कहि तार नाम।
स्वकीया-परकीया भावे मधुर रसस्थान॥
परकीया भावे अति रसेर उल्लास।
व्रज बिना इहार अन्यत्र नाहि वास॥
व्रजवधूगणेर एइ भाव निरवधि।
तार मध्ये श्री राधार भावेर अवधि॥ —चै च, आदिलीला परि० ४ पृ २१।

'शुद्ध प्रेमम्' है और प्रकट लीला में ही स्वकीया परकीया का प्रश्न उठता है।[1]

परकीया-भाव की दार्शनिक व्याख्या

श्री जीवगोस्वामी ने 'श्रीकृष्णसन्दर्भ' में ब्रजलीला की रहस्यपूर्ण दार्शनिक व्याख्या की है। मथुरा और द्वारिका की गोपियां श्रीकृष्ण की स्वरूपा शक्ति हैं। गोपियों का परकीया भाव प्रकट वृन्दावन-लीला में आभास मात्र है। श्रीकृष्ण द्वारिका में पति भाव से और ब्रज में उपपति भाव से लीला करते हैं। भावना मार्ग से अपने को ब्रजवासी मानकर तथा किसी सौभाग्यवती ब्रजवासिनी के परिचारिका भाव से अपने को प्रौढ़ा मानकर राधाकृष्ण की सेवा करना ही श्रेष्ठ है। यही प्रौढ़ाभिमान ब्रजगोपीत्व धर्म है।[2]

परकीया-भाव वैष्णव रस साधना का आदर्श

परकीया भाव ही वैष्णव रस-साधना का परमादर्श है। इसी का आधार लेकर आत्माएं अपने-आपको सर्वभावेन श्रीकृष्ण को समर्पित करती रही हैं। श्रीकृष्ण के इसी भाव को लेकर वैष्णव शास्त्रों ने उन्हें द्वारिका में पूर्ण मथुरा में पूर्णतर और ब्रज में पूर्णतम सिद्ध किया है। नायक-नायिका के पर भाव से मिलने पर राग अत्यन्त तीव्र हो उठता है और उससे एक अद्भुत आनन्द की सृष्टि होती है। गौडीय वैष्णव रस-साधना का यही परकीया भाव मुख्य आधार है। उनके मत में परकीया भाव की मधुर भक्ति सर्वश्रेष्ठ है। इसके द्वारा अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण को अपने घर अर्थात् ब्रज में ही पाया जा सकता है। परिणीता के साथ प्रणय-व्यापार को अवैध एवं निंद्य माना गया है। किन्तु वैष्णवमत के अन्तर्गत परकीया नायिका को सर्वश्रेष्ठ मानकर प्रियतम—उपपति के प्रति प्रदर्शित उसके प्रणय व्यापार को परमात्मा के प्रति आत्मा की अनन्यासक्ति का प्रतीक माना गया है।[3]

श्रीराधा मधुर रस का श्रेष्ठतम आश्रय

श्रीराधा मधुर रस का श्रेष्ठतम आश्रय हैं। परम सुन्दर नन्दनन्दन उनके प्रेम के आलम्बन हैं। श्रीराधा श्रीकृष्ण की नित्य सहचरी ह्लादिनी महाशक्ति हैं। श्रीराधा ब्रजवधुओं के मध्य परकीया भाव की परमावधि हैं। ये कृष्णमयी प्रेम रसमय-कृष्णस्वरूपा मूर्तिमान कृष्ण क्रीडा

---

१ विस्तार के लिए देखिए—श्री जीवगोस्वामीकृत 'प्रीतिसन्दर्भ', पृ० ६७, ६८६।

२ मायाकल्पित तादृक् स्त्रीशीलननान सूयुमि ।
न जातु ब्रजदेवीना पतिभि सह सगम ॥१॥

—उ० नी, पृ ४८, श्री रूपगोस्वामी।

3 Even if orthodox poetics deprecates Love to a married woman she is according to Vaishnava s idea the highest type of heroine and forms the central theme of the later Parkiya doctrine of the school in which the love of the mistress for her lover becomes the universally accepted symbol of the Soul s passionate devotion to God

— Vaishnava Faiths & Movement by S K De p 54

हैं। उनकी देह प्रेम-स्वरूप एवं प्रेम विभावित है। वे कृष्ण की प्रेयसी हैं।[१] कृष्ण की वाञ्छा की पूर्ति करना ही उनका एकमात्र उद्यम है।[२] ललितादि सखी उनका काय व्यूह रूप हैं। इन सखियों के सहयोग से ही उनका लीला विलास पूर्णता को प्राप्त होता है। ये सखियां तटस्थ भाव से लीला विस्तार में अनुपम योगदान करती हैं। राधा कृष्ण की प्रेम कल्पलता हैं सखियां पल्लव और पुष्प हैं।

व्रजांगनाओं में सर्वश्रेष्ठ कान्ताशिरोमणि महाभाव स्वरूपा राधा का सौन्दर्य अपरिमित है। उनके चारु लोचन मत्त चकोरी के लोचनों की चारुता को हरण करने वाले हैं उनके परमाह्लादक वदन मंडल राका शशि की कान्त कीर्ति का दमन करने वाले हैं अविकृत कलधौत स्वर्ण के समान उनकी अंग श्री सुशोभित है। वे मधुरिमा की साक्षात् मधुपात्री हैं।[३]

श्रीराधा निर्मल उज्ज्वल रस और प्रेमरत्न की खानि हैं। वे वयस से मध्यमा स्वभाव से समा और गाढ़ प्रेम भाव से निरन्तर वामा है।[४]

कान्ताशिरोमणि राधा ने कृष्ण प्रेम के अंगराग से अपने शरीर को सुरभित एवं उज्ज्वल वर्ण वाला बनाया है। उनमें इतनी करुणा तारुण्य और लावण्य है कि मानो उन्होंने कारुण्यामृत और लावण्यामृत की धाराओं में मज्जन किया है। उनके शरीर पर कृष्णानुराग के अरुणाभरण और प्रणय मान की कंचुली सुशोभित हैं। उनकी देह यष्टि कृष्ण प्रेम रस के मृग मद से चित्रित है। प्रच्छन्न मान और वामता रूपी वेणी विन्यास और धीराधीरागुणरूपी पटवास उनकी शोभा बढ़ा रहे हैं। उनके अधर स्नेहरूपी ताम्बूल से रंजित हैं। प्रेम कौटिल्यरूपी काजल नयनों में विराजमान है। सात्विक संचारी भाव के आभूषण विराजमान हैं। सद्गुणरूपी मालाएं उनका मंडन कर रही हैं। वे प्रेम वैचित्र्यरूपी रत्न और कृष्ण नाम यश के वर्णाभूषण को धारण कर कृष्ण को मधुर रस का पान कराती रहती हैं।[५]

श्रीराधा का परकीयात्व

वैष्णव रस-साधना के अन्तर्गत स्वकीया और परकीया दोनों भावों में मधुर रस का सस्थान माना गया है किन्तु परकीया भाव के प्रेम में मधुर रस के तीव्र उल्लास के कारण उसे

१ चैतन्यचरितामृत आदिलीला, परि ४ पृ० २४७५।

प्रेम र स्वरूप देह प्रेम विभावित।
कृष्णर प्रेयसी श्रेष्ठ जगते विदित॥ —चै० च० मध्यलीला, परि ८, पृ १४६।

२ वही।

३ मत्तचकोरीलोचनचारुताहर—
वदनमितवराकारोचिःकान्तकीर्तिः।
अविकृत कलधौतद्युतिधारयन्त्री—
मधुरिममधुपात्री राजते यत्र राधा॥ —हि० भ० र० सि०, पू० वि०, पृ ४२७।

४ गोपीगण मध्ये श्रेष्ठ राधा ठकुरानी।
निर्मल उज्ज्वल रस प्रेम रत्न खानि।
वयसे मध्यमा तिहों स्वभावते समा।
गाढ़ प्रेमभाव तिहों निरन्तर वामा॥ —चै० च० मध्य० परि १४ पृ २०५।

५ चैतन्य च० मध्य, परि पृ० १५०

सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है। हिन्दी के वैष्णव साहित्य में राधा को स्वकीया रूप में ही दिखलाया गया है। सूर-साहित्य में वर्णित रास प्रसंग में राधाकृष्ण के गांधर्व विवाह की भी उद्भावना की गई है।[1] वहाँ राधा भी नंदनंदन कृष्ण को पति रूप में पाने के लिए देवी से प्रार्थना करती हुई चित्रित की गई है।[2] प्रसिद्ध कृष्णोपासक भक्तकवि नन्ददास ने राधाकृष्ण की 'सगाई' का विधिवत् वर्णन किया है। गोपियों में भी कुछ को स्वकीया और कुछ को परकीया रूपों में हिन्दी के वैष्णव कवियों ने उपस्थित किया है। किन्तु बंगाल के वैष्णव काव्य में विशेषकर गौडीय वैष्णव साहित्य के अन्तर्गत गोपियों के साथ साथ राधा को भी परकीया नायिका के रूप में ही रखा गया है और मधुर रस के सन्दर्भ में इसकी महत्ता का प्रतिपादन शास्त्रीय ढंग से किया गया है। यहाँ यह स्मरणीय है कि हिन्दी के भक्ति-साहित्य में भक्ति रस की शास्त्रीय चर्चा का अभाव है। उसमें भक्ति रस या मधुर रस को रस रूप में सिद्ध कर उसके सावयव निरूपण का प्रयास ही नहीं किया गया है। यद्यपि भक्ति रस के विभिन्न अंगों से सम्बन्धित उदाहरणों एवं उक्तियों का वहाँ प्राचुर्य है। भक्ति रस, उसके आलम्बन, उद्दीपन आदि सम्बद्ध विषयों के सावयव निरूपण द्वारा रस रूप में भक्ति रस की स्थापना का सारा श्रेय बंगाल के वैष्णव आचार्यों को ही दिया जा सकता है।

श्रीराधा के भाव

ऊपर कहा जा चुका है कि निर्मल उज्ज्वल रस और प्रेम रत्न की खानि कान्ता शिरोमणि राधा गाढ़ प्रेम भाव से निरंतर वामा हैं। अपने इसी वामा स्वभाव के कारण अपने अन्तर में निरन्तर उठने वाली मनोर्मियों से वे कृष्णानन्द की जलधि को तरंगायित करती रहती हैं और अपार लीला विलास का सृजन करती रहती हैं।

श्रीराधा का प्रेम विशुद्ध निर्मल दशवाण स्वर्ण के समान अधिरूढ़ महाभाव-रूप है। अचानक अपने प्रियतम कृष्ण के साक्षात्कार से उनमें नाना भावों का उद्रेक होता है और वे हर्षादि आठ सात्त्विक व्यभिचारी और सहज प्रेम से प्रादुर्भूत किलकिंचित कुट्टमित विलास ललित विब्बोक मोट्टायित मौग्ध्य चकित आदि बीस प्रकार के भावों से विभूषित हो उठती हैं। इन्हीं भाव भूषाओं से राधा कृष्ण मन का हरण करती हैं।[3] श्री रूपगोस्वामी ने 'उज्ज्वलनीलमणि' में

---

१ 'ताकौ स्याम करत रास।
है गंधर्व विवाह चित दै सुनौ विविध विलास॥' —सूरसागर १ ७१, पृ० ६२६।

२ 'नन्दसुत पति देहु देवी पूजि मन की आस।' —सूरसागर, वही।

३ वामा स्वभावे मान उठे निरंतर।
तार मध्ये उठे कृष्णेर आनन्द-सागर॥
× × ×
अधिरूढ़ महाभाव राधिकार प्रेम।
विशुद्ध निर्मल जैछे दशवाण हेम॥
कृष्णेर दर्शन यदि पाय आचम्बिते।
नानाभाव विभूषणे हय विभूषिते॥
अष्ट सात्त्विक हर्षादि व्यभिचारी यार।
सहज प्रेम विंशति भाव अलंकार॥

इन भावो को अनुभावा के अन्तगत उपस्थापित किया गया है।[1] यहाँ इनकी विशेष चर्चा न कर मधुर रस के अनुभावो के प्रसग म ही इन पर विचार किया जायगा।

श्रीकृष्ण की तीन शक्तियाँ हैं—सधिनी सवित् और ह्लादिनी। ह्लादिनी श्रीकृष्ण और भक्ता का सुख निधान करने वाली है। मादन नामक भाव इसका सार है। इसम सब प्रकार के भावो को उत्पन्न कराने का सामर्थ्य है। मादन भाव महाभाव स्वरूपा श्रीराधा का असाधारण गुण है। इसीलिए श्रीराधा के भाव को मादनाख्य महाभाव की सज्ञा दी गई है। श्रीराधा के छह कायिक गुण है—

१—मधुरा।
२—नववया।
३—चपलागा।
४—उज्वलस्मिता।
५—चारु सौभाग्यरेखाढ्या।
६—गन्धोन्मादित माधवा।

इसी प्रकार श्रीराधा के तीन वाचिक गुण हैं—

१—सगीत प्रसराभिज्ञा।
२—रम्यवाक।
३—नमपण्डिता।

श्रीराधा के दस मानस गुण हैं—

१—विनीता।
२—करुणापूर्णा।
३—विदग्धा।
४—पाटवान्विता।
५—लज्जाशीला।
६—सुमर्यादा।
७—धैर्यशालिनी।
८—गाम्भीर्यशालिनी।
९—सुविलासा।
१०—महाभाव-परमोत्कर्षतर्षिणी

महाभाव-परमोत्कर्षतर्षिणी श्रीराधा की दशा का वणन करते हुए श्रीकृष्ण से एक सखी कहती है कि हे वशीधारी! *तुम्हे देखे बिना आज राधा की क्या दशा हो रही है जानते हो?* उसके नयना की अति अश्रु-वृष्टि म यमना का जल बढ गया है। उसके शरीर से पसीना इस

किलकिंचित कुट्टमित विलास ललित।
विब्बोक मोट्टायित आर माग्ध्य चकित॥
एत भाव भूषाय भूषित श्री राधार अग।
किलकिंचिताद्वि भावेर शुन विवरण।
जो भाव भूषाय राधा हरे कृष्णमन॥ —चैतन्यचरितामृत, मध्य, परि० १४, पृ० २५२०१।

[1] उज्ज्वलनीलमणि अनु० ११, २७ ५१, ४४ द्रष्टव्य।

प्रकार प्रस्रवित हो रहा है जसे राका रजनी म च द्रकान्तमणि पसीज उठती है। उनकी देह का रंग भी उसी मणि के समान पीला पड गया है। कंठ की वाणी अर्ध-स्फुट एव स्वर भंगयुक्त हो गयी है। कदम्ब-केसर क समान सर्वांग पुलकायमान हो उठा है। अग-लतिका प्रबल झंझावात से प्रताडित कदली के समान भू लुंठित पडी है।[1] इस प्रकार अश्रु कम्प पुलक स्वर वैवर्ण्य कंठरोध, दामीन्या के समान भू-लुठन आदि सात्त्विक सूद्दीप्त भाव-अनुभाव श्रीराधा की महाभाव-स्वरूपता को प्रकट करते हैं। अनन्त विलासमय प्रेम के विवत या विचित्र परिपाक दशा म रमण रमणी का भाव दूर होकर प्रेम म विलीन हो जाता है। अपनी इसी दशा का वणन करती हुई मानिनी राधा कहती है कि नेत्रों क कटाक्ष स ही प्रथम राग उत्पन्न हुआ। क्षण-क्षण प्रीति बढने लगी। उसकी कही अवधि आयी ही नहा। अब तो हालत यह है कि न तो वह रमण है और न मैं रमणी हू। दोना क मन को प्रेम ने पराभूत कर एकमेक कर दिया है। अरी सखि! यह सब प्रेम-कहानी प्रियतम कान्त से कहनी है। भूलना मत। न मैं दूती खोजने गई और न किसी दूसरे का ढूढा। हम दोना क इस महामिलन का मध्यस्थ केवल प्रेम देवता ही है।[2]

सखी भाव और उसके परकीयात्व का आदर्श

मधुर रस के आश्रयावलम्बन की दृष्टि स सखियो का महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्रीराधा श्रीकृष्ण की वाछा की पूर्ति करती हैं किन्तु उनके काय-व्यूह-रूप ललिता आदि सखियो क सहयोग के बिना उनका लीला विलास पूणता को नहीं प्राप्त हो सकता। सखिया ही तटस्थ भाव से राधा कृष्ण-लीला का विस्तार करने वाली हैं। वे नटवर-नागर श्रीकृष्ण क साथ महाभाव-स्वरूपा श्रीराधा की लीला करवाकर उसम अत्यन्त आनन्द-लाभ करती हैं। जिस प्रकार लतिका का सींचने स पल्लव-पुष्पों को ही अधिक सुख प्राप्त होता है, उसी प्रकार श्रीराधा को कृष्ण के लीला विलास स सुख प्राप्त कराकर य सखियाँ अधिक सुख का अनुभव करती हैं। व यत्नपूर्वक राधा कृष्ण का सम्मिलन कराने वाली हैं।[3]

श्री हरिव्यास की सिद्धान्त रत्नाञ्जलि और महावाणी, श्री सनातन गोस्वामी के वृहद् भागवतामृत', श्री जीवगोस्वामीकृत 'सकल्प कल्पद्रुम' रघुनाथ गोस्वामी रचित विलास कुसुमाञ्जलि' एव गौडीय वैष्णवाचार्यों द्वारा रचित वैष्णव रस-साधनाविषयक ग्रन्थो म सखी भाव स

१ प्रसरामितिवृष्टिभिदिगुणयत्यकोरमजानिकर
ज्योत्स्नीस्यन्दि विधूपलप्रतिकृतिच्छाय वपुर्बिभ्रती।
कण्ठ तर्धुदघररावपुनकैर्नेष्या कदम्बाकृति
राधा वेणुधरप्रवातकदलीतु यावचिद् वर्तते॥ —उज्ज्वलनीलमणि, ४१, पृ ६०-६१।

२ पहिलहि राग नयन भग भेल।
अनुदिन बाढल अवधि ना गेल
ना सो रमण ना हाम रमणी।
दुहुँ मन मनोभाव पेषल जानि
ए सखि से सब प्रेम काहिनी
कानु ठामे कहबि बिछुरह जनि
ना खोजलु दूती ना खोजलु आन
दुहुँ केरि मिलने मध्यत पाँच बान॥ —महाकवि विद्यापति।

३ चैतन्यचरितामृत मध्य०, परि ८, पृ० १४१ १४२ द्रष्टव्य।

नित्य वृन्दावन म श्री राधागोविन्द की युगल सेवा प्राप्ति की साधना का विस्तृत विवेचन किया गया है। सनत्कुमारतन्त्र म कहा गया है कि गोपी भाव या सखी भाव म अपने को रूप-यौवन सम्पन्न परम मनोहर किशोरी क रूप म सिद्ध देह अर्थात् अन्तर म अभीष्ट श्री राधा गोविन्द की सेवा के योग्य शरीर से साधना करनी चाहिए। साधक देह अर्थात् भौतिक शरीर गोपी भाव के लिए उपयुक्त नहीं है। सिद्ध देह स व्रज भाव का आविर्भाव होता है। सखी भाव म मानसी सेवा के अतिरिक्त सभोग के लिए कोई गुजायश नहीं है। इसम केवल सेवा की वासना है। अतएव सदा सेवा के लिए उत्सुकता साधनो की सिद्धि-रूपा इस मजरी देह की निरन्तर भावना अपेक्ष्य है। राधा कृष्ण के प्रति मानसी-सेवा का सकल्प ही इस गोपी भाव का प्राण है। पद्मपुराण क पातालखड म गोपी भाव की उपासना की विस्तृत विवेचना मिलती है।[1]

श्रीराधा की सखिया पाँच प्रकार की हैं—सखी नित्यसखी प्राणसखी प्रियासखी और परमप्रेष्ठासखी। सखी भाव (व्रज भाव) म प्रवेश करने के पहले उपासक परिस्मृति और उपास्य परिस्मृति परमावश्यक है। उपासक परिस्मृति के अन्तर्गत उपासक से सम्बन्ध रखनेवाले निम्नलिखित ग्यारह प्रकार के भाव होते हैं —

१—सम्बन्ध (माता पिता सखा पति प्रेमी प्रेमिका आदि)

२—वयस (किशोर साधक द्वारा किशोरी रूप म भावना)

३—नाम (गुरु द्वारा प्रदत्त नाम यथा—प्रिया लता अली सखी कला आदि)

४—रूप (गुरु द्वारा सिद्ध रूप का निर्णय)

५—यूथ (यूथेश्वरी राधा की अष्टसखियो—ललिता चन्द्रावली आदि म से किसी एक के यूथ म जाना)

६—वेश (रूप-यौवन-सम्पन्ना किशोरी का वेश)

७—आज्ञा (करुणामयी सखी की नित्य और नैमित्तिक आज्ञा द्वारा सेवा करना)

८—वास (व्रज ग्राम वास)

९—सेवा (यूथेश्वरी की आज्ञा का पालन उनकी आज्ञा क अनुसार ही कृष्ण-सेवा)

१०—पराकाष्ठाश्वास

११—पाल्य दासी भाव (धृष्ठदासी जो राधा-कृष्ण का लीला विहार कराती हैं राधिका को रसपूर्वक मान शिक्षा देती है एसी श्री ललिता अपनी पाल्य दासी बना ले—यही साधक द्वारा कामना करना।)

---

१ आत्मानं चिन्तयेत्तत्र तासां मध्ये मनोहराम्।
रूपयौवनसम्पन्नां किशोरीं प्रमदाकृतिम्॥
नाना शिल्पकलाभिज्ञां कृष्णभोगानुरूपिणीम्।
प्रार्थितामपि कृष्णेन तत्र भोगपराङ्मुखीम्॥
राधिकानुचरीं नित्यं तत्सेवनपरायणाम्।
कृष्णादप्यधिकं प्रेम राधिकायां प्रकुर्वतीम्॥
प्रीत्यानुदिवसं यत्नात्तयोः सङ्गमकारिणीम्।
तत्सेवनसुखाह्लादभावेनातिसुनिर्वृताम्॥
इत्यात्मानं विचिन्त्यैव तत्र सेवां समाचरेत्।
ब्राह्ममुहूर्तमारभ्य यावत्स्यात्तु महानिशा॥ —पद्मपुराण, पातालखंड, ५२।७-११।

सखी प्रेम प्रकृत काम नहीं, शुद्ध प्रेम है

सखिया का प्रम प्रकृत काम नही है शुद्ध प्रेम है। देहस्थ काम और प्रेम म वही अतर है जो लोहा और सोना म है। सखी प्रम मे आत्मेन्द्रिय प्रीति इच्छा नही कृष्णेन्द्रिय प्रीति इच्छा है। इसमे काम दोष आ ही नहीं सकता। गोपिया जो भी उद्यम करती हैं कृष्ण-सुख क लिए ही। अतएव सखी प्रम काम गन्धहीन दग्ध हेम के समान निमल उज्ज्वल और शुद्ध है। वे कृष्ण की सहायिका हैं उनकी बान्धवा प्रेयसी, प्रिया शिष्या सखी ओर दासा है।[1] वे कृष्ण की मनोवाछा को जाननेवाली हैं।

साराश यह है कि सखिया माधुय मूर्ति श्री कृष्ण भगवान् की प्रियतमा और एकनिष्ठ उपासिका हैं। श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध के ४६वें अध्याय म गोपी प्रेम की एकनिष्ठता का वणन करते हुए स्वय श्रीकृष्ण उद्धव से कहते हैं कि हे उद्धव! तुम व्रज म जाओ मेरी विरह विधुरा गोपिया मुझे न देखकर मृतवत् पडी हुई हैं। मेरा सवाद देकर तुम उन्हे सान्त्वना दो। उनके मन प्राण, बुद्धि और आत्मा अहर्निश मुझम ही अर्पित हैं। वस्तुत मेरा मन ही उनका मन बना हुआ है मेरे ही प्राणा से वे अनुप्राणित हैं। मेरे सिवा और कुछ वे नही जानती। उन्होने मेरे लिए लोक धम, वेद धम और देह धम सबका त्याग कर दिया है। वे अहर्निश मेरा ही चिन्तन कर विरहोत्कण्ठा म विह्वल बनी मेरे स्मरण ध्यान म विमुग्ध हो मेरे दशन की आशा म अति क्लेश स जीवन यापन कर रही हैं।[2] वे पुन कहते हैं कि व्रजबालाओ के भाव रस निरन्तर ध्यान धारणा म रत योगेश्वरो की ध्यान-समाधि से भी प्रगाढ है।[3]

नायिका-भेद

कृष्णवल्लभा व्रजागनाए दो प्रकार की हैं—स्वकीया और परकीया। वे पति और उपपति रूप स कृष्ण को भजती हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि वष्णव रस-साधना के अन्तगत स्वकीया की अपेक्षा परकीया को ही परमादश माना गया है क्योंकि परकीया के अतिरिक्त मधुर रस का अन्यत्र उत्कृष्ट विकास हो नहा सकता। परकीया नायिका दो प्रकार की हैं—कन्यका और परोढा। विवाहिता स्त्री स प्रम-व्यापार सामाजिक दृष्टि स हेय और वर्जित है किन्तु वष्णव रस-साधना म इसे ही परमोत्कृष्ट माना गया है। स्वकीया और परकीया नायिकाओ के मुग्धा मध्या और प्रगल्भा—ये तीन विभाग बतलाए गये हैं। मुग्धा नायिका मान-वदग्ध्य विशेष स अनभिज्ञ होती है। मान प्रसग म वह मुह ढक कर केवल रोदन करती है। कान्त के प्रिय-वाक्य श्रवण कर प्रसन्न होती है। मध्या और प्रगल्भा नायिकाओ के धीरादि भेद होते हैं। स्वभाव क अनुसार

---

१ कामगन्धहीन स्वाभाविक गोपीप्रेम।
निमल उज्ज्वल शुद्ध येन दग्ध हेम॥
कृष्णेर सहाय गुरु, बान्धव, प्रेयसी।
गोपिका हयेन प्रिया शिष्या, सखी, दासी॥
गोपिका जानेन कृष्णेर मनेर वाछित।
प्रेम सेवा परिपाटी इष्टसेवा समाहित॥
—चैतन्यचरितामृत, चतुर्थ अध्याय।

२ श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्ध ४६वाँ अध्याय द्रष्टव्य।

३ वही, एकादश स्कन्ध।

इनके प्रखरा मदु और समा नामक तीन भेद किये गए हैं, जो क्रमश अपने प्राखय मादव और साम्य-स्वभाव से श्रीकृष्ण का परितोप कराती हैं।[१]

गोपी मान नदी की शतधारा के समान हैं। नायिका के स्वभाव और प्रम वत्ति के अनुरूप इसके भेद प्रभेद हैं जिनकी चर्चा करना यहाँ सभव नही है। मान के अनुसार गोपिकाओ के तीन मुख्य भेद हैं—धीरा अधीरा और धीराधीरा।[२] धीरा नायिका कान्त को दूर देखकर प्रत्याख्यान करती है किन्तु समीप आने पर आसन प्रदान करती है। हृदय म कोप भाव रहता है किन्तु प्रकट रूप से मधुर वचन बोलती है। प्रिय द्वारा आलिंगित होने पर वह भी आलिंगन कर लेती है। इस प्रकार अपने सरल व्यवहार द्वारा अपने मान का पोषण करती है। परिहास वाक्यो स भी प्रिय का प्रत्याख्यान करती रहती है।[३]

अधीरा नायिका मान दशा म निष्ठुर वचनो द्वारा प्रिय की भत्सना करती है। प्रिय के कान को पकड कर ताडना करती है तथा माल्य-बन्धन मे डाल देती है।[४]

धीराधीरा नायिका मान करने पर वक्र-वचनो द्वारा प्रिय का उपहास करती है। कभी निन्दा और कभी स्तुति करती है और कभी उदास हो जाती है।[५]

नायक के प्रेम करने के अनुसार उपयुक्त धीरादि नायिकाओ के तीन प्रकार हैं—उत्तमा मध्यमा और कनिष्ठा। इनम राधा वृन्दावनेश्वरी एव नायिका शिरोमणि हैं।

वष्णव रस शास्त्र के अनुसार नायक के साथ नायिका के सम्बन्ध के आधार पर नायिका के निम्नलिखित आठ भेद हैं—

---

१ मुग्धा मध्या प्रगल्भा तिन नायिका भेद।
मुग्धा नाहि जानेर मानेर वैदग्ध्य विभेद॥
मुख आच्छादिया करे केवल रोदन।
कान्त प्रिय वाक्य शुनि हय परसन्न॥
मध्या प्रगल्भा धरे धीरादि विभेद।
तार मध्ये सबार स्वभाव तिन भेद॥
केह प्रखरा केह मदु केह हय समा।
स्व-स्वभावे कृष्णेर बाड़ाय प्रेम सीमा॥
प्राखर्य्य मार्दव साम्य स्वभाव नि र्दोष।
सेइ-सेइ स्वभावे कृष्णे कराय सन्तोष॥ —चै० च, मध्य० परि १४ पृ २०५।

२ माने केह हय धीरा केह हय अधीरा।
एइ तिन भेदे केह हय धीराधीरा॥ —वही पृ २०४

३ धीरा कान्त दूरे देखि करे प्रत्याख्यान।
निकट आसिले करे आसन प्रदान॥
हृदये कोप मुखे कहे मधुर वचन।
प्रिय आलिंगिले तारे करे आलिंगन॥
सरल व्यवहारे करे मानेर पोषण।
किम्वा सोल्लुठ वाक्ये करे प्रिय निरसन। —चै० च, मध्य परि० १४, पृ २०५।

४ अधीरा निष्ठुर वाक्ये करये भर्त्सन।
कर्णोत्पले ताडे करे माल्याय बन्धन॥ —चै० च, मध्य० परि १४, पृ० २०५।

५ धीराधीरा वक्र वाक्ये करे उपहास।
कभु स्तुति कभु निन्दा, कभु वा उदास॥ —वही।

१—अभिसारिका—सम्पूर्ण प्रसाधना से सज्जित होकर संकेत-स्थल पर अपने प्रेमी से मिलने जानेवाली नायिका को अभिसारिका कहते हैं।

२—वासकसज्जा—सम्पूर्ण प्रसाधनों से युक्त होकर प्रिय-समागम हेतु संकेत-स्थल पर न जाकर अपने घर पर ही प्रेमी की प्रतीक्षा करने वाली नायिका वासकसज्जा कहलाती है।

३—उत्कण्ठिता—प्रेमी से निराश होनेवाली नायिका को उत्कण्ठिता कहते हैं।

४—विप्रलब्धा—प्रेमी से प्रवंचित होने वाली नायिका विप्रलब्धा कहलाती है।

५—खण्डिता—सारी रात प्रतीक्षा में संलग्न उस नायिका को खण्डिता की संज्ञा दी जाती है जिसका प्रेमी उसके पास न जाकर किसी दूसरी प्रेमिका के पास रात बिता देता है।

६—कलहान्तरिता—कलह के कारण वियुक्त होने वाली नायिका को कलहान्तरिता कहते हैं।

७—प्रोषितभर्तृका—जिस नायिका का नायक प्रवास में चला जाता है उसे प्रोषितभर्तृका कहा जाता है।

८—स्वाधीनभर्तृका—जिस नायिका का प्रेमी सम्पूर्ण रूप से उसका अनुगत रहता है, उसे स्वाधीनभर्तृका कहते हैं।

रागात्मिका भक्ति-पथ के साधक वैष्णव आचार्यों ने सामान्यतः इन्हीं भावों के अनुरूप पदों की रचनाएं की हैं। मधुर रस के जिन मधुरतम प्रसंगों ने उन्हें सर्वाधिक आकृष्ट किया उन्हीं प्रसंगों पर उन्होंने पदों की रचना की। यही कारण है कि काव्य शास्त्र के अनुरूप वैष्णव रस शास्त्र में इन विषयों का सांगोपांग विवेचन नहीं मिलता।

हिन्दी के वैष्णव पद-साहित्य में इन भावों से सम्बन्धित पद अवश्य मिलते हैं, परन्तु उनका शास्त्रीय विवेचन नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि हिन्दी के वैष्णव आचार्यों का लक्ष्य भगवान् की लीला का गान करना था न कि रस शास्त्र का प्रणयन करना। इससे भिन्न बंगाल के वैष्णव कवियों की पदावली में वैष्णव रस शास्त्र के अनुरूप विषय प्रतिपादन का स्तुत्य प्रयास किया गया है।

धर्मशास्त्र के आधार पर हरिवल्लभा के तीन भेद बतलाये गये हैं—साधन सिद्धा नित्य सिद्धा और देवी। पुनः इनके कई अवान्तर भेद निर्धारित किये गए हैं।

सारांश यह है कि रूप वय प्रकृति स्वभाव प्रेम-वृत्ति, प्रेम-दशा आदि दृष्टियों से नायिकाओं के अनेकानेक भेद प्रभेद हैं जिनका विस्तृत विवेचन करना इस प्रसंग में न तो संभव ही है न आवश्यक ही। अतः वैष्णव रस साधना की दृष्टि से कुछ प्रमुख भेदों का ही विवेचन कर इस विषय को समाप्त किया जाता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि बंगाल के वैष्णवाचार्यों और कवियों की तरह हिन्दी के वैष्णवाचार्यों और कवियों ने मधुर रस के आश्रयालम्बन श्रीराधा और गोपियों के आधार पर नायिका भेद का शास्त्रीय विवेचन नहीं किया है।

मधुर रस के उद्दीपन विभाव

भगवान् के अनुपम रूप, गुण चेष्टा अंग-सौरभ प्रसाधन क्षेत्र प्रसंग भक्त आदि मधुर रस के उद्दीपन विभाव हैं।

मधुर रस के उद्दीपन विभाव के ७ भेद हैं—गुण नाम चरित्र मण्डन सम्बन्धी और

तटस्थ। गुण उद्दीपन के कायिक वाचिक और मानसिक तीन प्रकार हैं। पुन कायिक गुण उद्दीपन के वय रूप लावण्य सौन्दय अभिरूपता माधुय और मार्दव—सात भेद हैं। वय के अनुसार मधुर रस के उद्दीपन विभाग की चार अवस्थाए हैं—वय सधि नव्य यौवन व्यक्त यौवन और पूण यौवन। अन्य कायिक गुणो म रूप लावण्य सौन्दय और माधुय विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। अभूषित अगो से ही जो शोभा प्रदान करता है उसे रूप कहते हैं। मोतिया म छाया की आन्तरिक तरलता के समान जो वस्तु अगो म चमकती है वह लावण्य है। अग प्रत्यग का सुश्लिष्ट सधि बध से युक्त जो यथोचित सनिवेश है उसीको सौन्दय कहा जाता है।[1] नायक या नायिका के शरीर या स्वभाव की अयत्नज स्वाभाविक रूप से दिखाई पडने वाली मोहकता, मदुता लालित्य और रमणीयता को माधुय कहते हैं। भरत के अनुसार प्रत्येक अवस्था म विशेषकर दीप्ति और ललित मे नायिका की चष्टाए माधुय नाम से अभिहित होती हैं।[2] धनजय ने इस केवल अनुल्वणत्वम् अर्थात् कोमलता माना है।[3] साहित्य दपणकार विश्वनाथ सभी अवस्थाओ म नायिका द्वारा अपनी चेष्टाओ म मदुता अथवा रमणीयता की स्थिति बनाए रखने को माधुय की सज्ञा देते है।[4] रूप गोस्वामी न रूप की अनिवचनीयता को ही माधुय माना है।[5] उन्होंने माधुय की जो परिभाषा की है वह दूसरे आचार्यों के मन्तव्यो की अपेक्षा अधिक युक्तिसगत प्रतीत होता है।

चरित उद्दीपन के अनुभाव और लीला' दो भेद हैं। अनुभाव चित्तस्थ भावो के बोधक होते हैं।[6] अत दूसरे पक्ष के लिए उनका उद्दीपनकारी होना सगत ही प्रतीत होता है। लीला के आलाप विलाप सन्देश आदि कई भेद होते है।

मण्डन उद्दीपन के वस्त्र भूषण माल्य धारण और अनुलेपन—चार भेद बतलाए गए हैं। इसी प्रकार सबधी उद्दीपन के कई भेद हैं—वशी शृगी ध्वनि आभूषणो की झकृति उतारी हुई माला उतारा हुआ वस्त्र प्रियसखादि के दशन प्रिय धाम तथा उससे आश्रित पदाथ तथा गोवधनादि।

तटस्थ-उद्दीपन के अन्तगत नायक नायिका से असम्बद्ध प्राकृतिक वस्तुए हैं। जसे—

१ अगान्यभूषितान्येव केनचिद्भूषणादिना।
येन भूषितवद्भाति तद्रूपमिति कथ्यते ॥२३॥
मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।
प्रतिभाति यदगेषु लावण्य तदिहोच्यते ॥२५॥
अगप्रत्यगकाना य सनिवेशो यथोचितम्।
सुश्लिष्टसधिबन्ध स्यात्तत्सौन्दयमितीयते ॥२६॥ —उज्ज्वलनीलमणि, पृ० २७२ २७४।

२ सर्वावस्थाविशेषेषु दीप्तेषु ललितेषु च।
अनुल्बणत्व चेष्टाया माधुयमिति कीर्तितम् ॥२७॥
कन्यासारकरणाना तु विलासत्व यत्र जायते।
महत्स्वपि विकारेषु तन्माधुर्यमितिस्मृतम् ॥३४॥ —वही म २४।

३ दशरूपक २ ३६।

४ सर्वावस्था विशेषेषु माधुय रमणीयता। —साहित्यदपण ३, ६७।

५ रूप किमप्यनिर्वाच्य तनोमाधुयमुच्यते। —उज्ज्वलनीलमणि पृ २७५।

६ अनुभावास्तु चित्तस्थभावानामवबोधका।
ते बहिर्विक्रियाप्राया प्रोक्ता उद्भास्वराख्यया ॥१॥
—हरिभक्तिरसामृतसिंधु द० वि०, २ ल, पृ० २०५।

चन्द्रिका मेघ, बिजली वसतऋतु आदि। इनमे कृष्ण की मुरली माधुरी सभी उद्दीपनो मे श्रेष्ठ तम मानी गयी है।

कृष्ण रति अथवा मधुर रस के अन्यान्य उद्दीपन विभावो मे स्मित अगसौरभ, वशु पदाक क्षेत्र, तुलसी, वेणु मुरली वशी आदि उल्लेखनीय हैं।

मधुर रस के साधक के प्रसाधन तथा रूप विन्यास

मधुर रस की स्पृहा रखने वालो के लिए व्रजवासी भाव को अपनाकर व्रजवासिनी की भावना करनी होती है। स्पृहा के अनुरूप साधना करते-करते सिद्धि का उदय होता है। मायिक स्वभाववश पुरुष अपने को पुरुष समझता है। वस्तुत श्रीकृष्ण को छोडकर जीवमात्र स्त्री है। चिन्जगत् मे वस्तुत स्त्री पुरुष चिह्न है ही नही। मधुर रस के भावुक रसिक को भावना के अनुरूप ही प्रसाधन तथा रूपविन्यास करना होता है।

प्रसाधन के मुख्य तीन विभाग हैं—वसन आकल्प और मडन। वसन के भी तीन मुख्य अग हैं—युग चतुष्क और भूमिष्ठ। चतुष्क के कचुक उष्णीष तुडबध और आनरायिक चार प्रकार हैं। आकल्प के केशवद्धन आलेप चित्र माल्य विशेषक ताम्बूल और केलिपद्म नामक सात भेद हैं। केशवद्धन चूडा कबरी जूट और वेणी चार अग हैं। आलेप के पाडुर पीत और कर्बुर तीन प्रकार हैं। इसी प्रकार माल्य के वैजयन्ती रत्नमाल और वनस्रज तीन रूप हैं। चित्र के श्वेत पीत और अरुण तीन प्रकार हैं। मडन के किरीट, कुडल हार चतुष्की वलय, अगुरीय कपूर और नूपुर आठ प्रकार बतलाये गए हैं। जहाँ तक सत-सम्प्रदाय के मधुर रस साधना का सम्बन्ध है मधुर रस-साधना विषयक प्रसाधन एव रूप विन्यास की इन बाह्य विधियो एव उपकरणो का तिरस्कार किया गया है। राधा-कृष्ण और सीता राम की माधुर्य भक्ति साधना के अतगत ही इनकी विशेषता पाई जाती है।

मधुर रस के अनुभव

भरत मुनि ने रस निष्पत्ति पर विचार करते हुए अनुभाव को विभावादि रस तत्त्वो मे एक तत्त्व माना है।[1] साहित्यदपणकार ने आलम्बन उद्दीपन आदि कारणो से उत्पन्न भावो को बाहर प्रकाशित करने वाले काय के रूप मे अनुभावो को स्वीकार किया है।[2] तात्पर्य यह है कि वाणी तथा अग-सचालन आदि की जिन चेष्टाओ और क्रियाओ से आलम्बन तथा उद्दीपन आदि के कारण आश्रय के हृदय मे जाग्रत भावो का साक्षात्कार होता है उन्हें अनुभाव कहते हैं। इस प्रकार अनुभाव विकार-रूप तथा भावो का सूचना देने वाले हैं। भावो के सूचक होने के कारण ही अनुभावो को भावो के पश्चाद्वर्ती एव काय रूप मानते हैं। इन्हें सहृदय के विचार मे कारण रूप भी माना गया है क्योकि इन्हा अनुभावो के द्वारा सहृदय-जन वास्तविक पात्रो के भावो की जानकारी प्राप्त करते हैं। एकान्त-स्थल मे प्रियतम के साक्षात्कार से मन मे रति का अनुभव करते हुए नायिका का उसकी ओर कटाक्ष करना, मन्द मुस्काना रोमाचित हो जाना दूसरो की

---

१. नाट्यशास्त्र ६।३१।

२ 'उद्बुद्ध कारणै स्वै स्वैर्बहिर्भाव प्रकाशयन्। —साहित्यदपण ३ । १२९।

नजर बचाने के लिए इधर उधर देखना आदि व्यापार अनुभाव कहे जाते हैं। भिन्न भिन्न रसो के अनुभाव भी अलग अलग होते हैं।

अनुभावो की सख्या अनेक है। सामान्यत इनके कायिक मानसिक आहाय वाचिक और सात्त्विक नाम से पाच प्रकार हैं। इनमे कायिक और मानसिक अनुभावो के अगज अयत्नज और स्वभावज नामक तीन भेद किये गए है। रूपगोस्वामी आदि आचार्यों ने अनुभावो को सात्त्विक अलकार की भी सज्ञा दी है।

ऊपर कहा जा चुका है कि अनुभावो को चित्तस्थ भावो के बोधक बताते हुए उन्हें चरित नामक उद्दीपन का भेद माना गया है। रूपगोस्वामी ने कृष्ण रति स्थायी भाव के निम्नलिखित अनुभाव बतलाए है—

नृत्य विलुठित गीत क्रोशन तनुमोटन हुकार जम्भा श्वासभूयन लोकानुपेक्षित लालास्रव अट्टहास घूर्णा और हिक्का।[1]

नायिका के सत्त्वज अलकारो को अनुभावो की श्रेणी में रखकर उद्भास्वर और वाचिक नामक दो अन्य प्रकार के अनुभाव भी बतलाये गए है। नीवी-स्रसन उत्तरीय-स्रसन केश स्रसन अगडाई अग भगीपूर्वक काम प्रदर्शित करना, जम्भा नाक फुलाना आदि उद्भास्वर और आलाप प्रलाप विलाप अनुलाप सलाप अपलाप सदेश अतिदेश निर्देश उपदेश अपदेश व्यपदेश ये बारह वाचिक अनुभाव हैं। चाटूक्ति को आलाप दु खमय वचन को विलाप निरर्थक बकने को प्रलाप बार बार कहने को अनुलाप पहले कही गयी बातो का अन्य अर्थों म प्रयोग अपलाप सवाद भेजने को सदेश प्रस्तुत वस्तु को अन्य अभिधेय वस्तु स सूचना देने को अतिदेश अपने विषय म वह यह मैं हू कहकर समझाने को निर्देश शिक्षा देने को उपदेश मैंने या उसने ऐसा कहा इस प्रकार के कथन को अपदेश और व्याजपूर्वक आत्माभिलाष प्रकट करने को व्यपदेश कहते हैं।

उज्ज्वलनीलमणि म रूपगोस्वामी ने सहज प्रेम स प्रादुर्भूत किलकिंचित कुट्टमित विलास ललित विव्वोक मोट्टायित मौग्ध्य चकित इत्यादि भावो को अनुभाव के अन्तगत ही रखा है। कृष्णदास कविराज ने इन भावो को राधा का भाव बतलाया है जिनसे भूषित होकर राधा कृष्ण का मनहरण करती हैं।[2]

किलकिंचित

राधा को देखकर कृष्ण का मन यदि उन्ह स्पर्श करना चाहता है वे गलियो म या घाट पर राह रोकते हैं या राधा के अग पर फेंकने क लिए पुष्प उठाते हैं अथवा सखी को आगे जाते हुए देखकर राधा क शरीर का स्पर्श करते हैं तब हर्षादि सचारी के मूल कारण से इन सब स्थानो एव परिस्थितियो म किलकिंचित भाव की उत्पत्ति होती है।[3] इसम जब गर्व अभिलाष भय

१ हरिभक्तिरसामृतसिन्धु द वि २ लहरी प० २।

२ किलकिंचितादि भावर शुन विवरण।
जे भावभूषण्य राधा हरे कृष्ण मन ॥ —चै० च मध्य परि १४ पृ २ ६।

३ उज्ज्वलनीलमणि प० ३४ पृ ३११ १२।
—चै च, मध्य०, परि १४ पृ २ ६।

शुष्क रुदित क्रोध असूया और मदस्मित ये सात भाव मिल जाते हैं तब वह महाभाव मे परिणत हो जाता है।

विलास

राधा अपने घर पर रहें या वृन्दावन जाएँ, यदि उन्हें एकाएक कृष्ण से साक्षात्कार हो जाता है तब प्रियतम के सहसा दर्शन पाने से उनके मन म अनेक प्रकार के भावो का वैलक्षण्य उत्पन्न होता है। इन वैलक्षण्यो को ही विलास भूषण की संज्ञा दी गई है।[1] कृष्णदास कविराज ने भी चैतन्यचरितामृत मे इसी रूप म इसकी चर्चा की है।[2]

ललित

लज्जा, हर्ष, अभिलाष संभ्रम वाम्य और भय ये सब भाव मिलकर राधा को उद्विग्न बना देते हैं। उस समय राधा यदि कृष्ण के समक्ष प्रस्तुत रह अंग भंगकर भ्रू कुंचित करें और मुख नेत्र आदि के द्वारा अनेकानेक भाव प्रकट हो तब उस कान्ता भाव को ललितालंकार के नाम से अभिहित किया जाता है।[3]

कुट्टमित

कृष्ण ललित भूषिता राधा को देखें और दोनों एक-दूसरे से मिलन हेतु समुत्सुक हो तथा कृष्ण राधा का कंचुकाकर्षण आदि छेड़छाड़ करें और राधा आन्तरिक उल्लास का अनुभव करते हुए उसका वर्जन करें और ऊपरी मन से वामता और क्रोध का प्रदर्शन करें परन्तु मन म सख्य भाव मानें तो उनके इस भाव को कुट्टमित कहा गया है।[4] भरत ने इसे आन्तरिक हर्ष के अवसर

---

१ उज्ज्वलनीलमणि पृ० २७ पृ० ३०८।

२ राधावसि आछे किंवा वृन्दावन जाय।
ताहा आचम्बिते कृष्ण दरशन पाय॥
देखिनेइ नानाभाव हय वैलक्षण्य।
से वैलक्षण्येर नाम विलास भूषण॥ —चै० च०, परि १४, पृ २०६ २०७।

३ नाट्यशास्त्र, प०, २२, पृ ७०१।

उ नी० प० ४१ पृ० ३१६।
लज्जाहर्ष अभिलाष संभ्रम वाम्य भय।
एते भाव मिलि राधाय चचल करय॥
कृष्ण आगे राधा यदि रहे दाँडाइया।
तिन अगभंगे रहे भ्रू नाचाइया॥
मुखे नेत्र हय नाना भावेर उद्गार।
एइ कान्ताभावेर नाम ललितालकार॥ — चै० च, मध्य०, परि १४, पृ २ ७।

४ उज्ज्वल नीलमणि प० ४४ पृ ३११।

ललित भूषित राधा देखे यदि कृष्ण।
दुइ दुइ हा मिलिबारे हयेन सतृष्ण॥

सर पर कृत्रिम रोष प्रकट करना माना है जो प्रिय द्वारा स्पर्श किये जाने की प्रसन्नता और घबराहट से अनुप्रेरित है।[१] सामान्यतः यह केलि कलह में झूठे रोष का प्रदर्शन है।[२] वस्तुतः प्रिय द्वारा केश स्तन आदि अंगों का स्पर्श या मर्दन किये जाने पर हृदय में प्रसन्न होते हुए भी कृत्रिम रोष अथवा घबराहट अथवा अनिच्छा को प्रकट करते हुए विलक्षण गति से अंगों को चलाने अथवा सीत्कार करने को कुट्टमित अलंकार' कहते हैं।

मोट्टायित

भरत ने मोट्टायित अलंकार को प्रिय के उल्लेख से मग्न होकर लीला विलास आदि के माध्यम से प्रेम की अभिव्यक्ति के रूप में माना है।[३] कई आचार्यों ने इस सम्बन्ध में अलग अलग विचार व्यक्त किये हैं। व्यापक रूप से प्रिय दर्शन की अभिलाषा रखते हुए अथवा किसी अन्य से प्रिय के रूप गुणादि की चर्चा सुनने रहने के लिए जब नायिका उधर ही कान लगाये रहती है किन्तु ऐसा भाव प्रदर्शित करती है कि वह देख या सुन नहीं रही है उस ओर से अन्यमनस्क है या उपेक्षा कर रही है तब उस क्रिया को मोट्टायित अलंकार कहते हैं।[४] इसका प्रमुख उद्देश्य दूसरों से अपने मनोभावों का गोपन करना ही है। कान खजलाना उंगलियों या पद नखों से पृथ्वी कुरेदना तथा लज्जा के अन्य अनुभाव भी इसके अन्तर्गत आते हैं।

विव्वोक

भरत ने प्रेम प्राप्त करने के बाद गर्व या अभिमानवश नायिका द्वारा अनादर या उपेक्षा प्रदर्शित करने के भाव को विव्वोक अलंकार कहा है।[५] व्यापक रूप से मन में प्रिय या इष्ट वस्तु के प्रति अधिकाधिक आकर्षण का पोषण करते हुए भी नायिका द्वारा यौवन धन अथवा कुल के गर्व अथवा प्रिय के अपराध के कारण उसका केवल वाणी द्वारा अनादर या उपेक्षा करना[६] विव्वोक कहलाता है।

मौग्ध्य

जाना-सुना और समझी हुई वस्तुओं के प्रति अनजान बनकर प्रिय के सामने या स्वयं प्रिय से ही उन वस्तुओं के विषय में जिज्ञासा प्रकट करना मौग्ध्य कहलाता है।[७] सरलता में

लोभे कामि कृष्ण करे कंचुकाकर्षण।
अन्तरे उल्लास राधा करे निवारण॥
बाहिरे वाम्य क्रोध भितरे सुख मान।
कुट्टमित नाम एइ भाव विभूषण॥ —चै० च० मध्य० परि० १४ पृ० ? ७।

१ नाट्यशास्त्र २४ २ ।
२ हिन्दी साहित्यकोश पृ० ८७ ।
३ नाट्यशास्त्र २४ १६।
४ हिन्दी साहित्यकोश पृ० ८१५।
५ नाट्यशास्त्र २४ २१।
६ हिन्दी साहित्यकोश पृ० ८७ ।
७ 'ज्ञातस्यापि यत् पृच्छा प्रतीतस्यापि वस्तुनः ।
वल्लभस्य पुरः प्रोक्तं मौग्ध्यं तद्यत्र बल्गिभिः ॥१ ७। —सा० द० ? परि० ।

निसर्गज य अकृत्रिम शोभा होती है किंतु मौग्ध्य म चातुर्य का भाव विद्यमान रहता है।

चकित

कभी-कभी प्रिय क सम्मुख नायिका के अकारण भय विभ्रम प्रदर्शन म भी एक शोभा होती है जिसे चकित अलकार कहते हैं।[1]

उपर्युक्त सात्त्विक अनुभाव स्वभावज अलकार क प्रमुख भेद हैं। भरत मुनि न स्वभावज अलकारो मे लीला विलास, विच्छित्ति विभ्रम किलकिंचित मोट्टायित कुट्टमित विब्बोक ललित और विहृत की ही परिगणना की थी। कालान्तर म भोज विश्वनाथ आदि आचार्यों न मद तपन मौग्ध्य विक्षेप, कुतूहल, हसित, कनि चकित और बोधक को जोडकर इसकी सख्या उन्नीस कर दी।

सात्त्विक अनुभवो क अतगत तीन अगज अलकार भी सम्मिलित किय गए हैं। अगज अलकार का सम्बन्ध नायिकाओ के आगिक विकार क्रियाओ एव चेष्टाओ म है जिनके द्वारा उनके मन म यौवनोन्मेष के कारण उत्पन्न एव विकसित होने वाले काम मवन क परिचय मिलते हैं। भरत के अनुसार अगज अलकार के तीन भेद हैं—भाव हाव तथा हेला। य एक-दूसरे स अद्भुत सत्त्व के विभिन्न रूप होने के कारण शरीर से सम्बद्ध माने जाते हैं।[2] उनके मतानुसार सत्त्व शरीर स सम्बद्ध है 'भाव सत्त्व म उत्पन्न होता है हाव भाव स उत्पन्न होता है और हेला' हाव से उत्पन्न होता है।[3] निर्विकार चित्त म यौवनोन्मेष क साथ मन म जिस काम विकार का वपन होता है उसी को भाव कहते हैं।[4] भरत के अनुसार सत्त्व भाव क उद्रेक के साथ अन्य व्यक्ति के प्रति व्यजित होना है और इसीसे विभिन्न स्थितियो स सम्बद्ध हाव देखे जाते हैं।[5] धनजय के अनुसार हाव भाव की वह विकसितावस्था है जिसम भोगेच्छा को प्रकाशित करने वाले कटाक्ष-पात आदि विकार प्रकट होने लगते हैं।[6] भरत के अनुसार ललित अभिनय द्वारा अभिव्यक्त शृगार रस पर आधारित प्रत्यक्ष व्यक्ति का भाव हेला है।[7] धनजय न इसे शृगार की सहज सकेत देनेवाली अभिव्यक्ति के रूप म स्वीकार किया है।[8]

मधुर रस के सात्त्विक अनुभाव

मधुर रस के प्रतिष्ठापक श्री रूपगोस्वामी न प्राचीन काव्यशास्त्र म लिए गए आठ सात्त्विक भावो का ही उल्लेख मधुर रस के सन्दर्भ म किया है। परम्परागत सात्त्विक भाव आठ हैं—स्तम्भ स्वेद रोमाच स्वर भग वेपथु वैवर्ण्य अश्रु और प्रलय।

भरत मुनि ने अनुभावो को सात्त्विक इसीलिए कहा है कि इनका अभिनय विशेष मनोयोग

---

१ कुतोऽपि दयितस्याग्रे चकित भयसम्भ्रम ।' १०६ (२२)। —भा० द०, त प ।
२ नाट्यशास्त्र, २४/६।
३ नाट्यशास्त्र, २४/७।
४ 'निर्विकारात्मकात्सत्त्वाद्भावस्तत्राद्य विक्रिया ॥३३॥ —दशरूपक धनञ्जय, द्वि प्र०।
५ नाट्यशास्त्र, २४/८।
६ हेवाकस्तु शृगारो हावोऽक्षिभ्रुविकारकृत्। —दशरूपक द्वि० प्र (प० ३४ का पूर्वार्द्ध)
७ नाट्यशास्त्र २४/११।
८ स एव हेला सुव्यक्त शृगाररससूचिका ॥३४॥ —दशरूपक द्वि प्र०।

से ही सम्भव है। चित्त वि १प के माथ इनका अभिनय कोई नही कर सकता।[१] सत्त्व अन्त करण के विशिष धम को कहते हैं। इसे मत प्रभाव भी कहा गया है। अतएव सत्त्व स उत्पन्न एसे अग विकार को सात्त्विक अनभाव कहते हैं जिसस हृदयगत रस या भाव का परिचय मिलता है। साहित्यदपणकार क अनुसार सत्त्व स्वात्मविश्राम' अर्थात् रस को प्रकाशित करनेवाला आन्तर धम है। अत इस आन्तर धम से सम्बद्ध रहने के कारण ही इन अनुभावो को सात्त्विक अनुभाव की सज्ञा दी गई है।[२] ये सात्त्विक भाव पूणरूप से मानसजन्य हैं। हेमचन्द्र ने सत्त्व का अथ प्राण लिया है। उनके अनुसार स्थायी भाव ही प्राण तक पहुचकर सात्त्विक का रूप धारण कर लेते है। प्राण म पथ्वी का भाव प्रधान हो जाने पर स्तम्भ जल का भाव प्रधान हो जाने पर अश्रु तेज क भाव की प्रधानता होने पर स्वेद तेज क भाव के तीव्रता शून्य होकर प्रधान होने पर ववर्ण्य आकाश का भाव प्रधान होने पर प्रलय वायु के भाव क मन्द मध्य और उत्कृष्ट आवेश से रोमाच कम्प तथा स्वर भग होता है। शरीर धम बाह्य स्तम्भादि ही इन आन्तरिक स्तम्भादि की व्यजना करत हैं।[3]

हष भय रोग विस्मय विषाद लज्जा मादकता एव रोषादि से अकस्मात शारीरिक अवयवो का सचालन रुक जाना स्तम्भ नामक सात्त्विक है।[४]

क्रोध भय हष लज्जा दुख श्रम रोग ताप चोट कशाति समाचार आदि से उत्पन्न पसीने को स्वेद सात्त्विक कहते हैं।[५]

स्पश श्रम शीत हष क्रोध रोग एव भय आदि के कारण शरीर के रागटा का खडा हो जाना रोमाच नामक सात्त्विक है।

भय क्रोध हष मद वद्धावस्था रोगादि के कारण स्वर का गद्गद हो जाना स्वर भग नामक सात्त्विक है।[७]

शीत भय क्रोध श्रम हष स्पश वद्धावस्था आदि के कारण शरीर का कांपने लगना

---

१ नाट्यशास्त्र ६ ६३।

२ साहित्यदपण ३ १३३७ ३४।

३ हिन्दी साहित्यकोश पृ ८३

४ ना यशास्त्र ६ ६८।

स्त भश्च ाष्नीरनो भयहषामयादिभि ॥१३६॥ —सा० द , तृ प०।

५ नाट्यशास्त्र ६ ६५।

वपुजलोद्गम स्वेदो रतिघमश्रमादिभि ॥१३॥ --सा द तृ प।

६ ना शा ६ ६८।

हषाद्भुतभयादिभ्यो रोमाचो रोमविक्रिया ॥ १३७ का उत्तराद्ध। —सा द तृ प।

७ न शा ६ ६६।

मदसमदपीडाद्यैर्वैस्वर्यं गद्गद विदु ॥१३८ का पूर्वाद्ध। —सा द तृ प०।

वेपथु सात्त्विक कहलाता है।[1]

शीत क्रोध भय हर्ष, विषाद मोह लज्जा तथा राग आदि के कारण मह के रंग उड़ जाने को 'वैवर्ण्य' सात्त्विक कहते हैं।[2]

आनन्द अमर्ष अश्रु धूम भय शोक अथवा निर्निमेष दृष्टि से देखने से आंखों से आंसुओं के बहने को 'अश्रु' नामक सात्त्विक भाव कहा जाता है।[3]

श्रम मूर्च्छा, भय निद्रा हर्ष अभिघात और मोह से उत्पन्न निश्चेष्टता निष्कम्पता श्वासावरोध आदि से युक्त अवस्था का नाम प्रलय सात्त्विक है।[4]

वैष्णव रस-साधना के अन्तर्गत इन आठ सात्त्विकों को स्निग्ध दिग्ध और रूक्ष तीन वर्गों में विभाजित किया गया है।[5] स्निग्ध के मुख्य और गौण दो भेद होते हैं। वृद्धि की दृष्टि से सभी सात्त्विकों के क्रमशः धूमायित ज्वलित, दीप्त और उद्दीप्त नामक चार भेद निर्धारित किये गये हैं।

मधुर रस के सचारी भाव

भरत के अनुसार रस के सम्बन्ध में जो अनेक वस्तुओं की ओर सचरण करते उसे ही सचारी कहा है। इसी आधार पर धनजय ने कहा है कि जो भाव विशेष रूप से स्थायी भाव की पुष्टि के लिए अभिमुख रहते हैं और समुद्र की लहरों के समान स्थायी भाव के अन्तर्गत उन्नत और पर्यवसित होते रहते हैं उन्हें ही सचारी या व्यभिचारी भाव की सज्ञा दी गई है।[6] जिस प्रकार लहरें समुद्र में पैदा होकर उसी में विलीन हो जाती हैं उसी प्रकार रत्यादि स्थायी भावों में निर्वेदादि सचारी भाव उन्मग्न और निमग्न होते रहते हैं। स्थायी भाव में ही सचारी भाव आविर्भूत और तिरोहित होते रहते हैं। लहरों के उत्थान-पतन से समुद्र का समुन्नत और भी परिपुष्ट होता है उसी प्रकार सचारी भाव स्थायी भाव का पोषण करते हैं।

भरत के अनुसार सचारी भावों की संख्या तैंतीस है। यथा—निर्वेद आवेग दैन्य श्रम मद जड़ता औग्र्य मोह विबोध स्वप्न अपस्मार गर्व मरण आलस्य अमर्ष निद्रा,

१ ना० शा० ६/६८

रागद्वेष श्रमादिभ्य कम्पो गात्रस्य वेपथु । पद ११८ का उत्तरार्द्ध । —भा द०, पृ प ।

२ ना० शा , ६/६६

विषादमदरोषाद्यैर्वर्णान्यत्वं विवर्णता । —भा द , ३ १३६ ।

३ ना० शा० ६/१७

क्रुद्धनेत्रोद्भवं वारि क्रोधदु खप्रहर्षजम् ॥ —भा० द , ३ १३६ ।

४ ना शा० ६/६६

प्रलय सुखदु खाभ्या चेष्टाज्ञाननिराकृति । —भा द , ३ १४ ।

५ हरिभक्तिरसामृतसिन्धु द वि ३ लहरी पद १२।

६ विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिण ।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्ना कल्लोला इव वारिधौ ॥७॥ —दशरूपक च० प्रकाश ।

अवहित्था औत्सुक्य उन्माद शंका स्मृति मति व्याधि संत्रास लज्जा हर्ष असूया विषाद धृति चपलता ग्लानि चिन्ता और वितर्क।

भरत के आधार पर संचारी भावों की तैंतीस संख्या प्रायः सर्वमान्य हो चुकी है। कई आचार्यों ने इसकी संख्या वृद्धि के प्रयास किए हैं। भानुदत्त ने छल नामक नये संचारी की चर्चा की है। इतना ही नहीं उन्होंने रस-तरंगिणी में दस मन्नावस्थाओं को व्यभिचारियों में परिगणित कर लिया है।[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तैंतीस संचारियों को उपलक्षण मात्र बतलाकर संचारियों की परिमित संख्या का प्रत्याख्यान किया है। उनके विचार से स्मृति के समान विस्मृति का भी संचारियों के अन्तर्गत सन्निवेश किया जा सकता है।[2] श्री राघवन ने भी अनुभाव नायिकाओं के बीस अलंकार भाव हाव आदि सात्त्विक भाव आलाप आदि दस कामावस्थाएं सभी को संचारी के अन्तर्गत समाविष्ट करके संचारियों की तैंतीस की संख्या को बढ़ाने का प्रयास किया है।[3] वैष्णव रस साधना के प्रमुख आचार्य श्री रूपगोस्वामी ने मधुर रस के सन्दर्भ में तैंतीस संचारियों को ही माना है। किन्तु मधुर रस के प्रतिकूल होने के कारण औग्र्य और आलस्य के उदाहरण नहीं दिए हैं। तैंतीस संचारियों के अतिरिक्त तेरह और संचारियों की उद्भावना की गई है। किन्तु सूक्ष्म परीक्षण के बाद वे भरतोक्त तैंतीस संचारियों में ही अन्तर्भुक्त हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त रस विशेष के सन्दर्भ में उन्होंने कतिपय अन्य विशिष्ट संचारियों की परिगणना की है। संचारियों के वर्गीकरण अन्तर्भाव आदि विषयों को लेकर आचार्यों ने पर्याप्त विचार विमर्श किये हैं। प्रसंगानुसार इन सारी बातों पर विस्तार के साथ विचार करना न तो सम्भव ही है और न आवश्यक ही। किन्तु निष्कर्ष के रूप में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कोई भी भाव विभाव अनुभाव और संचारी के संयोग से ही रसावस्था को प्राप्त करता है। अतएव किसी स्थायी भाव को रसावस्था तक पहुंचाने में संचारी का योग अनिवार्य है।

श्री रूपगोस्वामी ने भक्तिरसामृतसिन्धु की चतुर्थ लहरी में संचारियों का विस्तृत विवेचन करते हुए कई नवीन संचारी भावों का सन्निवेश किया है और तैंतीस संचारी भावों में ही उनका अन्तर्भाव प्रदर्शित किया है। सभी संचारियों के स्वतन्त्र और परतन्त्र नामक दो भेद किए गए हैं। पुनः परतन्त्र संचारी के वर और अवर दो भेद निर्धारित किए गए हैं। वर के साक्षात् और व्यवहित दो रूप माने गए हैं। मुख्य रति के पोषक को साक्षात् और गौणी रति के पोषक को व्यवहित कहा गया है। स्वतन्त्र संचारी के रति शून्य रत्यनुस्पर्शन और रति-गन्धि नामक तीन भेद बतलाए गए हैं।

मधुर रस के भक्तिपरक शृंगार के भेद

वैष्णव रस साधना में मधुर रस को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। विपर्यस्त प्रतिफलन के कारण जड़ जगत् में जिस मधुर रस को सबसे निम्नस्थ माना गया है चिद्जगत् में वही सर्वश्रेष्ठ रसराज की उपाधि से विभूषित किया गया है। मधुर रस की इसी सर्वश्रेष्ठता के कारण वैष्णव

1 भानुदत्तकृत रसतरंगिणी पृ २।
2 रसमीमांसा शुक्ल पृ० २१५ २१६।
3 राघवन दी नम्बर ऑफ रसाज पृ १८६।

साहित्य में विशेषकर राधा कृष्णलीलाविषयक काव्य साहित्य में मधुर रस की प्रधानता है। सगुणोपासनापरक वैष्णव साहित्य में इतने व्यापक रूप से इस मधुर रस का स्वरूप विधान किया गया है कि उसके प्रभाव से निर्गुणोपासनापरक संत साहित्य में भी इसकी बड़ी ही विशद एवं मार्मिक अभिव्यंजना हुई है।

हिन्दी के निर्गुण एवं सगुण वैष्णव कवियों ने मधुर रस के विभिन्न अवयवों से सम्बन्धित प्रचुर काव्य-साहित्य की रचना की है किन्तु वे सब उनके उदाहरण स्वरूप ही माने जा सकते हैं। प्राचीन संस्कृत रसशास्त्र पर आधारित वैष्णव रसशास्त्र के अनुकूल मधुर रस का सावयव निरूपण बंगाल के वैष्णव आचार्यों ने ही किया है जिनमें गौडीय वैष्णव आचार्यों का सर्वाधिक श्रेय है। इन वैष्णव कवियों और आचार्यों ने राधा कृष्ण के लीला विलास का बड़ा ही विशद, मार्मिक और वाग्वैदग्ध्यपूर्ण वर्णन किया है। राधा-कृष्ण के परस्पर आकर्षण प्रेम मिलन मान विरह आदि से सम्बन्धित विषयों की वैष्णव साहित्य में बड़ी ही मार्मिक अभिव्यंजना हुई है। इन मधुर प्रसंगों से सम्बन्धित पदों की संख्या अपरिमित है।

ऊपर कहा जा चुका है कि वैष्णव आचार्यों ने भक्तिरस के शान्त दास्य सख्य वात्सल्य और मधुर नामक पाँच प्रमुख भेद निर्धारित किए हैं। बंगाल के वैष्णव कवियों की पदावलियों में शान्त और दास्य रस के पदों की संख्या नितान्त कम है। सख्य और वात्सल्य रस के पदों की संख्या भी ज्यादा नहीं है। उनकी पदावलियों में मधुर अथवा उज्ज्वल रस के पदों की ही प्रचुरता है।[1]

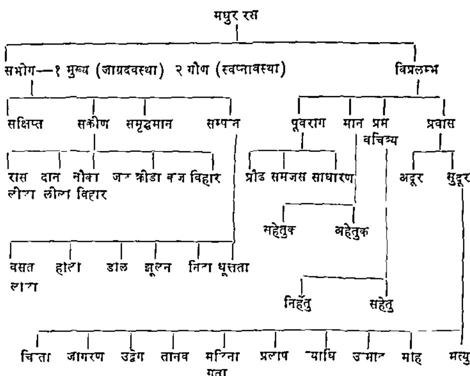
यहाँ यह स्मरणीय है कि बंगाल के वैष्णव कवियों विशेषकर गौडीय वैष्णव कवियों की पदावली श्री रूपगोस्वामी द्वारा प्रतिपादित भक्ति भावना और भक्ति रस शास्त्र के आधार पर ही लिखी गयी है। राधा-कृष्ण की लीला से संबंधित सारे पद उनके द्वारा निरूपित मधुर रस के साँचे में ही ढाले गये हैं। हिन्दी के राधाकृष्ण-लीलापरक पद उपर्युक्त आधार पर नहीं रचे गये क्योंकि उनके समक्ष बंगाल के वैष्णव आचार्यों के भक्ति रस शास्त्र के समान रस-साधना के व्यवस्थित रूप का अभाव था। अतः इन भक्त कवियों ने अपने मन के प्रबोधन के लिए वैराग्य सूचक पदों की रचनाएँ की हैं अपने आराध्य देव की तुष्टि के लिए उनकी ऐश्वर्य माधुरी का बखान किया है और अपने आत्माराम को सुख और आनन्द प्रदान करने के लिए भगवान् की रूप-माधुरी और लीला-माधुरी के गान किये हैं।

वैष्णव आचार्यों के रस शास्त्र के अनुसार मधुर रस का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार किया गया है—

---

१ 'बैष्णव आचार्यगण रस के पञ्चमुख्य भागे विभक्त करियाछेन यथा शान्त दास्य सख्य, वात्सल्य एवं मधुर। पदावलीर मध्ये शान्त एवं दास्य रसेर पदेर संख्या नितान्त कम। सख्य एवं वात्सल्य रसेर पदेर संख्या ओ अधिक नाइ। मधुर वा उज्ज्वल रसेर पदेर संख्याइ प्रचुर।'

—बंगीय साहित्य-सम्मेलन का इक्कीसवाँ अधिवेशन, १९९- की सम्मेलनी अध्यक्षों की का भाषण।



साधारणत मधुर रस के दो भेद हैं—संभोग और विप्रलम्भ।[1] संभोग प्रेमी युगल की मिलन-दशा तथा विप्रलम्भ उनकी वियोग दशा को कहते हैं। धनंजय ने इसके तीन भेद किये है—अयोग (न मिलना) विप्रयोग (मिलकर वियुक्त हो जाना) और संयोग (मिलना)। इनमे अयोग और विप्रयोग वस्तुत विप्रलम्भ के ही अन्तर्गत आते हैं। श्रीरूपगोस्वामी ने उज्ज्वलनील मणि मे शृंगार भेद प्रकरण मे संभोग और विप्रलम्भ के उपभेदों का विस्तृत विवेचन किया है। उनके मतानुसार विप्रलम्भ संयोग की शाश्वत गति है। अत विप्रलम्भ के बिना संयोग की पुष्टि संभव नहीं है। विरह से ही प्रेम परिपुष्ट होता है। जहाँ रति नामक भाव प्रकर्ष को प्राप्त करे किन्तु नायक नायिका के अभीष्ट की सिद्धि न हो उसे विप्रलम्भ शृंगार कहते हैं। (भोजराज सरस्वतीकण्ठाभरण ५ ८५)। भानुदत्त के मतानुसार युवा और युवती की परस्पर मुदित पंचेन्द्रियों के पारस्परिक संबंध का अभाव अथवा अभीष्ट की अप्राप्ति विप्रलम्भ है। (रस तरंगिणी ६) पंडितराज जगन्नाथ के अनुसार नायक-नायिका मे वियोग दशा मे प्रेम हो तो वहाँ वियोग शृंगार होता है।

श्री रूपगोस्वामी ने विप्रलम्भ के उपर्युक्त दो भेदों को मानते हुए विप्रलम्भ के चार भेद माने हैं—पूर्वराग मान प्रेमवैचित्य और प्रवास। चैतन्यचरितामृत मे श्री कृष्णदास कविराज ने भी ऐसा ही माना है।[2]

१ संभोग विप्रलम्भ द्विविध शृंगार।
संभोगेर अनन्त अङ्ग नाहि अन्त तार॥ —चै० च० मध्य परि० २३ पृ० २६।

२ विप्रलम्भ चतुर्विध पूर्वराग मान।
प्रवासाख्य आर प्रेमवैचित्य आख्यान॥ —वही।

पूर्वराग

पूर्वराग एक तरह की प्रसुप्त प्रेम दशा है। इसमें प्रिय के प्रथम दर्शन रूप गुण-श्रवण स्वप्न-दर्शन चित्रादि दर्शन से उत्पन्न प्रणयाभिलाषा विद्यमान रहती है। विप्रलम्भ शृंगार की इस अवस्था में प्रेमांकुर का प्रस्फुटन होता है परन्तु इसमें साक्षात् मिलन की स्थिति नहीं होती। प्रिय का दर्शन साक्षात्कार और चित्रपट से भी हो सकता है। यह कभी-कभी स्वप्न में भी सम्भव हो सकता है। सखी या दूती द्वारा प्रिय के रूप-गुण की प्रशंसा सुनकर भी पूर्वराग का उदय होता है। प्रेमिका अपने प्रिय से सम्बन्धित मुरली आदि वस्तुओं को देख-सुनकर भी पूर्वराग की दशा को प्राप्त करती है।

श्री रूपगोस्वामी ने उज्ज्वलनीलमणि में पूर्वराग के प्रसंग में दर्शन श्रवण और उनके भेदों का रूढ़ वर्णन किया है। रति-जन्म के हेतु अभियोगादि पूर्वराग में भी कारण स्वरूप माने गये हैं।

पूर्वराग के तीन भेद प्रौढ, समंजस और साधारण

पूर्वराग के तीन अवान्तर भेद हैं—प्रौढ, समंजस और साधारण। समर्थ रति को प्रौढ़ कहा गया है। इसके अन्तर्गत लालसा उद्वेग जागरण तानव जड़िमा व्यग्रता व्याधि उन्माद, मोह (मूर्च्छा) और मृत्यु—ये दस दशाएँ होती हैं। अन्यत्र भी शृंगार रस के प्रकरण में इन दस अवस्थाओं के वर्णन मिलते हैं। कभी-कभी तानव या तनुजा के स्थान पर विलाप का उल्लेख मिलता है।

समंजस के अन्तर्गत अभिलाष चिन्ता स्मृति, गुण-कथन उद्वेग, विलाप उन्माद व्याधि जड़ता तथा मृति नामक दस अवस्थाएं मानी गयी हैं। साधारण में अभिलाष चिन्ता स्मृति, गुण-कीर्तन उद्वेग और विलाप नामक छह दशाएँ स्वीकार की गयी हैं। पूर्वराग में काम लेख और उसके भेद निरक्षर तथा साक्षर एवं माल्यार्पण आदि का वर्णन मान्य है और इसका सम्बन्ध कृष्ण तथा राधा आदि दोनों पक्षों से ठहरता है।[1]

वैष्णव रस शास्त्र के अनुसार पूर्वराग का अर्थ राधा और कृष्ण के मन में प्रेमांकुर से है। दोनों के मन में एक-दूसरे के प्रति कई प्रकार से प्रेमोद्भव होता है और उसके कई सोपान हैं। नायक और नायिका (राधा कृष्ण) एक-दूसरे के प्रति दर्शन एवं रूप गुणादि के श्रवण से आकर्षित होते हैं। एक दूसरे के साक्षात् दर्शन के कारण मुग्धता की भावना भी विद्यमान रहती है।[2] सखियाँ या दूतियाँ नायक और नायिका के रूप गुण प्रेम भावना आदि की चर्चा कर एक-दूसरे

१ रस सिद्धान्त स्वरूप और विश्लेषण पृ० २७। —डॉ० आ० प्र० दीक्षित।

२ मेरैं हिय लागैं मनमोहन सैगव री जिन चारि।
भवहीं इहि मारग ह्वै निकसे, छबि निरखत तन तोरि॥ —सूरसागर, १०/६७ पृ० ४६६।

कि पेखुनु सनुनार तीरे।
कालिया बरण एक मानुष आकार गो,
बिकाइनु तार करेंक-ठारे॥
विदग कर्मार रूपे, मातक करिल गो, धरये न आव मोर हिया॥

—पदुनंदन, प० क० त०, प० १४०।

के मन म प्रेमाकुरित कर परस्पर आकर्षित करती हैं। इससे दोना के मन मे तीव्र मिल्नोत्कठा जाग्रत हाती है। उनका विरहाकुलता कभा-कभी मरण-दशा तक पहुच जाता है।[1] इस प्रकार हिन्दी के पदा और गौडीय पदावली म भाव-साम्य तो है, पर गौडीय पदावली के समान हिन्दी के पदा म वष्णव रस शास्त्र क अनुरूप विषय प्रतिपादन का अभाव है।

मान

बाह्य उदासीनता और भीतर भीतर स प्रबल आसक्तियुक्त प्रणयोल्लास को तीव्र बनाने वाला हप विषाद भय आशा अहकार क्रोध प्रेम वितृष्णा आदि का सम्मिलित रूप मान' बडा ही रहस्यमय एव व्यापक है। श्री रूपगोस्वामी ने मान प्रसग म उसके भेदों एव मान-मोचन की युक्तियों का दृढ वणन किया है।

मान क दो भेद हैं—सहेतु और निर्हेतु। विप्रलभ मधुर रस की मान-दशा कभी सहेतु हाती है और कभी निर्हेतु। सहेतु मान के कारण दृष्ट श्रुत तथा अनुमित भी हो सकते हैं। निर्हेतु मान अकारण या कारणाभास से होता है।

मान का उपशम मधुरालाप उपहार दोष स्वीकृति या क्षमा-याचना प्रशसा तथा उपेक्षा स होता है। व्रज सुन्दरियों के मान का उपशम देश-काल-बल से या मुरली नाद के श्रवण मात्र से अयत्नपूवक ही हो जाता है।

राधा और कृष्ण की प्रम लीला के प्रकरण मे मान दशाओ से सबधित पदों का बाहुल्य है। सामान्य रूप से राधा ही मान करती हैं। उनका मान सकारण और अकारण दोनो होता है। व सखियो द्वारा या श्रीकृष्ण के शरीर म अगराग सिन्दूर काजल आदि के चिह्नों को देखकर श्रीकृष्ण का अन्य गोपी स विहार करना जानकर कुपित हो मानवती हो जाती हैं। कृष्ण दूती द्वारा तथा अत म स्वय जाकर अनुनय मनुहार द्वारा मान मोचन करने म सफल होते हैं। कृष्ण कभी-कभी राधा के मान का उपशम करन क लिए गोपिका का वेश भी धारण कर लेते हैं। इस प्रकार सहेतु मान का आविर्भाव और उपशम होता है।

वष्णव पदों म निर्हेतु मान क भी पर्याप्त वणन मिलते हैं। राधा कृष्ण के कठहार की मरकत मणि म अपनी प्रतिच्छाया देखकर उसे एक दूसरी गोपी समझ लेती है और कुपित होकर मान कर बैठती है। सखियों द्वारा अपनी भूल जान लेने पर वे लज्जित होकर मान त्याग करती हैं।[2]

प्रेम वचित्र्य

प्रमोत्कर्ष के स्वभाव के कारण प्रिय के समीपस्थ होने पर भी वियोग की आशका से

१ मरम चन्दन परश मरदह मलज जलत चीर।
बरह उठन कबहुँ बैठत पये हरत तोर॥ —गोविन्ददास प० क० त० प०—२१७।

२ रमवति भार रसिकवर ठाम।
श्याम तन मुकुर हेरइ अनुपाम॥
निज प्रतिबिम्ब श्याम अगे हेरि।
रोखि कहत धनि आनन फेरि॥
नागर दत बिद चवन भेलि।
हासि मधुर कर मान मझे केलि॥ —रूढ़दास प० क त प० ५०७।

उत्पन्न पीडा को 'प्रेम-वचित्य' की सज्ञा दी गयी है। प्रिय के दूर रहने पर वियोग-वेदना से आक्रान्त हो जाना स्वाभाविक है। किन्तु प्रिय के सन्निकट रहते हुए भी विश्लेष दु ख का प्रदर्शन करना प्रेम का वचित्य ही तो है। 'प्रेम-वचित्य' वस्तुत एक विचित्र प्रकार की अनुराग दशा है। प्रेम के कारण जब चित्त की दशा अनुरागमयी हो जाती है तब विप्रलम्भ शृगार का रूप प्रेम वचित्य नाम से अभिहित किया जाता है। इसमे स्नेह मन प्राण को ढँक लेता है और प्रमिका भावावेश के कारण सुध बुध भूल जाती है।[1] वह प्रेमावेश म उन्मत्त-सी हो जाती है और प्रमी के रूप वण शृगार आदि के प्रति उसके मन मे प्रबल अनुराग का उदय होता है। प्रेम-वचित्य तीन प्रकार के हैं—१—रूपानुराग।

२—आपेक्षानुराग।

३—रसोद्गार।

प्रेमी के रूप में प्रबल आकर्षण और अनुराग होने को रूपानुराग' कहते हैं।[2] प्रेमाधिक्य के कारण नायक से सबधित वस्तुओं दूत एव दूतियों सखा एव सखिया या अपने आपको दोष देना आपेक्षानुराग है।[3] अतीत की मधुर स्मृतिया क्रीडाओं एव आनन्दपूर्ण मधुमयी घडिया के स्मरण करने को 'रसोद्गार' की सज्ञा दी गयी है। हिन्दी और बगला के वष्णव कवियो ने इस अनुराग-दशा को लेकर बडे ही उत्तम पदो की रचनाएँ की हैं।

प्रवास

नायक से नायिका की पूर्ण विश्लेष दशा को 'प्रवास' कहते हैं। प्रवास के दो भेद हैं—अदूर और सुदूर। अदूर प्रवास में बहुत थोडे समय के लिए नायक नायिका स वियुक्त होता है। राधा-कृष्ण-लीला के प्रसग म कालीयदमन गोचारण नन्दमोक्ष कार्यानुरोध-गमन रास-लीला आदि के समय थोडे समय के लिए कृष्ण के बाहर चले जान या अन्तर्धान होने म अदूर प्रवास की स्थिति बतलायी गयी है। इस रूप वियोग स भी राधा आदि व्रजागनाओ को अत्यन्त कष्ट होता

१ रसवति बठि रसिकवर पाश।
रोइ कहइ धनि विरह हुताश॥
कार कि मिलब मोहे रसमय श्याम।
विरह जलधि यत पडरब हाम॥
निकटहि नाह ना हेरइ राइ।
सहचरि कत परबोधइ ताइ॥
कानु चमकि तब राइ कर कोर।
गोविन्ददास हेरि मन भेल भोर॥

—गोविन्ददास क क० त०, ८८—७६७।

२ मैं बलि जाउँ स्याम मुख छबि पर।
बलि-बलि जाउँ कुटिल कच बिथुरे, बलि भकुटी ललाट पर॥

—सूरदास, सू सा १०/६६४ पृ० ४८४।

३ बिधना मुरली सौन बनाइ।
कुटिल बाँस की, बस बिनामिनि काम निराम कराइ॥

—सूरदास, सू सा०, १०/१२८६ पृ ७१२।

है और वे विलाप करने लगती हैं।[1] सुदूर प्रवास भूत वतमान और भविष्य से सबधित होता है। व्यतीत हो जानेवाले प्रवास को 'भूत' चल रहे प्रवास को 'भवन्' और आगे होनेवाले प्रवास को 'भावी' की संज्ञा दी गयी है। राधा-कृष्ण के प्रवास प्रकरण म राधा-गोपी विरह का प्रचुर वणन किया गया है। बगाल के गौडीय वष्णव कवियो न वष्णव रस शास्त्र का अनुसरण करते हुए विरह के सभी अगो का वणन किया है। विरहजन्य उद्वग आशका व्याकुलता ऋतु-अनकूल विरह विरहजन्य दस अन्तदशाए—इन सबका मार्मिक चित्रण हुआ है। हिन्दी के वष्णव कवियो ने भी राधा और गोपियो की विरह-वेदना की मार्मिक अभिव्यजना की है और वाक वदग्ध्यपूण सरस एव हृदयग्राही पदो की पर्याप्त रचनाए की हैं किन्तु उनके व वणन स्वतन्त्र हैं। गौडीय वष्णव कवियो की तरह उनकी पदावली वष्णव रस शास्त्र के अनुसार नहीं लिखी गयी है। फिर भी उनकी ममस्पर्शिता स्वाभाविकता एव भाव सौन्दय अनुपम है।[2]

सुदूर प्रवास

सुदूर प्रवास म नायिका नायक से सुदीघ काल के लिए वियुक्त होकर तीव्र विरह-वेदना का अनुभव करती हुई मतप्राय हो जाती है। राधा कृष्ण के प्रसग म सुदूर प्रवास जनित विरह वेदना की बडो ही मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। इसम करुणा का आधिक्य होता है। सुदूर प्रवास जनित विरह-वेदना का कारुणिक चित्रण गौडीय वष्णव पद साहित्य म वष्णव रस शास्त्रोक्त ढग से किया गया है। उन्होने रूपगोस्वामी द्वारा प्रतिपादित विरह की दस दशाओ का विधिवत् विवेचन किया है। उनके अनुसार विरह की निम्नलिखित दस दशाए हैं—

१—चिन्ता[3]
२—जागरण[4]
३—उद्वग[5]
४—तानव[6]

---

१ कान्दे व्रजेश्वरी उच्च स्वर करि
बोधा रे गोकुल चन्द।
शुनि करुण रोल झाँपि दिया जन
भुजग हरना बध॥ —माधव प० क त प० १८०६।

२ हरि दरसन की तरसति अँखियाँ।
झाँकति झखति झरोखे बैठी कर मीड़ति ज्यों मखियाँ॥
बिछुरी बदन सुधा निधि रस तैं लगति नहीं पल पखियाँ। —सूरसागर १/३२८ पृ १३६२।

इहि दुख तन तरफत मरि जैहै।
कबहुँ न सखी स्याम सुन्दर-घन मिलिहैं आइ अक भरि लैहै।
कबहुँ न बेनु अधर धरि मोहन, यह मति लै लै नाम बुलैहै॥ —वही १/३४७ पृ १४१।

३ पदकल्पतरु प० १०६।
४ वही प० १८६।
५ वही प० १०९३ १०९४ १०९५।
६ वही, प० ११०१।

५—मलिनांगता[1]
६—प्रलाप[2]
७—व्याधि[3]
८—उन्माद[4]
९—मोह[5]
१०—मृत्यु[6]

हिन्दी के वैष्णव कवियों ने भी इनमें से अधिकांश विरह-दशाओं का मार्मिक एवं सजीव चित्रण किया है किन्तु उनका यह वर्णन वैष्णव रसशास्त्र पर विधिवत् आधारित न होकर स्वतन्त्र रूप में ही उपस्थापित हुआ है। वैष्णव पदावली में सुदूर प्रवासजन्य विरह-दशा का वर्णन षट् ऋतुओं और बारहमासे के अनुकूल भी किया गया है।

संभोग शृंगार और उसका भेद

"जहाँ अनुकूल विलासी एक दूसरे के दर्शन-स्पर्शन इत्यादि का सेवन करते हैं वह आनन्द से युक्त संभोग शृंगार कहलाता है।[7] भानुदत्त के मतानुसार दर्शन स्पर्शन संलाप आदि से अनुभूयमान सुख या बहिरिन्द्रिय सम्बन्ध से उत्पद्यमान आनन्द संभोग है।[8] साहित्यदर्पणकार के कथनानुसार जहाँ एक दूसरे के प्रेम में अनुरक्त नायक और नायिका दर्शन स्पर्शन इत्यादि का सेवन करते हैं वह संभोग शृंगार कहा जाता है।[9] पंडितराज जगन्नाथ के मतानुसार 'संयोग का अर्थ स्त्री पुरुष का एक स्थान पर रहना नहीं है क्योंकि एक शय्या पर सोते रहने पर भी यदि ईर्ष्यादि के कारण प्रेमानुभूति न हो तो वह सम्भोग न होकर विप्रलम्भ हो माना जाएगा। अतः संभोग शृंगार के अन्तर्गत स्त्री पुरुष के संयोग के साथ-साथ पारस्परिक प्रेमानुभूति अपेक्षित है।

परस्पर दर्शन, संस्पर्शन आलिंगन, अधर पान परिरम्भण परिचुम्बन आदि नायक नायिका के पारस्परिक व्यवहार भेद से संभोग शृंगार के अनेक भेद होते हैं। किन्तु आचार्यों ने उन सबका संभोग शृंगार में ही अन्तर्भाव मान लिया है।

भरत के मतानुसार 'संभोग ऋतु रमणीयता माल्य अनुलेपन अलंकार इष्टजनों का संसर्ग, इन्द्रियों के विषय रम्य भवन, उपवन गमन प्रिय के वचनों का श्रवण प्रिय-दर्शन, प्रिय के साथ लीला क्रीड़ा आदि विभावों से उत्पन्न होता है तथा नयन चातुर्य भ्रू क्षेप कटाक्ष ललित एवं मधुर अंग चेष्टा वाक्य वचन आदि अनुभाव से व्यंजित होता है।' नाट्य विज्ञान

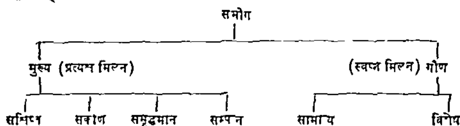
१ शब्दकल्पद्रुम, पृष्ठ ११०४।
२ वही पृष्ठ ११५५, ११५६।
३ वही, पद ११६०।
४ वही पद ११११ ११२०, ११२१।
५ वही पृष्ठ ११२८ ११२९।
६ वही, पद ११११ ११३०।
७ दशरूपक धनंजय, ४/६१।
८ रसतरंगिणी (अनुवाद) ६।
९ साहित्यदर्पण, ३/११०।

विच्छित्ति आदि दस हाव भी सभोग वणन म आ जाते हैं। त्रास आलस्य उग्रता जुगुप्सा और मृत्यु को छोडकर सभी व्यभिचारी भाव इसमें सन्निविष्ट हो सकते हैं। जहाँ नायक के मन म नायिका को देखकर रति का भावोद्रेक होता है वहाँ नायकारब्ध सभोग शृगार और जहाँ नायिका के मन मे नायक को देखकर प्रम का उद्रक होता है वहाँ नायिकारब्ध सभोग शृगार कहा जाता है।

सयोग और वियोग की पृथक स्थितियो का सम्बन्ध केवल लौकिक सम्बन्ध है। सवव्यापक अन्तर्यामी और अतियामी सवत्र प्रकट या अप्रकट रूप से सदा विद्यमान रहनवाले विश्वात्मा परमेश्वर की स्थिति म भिन्नता कस सम्भव है? पारमार्थिक दृष्टि से उनकी स्थिति दोनो (सयोग और वियोग) की सयुक्तावस्था के समान ही तो है। किन्तु जिन कारणो से निगुण ब्रह्म को सगुण ब्रह्म के रूप मे अवतरित होना पडता है उन्ही व्यावहारिक कारणो से ईश्वर के लीला गान के प्रसग मे भावुक भक्त को सयोग और वियोग दशाओ की भी उद्भावना करनी पडती है। फलत वष्णव मधुर रस साधना के अतगत भी हरि और उनकी वल्लभाओ की विभिन्न सम्बन्ध स्थितियो की परिकल्पना द्वारा उनके अनुरूप सभोग एव विप्रलभ शृगार और उनके भेद प्रभेदों का सागोपाग निरूपण किया गया है जो अधिक मात्रा म परम्परागत रसशास्त्र पर आधारित है।

लौकिक क्षेत्र म प्रमी-युगल की सयोग या मिलन-दशा को सभोग शृगार कहते हैं। राधा-कृष्ण-लीला अथवा जीवात्मारूपी दुल्हन और परमात्मारूपी दुलहा के प्रम प्रसग म यही लौकिक सभोग शृगार अलौकिक मधुर रस मे रूपायित हो जाता है।

श्री रूपगोस्वामी ने मधुर रस का प्रतिपादन करते हुए सभोग के निम्नलिखित भेद बतलाये हैं—



इनके अतिरिक्त प्रच्छन्न और प्रकाश नाम स सभोग के दो अन्य भेद भी किय गय हैं।

सक्षिप्त सभोग

पूवराग के बाद प्रमी-युग्म के प्रथम मिलन को स[illegible] सभोग कहते हैं। लज्जा की अधिकता के कारण उनका यह प्रथम मिलन सक्षिप्त ही होता है। वष्णव रस शास्त्र के अनुसार राधा कृष्ण के सक्षिप्त मिलन और क्रीडा को सक्षिप्त सभोग के अथ म ग्रहण किया जाता है। यह अल्प कालीन मिलन कभी गो चारण म कभी गो-दोहन म और कभी बाल क्रीडा म होता है। वन गोष्ठ आदि इनके मिलन-स्थल हैं। कभी-कभी बाल क्रीडा के प्रसग म राधा कृष्ण का सक्षिप्त मिलन आकस्मिक ढग स हो जाया करता है। दोनो एक-दूसरे को देखकर आकृष्ट होते हैं। राधा कृष्ण को एक बार देख लेने पर विरह-ज्वर स पीडित हो उठती है और कृष्ण से साक्षात्कार के लिए अनेक बहानों का अवलम्बन करती है। बगला और हिन्दी के पद-साहित्य म इस प्रकार के

संक्षिप्त मिलन की काम क्रीडाओं का बड़ा ही उल्लासपूर्ण वर्णन किया गया है।[1] राधा कभी-कभी कृष्ण से मिलने के लिए सर्प काटने का बहाना भी करती हैं। गारुडी कृष्ण आकर उनके तथाकथित विष का हरण कर उनके मनोरथ को सिद्ध करते हैं।[2] श्री जीवगोस्वामी के अनुसार पूर्वराग के बाद संभोग के चार प्रकार हैं—संदर्शन संस्पर्श संजल्प और संप्रयोग।

संकीर्ण संभोग

प्रेमी युग्म का मान के बाद जो मधुर मिलन होता है उसे संकीर्ण संभोग कहा गया है। मान के कारण मानिनी के मन में जो क्षोभ और दुःख की स्मृति शेष रह जाती है उसके कारण मिलन का पूर्ण आनन्द नहीं हो पाता क्योंकि मान के उपशम हो जाने के बाद भी मनोद्भूत दुःख, क्रोध, अहंकार आदि की झाँई थोड़ी-थोड़ी भीतर-ही भीतर बनी रहती है। वैष्णव रस शास्त्र के अनुसार राधा-कृष्ण के संकीर्ण संभोग से सम्वर्धित प्रेम लीलाओं के निम्न प्रकार माने गये हैं—

१—रासलीला
२—दानलीला
३—नौका विहार-लीला
४—जलक्रीड़ा और स्नान यात्रा
५—कुंजविहार लीला

रासलीला

शरद की राका रजनी में राधिकारमण श्रीकृष्ण गोप-कन्याओं का नाम ले ले कर वंशी की मादक स्वर-लहरियों द्वारा उनका आह्वान करते हैं। मुरली की मधुर ध्वनि श्रवण कर वे गोप-कन्यायाएँ उल्टा पुल्टा वस्त्राभूषण धारण कर जैसे-तैसे वंशीवट पहुँच जाती हैं।[3] कृष्ण उनके

१ तपनक तापे तपत भेल महितल,
तप्त बालुक दहन समान।
चढ़त मनोरथे भाविनि चलु पथे
ताप तपन नाहि जान।
प्रेमक गति दुरवार।
नवीन जौवनि, धनि चरण कमल जिनि,
तबहिं कयल अभिसार॥ —कविशेखर, प० क० त०, प० १३१।

सैन दै प्यारी लई बुलाइ।
गोधन की मिसि करि कै निकसे खरिकहिं गए कन्हाइ॥
अनुमति माँ कहि प्यारी निकसी, घर की नाउँ सुनाइ।
कर दोहनी लिये तहँ आइ, जहँ हलधर के भाइ॥ —सूरसागर १०/७२८, पृ ४१४।

२ शेखर, पदकल्पतरु पद २४० द्रष्टव्य।

सूरसागर, १०/७४० पृ ४११ १०/७८९ पृ ४२२ द्रष्टव्य।
३ सरद निसि रंगिन हरि हरष पायौ।

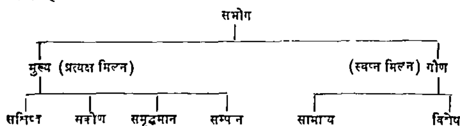
राधिकारमन बन भवन सुख देखि कै अधर धरि बेनु सुलभित बजायौ।

विच्छित्ति आदि दस हाव भी समोग वणन म आ जाते हैं। त्रास आलस्य उग्रता जुगुप्सा और मृत्यु को छोडकर सभी यभिचारी भाव इसम स निविष्ट हो सकते हैं। जहाँ नायक के मन म नायिका को देखकर रति का भावोद्रेक होता है वहाँ नायकार ध समोग शृगार और जहाँ नायिका के मन म नायक को देखकर प्रम का उद्रक होता है वहा नायिकार ध सभोग शृगार कहा जाता है।

सयोग और वियोग की पृथक स्थितिया का सम्ब ध केवल लौकिक सम्ब ध है। सवव्यापक अन्तर्यामी और अतियामी सवत्र प्रकट या अप्रकट रूप से सदा विद्यमान रहनेवाले विश्वात्मा परमेश्वर की स्थिति मे भि नता कसे सम्भव है? पारमार्थिक दृष्टि से उनकी स्थिति दोनो (सयोग और वियाग) की सयुक्तावस्था के समान ही तो है। कि तु जिन कारणो से निगुण ब्रह्म को सगुण ब्रह्म के रूप मे अवतरित होना पडता है उ ही यावहारिक कारणो से ईश्वर के लीला गान के प्रसग म भावुक भक्त को सयोग और वियोग दशाआ की भी उद्भावना करनी पडती है। फलत वष्णव मधुर रस साधना के अ तगत भी हरि और उनकी वल्लभाओ की विभि न सम्ब ध स्थितियो की परिकल्पना द्वारा उनके अनुरूप सभाग एव विप्रलभ शृगार और उनके भेद प्रभेदा का सागोपाग निरूपण किया गया है जो अधिक मात्रा म परम्परागत रसशास्त्र पर आधारित है।

लौकिक क्षेत्र म प्रमी-युगल की सयोग या मिलन-दशा को सभोग शृगार कहते हैं। राधा-कृष्ण-लीला अथवा जीवात्मारूपी दुलहन और परमात्मारूपी दुल्हा के प्रेम प्रसग म यही लौकिक सभोग शृगार अलौकिक मधुर रस मे रूपायित हो जाता है।

श्री रूपगोस्वामी ने मधुर रस का प्रतिपादन करते हुए सभोग के निम्नलिखित भेद बतलाये हैं—



इनके अतिरिक्त प्रच्छन्न और प्रकाश नाम से सभोग के दो अन्य भेद भी किये गये हैं।

सक्षिप्त सभोग

पूवराग के बाद प्रमी-युग्म के प्रथम मिलन को सक्षिप्त सभोग कहते हैं। लज्जा की अधिकता के कारण उनका यह प्रथम मिलन सक्षिप्त ही होता है। वष्णव रस शास्त्र के अनुसार राधा कृष्ण के सक्षिप्त मिलन और क्रीडा को सक्षिप्त सभोग के अर्थ म ग्रहण किया जाता है। यह अल्प कालीन मिलन कभी गो चारण म कभी गो-दोहन म और कभी बाल क्रीडा म होता है। वन गोष्ठ आदि इनके मिलन-स्थल हैं। कभी कभी बाल क्रीडा के प्रसग म राधा कृष्ण का सक्षिप्त मिलन आकस्मिक ढग से हो जाया करता है। दोनों एक-दूसरे को देखकर आकृष्ट होते हैं। राधा कृष्ण को एक बार देख लेने पर विरह-ज्वर स पीडित हो उठती है और कृष्ण से साक्षात्कार के लिए अनेक बहानों का अवलम्बन करती है। बगला और हिन्दी के पद-साहित्य म इस प्रकार के

समिश्र मिलन की काम क्रीडाओं का बड़ा ही उल्लासपूर्ण वर्णन किया गया है।[1] राधा कभी-कभी कृष्ण से मिलने के लिए सर्प काटने का बहाना भी करती हैं। गारुडी कृष्ण आकर उनके तथाकथित विष का हरण कर उनके मनोरथ को सिद्ध करते हैं।[2] श्री जीवगोस्वामी के अनुसार पूर्वराग के बाद संभोग के चार प्रकार हैं—संदर्शन, संस्पर्श, संजल्प और संप्रयोग।

संकीर्ण संभोग

प्रेमी युग्म का मान के बाद जो मधुर मिलन होता है उसे 'संकीर्ण संभोग' कहा गया है। मान के कारण मानिनी के मन में जो क्षोभ और दुःख की स्मृति शेष रह जाती है, उसके कारण मिलन का पूर्ण आनन्द नहीं हो पाता, क्योंकि मान के उपशम हो जाने के बाद भी मनोद्भूत दुःख, क्रोध, अहंकार, आदि का झाँई थोड़ी-थोड़ी भीतर-ही-भीतर बनी रहती है। वैष्णव रस शास्त्र के अनुसार राधा-कृष्ण के संकीर्ण संभोग से सम्बन्धित प्रेम लीलाओं के निम्न प्रकार माने गये हैं—

१—रासलीला
२—दानलीला
३—नौका विहार-लीला
४—जलक्रीडा और स्नान यात्रा
५—कुंजविहार लीला

रासलीला

शरद की राका रजनी में राधिकारमण श्रीकृष्ण गोप-कन्याओं का नाम ले ले कर वंशी की मादक स्वर-लहरियों द्वारा उनका आह्वान करते हैं। मुरली की मधुर ध्वनि श्रवण कर वे गोप-कन्यकाएँ उलटा पुलटा वस्त्राभूषण धारण कर जैसे-तैसे वंशीवट पहुँच जाती हैं।[3] कृष्ण उनके

१ तपनक तापे तपन भेल महितल,
तप्त बालुक दहन समान।
चल न मनोरथे भाविनि चलु पथे,
ताप तपन नहि जान।
प्रेमक गति दुरवार।
नवीन जौवनि, धनि चरण कमल जिनि,
तबहि भयल अभिसार॥
—कविशेखर, प० क० त० पृ० १३१०।

सैन दै प्यारी लई बुलाइ।
नैनन कौं मिलि करि कै निकसे मारिकहि गए कन्हाइ॥
जसुमति को कहि प्यारी निकसी, घर कौ जाउँ सुनाइ।
कर दोनों लिये तहँ आइ, जहँ हलधर के भाइ॥
—सूरसागर १०/७२८, पृ० ४१४।

२ रँगार ... पद २४ द्रष्टव्य।

सूरसागर, १०/७४७, पृ० ४१६ १०/७६८ पृ० ४२० द्रष्टव्य।
३ सरद निसि देखि हरि हरष पायौ।

राधिकारमन बन भवन सुख देखि कै, अधर धरि बेनु सुललित बजाइ।

आने का कारण पूछते है और उनकी हसी उडाते हैं।[1] गोप कयकाए अत्यन्त कातर विह्वल होकर प्रत्युत्तर देती हैं।[2] कृष्ण भोली भाली गोप-कयकाओ की अनयासक्ति का देखकर भाव विह्वल हो उठते हैं और रास रचाकर वन वृदावन म प्रकट-लीला आरम्भ करते हैं जिन्हें देखकर चराचर प्रकृति भी भावाकुल होकर योगदान देने लग जाती हैं।[3] गौडीय वष्णव कवियो तथा हिन्दी के वष्णव कवियो ने रास लीला का अत्यन्त ही मादक एव ममस्पर्शी चित्रण किया है।

दान-लीला

दानलीला के प्रसग म गोरस बेचने वाली गोपियो को और राधा को रास्ते मे रोक कर कृष्ण दान (कर) मागते हैं और उनके साथ छेड छाड कर उन्ह नाना प्रकार से तग करते हैं। इस दान लीला प्रसग स सम्बन्धित पदो की सख्या भी पर्याप्त है।

नौका विहार-लीला

नौका विहार के प्रसग में कृष्ण केवट बन कर गापिया और राधा को यमुना म नाव पर बठा कर पार उतारते हैं और उतराई मागते हैं। राधा पहले कृष्ण को केवट समझ बठती है और उनके स्पर्श से दु खी हो उठती है। बाद म भेद खुल जाने पर दोनों अत्यन्त प्रमुदित होते हैं। इस

नाम लै लै सकल गोप-कन्यानि के
सबनि कैं स्रवन दइ धुनि सुनाइ। —सूरसागर १ /६८८, पृ ६ २।

करत शृगार जुवती भुलानी।
अग सुधि नहीं उलटे बसन धारहीं एक एकहिं कछु सुरति नाहीं।
नैन अजन अधर आँजहीं हरष मा स्रवन ताटक उलटे सँवार।
सूर प्रभु मुरलिका बेनु धुनि बन सुनत चलो बेगान अचल न धार ॥—वही १ /६६८ पृ ६ ६।

१ निसि काहे बन का उठि धाई।
हँसि हसि स्याम कहत हैं सुन्दरि को तुम मन मारगहिं भुनाई ॥
—सूरसागर, १ /१ ११, पृ ६०६।

२ ऐसन वचन कहल जब कान।
व्रज रमणीगण मलन नयान ॥
टूटल सबहुँ मनोरथ करति।
कयनत आनन नखे लिखु धरति ॥

माँगनि कुच हिन मुरलिक मान।
झिकरिगए जनु केश धरि कान ॥
कर कर करे धरम सुन बोल।
धर्मिक हरये कमारि निचोल ॥
तइ सोंरित जिउ तुया रस दाव।
तुया पद छाडि कब को कहाँ जाव ॥ —गोविन्ददास प० क त, पद १२८७।

३ कालिन्दी-नीर सुधीर समीरण कुन्द कुमुद करवि न विकास।
नाचत मार मर मत्त मधुकर शुक सारिक कि पचम भाव ॥
मधुबने निधुवन सुधा सुधार ॥ —गोविन्ददास प क त, पद १ ६

प्रसग से सम्बन्धित पदों मे अपार माधुर्य है।[1]

जल-क्रीडा और स्नान-यात्रा

जल क्रीडा और स्नान यात्रा के प्रसग म राधा-कृष्ण की जल क्रीडाओ का और स्नान यात्रा का बडा ही मनोमुग्धकारी वर्णन किया गया है।[2]

कुज-विहार-लीला

राधा-कृष्ण की कुज विहार-लीला से सम्बन्धित पदो म कुजो क प्राकृतिक सौदय के साथ साथ राधा-कृष्ण के मिलन का बडा ही भावपूर्ण वर्णन किया गया है।[3] अधिकाश पद माधुर्य भावना से ओत प्रोत हैं।

समृद्धमान सभोग

सुदूर प्रवास के बाद प्रेमी-युगल का जो मिलन होता है वह अपूर्व आनन्द देनेवाला होता है। यदि वह मिलन अचानक सम्पन्न होता है तो आनन्द की मात्रा अत्यधिक बढ जाती है। यही कारण है कि इसे 'समृद्धमान सम्भोग' कहा जाता है। यह मिलन थोडे काल के लिए होता है किन्तु बाधा विघ्न से सर्वथा रहित होता है। वैष्णव पदावली के अन्तर्गत राधा कृष्ण के मिलन के सन्दर्भ म रसोद्गार[4] तथा स्वप्न मिलन[5] के रूप म इसके दो प्रकार मिलते हैं। सूरदास ने भी

१ बैठे घनश्याम सुन्दर खेवत है नाव।
आज सखी मोहन सग खेलने को दाव॥
यमुना गम्भीर नीर अति तरग लोले।
गोपिन प्रति कहन लाग मीठे मृदु बोले।
पथिक हम खेवट तुम लीजिये उतराई। —परमानन्द की १०, पृ ४२।

२ श्यामा श्याम सुभग जमुना जल निर्भय करत विहार।
श्वेत कमल इन्दीवर पर मानो भोर ही भई है निहार।
श्रीराधा कर अम्बुज भर भर छिरकत बारम्बार॥ —सूरदास, की० म० पृ० २६०।

३ राधा माधव, कुञ्जहि पैठल, रति रस रग रसाला।
रस-भाजन-घन, कोकिल कलरव झकरु मधुकर माला॥ —गोविन्ददास पदकल्पतरु, पद १४८७।

४ रजनिक आनन्द कि कहब तोय।
चिर दिने माधव मीलल मोय॥
हियाय हरने मोरे ना करे बाहिर।
हेरने वदन नयने बहे नीर।
दारिद हेम जनु निधिक ना छोड़।
पदने हाम रहलु पिया कोर॥ —अनन्त, प० क० त०, पद २०२०।

सूरदास सू० सा०, १०/३२०३, पृ० १३५१।

५ सुपनें हरि आए हौ किलकी।
नींद जु सौति भई रिपु हमको सहि न सकी रति तिल की॥
जो जागी तो कोऊ नाहीं रोकें रहति न हिलकी।
तन फिरि जरनि भई नख सिख तैं दिया बाति जनु मिलकी॥
—सूरदास, सू० सा०, १०/३९६१, पृ० ११६८।

कुछ अत्र मिलन का वर्णन किया है।

सम्पन्न सम्भोग

प्रेम वैचित्र्य-दशा के अनन्तर होने वाला मिलन अत्यन्त आनन्दपूर्ण होता है। इसीलिए इसे सम्पन्न सम्भोग की संज्ञा दी गई है। इस स्थिति मे नायक नायिका का पारस्परिक अनुराग अत्यन्त प्रगाढ हो जाता है। इसमे दुख मन्निता क्रोध रोष अहकार आदि का लेशमात्र भी नहीं रहता। अतएव इसका मिलन-सुख अत्यन्त आनन्दपूर्ण होता है। वैष्णव रस शास्त्र के अनुसार राधा-कृष्ण से सम्बन्धित सम्पन्न सम्भोग की निम्नलिखित प्रेम लीलाए परिलक्षित होती हैं—

१—वसंत लीला
२—होली-लीला
३—डोल-लीला
४—झूलन-लीला
५—निद्रा
६—धूतता

वसन्त लीला

वसन्त लीला के प्रकरण मे रसावतार श्रीकृष्ण से नवलनागरी श्रीराधा और उनकी सखियाँ वसन्त खेलने के लिए वन मे जाती हैं और मदनोत्सव मनाती हैं। इस प्रसग मे वसन्त के वैभव विलास का भी सुन्दर एव प्रभावोत्पादक वर्णन किया गया है।[1]

होली-लीला

होली-लीला प्रकरण मे राधा और उनकी सखिया कृष्ण और उनके सखाओ के साथ होली खेलती हैं। वे गीत नृत्य वाद्य रग वर्षा आदि से सम्पूर्ण वायुमण्डल को रस स्निग्ध कर देती हैं। हिन्दी के सगुण तथा निगुण कवियो की वाणियो मे होली लीला का बडा ही सरस एव वैभवपूर्ण वर्णन किया गया है।[3]

१ आओल रे ऋतुराज बसन्त।
खेलत राइ कानु गुणवन्त॥
तरुकुल मुकलित अलिकुल धाव।
मदन महोत्सव पिकुकुल राव॥ —ज्ञानदास प० क० त० पद १४२६।

२ खेलत फागु वृन्दावन चाँद।
ऋतुपति मनमथ मनमथ छाँद॥
सुन्दरिगण कर मण्डलि माझि।
रंगिणि प्रेम तरंगिणि माझि॥

अरुण तरुण तरु अरुणहिं धरणी।
वन, वनचर भेल सभे एक वरणी॥
अरुणहि नीर अरुण अरविन्द।
अरुण कुन्य भेल दास गोविन्द॥ —गोविन्ददास, प० क० त० पद १४३१।

३ सूरसागर, १/२-६- पृ ३३१।

डोल लीला

डोल-लीला एक प्रकार से हिंडोले पर बैठकर होली खेलना है। सखियाँ राधा-कृष्ण को हिंडोले पर बैठाकर झूला झुलाती हैं और डोल मारती हैं।

झूलन-लीला

मनोरम प्रकृति के मधुर परिवेश में बड़े उल्लासमय वातावरण में सखियाँ राधा-कृष्ण को झूले झुलाती हैं।[1]

निद्रा या रसालय

निद्रा के मधुर क्रोड में विश्रामरत राधा-कृष्ण के सौन्दर्य का मार्मिक वर्णन इस निद्रा प्रकरण में किया जाता है। राधा और कृष्ण रसमत्त होकर सुखपूर्वक तड़ित जड़ित जलद की भाँति एक-दूसरे से लिपटकर ऐसे सोये हुए हैं जैसे चन्द्रकला चन्द्रमा से एकमेक बनी रहती है।[2]

धूर्तता या छल से मिलन

प्रेमी-युगल एक-दूसरे से मिलने के लिए प्रायः छल कपट का भी सहारा लेते हैं। अपने प्रणय-व्यापार को स्वजनों से छिपाने के लिए उन्हें धूर्तता भी करनी पड़ती है। गौड़ीय वैष्णव पदावली में स्वयं दौत्य प्रकरण में इस मिलन-लीला की बड़ी मधुर अभिव्यक्ति हुई है। सूरदासजी ने भी माला खोजने के व्याज से राधा के यमुना-तट जाने के वर्णन किये हैं। कभी-कभी देव पूजा के बहाने भी नायिका वन जाने का उपक्रम करती है। राधा कभी माग भूल जाने, कभी भ्रमर को भगाने, कभी मोतिसरी ढूँढने आदि का बहाना कर कृष्ण को एकान्त कुञ्ज में जाने का संकेत करती हैं अथवा स्वयं एकान्त स्थल को जाती हैं।[3] 'उज्ज्वलनीलमणि' में श्री रूपगोस्वामी

---

१ हरिसंग झूलत हैं ब्रजनारी।
सावन मास घुमड़ी घोरी घोरी नेमीवे भूमि हरिय री।
नवघन नवबन नव चातक पिक नवल कुसुम्भी सारी।
नवल किशोर श्याम संग शोभित नव वृषभानु दुलारी। —कुम्भनदास कीर्तन सं०, पृ० ३६।

२ दोउ मिलि पौढ़ सहजी दस सकामी।
पन्तर कहा दीजे गोपीजन नैनन को सुखरासी।
स्यामा स्याम संग यों राजत हैं मानो चन्द्रकला सी॥ —परमानन्द कीर्तनसंग्रह, भाग १ उत्त० पृ० ८७।

३ एतहुँ तिथा से दोने नव कानुक को पत मन्दिर कुन्ज।
ताहि चलह जाहाँ कुसुम विथारल मधुप माधवि कुञ्ज॥
एतहुँ सकेत कयल चल कामिनि कानु चलल मोहठाम॥ —गोविन्द दास, प०क०त, पद ६४६।

जैहै कहाँ मोतिसरि मोरी।
कब सुधि भई लई काहे नै हैंसोन चली वृषभानुकिसोरी॥
कहाँ मैं तो हैं भवनि हौं मेरे सग भावे करि कोरी॥

मोको माजु करैरि लागि ह दोगी परभार ब्रजखोरी॥ —सूरदास सू० सा० १०/१६७७ पृ० ६८१।

ने उपयुक्त सम्भोग शृंगार के चतुर्विध भेदों में सम्पन्न होने वाली अनेकानेक विलास क्रीडाओं का निर्देश किया है जिनमें सन्दर्शन सस्पर्श सजल्प सम्प्रयोग रभसरभस वार्त्तालाप मार्गावरोध रास क्रीडा कुञ्ज क्रीडा जल क्रीडा वृन्दावन क्रीडा यमुना-जलकेलि नौका विहार चीर हरण वशी चोरी पुष्प चौर्य दान लीला कुब्जा म आत्ममिचौनी मधपान कृष्ण द्वारा गोपी-वेश धारण कपट निद्रा द्यूत क्रीडा वस्त्राकर्षण नखदान चुम्बन आलिंगन बिम्बाधर सुधा पान निधुवन रमणादि और अन्त में सम्भोग विशेष उल्लेखनीय हैं।

मधुर भक्ति रस का खण्डन मण्डन

मधुर भक्ति रस स्वतन्त्र रस नहीं है वरन् भावमात्र है और उसका अन्तर्भाव शान्त, शृंगार अद्भुत आदि रसों में हो जाता है ऐसा मानकर कई आचार्यों ने मधुर भक्ति रस का विरोध किया है। इस दृष्टि से प्राचीन काव्यशास्त्रकारों में आचार्य अभिनवगुप्त धनजय भोज राज मम्मटाचार्य विश्वनाथ पडितराज जगन्नाथ तथा आधुनिक विद्वानों में श्री रगाचार्य रेड्डी प्रो० मा० दा अल्तेकर प्रो० श्री बी पराजपे श्री वा० ना० देशपाण्ड श्री पी० वी० काणे प्रो० द० सी० पग प्रो० रा० श्री जोग रा० हिंगणकर आदि के विचार ध्यातव्य हैं। दूसरी ओर मधुर भक्ति रस के स्वतन्त्र रस के रूप में स्थापित करने वाले विद्वानों में चैतन्यमहाप्रभु श्री रूप गोस्वामी श्री जीवगोस्वामी श्री मधुसूदन सरस्वती श्रीकृष्णदास कविराज श्री विष्णुपुरी गोस्वामी श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती डा० बाटवे डा राव जी मोडक रा० प्रधान रा० भागवत रा० म गोरे प्रो० नी चापेकर प्रो० द० केलकर प्रो र० रा देशपाडे प्रो० श्री ना० बनहट्टी बा० श्री पागारकर डा मा गो देशमुख डा अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध सेठ कन्हैयालाल पोद्दार बाबू गुलाब राय प्रभृति विद्वान् तथा सकडों भक्ति काव्य एवं भक्ति शास्त्र विषयक प्राचीन ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। नीचे मधुर भक्ति रस के खण्डन मण्डन करने वाले विद्वानों के विचारों को स रूप में उपस्थित किया जा रहा है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने पुरुषार्थ चतुष्टय के आधार पर रसों की उपयोगिता मानी है और तदनुसार नौ ही रसों को स्वीकार किया है[1] और शेष रसों को भाव के अन्तर्गत डाल दिया है। इसी आधार पर उन्होंने भक्ति रस को भाव के रूप में ग्रहण[2] कर धृति मति स्मृति और उत्साहादि में उसका अन्तर्भाव सिद्ध किया है तथा शान्त रस में ही उसे अन्तर्भुक्त कर दिया है।[3] दशरूपककार धनजय ने भी भक्ति को भावमात्र स्वीकार कर हुए उत्साह आदि में उसे अन्तर्भुक्त कर दिया है।[4] भोजराज ने रसों की सख्या-वृद्धि के सिद्धान्त को स्वीकार करके भी भक्ति को स्वतन्त्र रस के रूप में नहीं माना है। मम्मटाचार्य ने भी भक्ति को देवादिविषयक रतिमात्र स्वीकार किया है। विश्वनाथ ने वात्सल्य को स्वतन्त्र रस के रूप में स्वीकार किया है किन्तु भक्ति को स्वतन्त्र रस के रूप में नहीं माना है। संस्कृत काव्यशास्त्र के इन आचार्यों में

१ एवं ते नवैव रसाः पुमर्थोपयोगित्वेन रजनाधिक्येन वा इयन्तामेवोपदेश्यत्वात्।
—अभिनवभारती भाग १ पृ० ३४२।

२ अभिनवभारती भाग १ पृ ३४२।

३ अत एवेश्वरप्रणिधान विषये भक्तिश्रद्धे स्मृतिमतिधृत्युत्साहाद्यनुप्रविष्टेऽन्यथैवाङ्गमिति न तयो पृथग्रसत्वेन गणनम्।'
—वही पृ ३४।

४ दशरूपक ४-८३।

पंडितराज जगन्नाथ अवश्य उदार एवं प्रगतिशील प्रतीत होते हैं और अपने दृष्टिकोण की इसी प्रगतिशीलता और विशदता के कारण वे व्यवहारतः भक्ति रस का समर्थन करते हैं। भक्ति नामक दशम रस की शंका करते हुए उन्होंने लिखा है कि रस इतने ही अर्थात् नौ ही क्या है? साक्षात् भगवान् इस रस के आलंबन हैं, भागवत श्रवण आदि उद्दीपन हैं, रोमांच, अश्रुपात आदि इसके अनुभाव हैं और हर्षादि संचारीभाव हैं तथा भगवान् के विषय में प्रेमरूपी भक्ति ही इसका स्थायी भाव है। अतः भागवत आदि पुराणों के श्रवण करते समय भक्तजन जिसका स्पष्ट अनुभव करते हैं वह भक्ति नामक दशम रस भी अपलाप करने योग्य नहीं है।[1] किन्तु परम्परा प्रेम के कारण वे उसे एक स्वतन्त्र रस मानने के पक्ष में नहीं हैं। अन्य आचार्यों की तरह पंडितराज ने मधुर भक्ति रस और शान्त रस में से किसी को भी एक दूसरे में अन्तर्भूत करने की राय नहीं प्रकट की है क्योंकि मधुर भक्ति रस का स्थायी भाव अनुराग है और शान्त रस का स्थायी भाव वैराग्य (निर्वेद) है। अतएव ये दोनों एक दूसरे के विरुद्ध हैं। अतः वैराग्य प्रधान शान्त रस के अन्तर्गत अनुराग प्रधान मधुर भक्ति रस का अन्तर्भाव कदापि संभव नहीं है।[2] पंडितराज जगन्नाथ ने भक्ति रस और शान्त रस के मौलिक अन्तर को सिद्ध करते हुए भी परम्परा के व्यामोह के कारण शृंगारेतर रति को भी भावमात्र मानने का आग्रह किया है। उक्त रीति से भक्ति नामक दशम रस की शंका को स्थिर कर चुकने के बाद उसका समाधान करते हुए वे कहते हैं कि देवता आदि के विषय में जो रति (प्रेम) होती है उसी को 'भक्ति' कहते हैं। अतएव वह भाव ही कहा जाएगा रस नहीं। क्योंकि देवता आदि के विषय में होनेवाली रति और व्यंजना वृत्ति से ज्ञात हुए व्यभिचारीभाव भाव कहे जाते हैं और अनुचित रीति से प्रवृत्त रस तथा भाव क्रमशः 'रसाभास' और 'भावाभास' कहे जाते हैं यह प्राचीन आचार्यों का सिद्धान्त है।[3] इस प्रसंग में पंडितराज ने स्वयं यह शंका उठाई है कि कामिनी के विषय में जो रति (प्रेम) होती है उसे भी भाव क्यों न माना जाय? क्योंकि देवतादिविषयक रति और कामिनीविषयक रति में कोई अन्तर नहीं है—दोनों प्रेम ही तो हैं। अथवा भगवद्भक्ति को ही शृंगार का स्थायी भाव मान लिया जाय और कामिनीविषयक रति को ही संचारी भाव स्वीकार किया जाय क्योंकि इसमें कोई तर्क नहीं है कि इन दोनों में से अमुक को ही स्थायी भाव मानना चाहिए।[4] स्पष्ट है कि पंडितराज ने उपर्युक्त शंका का समाधान तर्क-बुद्धि से न कर श्रद्धा-बुद्धि से करने का प्रयास किया है। उनके कथनानुसार साहित्य में रस भाव आदि की व्यवस्था भरत आदि मुनियों के

---

१ 'अथ कथमेते नव एव रसाः। भगवदालंबनस्य रोमांचाश्रुपातादिभिरनुभावितस्य हर्षादिभिः परिपोषितस्य भागवतादिपुराणश्रवणसमये भगवद्भक्तैरनुभूयमानस्य भक्तिरसस्य दुरपह्नवत्वात्। भगवदनुरागरूपा भक्तिश्चात्र स्थायिभावः।

—रसगंगाधर, चंद्रिका संस्कृत हिन्दी व्याख्योपेत पृ १७४।

२ 'न चासौ शान्तरसेऽन्तर्भावमर्हति। अनुरागस्य वैराग्यविरुद्धत्वात्।' —वही।

३ 'भक्तेर्देवादिविषयरतित्वेन भावान्तर्गततया रसत्वानुपपत्तेः।
रतिर्देवादि विषया व्यभिचारी तथाञ्जितः।
भावः प्रोक्तस्तदाभासा ह्यनौचित्यप्रवर्तिताः॥

—रसगंगाधर, चंद्रिका संस्कृत हिन्दी व्याख्योपेत पृ० १७८।

४ 'न च यदि कामिनीविषयाया अपि रतेर्भावत्वमस्तु रतित्वाविशेषात् अस्तु वा भगवद्भक्तेरेव स्थायित्वम् कामिन्यादिरतीनां च भावत्वम्, विनिगमकाभावात्, इति वाच्यम्। —वही।

वचनो के आधार पर की जाती है। अतएव इस विषय मे स्वतत्रता का स्थान नही है।[1] तात्पर्य यह है कि भरत आदि मुनियो ने देवतादिविषयक रति को भाव माना है। इसलिए दूसरे लोगो को भी उन्हीं का अनुसरण करना उचित है। रस और भाव के प्रामाणिक व्यवस्थापक के मतो की अवहेलना कर यदि केवल तर्क-बुद्धि से काम लिया जाएगा तब सम्पूर्ण साहित्य दर्शन ही अस्त व्यस्त हो जाएगा। यदि भगवद्विषयक रति को स्थायी भाव मान लिया जाएगा तो पुत्रादि के विषय म माता पिता का जो प्रेम होता है उसको भी स्थायी भाव और जुगुप्सा तथा शोक को शुद्ध सचारी भाव क्यो नही मान लिया जाएगा ?[2]

अतत पडितराज ने यही निष्कर्ष किया है कि भरत आदि मुनियो को व्यवस्थापक मान लेने पर दशम भक्ति रस को अस्वीकार करना ही उचित है अन्यथा भरत मुनि ने बहुत सोच समझकर जो रसो की सख्या नौ ही निर्धारित की है, वह असगत हो जाएगी।[3] इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि पण्डितराज के उपयुक्त कथन म श्रद्धा या परम्परानुमोदन की प्रवृत्ति को छोड कर और कोई बल नही है। दूसरी बात यह है कि भगवद्विषयक रति (प्रेम) को और कामिनी विषयक रति को उन्होने समान हो कैसे मान लिया ? भगवद्विषयक रति म प्रमाराध्य सुख किंवा कृष्णेन्द्रिय सुख की वाछा बलीयसी होती है तथा कामिनीविषयक रति म आत्मेन्द्रिय सुख की। इस प्रकार दोनो म कोई तुलना ही नहीं है। अपनी उपयुक्त मान्यताओ के अनुसार उन्होने तो भक्ति रस को स्वतत्र रस के रूप म एक तरह से स्वीकार ही कर लिया है। परवर्ती विद्वानो ने प्राय पडितराज के परम्परानुमोदन की प्रवृत्ति का ही अनुसरण करते हुए भक्ति रस को स्वतत्र रस मानने से अस्वीकार किया है।

मराठी विद्वान् श्री रगाचार्य रेड्डी के कथनानुसार रति भाव विस्तारात्मक है। अतएव उसी से राष्ट्र राजा देवता गुरु आदि के प्रति भक्ति का विकास होता है। ऐसी स्थिति मे एक ही स्थायी भाव से कई भिन्न रसो की स्थापना करना शास्त्र परम्परा का उल्लघन होगा। इसके विपक्ष म उनका दूसरा तर्क यह है कि रस-स्थापना के लिए विभावादि की योजना के साथ-साथ चरित्र का वर्णन अवश्यक होता है। केवल भक्ति का वर्णन करना अथवा भक्ति-मार्ग का अवलम्बन करना भक्ति को एक स्वतत्र रस-कोटि म नही स्थापित कर सकता। श्री रेड्डी यह भूल जाते हैं कि निखिल रसामृत मूर्ति भगवान् ही इस मधुर भक्ति रस के विषयावलम्बन हैं, उनके भावुक भक्तजन तथा उनकी शक्तियाँ या वल्लभाए ही इसके आश्रयावलम्बन हैं भागवत पुराणादि ग्रंथो का श्रवण प्रभु स सम्बन्धित स्थल उनका शील शक्ति सौन्दर्य तथा अग सौरभादि इसके उद्दीपन विभाव हैं। आवेशवश नाचना गाना भाव विह्वल होकर रोना हसना भूमि पर पड़ जाना हुकारादि इसके अनुभाव हैं तथा भगवद्मधुरा रति ही इसका स्थायी भाव है। भक्ति भावापन्न भक्तो के साथ भगवान् का जो लीला विलास है वही इस दिव्य मधुर रस की आत्मा है।

इसके अतिरिक्त भक्ति रस के विरोधी अन्य विद्वानो ने उसे स्वतत्र रस के रूप म न

---

१ भरतादि मुनि वचनानामेवात्र रसभाववादि व्यवस्थापकत्वेन स्वातन्त्र्ययोगात्।
—रसगगाधर (वही) पृ १७८।

२ अन्यथा पुत्रादि विषयाया अपि रतेः स्थायिभावत्व कुतो न स्यात्, न स्यादेवा पुन शुद्ध भावत्व जुगुप्साशोकादीनाम् व्यभिचारिणामपि स्यात्। —रसगगाधर (वही) पृ १७६।

३ रसानां नवत्वगणना च मुनिवचननियन्त्रिता भज्येत इति यथा शास्त्रमेवान्याय। —वही।

स्वीकार कर दूसरे दूसरे रसों में ही अन्तर्भुक्त मान लिया है। श्री वा० ना० देशपांडे ने रहस्यवादी कविताओं को अपनी दृष्टि में रखकर मधुर भक्ति रस को अद्भुत रस में अन्तर्भुक्त कर लिया है क्योंकि इसका सम्बन्ध भगवान् की विराट शक्ति, अनन्त सौन्दर्य, अनिर्वचनीय रूप माधुरी, ऐश्वर्य माधुरी, लीला माधुरी एवं भक्तों की रहस्यपूर्ण दिव्यानुभूति से है।[1] इसी तरह प्रो० मा० दा० अल्तेकर ने भक्ति रस को शृंगार रस[2] तथा प्रो० वी० परांजपे ने शान्त रस[3] के अन्तर्गत अन्तर्भुक्त कर लिया है। श्री पी० वी० काणे ने परंपरा विरोधी शृंगारपरक वर्णन और वीर रस के कतिपय भेदों के साथ रस के सादृश्य के कारण इसकी स्वतन्त्र सत्ता का अस्वीकार किया है।[4] प्रो० द० सी० पंगु के कथनानुसार निर्जीव मूर्ति के प्रति जो आत्मनिवेदन किया जाता है उसमें रस के अनुरूप भावावेगों की तीव्रता या उत्कटता नहीं आ सकती। अतः उस आत्मनिवेदनात्मक्तिरूपी भक्ति को रस न मानकर भाव ही मानना समीचीन होगा।[5] इसी प्रकार प्रो० रा० श्री० जोग ने भक्ति को अमौलिक एवं अव्यापक भावना कहकर[6] तथा प्रो० रा० हिंगणकर ने उसे विक्रियाविहीन बतलाकर[7] स्वतन्त्र रस मानने का विरोध किया है।

उपर्युक्त विद्वानों ने भक्ति को एक स्वतन्त्र रस मानने के विरोध में जो तर्क दिए हैं उन्हें संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है—

१ भक्ति रस को स्वीकार करना रस और भाव के प्रामाणिक व्यवस्थापक भरतादि द्वारा निर्णीत शास्त्र मर्यादा का उल्लंघन करना होगा, जिससे समस्त साहित्य-दर्शन अस्त-व्यस्त होकर वितंडा ग्रस्त हो जाएगा और अनेकानेक नई समस्याओं को उपस्थित करेगा।

२ भक्ति रस का अन्तर्भाव जब अन्य रसों में हो जाता है तब उसे स्वतन्त्र रस मानना उचित नहीं है।

३ भक्ति एक स्वतन्त्र रस न होकर भावमात्र है।

४ निर्जीव मूर्ति के प्रति आत्मनिवेदनात्मक होने के कारण भक्ति में भावावेगों की तीव्रता और उत्कटता का अभाव है। अतएव यह विक्रियाहीन है।

५ भक्ति मूल भावना नहीं है।

६ भक्ति में व्यापकता नहीं है।

इनमें पहली आपत्ति निराधार है। क्योंकि साहित्य और उसके विचार मनुष्य की निरन्तर परिवर्तनशील रचनात्मक प्रक्रिया शक्ति के परिणाम होते हैं। परिवर्तित युग चेतना के अनुरूप साहित्य के क्षेत्र में नई-नई भावनाएँ और प्रवृत्तियाँ, उनकी नई अभिव्यक्ति, अभिव्यक्ति के नए माध्यम तथा आलम्बन प्रतिष्ठित होते रहते हैं। जीवन्त चिन्तन धारा का यही लक्षण होता है और भारतीय साहित्य शास्त्र का क्रमिक विकास इसका ज्वलन्त प्रमाण है। भरत के परवर्ती आचार्यों ने भरत मुनि की मान्यताओं का खण्डन करके रस अलंकार रीति गुण भाव

१ रस विमर्श पृ० २६२।
२ वही पृ० २६२।
३ वही, पृ० २६१।
४ वही, पृ० २६१।
५ वही, पृ० २६१।
६ वही पृ० २६२।
७ वही पृ० २६१।

आदि सभी क्षेत्रों में नए-नए तथ्यों का सधान किया है तथा नए-नए काव्य सिद्धान्तों एवं काव्य सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा की है और उन्हें मान्यता भी प्राप्त हुई है। अतएव पण्डितराज जगन्नाथ और उनके अनुयायियों का यह अन्देशा कि देव विषयक रति मधुर भक्ति को रस की मान्यता देने से भरतादि आचार्यों द्वारा निर्णीत काव्यशास्त्रीय-परम्परा की मर्यादा का अतिक्रमण हो जाएगा नितान्त महत्त्वहीन है। अतएव इस लचर तर्क द्वारा भक्ति रस का विरोध करना सत्य से आँखें बन्द करने के समान है। भक्ति रस के सम्बन्ध में दूसरी आपत्ति भी युक्ति-सगत प्रतीत नही होती। सभी रसो के अपने अपने स्थायी भाव हैं तथा अपने-आपमें वे पूर्ण और स्वतन्त्र हैं। स्वयं पण्डितराज जगन्नाथ ने शान्त रस में भक्ति रस के अन्तर्भाव का यह कहकर विरोध किया है कि मधुर भक्ति रस का स्थायी भाव भगवत्प्रेम नामक मधुरा रति है। शान्त रस वैराग्याश्रित है तथा मधुर भक्ति रस अनुरागाश्रित। ऐसी स्थिति में परस्पर विरोधी स्थिति एवं भाव रखनेवाले दो भिन्न रसो को किसी एक में अन्तर्भुक्त नही किया जा सकता।

श्री मधुसूदन सरस्वती ने शान्त रस और मधुर भक्ति रस के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहा है कि शान्त का सम्बन्ध मोक्ष पुरुषार्थ से है और केवल अद्रुतचित्त व्यक्ति ही उसके योग्य पात्र हो सकते हैं। किन्तु भक्ति रस का सम्बन्ध ऐकान्तिक रूप से भगवत्प्रीत्यर्थ है कृष्णेन्द्रिय सुख ही इसका एकमात्र उद्यम है। अतः भक्ति रस के अधिकारी केवल द्रुतचित्त व्यक्ति ही हो सकते हैं।

शान्त रस और भक्ति रस में दूसरा प्रमुख अन्तर यह है कि शान्त का विषय जहा ज्ञान मार्ग है वहा भक्ति का विषय राग-मार्ग है। अन्य देवादि से सम्बन्धित होने के कारण रति को भाव माना गया है किन्तु निविड रसानन्द-मूर्ति परमानन्द और परम प्रेम स्वरूप परमात्मा से सम्बन्धित होने पर यह ब्रह्मानन्द प्रदायिनी रति मधुर भक्ति रस में रूपायित हो जाती है।[1] इसी भिन्नता के कारण शान्त रस को दशम स्थान का अधिकारी कहा गया है।[2]

ज्ञान-मार्ग का अनुसरण करते हुए वस्तुओं के सम्बन्ध में नित्यानित्य विवेक और उसके द्वारा मोक्ष की कामना ही शान्त रस का मुख्य प्रतिपाद्य है। किन्तु भक्ति का मुख्य प्रतिपाद्य है आत्मनिवेदनासक्ति जिसका चरम रूप मधुरा भक्ति में अभिव्यक्त होता है। भक्ति में भगवद् प्राप्ति की वाछा ही प्रधान होती है। शान्त में वासना के पूर्ण विलयन द्वारा निर्विकारता प्राप्त करने का महत्त्व है किन्तु भक्ति में लौकिक मोह मायापरक सम्बन्धों का परित्याग कर उस परम सत्ता से अपने-अपने स्वभाव के अनुसार उसी प्रकार के सम्बन्धों की स्थापना की जाती है और विरह वेदना एवं मिलनानन्द की अनुभूति भी उसी प्रकार की तीव्रता के साथ की जाती है।

इसके अतिरिक्त शान्त में आत्म ज्ञान अपरिहार्य होता है किन्तु भक्ति के लिए पवित्र और सच्चा हृदय होना चाहिए उसके भाव सच्चे होने चाहिए। शान्त रस के अन्तर्गत 'जुगुप्सा' प्रमुख तत्त्व माना गया है क्योंकि उसमें विषय के प्रति विरक्ति होती है। भक्ति में भी जुगुप्सा का समावेश होता है किन्तु यहाँ उसका प्रमुख उद्देश्य प्रभु के समक्ष अपनी दीनता-हीनता को उघाड़कर रखना होता है। किन्तु यह बात भक्ति रस के सर्वप्रमुख रूप मधुर रस के सम्बन्ध में

१ द्रुतस्य भगवद्धर्म द्धारावाहिकतां गता।
सर्वेशमनसोवृत्ति भक्तिरित्यभिधीयते॥ —भक्तिरसायन श्री मधुसूदन सरस्वती, १/३।

२ वही ३/७४।

नहीं कही जा सकती क्योंकि वहां तो शक्तिमान और उनकी शक्तियां किंवा हरि और उनकी वल्लभाओं का नित्य लीला विलास होता रहता है। शान्त रस में भव भीति और भगवान् के ऐश्वर्य ज्ञान के लिए तार्किकता के स्वर प्रमुख होते हैं किन्तु इससे भिन्न भक्ति रस में श्रद्धा और विश्वास के आधार पर राग द्वारा सभी अपरागों का उपशम किया जाता है। बुद्धि और तर्काश्रित ज्ञान के कृपाण पथ पर चलना बड़ा कठिन एवं दुराराध्य है किन्तु श्रद्धा और विश्वास पर आधारित भक्ति के प्रेम पथ पर अग्रसर होना सहज सुलभ और सुखाराध्य है। शान्त रस में भी भाव प्रतीति होती है किन्तु वह संयमित एवं नियमित होती है। भक्ति रस की भाव प्रतीति जैसी तीव्रता वहाँ नहीं होती। भावना की इसी तीव्रता के कारण भक्ति को श्रेष्ठ माना गया है। मधुर भक्ति रस की कान्ता रति में भावना की यह तीव्रता चरमोत्कर्ष पर पहुंच जाती है। इसीलिए मधुर रस को सर्वश्रेष्ठ मानना सर्वथा समीचीन है।

विषय-त्याग निर्विकारता नित्यानित्यवस्तु विवेक वैराग्य शम दम आदि साधना रूपमात्रा भेद से शान्त और भक्ति दोनों के लिए ग्राह्य माने गए हैं। किन्तु भावना की तीव्रता उत्कट प्रेमानुभूति रसार्द्रता सर्वग्राहिता और प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से दोनों में बहुत अन्तर हो जाता है। भक्ति रस के प्रभाव की उत्कटता भगवत्प्रेमजनित दिव्योन्माद के भावावेगों की तीव्रता की बड़ी ही मार्मिक अभिव्यंजना श्रीमद्भागवत[1] रत्नावली, भक्तिरसायन आदि भक्ति शास्त्रों में की गई है। परामक्ति की इस दिव्योन्मादपूर्ण अवस्था में भाव विह्वल होकर भक्त कभी नृत्य करने लगता है कभी आनन्द गद्गद होकर तार स्वर से हरि गुण-गान करने लगता है कभी रोने लगता है और कभी हँसने लगता है। यहां तक कि उसके सारे व्यवहार लोक बाह्य प्रतीत होने लगते हैं। इस स्थिति में भक्त की भावना-तन्त्री परमात्मा के स्वर से पूर्णत संवादी स्वर में बजने लगती है। भक्त के भावनात्मक जीवन में एक तीव्र वेदनाशीलता उत्फुल्लता आ जाती है तथा सबको भूलकर उस ईश्वर की सतत अनुभूति होने लगती है। भक्ति के प्रभाव की इस उत्कटता में जिन अनेकानेक भाव कलिकाओं का प्रस्फुटन होता है वह मधुर भक्ति रस को छोड़कर अन्य शान्त आदि किसी भी रस में सम्भव नहीं है। प्रसिद्ध मराठी विद्वान् डा० वाटवे ने भी शान्त रस में भक्ति रस के अन्तर्भाव का विरोध करते हुए लिखा है कि शान्त रस का उद्भव वैराग्य से होता है और उसका सम्बन्ध ज्ञान मार्ग से है। अतएव शान्त में भावना की अपेक्षा ज्ञान की ही प्रधानता रहती है। शास्त्र पुराण श्रुति स्मृति गुरु के उपदेशादि से जिज्ञासु का नित्यानित्य वस्तु का विवेक होता है और वह मुमुक्षु बनकर ब्रह्म को प्राप्त करने का प्रयास करता है। आत्म ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसे शोक मोह राग द्वेष आदि से अपने को मनसा वाचा कर्मणा निर्विकार रखना पड़ता है। इसके अतिरिक्त शान्त भाव-साधना का उद्देश्य केवल अद्वैत सिद्धि है। किन्तु भक्ति भाव-साधना में इसके विपरीत द्वैत से अद्वैत की सिद्धि की जाती है।

[1] वाग्गद्गदा द्रवते यस्यचित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥ —श्रीमद्भागवत/११/१४, २४।
एवं व्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥ —वही, ११/२/४०।

क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचिद्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः॥ —वही, ११/३/३२।

इस दृष्टि से भी शान्त रस की अपेक्षा मधुर भक्ति रस की अधिक उपादेयता एवं पृथक्ता सिद्ध होती है।

शांत रस का स्थायी भाव 'शम' अभावरूप नहीं, भाव रूप है

इस प्रसंग में शान्त रस के स्थायी भाव 'शम' पर भी विचार करना आवश्यक है। 'शम' का अर्थ समाधान और सन्तोष किया गया है। तात्पर्य यह है कि सांसारिक विषय विकारों से मन को अलग कर जीवन के अन्तिम समाधान अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति के लिए मन का नियोजित करना ही शम है। इस प्रकार वेदान्त की दृष्टि से शम साधन रूप है और साहित्य की दृष्टि से साध्य रूप। विश्वनाथ, हेमचन्द्र और अभिनवगुप्त ने शम को क्रमशः निरिच्छित अवस्था में 'आत्मविश्रान्तिजन्यसुख' 'तृष्णाक्षय' और 'तृष्णाक्षय-सुख' की संज्ञा दी है। इस दृष्टि से 'शम' सुख शान्ति और सन्तोष का व्यंजक है। अतः शम अभाव रूप न होकर भाव रूप है। इसमें ब्रह्मनिष्ठ का मन ब्रह्म पर केन्द्रित रहता है। परम ब्रह्म के विराट रूप और सौन्दर्य के ज्ञान से प्रादुर्भूत विस्मय, आनन्द आदि व्यभिचारी भाव, रोमांच, नेत्रोन्मीलन आदि अनुभाव के संयोग से शान्त रस की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार शान्त रस के स्थायी भाव 'शम' की अभाव रूपता का खण्डन हो जाने से उसके साथ भक्ति रस के अन्तर्भाव का तर्क व्यर्थ सिद्ध हो जाता है। मोक्ष शास्त्र की दृष्टि से ज्ञानाश्रित शान्त मार्ग और प्रेमाश्रित भक्ति मार्ग दोनों का महत्त्व स्वीकार किया गया है। भागवत में भक्ति के तीन प्रकार बतलाये गए हैं—अभेद भक्ति, अद्वैत भक्ति और मुक्ति भक्ति। इस तरह प्रकारान्तर से भक्ति रस में ही शान्त रस को अन्तर्भुक्त मान लिया गया है। भगवद्गीता में भी स्पष्ट शब्दों में भक्ति की महत्ता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'भाव भक्तिपूर्वक भगवान् को जानने वाला अन्त में उसी में समा जाता है।'[1] इस प्रकार भक्ति मार्ग भी मोक्षप्रद साधन सिद्ध हो जाता है। नारद भक्ति-सूत्र में भी भक्ति को मोक्ष का परम साधन मानकर उसे कर्म और ज्ञान से श्रेष्ठ कहा गया है।[2] इससे सिद्ध है कि भक्ति द्वैत में आरम्भ होकर अन्ततोगत्वा मोक्षम्-रूप अद्वैत में पर्यवसित हो जाती है। द्वैताद्वैत का यह मणिकांचन-संयोग अन्यत्र नहीं दिखलाई पड़ता। भक्तों की दृष्टि से विचार करने पर भी भक्ति मार्ग सर्वोपरि सिद्ध होता है। परमात्म अनुभव के दो साधन भाव—ऐश्वर्य भाव और माधुर्य भाव में से माधुर्य भाव को भक्तों ने सर्वोत्कृष्ट माना है।

भगवत्प्राप्ति के तीन साधन हैं—भक्ति, ज्ञान और योग। ज्ञान मार्ग से निर्विशेष ब्रह्म के रूप में, योग-मार्ग में परमात्मन् के रूप में और भक्ति मार्ग से स्वयं भगवत्त्व के रूप में वे मान्य हैं। ज्ञान, योग और कर्म को छोड़कर केवल भक्ति के प्रेम रस से ही भगवान् वशीभूत होते हैं।[3] इसका कारण यह है कि भगवान् के रूप में ही काम या प्रेम भाव की आध्यात्मिक कल्पना

---

१ भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥　　　　—गीता १८/५५।

२ सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा फलरूपत्वात् ।　　　　—ना भ सू २५ २६।

३ ज्ञानि साधने भगवान् तिन स्वरूप भासे।
ब्रह्म परमात्मा भगवत्त्वे प्रकाशे ॥

साकार हो उठती है। हिन्दू शास्त्रों ने भगवत समर्पित जो काम शक्ति है उसी के स्वाभाविक अर्थात सृष्टि के लिए अत्यन्त आवश्यक रूप को भगवान् का स्वरूप बताया है। (प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः—गीता १/२८)

ऐसी स्थिति में शान्त में भक्ति का अन्तर्भाव बतलाना सर्वथा अनुचित प्रतीत होता है। रस की दृष्टि से विचार करने पर भी शान्त रस की अपेक्षा मधुर भक्ति रस में सर्वाधिक भावनात्मकता एवं कार्य प्रेरकता दिखलाई पड़ती है। ज्ञान भावना और क्रिया मनुष्य के ये तीन प्रमुख मानसिक व्यापार होते हैं। इनमें भावनाओं की तीव्रता एवं उससे उत्पन्न अनुभाव रूप क्रियात्मक संवेगों के कारण चित्तवृत्तियाँ सर्वाधिक रमती हैं। मनोविकारों से रहित विरतिपूर्ण शान्त रस में चित्तवृत्तियों के इस प्रकार रमने का कोई अवकाश नहीं होता।

शान्त रस की साधना में ज्ञान और उसके फल का आस्वादन ज्ञानी साधक तक ही सीमित रहता है। किन्तु भक्ति रस की साधना में भक्ति के नीपफल प्रेमानन्द का अनुभव अन्य जन भी करते हैं।

धार्मिक दृष्टि से भी शान्त रस की अपेक्षा भक्ति रस अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। भारतीय धर्म भावना ज्ञानात्मक कम, भावात्मक अधिक रही है और यह भावात्मक उत्कटता सार्वत्रिकता एकमात्र भक्ति रस में ही संभव है। दार्शनिक दृष्टि से उस परम शक्ति में ऐश्वर्य है। अपने इस ऐश्वर्य के कारण वह निश्चय ही सर्वशक्तिमान, अभेद्य और अछेद्य है। ब्रह्मत्व भी उसकी दूसरी विशेषता है। इसीलिए वह सर्वव्यापक सार्वकालिक अर्थात् अनादि अनन्त अखंड एवं सनातन हैं। किन्तु इसके ऐश्वर्य और ब्रह्मत्व से भी बढ़कर है उसका माधुर्य गुण। प्रेम में ही उसका यह अनिर्वचनीय माधुर्य चरितार्थ होता है। इस प्रेम माधुर्य के सामने वह परम शक्ति अपने ऐश्वर्य और ब्रह्मत्व दोनों को भूलकर अहीर की छोहरियों के इंगित पर छछिया भरि छाछ पर नाचता है गाता है।' इसीलिए कहा गया है कि जो उसे ज्ञानमय समझते हैं ब्रह्म समझते हैं वे उसके एक अंश को जानते हैं पर जो उसे प्रेममय समझते हैं वे उसके सम्पूर्ण अंश को जानते हैं। इसीलिए तो प्रेमा पुमर्थो महान् कहकर मोक्ष को परम पुरुषार्थ नहीं प्रेम को ही परम पुरुषार्थ माना गया है। श्रीमद्भागवत के एक श्लोक[१] के अनुसार परम पुरुष के तीन रूप माने गये हैं—ब्रह्म परमात्मा और भगवान्। ब्रह्म विशुद्ध ज्ञानमय होता है। ज्ञानमार्गी ब्रह्म के इसी रूप की उपासना करते हैं।[२] परमात्मा योगियों का उपास्य माना गया है।[३] परन्तु प्रेममार्गी

ज्ञानमार्गे निर्विशेष ब्रह्म प्रकाशे।
योगमार्गे अन्तर्यामी स्वरूपे ते भासे॥
रागभक्ति विधिभक्ति हय दुइ रूप।
स्वयं भगवत्त्व प्रकाश दुइत स्वरूप॥ —चैतन्य चरितामृत मध्य० परि० २४, पृ० २६६-२६७।

ज्ञान कर्म योगे धर्मे नहे कृष्णवश।
कृष्णवश हेतु एक कृष्ण प्रेमरस॥ —वही आदि लीला परि २, पृ० १०।

१ वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥ —श्रीमद्भागवत १.२.११।

२ ब्रह्मसंहिता ५ ४६।

३ श्रीमद्भागवत, १.६.४२।

भक्तों के समीप ही भगवान् का पूर्णरूप प्रत्यक्ष होता है। उनके इसी रूप को भगवान् कहा गया है।[1]

उपर्युक्त विचार बिन्दुओं के आलोक में यह स्पष्टतः सिद्ध होता है कि मधुर भक्ति रस शान्त रस से केवल भिन्न ही नहीं है वरन् भावना की तीव्रता व्यावहारिकता सार्वत्रिकता पारस्परिक श्रेष्ठता सर्वजनसुलभता आदि आदि दृष्टियों से भी सर्वश्रेष्ठ है। ऐसी परिस्थिति में शान्त रस में भक्ति रस के अन्तर्भाव का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

शृंगार रस मे मधुर भक्ति रस का अन्तर्भाव

श्री मा० दा० अल्तकर[2] एवं श्री कृ० कोल्हटकर[3] प्रभृति विद्वानों ने भक्ति रस की मूल भावना रति को देखकर भक्ति रस को शृंगार के अन्तर्गत मानने का आग्रह किया है। किन्तु उन्होंने इस सत्य पर विचार नहीं किया है कि 'रति' एक अत्यन्त व्यापक भाव है जो समाज में विविध स्नेह सम्बन्ध सूत्रों के अनुसार अनेक भूमिकाएं धारण करती है। अतएव भक्ति रस की मूल भावना 'रति' अपनी उत्कटता के कारण लौकिक शृंगार रस की रति से सर्वथा भिन्न है। शृंगार शब्द का प्रयोग लौकिक प्रेम भाव के अर्थों में रूढ़ हो गया है। ऐसी स्थिति में भक्ति या वात्सल्य रस का शृंगार रस के अन्तर्गत अन्तर्भुक्त मानना समीचीन नहीं कहा जा सकता। भक्ति के अनेक भेदों में से कान्ता भावपरक भक्ति को मधुरा भक्ति' के रूप में स्वीकार करने का भी यही रहस्य है।

ऊपर से देखने पर शृंगार और मधुर भक्ति रस में बहुत-कुछ समानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं किन्तु बात ऐसी नहीं है। शृंगार और मधुर भक्ति रस दोनों तत्त्वतः एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। शृंगार और मधुर भक्ति रस का मौलिक अन्तर यह है कि शृंगार जहां पूर्णतः ऐहिक तथा लौकिक है वहां मधुर भक्ति रस सम्पूर्ण रूप से आध्यात्मिक और पारलौकिक है। शृंगार का विषय जहाँ वैषयिक सुख होता है वहाँ मधुर भक्ति रस का विषय विशुद्ध पारमार्थिक सुख है। शृंगार के आलम्बन प्राकृत जन होते हैं किन्तु मधुर भक्ति रस के आलम्बन स्वयं जगदाधार निखिल प्रेम रसानन्द मूर्ति परमेश्वर हैं। शृंगार में आलम्बन स्थूल एवं सजीव होता है किन्तु मधुर भक्ति रस में आलम्बन निर्गुण भी होता है तथा सगुण होते हुए भी सूक्ष्म एवं परात्पर होता है। इसके अतिरिक्त निर्जीव मूर्ति को भी मधुर भक्ति रस का आलम्बन माना जाता है। शृंगार में समवयस्कता की अपेक्षा होती है किन्तु मधुर भक्ति रस में वय का भेद विद्यमान रहता है। शृंगार में परस्परावलम्बन की स्थिति रहती है, किन्तु मधुर भक्ति रस एकपक्षीय भी होता है।

शृंगार वैषयिक सुख का विपुल वासना मध्य डूबे हुए स्त्री पुरुष के स्नेह सम्बन्ध का वाचक है, जिसमें शुद्ध प्रेम का भाव असम्भव है। प्राकृत स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध कामगंधयुक्त होता है। उसमें बहिर्मुख प्राणों के आवेगों की प्रधानता होती है। इसलिए प्राकृत जनों के प्रेम

१ जीवगोस्वामीकृत भगवत सन्दर्भ तथा श्रीमद्भागवत के श्लोक १ २ ११ की श्री जीवगोस्वामी और विश्वनाथ चक्रवर्ती की टीकाएं द्रष्टव्य।

२ रसविमर्श पृ १६२।

३ वही पृ १६३।

व्यापार को काम की सना दी गयी है। यह काम एक विकार है एक निम्न वत्ति है जो गुद्ध प्रम भाव के प्रतिष्ठित हाने म बाधा डालती है। दूसरी ओर प्रकतिजन्य काम के सयम नियम म ज्ञान से ही प्रम का मधुर भाव हृदय म प्रतिष्ठित होता है।

प्रेम की स्वाभाविक गति म एक अनन्तता असीमता और परात्परता के भाव विद्यमान रहते हैं। इसके लिए प्रेमाधार की विशिष्टता अपरिहाय है। स्पष्ट है कि इस प्रकार का विशिष्ट प्रमाधार परमात्मा ही हा सकते हैं। परमात्मा ही शुद्ध प्रम का परम विषय है। हृदय स्थित चत्य पुरुष का प्रम जीवन का अति गूढ रहस्य है। इसे प्राप्त करने, पहचानने के लिए मधुर भक्ति साधना की ही अपेक्षा है। इन दष्टियो स विचार करन पर शृगार और भक्ति रस की पृथक सत्ता एव मधुर भक्ति रस की सवश्रष्ठता सिद्ध हानी है।

शृगार के अन्तगत मुख्यत शारीरिक स्तर और अधिक-से अधिक प्राणिक स्तर पर प्रेम किया जाता है। किन्तु मधुर भक्ति क अन्तगत प्रम मानसिक स्तर पर आरम्भ होता है और आन्तरात्मिक स्तर पर उसका परमोत्कष होता है। इसम अधिक आन्तरिकता व्यापकता सूक्ष्मता एव स्थायित्व होते हैं तथा इसके सारे अनुभव आत्मदान स सप्रेरित और परिप्लावित होते हैं। इसकी उदारता और मधुरता अपूव एव अनिवचनीय होती है। यह मानव की स्थूल व्यावहारिकता म दिव्य प्रेम-ज्योति है। चतन्यचरितामृत म गौडीय वष्णव आचाय श्री कष्णदास कविराज ने काम और प्रेम के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि आत्मेन्द्रिय प्रीति इच्छा काम है तथा कष्णेन्द्रिय प्रीति इच्छा प्रेम है।[1]

मधुर भक्ति रस के आनन्दातिरेक स साधक भक्त आत्म-सपृक्त और पर-सपृक्त भाव भावनाओं से सवथा असस्पृष्ट और निराचिदानन्दमय हा उठता है। किन्तु वषयिक सुख की वासना से वलित लौकिक शृगार रस में ऐसी स्थिति कभी नहा आती। इसमे भी शृगार रस और भक्ति रस की पृथक सत्ता एव भक्ति रस की सवश्रष्ठता सिद्ध होती है।

कान्ताभाव की उपासना की महत्ता तथा जडासुख शृगार की अपेक्षा चिन्मुख रस की श्रष्ठता क कारणों का उद्घाटन करते हुए डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि आगम शास्त्रियो का विश्वास है कि भगवान् ने लीला के लिए जब सृष्टि उत्पन्न करनी चाही तो अपने को उन्होंने द्विधाविभक्त किया। इसम एक ओर तो नारायण हुए और दूसरी ओर उनकी शक्ति लक्ष्मी। शक्ति निषध व्यापार रूपा होती है क्योंकि वह भगवान् की उस इच्छा का रूप है जिसके द्वारा वे कुछ के अभाव का अनुभव करते हैं। स्त्री स इसी शक्ति का प्राधान्य है। इसलिए स्त्री निषध व्यापार रूपा या अपने-आपको समपण करक हा सायक हानी है। भक्ति में इसी निषध-व्यापार या आत्म-समपण की भावना चरम सीमा पर पहुँचती है। यही कारण है कि भक्त कान्ता भाव के भजन को इतना श्रष्ठ समझता है।

यह ध्यान म रखने की बात है कि लौकिक प्रीति होने पर प्रम जडासुख होता है और

---

१ आत्मेन्द्रिय प्रीति इच्छा तारे कहि काम।
कृष्णेन्द्रिय प्रीति-इच्छा धरे प्रेम नाम॥

कामगन्धहीन स्वाभाविक गोपी प्रेम।
निमल उज्ज्वल शुद्ध येन दग्ध हेम॥ —चैतन्यचरितामृत, चतुथ अध्याय कृष्णदास कविराज।

इसलिए शान्ता भाव म जडासक्ति ही चरम रूप म विद्यमान होता है। लौकिक प्रीति का विषय होने पर यह प्रेम शृगार रस का विषय हो जाता है और तब यह प्रेम के जितने रूप हैं उनमें सबसे नीचे पड जाता है परन्तु जब यह विमुख होता है अथवा भगवद्विषयक होता है, तब इसका नाम मधुर उज्ज्वल रस होता है। यही श्रेष्ठ रस है।[1]

श्री रूपगोस्वामी ने मधुर नामक भक्ति रस को ऐसे लोगो के लिए अनुपयोगी बतलाया है जो निवृत्त हो[2] अर्थात् मधुर भक्ति रस के साथ शृगार रस की समानता देखकर हो इससे विमुख हो गए हो और यह उन लोगो के लिए भी नहीं है जो शृगार रस के साथ इसकी समानता देखकर इधर उन्मुख हुए हो। इन बातो से भी शृगार रस और मधुर भक्ति रस की पृथकता एव मधुर रस की सर्वश्रेष्ठता का प्रमाण मिलता है।

विप्रलम्भ-दशा की दृष्टि से भी शृगार और मधुर भक्ति रस म बडा अन्तर है। सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनो दृष्टियो से जहाँ लौकिक विषयालम्बन और आश्रयालम्बन होते हैं वही सयोग वियोग की सुख और दु खपूर्ण स्थितियो का सम्बन्ध रहता है। मधुर भक्ति रस का सम्बन्ध तो सर्वशक्तिमान सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी अतियामी विश्व रूप भगवान् से है। वह तो घृत दुग्ध के समान विश्व के कण कण में रमा हुआ है। फिर उससे वियोग कैसे हो सकता है? इस शका का समाधान करते हुए कहा गया है कि साधना की दो अवस्थाएं होती हैं—साधकावस्था और सिद्धावस्था। साधकावस्था आरम्भिक अवस्था है जिसमें साधक भक्त परम प्रियतम परमात्मा का परिचय प्राप्त करना चाहता है। धीरे धीरे वह उस परम प्रियतम के सौन्दर्य की एक झलक पा लेता है और उसके एक अग की महिमा को देखकर ही आनन्द से विह्वल हो उठता है।[3] उसकी यह भाव विह्वलता जैसे-जैसे बढती जाती है वैसे वैसे उसकी विरह-वेदना भी तीव्रतर होती जाती है। माया की चक्र चाल के कारण यह भाव दशा जब-तब भग भी हो जाती है और तब साधक विरहाकुल हो तडप उठता है। इस दशा म उसकी विरह वेदना तीव्रतम रूप धारण कर लेती है और वह अत्यन्त कातर दशा म बार बार अपनी मनो वाछा अभिव्यक्त करने लगता है। यह आध्यात्मिक विरह जहाँ एक ओर साधक को सत्य का वास्तविक पता पाने के लिए उत्साहित करता है वहा दूसरी ओर उसकी साधना की दीप शिखा को सदा जाग्रत रखता है। अत विरहावस्था म ही भक्त को भगवान् के अद्भुत, मधुर लीला विलास का वास्तविक अनुभव हो पाता है। इसीलिए तो साधक विरह को वरदान मानता है उसे ईश्वर से मिलाने वाला अमोघ साधन समझकर उससे कभी अपना नाता तोडना नही चाहता है।[4] यही कारण है कि सभी प्रकार के साधको ने विरह को प्रेम की सजीवनी मूरि मानकर

१ मध्यकालीन धर्म साधना डॉ हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १८।

२ आत्मोचितैर्विभावाद्यैः पुष्टिं नीता सतां हृदि।
मधुराख्यो भवेद् भक्तिरसोऽसौ मधुरा रतिः ॥१॥
निवृत्तानुपयोगित्वाद् दुरूहत्वादयं रसः।
रहस्यत्वाच्च संक्षिप्य वितताङ्गोऽपि लिख्यते ॥२॥

—भ० र० सि०, प० वि०, ५ लहरी—श्री रूपगोस्वामी।

३ कबीर देख्या एक अग महिमा कही न जाय।
तेजपुज पारस धणी नैनू रहा समाय॥ —कबीर ग्रन्थावली, पृ० १५।

४ बिरह कहै कबीर सूँ तू जिनि छाँडै मोहि।
पारब्रह्म के तेज में तहाँ लै राखौं तोहि॥ —कबीर ग्रन्थावली पृ० १३।

उसे अपार शक्ति का स्रोत कहा है। जिस परम गति को योगी हठयोग की कठिन साधना के उपरान्त प्राप्त करता है उसे वियोगिनी क्षणमात्र मे प्राप्त कर लेती है।[1] शंकराचार्यजी ने भी प्रोषित पतिकाओ को उपासना के दृष्टान्त के रूप म उपस्थित किया है।[2] सन्तो ने भी विरह विरहित घट को मसान कहकर उसकी भत्सना की है।[3] इस अनन्त निखिल चराचर म सर्वाधिक गम्भीर और सनातन सत्य विरह ही है।[4] विरह ही निमित्त भेद से नाना रूपो को ग्रहण कर लेता है। अत यह विरह भाव ही रस का सार है।

इससे भिन्न सिद्धावस्था पूर्ण मिलनावस्था है। जब साधक भक्त को यह ज्ञात हो जाता है कि जिसके विरह म वह पागल बनकर दर दर की ठोकर खा रहा था वह दिलबर तो उसके दिल म ही हरदम मौजूद है।[5] अज्ञानता के कारण ही उसकी दशा कस्तूरिया मृग जसी हो रही थी। इस तथ्य का पता पा लेने पर उसका अनन्त वियोग अनन्त संयोग में परिणत हो जाता है। भक्तो एव सतो ने इस स्थिति का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है।

साराश यह है कि भक्तिरस के अन्तर्गत सवत्र भासमान परमेश्वर से सयोग वियोग की पृथक स्थितियो के तात्त्विक रूप से अभाव रहने पर भी उपयुक्त कारणो से वियोग-दशा की उद्भावना की जाती है किन्तु उसका आधार शृगार की तरह लौकिक न होकर विशुद्ध रूप से आध्यात्मिक होना है।

इस प्रसग म एक दूसरा महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि शृगार की विप्रलम्भदशा म आत्म विश्वास के बदले प्रिय विश्वास की ही प्रमुखता रहती है किन्तु मधुर भक्ति रस की विप्रलम्भ दशा मे आत्म विश्वास का ही सबल लेकर साधक विरह पयोधि मे अपनी जीवन-नौका को छोड देता है। शृगार मे विरह व्यथा तभी तक सह्य हो सकती है जब तक कि विरही जन को यह विश्वास होता रहता है कि उसका प्रियतम भी उसे चाहता है। किन्तु मधुर भक्ति रस मे आत्म विश्वास और प्रिय विश्वास दोनो ही के भरोसे विरही साधक दुख को भी सुख मानता हुआ अगणित कष्टो को झेलता है। इसका यह तात्पर्य नही है कि शृगार म आत्मविश्वास की प्रतीति होती ही नही है। इसका इतना ही अर्थ है कि लौकिक शृगार म आत्मविश्वास की अपेक्षा प्रिय विश्वास की प्रधानता रहती है। क्या शृगार और क्या मधुर भक्ति रस आत्मविश्वास तो प्रेम की नीव है। इसके अभाव में कही कुछ नही हो सकता। अत शृगार में जहाँ प्रिय विश्वास का सहारा अधिक लिया जाता है वहाँ मधुर भक्ति रस में आत्मविश्वास और प्रिय विश्वास दोनो का सहारा लिया जाता है।

---

१ देह गति योगिनि की दिन मे वियोगिनि को,
बिरह महन्त की अनोखी यह बात है।

२ ब्रह्मसूत्र, १/१/४ (भाष्य)

३ बिरहा बिरहा मत कहो बिरहा है सुलतान।
जा घट बिरह न सचरै सो घट जानहु मसान॥ —कबीर।

४ माघ कहे सुनु काया मेरी तुम हम मिलन न होय।
तुम सम मीत बहुत हम कीना सग न लीना कोय॥ —कबीर।

५ जो बिछुड़े हैं पियारे से भटकते दर ब दर फिरते।
हमारा यार है हममें हमन को इन्तजारी क्या?
हमन को बेकरारी क्या? —कबीर।

शृंगार और मधुर भक्ति रस के पार्थक्य का एक दूसरा कारण यह भी है कि विप्रलम्भ के अन्तर्गत मान दशाओं और उसके उपशम के उपायों की जितनी सुस्पष्ट परियोजना शृंगार के अन्तर्गत सम्भव हो सकती है उतनी मूर्ति या निराकार ब्रह्म के साथ नहीं हो सकती।

शृंगार और मधुर भक्ति रस की पृथक्ता का मुख्य आधार आलम्बन का लौकिक और अलौकिक सम्बन्ध व्यापार है। वस दोनों में लौकिक-सम्बन्ध व्यापार की अनेक समानताएँ हैं। किन्तु दोनों में मुख्य वैषम्य बिन्दु यह है कि मधुर भक्ति रस में जहाँ शृंगार के अन्य भेदों का समावेश सम्भव है वहाँ शृंगार में मधुर भक्ति रस के अन्य भेदों का सन्निवेश सम्भव नहीं है। इससे भी दोनों रसों की पृथक्ता तथा मधुर भक्ति रस की सर्वश्रेष्ठता सिद्ध होती है।

स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद ने अपने काव्यकला और अन्य निबन्ध नामक ग्रन्थ में भक्ति रसराट मधुर रस की प्राचीन काल में अस्वीकृति के कारणों पर प्रकाश डालते हुए बतलाया है कि *वस्तुत मधुर या भक्ति रस शृंगार रस का ही दार्शनिक रूपान्तर है। शृंगार की धारा ही* दूसरे रूप में दार्शनिक पृष्ठभूमि पर भक्ति रस के रूप में वह चली।[1] प्रसादजी ने शैवागमों के आनन्दवादी सिद्धान्त और बुद्धिवादी सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है कि शैवागम में अभेद और समरसता तथा बुद्धिवादी सम्प्रदायों में दुःख तथा विरह की मान्यता दी गई है। शैवागम के आनन्द सिद्धान्तवादियों के लिए विरह तो प्रत्यभिज्ञान का साधन मिलन का द्वार था। फिर विरह की कल्पना आनन्द में नहीं की जा सकती। शैवागमों के अनुयायी नाट्यों में इसी कल्पित विरह या आवरण का हटाना ही प्रायः दिखलाया जाता रहा।[2] शैवागम के आनन्द सिद्धान्त को मानकर चलने वाले रसवादी शान्त या शृंगार इन दोनों रसों में से किसी एक को ही मानकर चले हैं। शान्त रस निस्तरंग महोदधि कल्प समरसता ही है। बुद्धि द्वारा सुख की खोज करने वाले सम्प्रदायों ने रसों में शृंगार को महत्त्व दिया और आगे चलकर शैवागमों के प्रकाश में साहित्य रस की व्याख्या से सन्तुष्ट न होकर उन्होंने शृंगार का नाम मधुर रस रख लिया। कहना न होगा कि उज्ज्वलनीलमणि का सम्प्रदाय बहुत-कुछ विरहोन्मुख ही रहा और भक्ति प्रधान भी। अतः कदाचित् प्राचीन रसवादी रस की पूर्णता भक्ति में इसलिए नहीं मानते थे कि उसमें द्वैत का भाव रहता था। उसमें रसाभाव की कल्पना होती थी। आगमों में भक्ति भी अन्तर्भूत थी। उनके यहाँ द्वैत प्रथा का तदज्ञान तुच्छवात् बंधमुच्यते के अनुसार स्व बन्धन था। इस मधुर-सम्प्रदाय में जिस भक्ति का परिपाक रस के रूप में हुआ उसमें पर *काया प्रेम का महत्त्व इसलिए था कि वे लोग दार्शनिक दृष्टि से तत्त्व को स्व से पर मानते थे।*[3]

निष्कर्ष यह है कि प्रसादजी के मतानुसार अद्वैत की असिद्धि के कारण प्राचीन काल में भक्ति को रस रूप में स्वीकृति नहीं मिली और कालान्तर में बुद्धिवाद के प्रभाव से इसका सम्यक् विकास हुआ है।

उपर्युक्त दृष्टि से विचार करने पर भी शृंगार मधुर भक्ति रस के अन्तर्भाव का विचार अव्यवहार्य एवं असंगत प्रतीत होता है। अतएव मधुर भक्ति रस अपने-आप में पूर्ण स्वतन्त्र एवं सर्वश्रेष्ठ है।

---

१ काव्यकला और अन्य निबन्ध, श्री जयशंकरप्रसाद, पृ० ७७-७८।
२ वही।
३ वही।

अद्भुत और मधुर भक्ति रस

अद्भुत और मधुर भक्ति रस में आकस्मिकता का समावेश रहता है किंतु मधुर भक्ति रस में आकस्मिक या अप्रत्याशित घटना द्वारा भक्ति के आलम्बन के प्रति अनुराग और श्रद्धा भाव की वृद्धि होती है। इतना ही नहीं भगवान् के विराट रूप को देखकर भक्त के हृदय में जहाँ अनुराग और श्रद्धा के भाव जगते हैं वहाँ उसे अपनी लघुता का बोध होता है। अद्भुत में अनुराग श्रद्धा तथा लघुता-बोध का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अद्भुत रस में आश्चर्य की भावना प्रधान रहती है किंतु मधुर भक्ति रस में भगवान् के ऐश्वर्य-बोध और माधुर्य बोध से भक्त के हृदय में आश्चर्य नहीं भक्ति का भावावेश उत्पन्न होता है। इसका कारण यह है कि 'भक्त के हृदय में प्रभु के प्रति सदैव अनुराग विद्यमान रहता है और उसी अनुराग से रंजित कर वह अद्भुत का भक्तिमय वर्णन करता है। वस्तुतः अनुराग ही प्रधान होने से अद्भुत उसका संचारी मात्र होकर आता है।'[1] भक्तिविषयक पदों में जहाँ भगवान् की अद्भुत विभूतियों का वर्णन किया जाता है वहाँ भी उसका मुख्य लक्ष्य प्रभु की ऐश्वर्य-माधुरी और लीला माधुरी की महत्ता को ही प्रदर्शित करना होता है। साधक अपने साध्य के विराट लीला विलास को देखकर विस्मय विमुग्ध होता है। ऐसी अवस्था में 'विस्मय' भक्ति का संचारी मात्र बन जाता है। इसी तरह रहस्यवादी कविताओं में प्रभु की कल्पित मूर्ति का मानसिक प्रत्यक्षीकरण होता है और उसके प्रति अनुराग का आकर्षण विद्यमान रहता है। इस प्रकार मधुर भक्ति रस श्रद्धा और अनुराग प्रधान है, अद्भुत विस्मय प्रधान। इससे भी मधुर भक्ति रस की पृथक् सत्ता एवं श्रेष्ठता सिद्ध होती है।

वीर, करुण, रौद्र, भयानक और बीभत्स तथा मधुर रस

मधुर भक्ति रस और अन्य रसों के आलम्बन की भिन्नता के कारण श्री मधुसूदन सरस्वती ने भगवद्भक्तिरसायन में मधुर भक्ति रस की पृथक् सत्ता सिद्ध की है। इसी आधार पर इन्होंने धर्मवीर और दयावीर को भक्ति रस के अन्तर्गत मानने से अस्वीकार किया है। वीर करुण रौद्र भयानक और बीभत्स आदि प्रीति विरोधी होते हैं। अतएव इन्हें मधुर भक्ति रस में या इनमें मधुर भक्ति रस को अन्तर्भुक्त करने का प्रयास करना दुराग्रह मात्र होगा।[2]

मधुर भक्ति रस को भाव की संज्ञा क्यों ?

भक्ति चन्द्रिका में यतिवर नारायण तीर्थ ने मधुर भक्ति रस को विषयावच्छिन्न चित्त-तादात्म्यभूत लौकिक रस का साध्य तत्त्व कहा है। इसकी अनुभूति अन्यान्य चञ्चल वृत्तियों द्वारा अविच्छिन्न साधन भक्ति द्वारा समापन्न सुस्थिर चित्तवृत्ति से ही सम्भव है। इस स्थिति विशेष में वह वृत्ति मात्र न रहकर शक्ति का रूप ग्रहण करती है और यहाँ भावुक भक्त को मधुर भक्ति रस का आस्वादन होता है।[3] इस प्रसंग में यह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि मधुर

१ रस सिद्धान्त : स्वरूप विश्लेषण, आनन्दप्रकाश दीक्षित पृ० २६०।

२ भगवद्भक्तिरसायन : श्री मधुसूदन सरस्वती २/२७-३१।

३ 'इत्थं च लौकिक रसे शृङ्गारादौ विषयावच्छिन्न [illegible] स्फुरदानन्दांशस्य [illegible] भगवदाकारोल्लेख चेतोवृत्ति [illegible] [illegible] विद्यमान [illegible]। अतो भगवद्भक्तिरसस्य लौकिक रसापेक्षया [illegible]।

—भक्ति-चन्द्रिका [illegible]।

भक्ति रस जब लौकिक रस का साध्य तत्त्व है तब इसे काव्योचित-लक्षण ग्रंथों मे भाव मात्र की सज्ञा क्यो दी गयी है ? इसका कारण यह है कि यह मधुर भक्ति रस सामान्य जनो की प्रतीति का विषय नही बन सकता। अन्तर्योग से परिचित व्यक्ति इसे भली भाति जानते हैं कि किस प्रकार हृदय देश की कल्पना मूर्ति के अन्तराल से कोटि काम-कमनीय तडित-कान्ति सम्पन्न भगवद्विग्रह का आविर्भाव होकर अनुपम मधुर भक्ति रस की वर्षा होती है। फल भक्ति रूप उत्कृष्ट पूर्ण ऐक्य की सिद्धि होती है। यही तो भक्त का परम साध्य मोक्ष है।[१]

ऊपर विभिन्न रसो के साथ मधुर भक्ति रस के अन्तर्भाव पर विचार करते हुए यह सिद्ध किया जा चुका है कि शात शृगार करुण वीर अद्भुत भयानक वीभत्स आदि रसो से सर्वथा पृथक मधुर भक्ति रस की सत्ता है तथा यह अपनी व्यापकता सहजता सर्वजनसुलभता भावनाओ की तीव्रता विक्रियाशीलता विलक्षणता मधुरता, सार्वत्रिकता एव उत्कटता की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ रस है। श्री रूपगोस्वामी ने तो इसकी विलक्षणता को देखते हुए इसे भक्ति रस राट कहा है। ऐसी स्थिति मे मधुर भक्ति रस को स्वतत्र रस के रूप मे न मानकर भावमात्र कहना सत्य से आख मूदने के समान ही है।

सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने सस्कृत साहित्य का इतिहास नामक ग्रन्थ के द्वितीय भाग मे वस्तुस्थिति पर विचार करते हुए शृगारादि नव रसो के अतिरिक्त भक्ति रस को सर्वोपरि प्रधान रस माना है। प्राचीन ऋषियो एव साहित्याचार्यों ने भी स्वीकार किया है कि अज्ञानावरण से रहित आनन्द स्वरूप चैतन्य से युक्त रति आदि स्थायी भाव ही रस है।

इसी के आधार पर रसजन्य आनन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है। वस्तुत ब्रह्मानन्द ही रस के रसत्व का मूल तत्त्व है। शृगारादि नव रस तो ब्रह्मानन्द सहोदर मात्र हैं। मधुर भक्ति रस और ब्रह्मानन्द तत्त्वत एक ही हैं। श्री मधुसूदन सरस्वती ने समाधिजन्य ब्रह्मानन्द और मधुर भक्ति रसानन्द को एक माना है।[२]

वैष्णव रस साधना के व्यवस्थापक श्री रूपगोस्वामी ने तो भक्ति रसायन के समक्ष

---

१ सैव प्रौढ विरक्ति मुचरित रचना सम्प्रयुक्ति प्रसिद्धा।
सैवान्त सरायाति क्षयहृदुपनिषत्तत्त्व विद्याप्रसक्ति ॥
बोधयन्तिश्च सैव प्रकटित परमानन्द सरस्व भुक्ति।
सैवाद्वैता च मुक्ति कथमपि कमलाकामुके यातु भक्ति ॥ —भक्तिनिर्णय।

१ रसो वै स। रस ह्येवाय लब्ध्वानन्दी भवति ॥१॥ तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्द वल्ली।
आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्॥ आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते॥ आनन्देन जातानि जीवन्ति॥ आनन्द प्रयन्त्यभिसविशन्तीति॥—वही भृगुवल्ली षष्ठोऽनुवाक।

अक्षर परम ब्रह्म सनातनमज विभुम्।
वेदान्तेषु वदन्त्येक चैतन्य ज्योतिरीश्वरम्॥१॥

आनन्द सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्ति सा तस्य चैतन्यचमत्कार रसाह्वया॥२॥ —अग्निपुराण, अ ३३९।

२ समाधि सुखस्यैव भक्तिसुखस्यापि स्वतन्त्र पुरुषार्थत्वात् तस्मात् भक्तियोग पुरुषार्थ परमानन्दरूप इति निर्विवादम्। —भक्ति रसायन, प्रथमो उल्लास पृ० ६।

समाधिजन्य ब्रह्मानन्द को परमाणु तुल्य भी मानने से अस्वीकार किया है।[1] श्रीमद्भागवत में भी मधुर भक्ति रसास्वाद को ब्रह्मानन्द से श्रेष्ठ कहा गया है।[2] आनन्दवर्धनाचार्य ने भी भक्ति रसानन्द को सर्वोपरि स्वीकार किया है।[3] शृंगारादि नव रसों के स्थायी और विभावादि सभी रसोद्बोधक पदार्थ जहाँ लौकिक होते हैं वहाँ मधुर भक्ति रस के स्थायी विभावादि रसोद्बोधक पदार्थ अलौकिक होते हैं। मधुर भक्ति रस का स्थायी भाव भगवद्विषयक मधुरा रति है। निखिल रसानन्द मूर्ति अखिल विश्व सौन्दर्य निधि भगवान् और उनके भक्त जन इसके आलम्बन विभाव हैं। अनन्यासक्ति प्रभावित रोमाञ्च स्विन्नोन्मादजन्य अनेकानेक लीला बाह्य प्रणय व्यापार इसके अनुभाव हैं तथा हर्षादि इसके व्यभिचारी भाव हैं। इस प्रकार मधुर भक्ति रस के ये सभी रसोद्बोधक पदार्थ अलौकिक हैं। 'भगवद्भक्ति चन्द्रिकामृत रसालय' में इसीलिए 'परामक्ति प्रोक्ता रस इति रसास्वादनचणैः' कहकर इसकी प्रशस्ति की गयी है।

'ऐसी परिस्थिति में खेद है कि जिन साहित्याचार्यों ने नव रसों में विज्ञान के अंश के स्फुरण मात्र से साहित्याचार्य रसानुभूति बतलाते हैं उनके साहित्य में रस की प्रतिष्ठा दी गई है एवं कान्ताविषयक रति को सर्वप्रधान शृंगार रस माना गया है किन्तु 'एतस्यैवानन्दस्य आनन्दमात्रामुपजीवन्ति' इत्यादि श्रुतियों द्वारा प्रतिपादित जो ब्रह्मानन्द अखिल आनन्दों का एकमात्र आश्रय है उस साक्षात् विज्ञानात्मक ब्रह्मानन्द से भी बढ़कर उपासना का अमर भाग जो भगवद्भक्तिजन्य परमानन्द है उसे रस न मानकर राजविषयक रति (मिथ्याप्रशंसा मन चाटुकारी) एवं पुत्रविषयक रति (वात्सल्य) के समान ही भाव मात्र माना गया है इससे अधिक क्या आश्चर्य हो सकता है? यही क्यों क्रोध, शोक भय और जुगुप्सा आदि स्थायी भावों को जो प्रत्यक्षतः सुख या आनन्द के विरोधी हैं रौद्र करुण भयानक और वीभत्स रस की प्रतिष्ठा दी गयी है जबकि इनसे अमितगुणाधिक भगवद्विषयक रतिजन्य आनन्द को रस सिद्धि के अयोग्य माना गया है। यदि यह कहा जाए कि इसमें प्रमाण क्या तो इसका उत्तर तो यही है कि अन्य रसों के आस्वाद के प्रमाण के लिए आप लोग सहृदय जनों से पूछने के लिए आया करते हैं तो हमारा निवेदन है कि भक्ति रसास्वाद के विषय में आप लोग भी तदीय भक्तजनों से क्यों न पूछिएगा? ऐसी अवस्था में इस विषय में हमारे प्राचीन साहित्याचार्यों के दुराग्रह के सिवा अधिक क्या कहा जा सकता है?'[4]

---

१ ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् परार्द्धगुणीकृतः ।।१६।।
नैति भक्तिसुखाम्भोधेः परमाणुतुलामपि ।। —हरिभक्तिरसामृत सिन्धु पू. वि., १ लहरी

२ या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्मध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात् ।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत् किं त्वन्तकासिलुलितात्पततां विमानात् ।।
—श्रीमद्भागवत, ४/९/१

३ या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित्कवीनां नवा
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती ।
ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं
श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन त्वद्भक्तितुल्यं सुखम् ।।—ध्वन्यालोक पृ. २२७।

४ मधुर साहित्य का इतिहास, भाग—२ पृ. ६६ सेठ कन्हैयालाल पोद्दार।

मधुर भक्ति रस पर विक्रियाहीनता का आरोप

मधुर भक्ति रस के विरोधियों ने इसके ऊपर विक्रियाहीनता का आरोप लगाया है। श्रीमद्भागवत, भगवद्भक्तिरसायन, उज्ज्वलनीलमणि, भक्तिरसामृतसिंधु, रत्नावली, गीत गोविन्द आदि अनेक भक्ति-काव्यों में मधुरा भक्ति प्रभावापन्न भक्तों के अनुभावों के जो सजीव एवं प्रभावपूर्ण वर्णन किये गए हैं, उनसे आप ही आप विक्रियाहीनता का यह आरोप खण्डित हो जाता है। मनुष्य के त्रिविध मानसिक व्यापारों—ज्ञान, भावना और क्रिया में से भावना ही सबसे अधिक प्राणवान् एवं कार्य प्रेरक होती है। यह सिद्ध है कि मधुर भक्ति रस में भावना की प्राणवत्ता एवं भावावेगों की तीव्रता सबसे अधिक होती है। अपने इष्ट के प्रति भावना की इस उत्कृष्ट अवस्था में तीव्र वेदना के जहाँ अश्रुकण झरते हैं, वहाँ उल्लास के नव-नवल पाटल प्रसून भी खिलते हैं। वेदना और उल्लास की ऐसी आँख मिचौनी अन्यत्र नहीं देखी जाती। दिव्योन्माद की इस विशिष्ट अवस्था में भक्त कभी हँसता है, कभी रोता है, कभी प्रलाप करने लगता है, तो कभी मौन धारण कर लेता है और कभी उच्च स्वर में हरिगुण गान करने लगता है।[1] महाकवि जयदेव ने अपने गीतगोविन्द में राधिका को एकान्त प्रेम निर्भर भक्त के रूप में उपस्थित करते हुए उनके प्रेमोन्माद का बड़ा ही मर्मस्पर्शी चित्रण किया है। विरहोन्मादिनी राधिका अपने वक्षस्थल पर की पुष्पमाला को भी अपने कृश तनु के समान ही भार अनुभव कर रही हैं, सरस मसृण चन्दन के लेप को सशंक भाव से विष के समान देख रही हैं, मदनानल से दग्ध हुए के समान गर्म गर्म दीर्घ उसासें ले रही हैं। जलकण से भरे नाल विहीन नलिनी की तरह नयनों का न्यस्तन निरूपण कर रही हैं, सन्ध्याकाल में उनका कपोल तल उनके कर पल्लव पर आश्रित है, वे किसलय कुसुम शय्या को आग की लपट की तरह देख रही हैं और सकाम भाव से हरि हरि की रट लगा रही हैं। रह रहकर उन्हें रोमांच हो रहा है, वे कभी वेदनाधिक्य के कारण साकार कल्पना में कभी विलाप करने लग जाती हैं, कभी वह उद्भ्रान्त हो इधर उधर दौड़ पड़ती हैं, कभी कम्पमान हो धरती पर गिर पड़ती हैं और कभी मूर्च्छित हो जाती हैं।[2] इस प्रकार एक के बाद एक न जाने कितने विलोमानुभावों का राधिका में कितने अनुभावों का संक्रमण होता रहता है।

निखिल रसानन्द मूर्ति भगवान् कृष्ण भी अपनी प्रियतमा के विरह-ताप से दग्ध हो रहे हैं। वे रह रहकर बारम्बार दीर्घ उसाँसें भर रहे हैं, उन्मुक्त नयनों से बारम्बार चतुर्दिक देख रहे हैं, कभी कुंज से बाहर निकल जाते हैं और फिर कुछ गुन गुन करते हुए भीतर प्रवेश कर जाते हैं, अपने हाथों एक बार मन की रचना करते हैं और फिर अत्यन्त आकुल होकर चारों ओर निहारने लगते हैं। राधा कृष्ण के ये सारे भाव एकान्त प्रेम निर्भर भक्त और भगवान् के ही भाव हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही कहा है कि जयदेव की विलासिनी राधा और श्रीकृष्ण की विलास कला वस्तुतः आधी भी नहीं रहेगी अगर राधिका को एकान्त प्रेम निर्भर भक्त के रूप में न

---

1. श्रीमद्भागवत ११।२।४०, ११।३।३२ आदि।
2. स्तनविनिहितमपि हारमुदारम्
　　सा मनुते कृशतनुरिव भारम्।
　राधिका तव विरहे केशव।
　　[illegible]

देखा जाय।[1]

फिर प्रश्न यह है कि जिस मधुर भक्ति रस में जीवन की इतनी अधिक तन्मयी अन्तदशाओं का मार्मिक अभिव्यंजन होता हो, जिसके अन्तर्गत जीवन की इतनी अपार वस्तुस्थितियों का क्षण-क्षण घात प्रतिघात होता हो, उसके ऊपर क्रियाहीनता का आरोप करना नितांत भ्रम ही तो है। मधुर भक्ति रस के साथ विस्मय हर्ष अहंभाव तथा अनेकानेक पूर्वोक्त अनुभाव मिले रहते हैं। भक्ति भावापन्न-व्यक्ति अहर्निश भगवान् के भजन कीर्तन स्मरण वन्दनादि भक्ति क्रियाओं में संलग्न रहते हैं एवं दूसरे व्यक्तियों को भी प्रभावित करते रहते हैं। ऐसी स्थिति में मधुर भक्ति रस के ऊपर क्रियाहीनता का आरोप करना हठधर्मिता एवं अन्ध परम्परानुमोदन को छोड़कर और क्या हो सकता है?

मधुर भक्ति रस की व्यापकता

मधुर भक्ति रस की व्यापकता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि सभी देशों और सभी कालों में किसी न किसी रूप में इसका बोलबाला रहा है। भक्ति का विपुल साहित्य भण्डार इसके महत्त्व को स्वयं सिद्ध करता है। भक्ति अपने आपमें ही बड़ा व्यापक अर्थ रखने वाला शब्द है और अनेक लौकिक एवं अलौकिक भावों का व्यंजक है। इसी आधार पर भक्ति के कई भेद माने गये हैं। यथा—देश भक्ति, प्रभु भक्ति, राज भक्ति, स्वामि भक्ति, पितृ भक्ति, गुरु भक्ति, देव भक्ति आदि। मराठी लेखक श्री शिवराम पंत ने देश भक्ति रस की प्रतिष्ठा करते हुए देशाभिमान को इसका स्थायी भाव माना है।[2] इसके पक्ष विपक्ष में विद्वानों ने काफी विचार विमर्श किया है। सारांशतः यही कहा जा सकता है कि जहाँ प्रभु और देश का विनम्रतापूर्वक गौरव

पश्यति विषमिव वपुषि सशङ्कम्॥ २॥
श्वसितपवनमनुपमपरिणाहम्।
मदनदहनमिव वहति सदाहम्॥
दिशि दिशि किरति सजलकणजालम्।
नयननलिनमिव विगलितनालम्॥
त्यजति न पाणितलेन कपोलम्।
बालशशिनमिव सायमलोलम्॥ ३॥
नयनविषयमपि किसलयतल्पम्।
गणयति विहितहुताशविकल्पम्॥
हरिरिति हरिरिति जपति सकामम्।
विरहविहितमरणेव निकामम्॥ ४॥

सा रोमाञ्चति सीत्करोति
विलपत्युत्कम्पते ताम्यति।
ध्यायत्युद्भ्रमति प्रमीलति
पतत्युद्याति मूर्च्छत्यपि।
—गीतगोविन्द।

१ मध्यकालीन धर्मसाधना, डॉ हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ० १६५
२ जीवन व्यापि साहित्य पृ ५५ शिवराम पंत।

गान हो वहाँ भक्ति रस स्वीकार करना चाहिए और उसे प्रभु भक्ति तथा देश भक्ति आदि रसो में विभाजित कर लेना चाहिए किन्तु अन्यत्र भावानुकूल रस मानना चाहिए।[1]

डा वाटवे ने रस विमर्श नामक ग्रन्थ में भक्ति रस के समर्थक विद्वानो के मतो का उल्लेख करते हुए मानस शास्त्र के आधार पर भक्ति रस का विशद विवेचन किया है तथा इसे एक व्यापक रस के रूप में सिद्ध किया है।

डा वाटवे के मतानुसार भक्ति की भावना डिराइव्ड या साधित नही है। डिराइव्ड भावना स्थिर वृत्ति नही बन सकती है। भक्ति का प्रारम्भ सभ्यता के आरम्भ काल से ही जान पडता है। वदिक साहित्य स्वय इसके प्रमाणो से भरा है। मनुष्य ने सर्वप्रथम विविधतामूलक शक्ति के अक्षय स्रोत विश्व के रगमच पर नित्य नयी भूमिकाए धारण करने वाली भुवन मोहिनी प्रकृति सुन्दरी के वभव वचित्र्य को देखा और उसकी विविध शक्तियो से प्रभावित होकर देवी देवताओ की कल्पना की। इन्ही के परिणामस्वरूप उषा पवन अग्नि वरुण रुद्र इन्द्र आदि देवो का उद्भव हुआ। इन देवताओ की शक्ति और पराक्रम को देखकर मानव विस्मय विमुग्ध हो उठा। उसके मन में यह ढाढस बधा कि यदि इन शक्ति-पुन्ज देवताओ को प्रसन्न कर लिया जाय तो वे गाढ दिनो में उसकी रक्षा कर सकते हैं। इसी रक्षा की भावना से अभिभूत होकर मनुष्य ने उनकी आराधना शुरू की। पहले इन देवताओ के प्रति उसके मन में विभ्रम की भावना थी जो धीरे धीरे श्रद्धा भावना में रूपायित हो गयी। यही श्रद्धा भाव कालान्तर मे जाकर मनोराग में रूपातरित हो गया जिसके परिणामस्वरूप आराध्य और आराधक के बीच कई स्नेह सम्बन्ध सूत्रो की अवतारणा हुई। मनुष्य के पारिवारिक जीवन में जितने नाते रिश्ते होते हैं उनके सक्षेप में ये पाच प्रमुख अग माने गये हैं—स्वामी सम्बन्ध सेवक सम्बन्ध सुहृद सम्बन्ध वात्सल्य सम्बन्ध और दाम्पत्य सम्बन्ध। इन्हा स्नेह सम्बन्धो के आधार पर भक्तो के पाँच प्रकार के स्वभाव बन जाय गए हैं—शान्त-स्वभाव दास्य स्वभाव सख्य स्वभाव वात्सल्य स्वभाव और मधुर-स्वभाव। भक्त जन अपने अपने स्वभावानुसार अपने इष्टदेव में इनमें से किसी एक प्रकार के सम्बन्ध-सूत्र के माध्यम से तदनुरूप गुणो का आरोप करते हैं और उसी भाव से उनकी आराधना करते हैं। इन पाच प्रकार के सम्बन्ध सूत्रो में दाम्पत्य सम्बन्ध और उसका मधुर स्वभाव सर्वश्रेष्ठ माना गया है क्योकि इसके माध्यम से मनोराग अपने चरमोत्कर्ष पर पहुच जाता है।

आध्यात्मिक साधना के अन्तर्गत सामान्यत ईश्वरानुभूति को व्यक्त करने के लिए तीन प्रकार की शलियो का सहारा लिया गया है—रूपक शली व्याधानात्मक शली और दाम्पत्य भावपरक शली। इनमें दाम्पत्य भावपरक शली को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है क्योकि इसके माध्यम में भक्त निसकोच भाव से सर्वथा सम्भ्रम रहित होकर अपने को मानो खोकर रस लेने में समर्थ होता है।

डा० वाटवे ने भी स्वीकार किया है कि मनुष्य ने अपने अपने स्वभाव के अनुसार उपर्युक्त देवादि देवताओ में भिन्न भिन्न गुणों का आरोपण किया और सभी प्रकार से उन्हें वह अपना परम सहायक तथा उद्धारक मानने लगा। धीरे धीरे मनुष्य का देवता विषयक भावना में परिष्कार होने लगा। वह अनेक देवी देवताओ के बदले एक परमेश्वर की कल्पना करने लगा।

१ रस सिद्धान्त स्वरूप विश्लेषण डॉ आनन्दप्रकाश दीक्षित पृ २०५।

उत्तर वैदिक साहित्य तथा परवर्ती वैदिक साहित्य में स्थूल से सूक्ष्म, बहुदेववाद से एकेश्वरवाद का सक्रमण स्पष्टत परिलक्षित होता है। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार सगुण रूप से मनुष्य फिर निर्गुण निराकार का भी चिन्तन करने लगा। इस रूप ने इसे भक्ति मार्ग से उठाकर ज्ञानमार्गी बना दिया। सन्तों में जहाँ-तहाँ दोनों भावनाओं का प्रकाशन दिखाई पड़ता है जिससे प्रतीक-पूजा आरम्भ हुई है और राम कृष्णादि अवतार माने जाने लगे हैं। इस प्रतीक पूजा ने मनुष्य के स्वरूप में देवता की कल्पना कराई है। मनुष्य ने प्रभु से सारे लौकिक प्रेम-सम्बन्ध जोड़ लिये हैं और इस प्रकार परमेश्वरानुराग की भावना समिश्र बनती गई है। परमेश्वर की मूर्ति से आरम्भ करके मनुष्य उसकी मनोमय प्रतिमा के निर्माण में सफल हुआ है। भक्ति-काव्य के परिशीलन से ज्ञात होगा कि उसके अन्तर्गत प्रभु की मनोमय प्रतिमा के प्रति अनेक भाव रति का प्रतिष्ठा के कारण उत्सुकता आनन्द विषाद दैन्य चिन्ता व्याधि भय गर्व, व्रीडा जिज्ञासा आदि अनेकानेक मधुर भावों का समावेश किस प्रकार सफलतापूर्वक हो गया है। इसके फलस्वरूप उसमें नव रसों की छटा भी प्रस्फुटित हुई है। इन सम्बन्धों में परमोत्कृष्ट रूप शृंगार भावना का रहा जो भाव-साधना के शीर्षस्थ के रूप में परिणत होकर मधुर रस के रूप में परम उन्नयन को प्राप्त हुआ। कृष्ण-गोपिकाओं के परमात्मा तथा आत्मा के सम्बन्ध के रूपक जोड़ दिये गए और लौकिक शृंगार भक्ति के उन्नत रूप में उपस्थित हुआ। वल्लभ चैतन्य राधावल्लभी आदि सम्प्रदायों में ही नहीं राम-सीता की भक्ति और सूफी सम्प्रदाय में भी यह भावना दिखलाई पड़ती है। यहाँ तक कि भक्ति की भावना इस रूप में व्यापक है कि तेरहवीं सदी में थामस हो० हेमिस नामक लेखक ने अपने काव्य में ईसा का यही भक्तिपरक रूप उपस्थित किया है। इतिहास इस प्रकार के भक्तों के प्रमाणों का साक्षी है कि भक्ति के सामने उनकी भूख जैसी सहज प्रवृत्तियाँ भी दब गई हैं। अत भक्ति का मूलाधार देवविषयक रति को स्थायीभाव मानने में कोई हानि नहीं है।[1]

यदि व्यापक दृष्टि से देखा जाय तो मधुर भक्ति रस में अन्य सभी रसों का अन्तर्भाव हो जाता है। इसीलिए रूपगोस्वामी ने शान्त दास्य सख्य वात्सल्य और मधुर को पाँच मुख्य रस तथा शृंगारादि सात रसों को गौण रस माना है और इन सात गौण रसों को मुख्य भक्ति रस का सचार कहा है।

मधुर भक्ति रस में अनेकानेक भावनाओं का जितना अधिक सम्मिश्रण दिखाई पड़ता है उतना अन्य किसी दूसरे रस में नहीं। जिस रस में भावनाओं का जितना ही आधिक्य रहता है वह उतना ही अधिक प्रभावशाली और आस्वाद्य माना जाता है। शृंगार और करुण रस भयानक और वीभत्स रस में इसीलिए अधिक महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। वस्तुत भागवत-सम्पर्क को पाकर सभी भाव नवीन प्रकार के दिव्य भावाधार में चमत्कृत हो उठते हैं और उत्कृष्ट आस्वाद्यता से परिपूर्ण हो जाते हैं।

आकर्षण और विकर्षण अथवा राग और द्वेष ये दो विशिष्ट वृत्तियाँ मनुष्य में होती हैं। राग द्वारा मनुष्य की अनेकानेक अभिमुख (आकर्षण) वृत्तियों की अभिव्यजना होती है। मधुर प्रेम रस की कल्पना का यही रहस्य है। मनुष्य की यह शाश्वत वृत्ति प्रेम या 'रति' कान्ताविषयक देवतादिविषयक और अन्यविषयक होने से क्रमश यदि शृंगार रस मधुर भक्ति

१ रस सिद्धान्त स्वरूप और विश्लेषण डॉ० आ० प्र० दीक्षित, पृ० २११ २१२।

रस और वात्सल्य रस के नाम से अभिहित की जाती है तो इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नाटक नामक ग्रन्थ में शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, अद्भुत, बीभत्स, शान्त, भक्ति वा दास्य, प्रेम वा माधुर्य, सख्य, वात्सल्य, प्रमोद वा आनन्द नामक चौदह रसों का उल्लेख किया है। इसमें भक्ति को दास्य तक ही सीमित दिखलाकर उन्होंने भक्ति रस को अत्यन्त सीमित कर दिया है। वस्तुतः भक्ति रस इतना अधिक व्यापक, उदात्त और चमत्कारपूर्ण है कि शृंगार रस भी उसके सामने क्षुद्र है। अलौकिक मधुर भक्ति रस के रसत्व और महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए श्री मधुसूदन सरस्वती ने लिखा है कि अन्य रसों के सदृश विभावादि से युक्त होकर भक्ति चित्रफलक के समान मनोरजक बनकर रसत्व को प्राप्त होती है। रस-कोविदों ने देवादिविषयक रति और अर्जित व्यभिचारी को 'भाव' की संज्ञा दी है, उसे रस कोटि में नहीं रखा गया है। किन्तु इस विचार को अन्य देवताओं तक ही सीमित मानना चाहिए क्योंकि उनसे सम्बन्धित रति अलौकिक आनन्द प्रदायिनी नहीं होती। इससे भिन्न परमानन्द रूप परमात्मा की भक्ति परानन्द प्रकाशिनी होती है। कान्तादिविषयक रसों में पूर्ण सुख स्पर्शाभाव के कारण रसत्त्व का यथेष्ट पोषण नहीं होता है।

अतएव प्राकृत क्षुद्र रसों में परिपूर्णरसा भगवद्रति खद्योतों में आदित्य प्रभा के सदृश ही बलवती होती है।[1]

काव्यप्रकाशकार ने रस का जो व्यापक और मानसिक अवस्था प्रदर्शन सम्बन्धी लक्षण लिखा है भक्ति में वह जितना सुविकसित पाया जाता है अन्य रस में उसका उतना विकास नहीं देखा जाता।[2]

जिस समय भगवद् रतिविषयक स्थायी भाव निखिल रसानन्द मूर्ति परमात्मारूपी आलम्बन विभाव को पाकर रोमांच, हर्षाश्रुपातादि तथा हर्ष, आवेग, औत्सुक्य आदि संचारी भावों के संयोग से भक्ति रस में परिणत होता है उस समय भक्ति भावापन्न सहृदयजन के मानस में लोकोत्तर दैवी विभूति-सम्पन्न एवं अलौकिक मधुर रस की प्रतीति होती है। इस मधुर भक्ति रस के आस्वादजन्य आह्लाद के विशुद्ध समुद्र में स्थित होने के कारण उन्हें सभी भौतिक सुख

---

1 रसान्तरं विभावाद्यैः सङ्कीर्णा भगवद्रतिः।
चित्ररूपवदन्याद्यमना प्रतिपद्यते॥
रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथार्जितः।
भावः प्रोक्तो रसो नेति यदुक्तं रसकोविदैः॥
देवान्तरेषु जीवत्वात् परानन्दाप्रकाशनात्।
तद्योज्यं परमानन्दरूपे न परमात्मनि॥
कान्तादिविषया वा ये रसाद्यास्तत्र नेदृशम्।
रसत्वं पुष्यते पूर्णसुखास्पर्शित्वकारणात्॥
परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रतिः।
खद्योतेभ्य इवादित्यप्रभेव बलवत्तरा॥ —भक्तिरसायन श्री मधुसूदन स्वामी।

2 'पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः पुर इव परिस्फुरन् हृदयमिव प्रविशन् सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन् अन्यत् सर्वमिव तिरोदधद् ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः।'
—काव्यप्रकाश चतुर्थ उल्लास

गाण्य के सदृश मालूम पडते हैं।[1] मधुर भक्ति रस की इन्ही विशेषताओं पर मुग्ध होकर निर्गुण मार्गी संत महात्मा कबीर प्रेम पथ के पथिक बन गये और उन्होंने उच्च स्वर से घोषणा की कि 'भाव भगति के बिना भव का संशय मूल' नहीं मिट सकता। हरि को अपना 'पिव' और अपने को उनकी बहुरिया मानकर उन्होंने विरहिणी की आत्म-दशा का जैसा माधुर्यमय हृदयग्राही एवं मर्मस्पर्शी निवेदन किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।[2] इसी मधुर भक्ति रस का प्याला पीकर प्रेमदिवानी मीरा ने सारे ऐश्वर्य, राजसी वैभव पर लात मारकर अपने गिरिधर गोपाल से मिलने के लिए योगिनी का बाना पहन लिया।[3] इसी मधुर भक्ति रसायन से प्रमत्त होकर गौरांग महाप्रभु ने समस्त उत्तराखंड को भगवद्भक्ति रस में आप्यायित कर लिया। इसी मधुर भक्ति रस से सराबोर होकर मंसूर ने सूली पर चढ़कर इधर पुकारा कि यह उसका वाम का जीना है आये जिसका जी चाहे और उधर खून कहता था अनलहक दार के साया तले। सम्पूर्ण विश्व-वाङ्मय इस प्रकार के अनेक दृष्टान्तों से भरा पड़ा है।

मधुर भक्ति रस के इस त्रिभुवन मोहन प्रभाव को देखकर पं० अयोध्यासिंह 'हरिऔध' ने ठीक ही लिखा है कि कोई सामने आये और बताये कि किस दूसरे रस का आस्वाद ऐसा है।

रस की और विशेषता क्या है? यह कि वह स्पष्ट झलक जाता है हृदय में प्रवेश कर जाता है सर्वांग को सुधा रस सिंचित बनाता है और अन्य बद्ध विषयों को तिरोहित कर देता है। अन्य रसों पर भी यह लक्षण घटित हो सकता है दूसरे रसों में भी यह विशेषता पायी जा सकती है, किन्तु मधुर भक्ति रस में तो इस लक्षण और विशेषता की पराकाष्ठा हो जाती है वरन् कहना तो यह चाहिए कि मधुर भक्ति रस में ही इन विशेषताओं की वास्तविक सार्थकता होती है। यदि ऐसा न होता तो यह क्या कहा जाता— प्रमाणं परो धर्म।'

---

१ 'त्वत्साक्षात्करणाह्लाद विशुद्धाब्धि स्थितस्य मे।
सुखानि गोष्पदायंते ॥ —श्रीमद्भागवत।

२ पिया मिलन की आस रहौ कब लौं खरी।
ऊँचे नहिं चढ़ि जाय मने लज्जा भरी॥
पाँव नहिं ठहराय चढ़ूँ गिरि गिरि परूँ।
फिरि फिरि चढ़हुँ सम्हारि चरन आगे धरूँ॥
अंग अंग थहराय तो बहुविध डरि रहूँ।
करम कपट मग घेरि तो भ्रम में परि रहूँ॥
बारी निपट अनारि तो झीनी गैल है।
अटपट चाल तुम्हार मिलन कस होइ है॥
अन्तर पट दे खोल शब्द उर लाव री।
दिल बिच दास कबीर मिलै तोहि बावरी॥ —सन्त कबीर म।

३ मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई॥

अँसुवन जल सींचि सींचि प्रेम-बेलि बोई।
मीरा की लगन लगी होनि हो सो होई॥ —मीरा।

आपमे यदि कभी भक्ति का उद्रेक होता है या यदि कभी आपने किसी भक्ति-उन्मत्त प्राणी को अभिनिविष्ट चित्त से देखा है तो आपको इस बात का अनुभव होगा कि जिस समय हृदय मे भक्ति-स्रोत प्रवाहित होता है उस समय उनकी क्या दशा होती है। क्या उस समय समस्त अगो मे अलौकिक रस सचन नही होने लगता जिसका आस्वादन सर्वथा लोकोत्तर है ? [1]

मधुर भक्ति रस का ऐसा अलौकिक चमत्कार है कि इसके सामने भक्ति रस रसिक कलाधाम स्वर्ग सार्वभौम साम्राज्य योग सिद्धियाँ अपुनर्भव आदि सबको हेय समझता है।[2] वह अपने इष्टदेव के पदरजानुराग को छोडकर अर्थ धर्म काम और मोक्ष कुछ भी नही चाहता। वह तो सिर्फ यही चाहता है कि कामी को कामिनी के प्रति और लोभी को धन के प्रति जैसा आकर्षण होता है वैसा ही उसका अविचल अनुराग जन्म जन्मान्तरपर्यन्त इष्टदेव के प्रति बना रहे।[3] इससे यह स्पष्ट है कि मधुर भक्ति रस जैसा चमत्कार किसी रस मे नही है इस दृष्टि से भी उसकी सब रसो पर प्रधानता है। हिन्दी ससार मे तो सन्तो की वाणियो ने उसका भाडार भली भाँति भर दिया है।[4]

मानव-जीवन विराट एव सकुलित है। मनुष्य के मनोभावो की इयत्ता नही निर्धारित की जा सकती। इसलिए उन लोगो का उद्योग जिन लोगो ने नव रस के अतिरिक्त अन्य रसो को माना है किसी प्रकार से हेय नही कहा जा सकता।[5]

इस प्रकार मधुर भक्ति रस विराट है उसका साहित्य विस्तृत है। श्री रूपगोस्वामी श्री जीवगोस्वामी एव अन्य गौडीय वैष्णव आचार्यों ने राधा-कृष्ण के लीला विलास को ही आधार बनाकर मधुर रस का सावयव निरूपण किया है एव सर्वश्रेष्ठ रस के रूप मे सिद्ध किया है। पूर्ववर्ती अलकार शास्त्र रस शास्त्र एव काम शास्त्र मे व्यवहृत पारिभाषिक शब्दो को उनमे वर्णित विभाव अनुभाव उद्दीपन सचारी भाव नायक-नायिका भेद आदि को उन्होने स्वीकार कर नायक शिरोमणि श्रीकृष्ण और नायिका शिरोमणि श्री राधिका के लीला परिवेश मे मधुर रस का अभूतपूर्व विस्तार किया है। ये सारे निरूपण इन वैष्णवाचार्यों के आध्यात्मिक सिद्धान्तों पर आधारित हैं एव भगवद्भक्ति की प्राप्ति ही इस अध्ययन मे रस का प्रथम एव अन्तिम लक्ष्य है।

इस प्रकार भक्ति के गूढ तत्वो को साहित्यशास्त्रीय पारिभाषिक शब्दावली मे अभिव्यक्त कर तथा साहित्य शास्त्र के एक विशिष्ट अग शृगार को भक्ति सिद्धान्तो की कसौटी

---

[1] रसकलस हरिऔध पृ २१५ २१६।
न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा वाञ्छन्ति यत्पादरजः प्रपन्नाः ॥ —भागवत।

[2] अर्थ न धर्म न काम रुचि, गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन ॥

[3] कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम ॥ —गोस्वामी तुलसीदास।

[4] रसकलस हरिऔध, पृ २१६।

[5] नवरस बाबू गुलाबराय पृ ५५१।

पर चलकर गौडीय वैष्णव आचार्यों ने कान्तानुरागियों एवं भगवद् प्रेमानुरागियों के लिए मधुर रस के रूप में अनुपम रसायन प्रदान किया है।

गौडीय वैष्णव आचार्यों के मधुर रसविषयक सिद्धान्त की प्रशस्ति करते हुए डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही कहा है कि हमारे देश में रसविषयक दो ही सिद्धान्त ऐसे हैं जो स्पष्ट रूप से दर्शन (फिलासफी नहीं) पर आधारित हैं। एक तो कश्मीरी शैवों के अद्वैतवाद पर और दूसरा गौडीय वैष्णवों के अचिन्त्य भेदाभेदवाद पर। अन्य वैष्णव आचार्यों ने भी रस का आध्यात्मिक रूप लिया है पर रसशास्त्र का जैसा विशद विवेचन भक्तिरसामृतसिन्धु और 'उज्ज्वलनीलमणि' में किया गया है वैसा अन्यत्र हुआ है कि नहीं यह नहीं कहा जा सकता। उनके विचार से श्री वल्लभ और हितहरिवंश सम्प्रदाय की मधुर भक्तिपरक साहित्य-सम्पत्ति के मूल में अवश्य ही कोई अध्यात्मवादी रस सिद्धान्त होगा। नन्ददास की 'रसमञ्जरी' से ऐसा संकेत अवश्य मिलता है पर 'भक्तिरसामृतसिन्धु' और 'उज्ज्वलनीलमणि' के समान उसमें व्यवस्थित शास्त्रीय विवेचन का अभाव है। काशिराम की छठी पीढ़ी में बताये जाने वाले गल्ता गद्दी के एक मधुरोपासक राम भक्त द्वारा सम्पूर्ण वाल्मीकि रामायण की मधुर रसपरक व्याख्या को देखकर राम भक्तों में भी उज्ज्वलनीलमणि के जोड़ के किसी न किसी ग्रन्थ का अनुमान किया जा सकता है। १८वीं सदी के अन्त और १९वीं सदी के प्रारम्भ-काल में अयोध्या के रसिक सम्प्रदायों के अन्तर्गत भी कोई मधुर रस सिद्धान्त अवश्य स्वीकृत हुआ होगा, ऐसा सोचना अनुचित नहीं होगा।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि वैष्णवाचार्यों का मधुर रस विधान पूर्णत आध्यात्मिक है। वह आत्मा-परमात्मा के आन्तरिक मिलन की मार्मिक अभिव्यंजना है। वृन्दावन के गोस्वामियों ने (रूपगोस्वामी, सनातन और जीवगोस्वामी) इस तत्त्व की जैसी व्याख्या की है वैसी किसी अन्य साहित्यिक रस विवेचक ने नहीं की। यह एक ओर बौद्धिक है और दूसरी ओर प्रेमाप्लुत। मनुष्य के भीतर के देवता को जगाने का यह प्रयत्न बहुत ही श्लाघ्य है।[1]

सारांश यह है कि मधुर रस के समान आस्वाद्य सा शास्त्रकारों व्यापक सान्द्र-सुख परमानन्द प्रदायक लोकोत्तर विलक्षण विराट् विशिष्ट विपुल वाङ्मय-परिपुष्ट तथा भक्ति शास्त्र, मानस शास्त्र, दर्शन शास्त्र और काव्य शास्त्र की कसौटियों पर खरा उतरने वाले रस को नहीं मानने का कोई कारण नहीं है। मधुर रसविषयक विपुल एवं विशिष्ट धार्मिक एवं साहित्यिक सम्पत्ति के विद्यमान रहते हुए भी तथा रस सिद्धि की सम्पूर्ण विशिष्टताओं के बावजूद इसे जो रस रूप में अस्वीकार किया जाता रहा है उसका एकमात्र कारण परम्पराभिमान ही हो सकता है अन्य कुछ नहीं। निश्चय ही इस प्रकार का परम्पराभिमान या परम्परानुमोदन साहित्य और साहित्य शास्त्र के नवीन पथों को अवरुद्ध करके उसके स्वतन्त्र चिन्तनधारा को रोक रखता है। अतएव साहित्य और साहित्य शास्त्र दोनों के सम्यक् अध्ययन और विकास की दृष्टि से इस प्रकार का मिथ्या परम्पराभिमान सर्वथा उपेक्षणीय है।

वस्तुत मधुर रस रस राज है। यह आदि रसात्मक भारतीय वाङ्मय का आदिरस है

---

[1] 'समालोचना' विशेषांक, अक्टूबर १९५२ में डॉ० द्विवेदी के 'वैष्णव रस सिद्धान्त' से।

जिनमें अनायास ही सभी रसों का अन्तर्भाव सहज ही सम्भव है। मधुर रस के सर्वश्रेष्ठ प्रतिष्ठापक श्री रूपगोस्वामी ने इस अलौकिक दिव्य रस राट की विराटता और निस्सीमता पर प्रकाश डालते हुए सत्य ही कहा है कि मधुर रस निस्सीम जलधि के समान अनन्त अपार और दुर्विगाह है। उन्होंने अलौकिक दिव्य रस राट मधुर रसार्णव के तट पर खड़े होकर ही इसका स्पर्श मात्र किया है।[1]

१ अनन्तस्यापारस्य तस्याब्धेर्दुर्विगाहतः।
स्पृष्टं परं तटस्थेन रसाब्धिर्मधुरो मया ॥ १॥ —उज्ज्वलनीलमणि रूपगोस्वामी।

उपसंहार

मधुर रस का वास्तविक स्रोत भक्तिशास्त्र है। भक्तिसाधना का एकमात्र प्रयोजन-तत्त्व प्रेम है। भक्ति-तत्त्व-वेत्ताओं ने भक्ति को परम प्रेम स्वरूपा तथा परानुरक्तिरीश्वर कहा जो माना है उनसे भक्ति के इसी अर्थ की प्रतीति होती है। 'प्रेमा पुमर्थो महान्' द्वारा भी भक्ति के लिए प्रेम-तत्त्व की अनिवार्यता की सिद्धि होती है। भगवद्रति क्रमशः प्रेम प्रणय मान स्नेह राग अनुराग भाव और महाभाव के रूप में वर्धमान होती हुई जब परमोत्कर्ष को प्राप्त होती है तब इसी का नाम भक्ति रसराज मधुर रस हो जाता है जो समस्त सौन्दर्यों का सौन्दर्य है और समग्र रसों का मधुर निर्यास है जिसके आनन्दातिरेक में जीवात्मा अथवा भक्त आत्मसम्भूत और परसम्भूत भावों से सर्वथा असंस्पृष्ट होकर चिदानन्दमय हो जाता है। सूर्य की किरण के समान अथवा अग्नि-स्फुलिंग के समान जीवात्मा नित्य रस स्वरूप प्रेम-स्वरूप और आनन्द-स्वरूप परमात्मा का अंश है। अतएव विशुद्ध प्रेमरस आनन्द ही जीव का प्रकृत स्वरूप या स्वभाव है। विषयावच्छिन्न चैतन्य ही शुद्ध अन्तःकरण की वृत्ति में उपारूढ़ होकर स्थायीभाव और रस-स्वरूप हो जाता है। संक्षेप में भक्ति श्रद्धा विश्वास और प्रेमपूर्ण भक्त हृदय की वह स्निग्ध मधुर मनोगति है जिसके सहारे उपासक अपने उपास्य के प्रति अपनी रुचि प्रवृत्ति और स्वभाव के अनुसार मान वाप रूप से अभिनिश्चित कर अनेक प्रकार के भावात्मक सम्बन्धों की उद्भावना करता है और उस नाम रूपातीत ब्रह्म को मधुर भाव-बन्धन में आबद्ध कर अनिर्वचनीय ब्रह्मानन्द का आस्वाद करता है। इस प्रकार मधुर भक्ति भक्त के विमल मानस से निःसृत स्निग्ध प्रेम की वह उज्ज्वल रस धारा है जिसके प्रवाह में लौकिक प्रेम या विषयानन्द अपने समस्त कलुषों का प्रक्षालन कर अलौकिक प्रेम या ब्रह्मानन्द में परिणत हो जाता है। लौकिक प्रेम का पारलौकिक प्रेम में रूपान्तरित हो जाने का तथा लौकिक प्रेम प्रतीकों द्वारा अलौकिक प्रेमाभिव्यञ्जन का यही रहस्य है।

भगवान् की ऐश्वर्य भाव-परक और माधुर्य भाव-परक लीलाओं में से प्रेम की अनन्यता की दृष्टि से माधुर्य भाव की लीला का ही सर्वोपरि स्थान है क्योंकि इसमें भक्त को भगवान् के प्रभुत्व अथवा ऐश्वर्य के बदले मानवीय रूप में ओत प्रोत माधुर्य रस के दर्शन होते हैं। माधुर्य भक्ति में भगवान् के साथ भक्त का आत्मीयतापूर्ण अन्तरंग सम्बन्ध स्थापित होता है और भगवान् पुत्र सखा पति और रूपों में उसका परम प्रेमास्पद बन जाता है। भगवत्प्रेम की इस सीढ़ी में भक्त को सहज ही मानसिक तन्मयता प्राप्त हो जाती है। मानसिक तन्मयता जब सहज प्रगाढ़ता की इसी विशिष्ट भाव-दशा में माधुर्य भाव उत्कर्ष को प्राप्त होकर रस रूप में निष्पन्न होता है जिसमें भक्त को सभी रूपों एवं सभी अवस्थाओं में स्निग्ध भावों के दर्शन होने

लगते हैं।

माधुय भाव की सरसता मधुरता प्रम की तीव्रता और सहज ही प्राप्त होन वाल अखडानन्द के आस्वाद के कारण माधुय भाव की भक्ति साधको के लिए अत्यधिक स्पहणीय है। *सामान्यत साधक काता भाव गोपी भाव और सखी भाव स मधुर रस का आस्वादन करता है* जिनम प्रमानुभूति की तीव्रता तन्मयता की दृष्टि स काता भाव सवश्रेष्ठ है क्योंकि इसक द्वारा उपासक अपन उपास्य के साथ प्रत्यक्ष रमण करता है। इसीलिए भगवान् क प्रति भक्त जितने प्रकार के भावात्मक सम्बन्धो की स्थापना करता है उनम कान्ता भाव-परक सम्बन्ध सर्वाधिक मधुर एव श्रेष्ठ है। कान्ता भाव परक मधर भक्ति म ही जीवात्मा अथवा भक्त प्रयसी और परमात्मा रूपी प्रियतम की मधुर प्रम-लीलाओ म ही माधुय भाव का चरमोत्कप होता है। जीवात्मा परमात्मा के दाम्पत्य भाव परक सम्बन्ध म प्रम के तीव्रतम रूप की अभिव्यजना होती है। इस दशा मे भक्त प्रयसी को प्रम के सयोग वियोग परक उन सभी भावो की अनुभूति होती है जिनका अनुभव लौकिक नायक नायिका को हुआ करता है।

कान्तादि विषयक लौकिक रस भी परमानन्द रूप ही है। उसम केवल जड के सम्पक से हीनता और न्यूनता आ जाती है। माधय भाव की भक्ति म अनवच्छिन्न चिदानन्दघन भगवान् का स्फुरण होन से उसकी परमानन्दरूपता प्रस्फुटित हो जाती है। निस्सीम समुद्र म सरिता का जसा मधुर मिलन होता है परम रसमय परम प्रममय और परम आनन्दमय परमात्मा क साथ जीवात्मा का मधुर सयोग भी वसा ही होता है। जीवात्मा परमात्मा भक्त प्रयसी और भगवान् प्रियतम का यही मधुर मिलन और तज्जन्य आनन्द मधुर रस का उत्स है।

भारतीय तत्ववेत्ताओ ने दार्शनिक सिद्धान्तो को स्पष्ट करने के लिए प्राय मनोविज्ञान का सहारा लिया है। मनुष्य की इन्द्रियो स प्रत्यक्ष रूप से सबद्ध होने के कारण साधना के क्षेत्र म आरम्भ स ही मन क महत्त्व को माना गया है। मन एव मनुष्याणा कारण बन्धमोक्षयो उक्ति स भी मन की अप्रतिम सकल्प विकल्प शक्ति और प्रभाव का परिचय मिलता है। ईश्वर के प्रति राग और ससार क प्रति विराग क लिए मन का अनुशासन आवश्यक है। वस तो मन की चचल वृत्तियो क तिरोभाव तथा सभी लौकिक वासनाओ क ईश्वरोन्मुख करने क पश्चात् ही मधुर रस-दशा का आविर्भाव होता है जिसम मन की अन्तर्बाह्य क्रियाशीलता और सकल्प विकल्प की शक्तियाँ सवथा विरल हो जाती हैं। इस दृष्टि स मधुर रस का क्षत्र कारण-काय सबध भाव से पर हो जान क कारण मनोविज्ञान की सामान्य आग का विषय बन जाता है। किन्तु जिन कारणो स निराकार निगुण ब्रह्म को साकार विग्रह रूप भगवान् बनना पडता है उन्हीं प्रयोजनो स नित्य रस-स्वरूप आनन्द-स्वरूप परमात्मा क नित्य लीला रस की अभिव्यक्ति क लिए लौकिक प्रम प्रतीको की ग्राह्यता भी सिद्ध होती है। यही वह बिन्दु है जहाँ भगवान् क प्रति भक्त क मधुर मनोभावो और मनोवेगो का उद्घाटन होन क कारण मधुर रस क मनोवैज्ञानिक विवेचन की आवश्यकता पडती है। मन की चतुर्विध अवस्थाओ म स तुरीयावस्था म ही पहुचकर साधक ब्रह्म-साक्षात्कार का महासुख प्राप्त करता है। मनुष्य क प्रत्यक मानसिक व्यापार म समष्टि रूप में मन की त्रिविध वृत्तियों—ज्ञान-वृत्ति भावना वृत्ति और क्रिया-वृत्ति का समाहार रहता है तथा व्यष्टि रूप में इनम स किसी वृत्ति विशष की प्रधानता रहती है। उपासना क क्षत्र म उपास्य क स्वरूप-बोध में ज्ञान माधुय-बोध म भावना और उसक प्रति शारीरिक विविध चेष्टाओं द्वारा

क्रियावृत्ति का सतत सम्पर्क बना रहता है। इस दृष्टि से भी मधुर रस के मनोवैज्ञानिक विवेचन की सार्थकता सिद्ध है।

सृष्टि के समस्त व्यापारों के मूल में आनन्दोपलब्धि की भावना प्रेरक शक्ति के रूप में सक्रिय रहती है। आनन्द अद्वैत है। इस अद्वैतानुभूति में ही मनुष्य को अद्वयत्व का बोध होता है। आनन्द का उद्रेक रसत्व है तथा उसका उपभोक्ता अहंभाव है। अतः आनन्द ही रस है। विषमता मूलक सृष्टि की विधात्मक प्रसूतियों के पारस्परिक आकर्षण में आनन्दोपलब्धि की यही प्रवृत्ति चरितार्थ होती है।

आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि में मनुष्य में काम की प्रवृत्ति एकत्व स्थापन अथवा पूर्णत्व प्राप्त करने की प्रवृत्ति सर्वमान्य और सर्वाधिक स्थायी आनन्द प्रदायक पदार्थ के अन्वेषण की प्रवृत्ति आदर्शवाद की प्रवृत्ति आत्मप्रतिष्ठा और आत्म रक्षण की प्रवृत्ति तथा अयुक्त काम वासना की प्रवृत्ति शाश्वत हैं। भक्ति भावना के मूल में इन्हीं प्रवृत्तियों की प्रेरणा सक्रिय रहती है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रेम या राग मानव जीवन का सर्वाधिक शक्त मौलिक भाव है। राग स्वविस्तार अथवा परस्पर संगमेच्छा जड़ चेतन सब में विद्यमान है। यही राग फ्रायड का काम है जिसे उन्होंने जीवन की मूल-शक्ति के रूप में स्वीकार किया है। मैथुन या प्रजनन वृत्ति मनुष्य की मूल वृत्तियों में एक प्रबल वृत्ति है तथा काम एक अनिवार्य मनोवेग है। काम संकल्प के इंगित पर ही विश्व के समग्र क्रिया कलाप चल रहे हैं। काम प्राणी मात्र का मूल प्रेरक भाव है काम ही प्रेम है काम ही सुख है और काम ही दाम्पत्य रति की संतुष्टि है। काम का यथार्थ रूप हृदय की सत्कामनाजन्य अथवा मानसिक प्रवृत्तिजन्य वह पवित्र उत्तम उज्ज्वल और आनन्दमय मधुर प्रभाव है जो संसार की सृजन शक्ति का उत्स है। सृजन ही आनन्द है और आनन्द ही रस है। संसार में सभी ज्ञात अज्ञात दृश्य अदृश्य रूप में एक दूसरे के साथ मधुर भाव बंधन में आबद्ध हैं एवं एक दूसरे के पारस्परिक सौन्दर्याकर्षण सम्मिलन आदि नानाविध प्रेम व्यापारों द्वारा काम के व्यापक प्रभाव को चरितार्थ कर रहे हैं। मधुरा भक्ति के मूल में भी यही काम वृत्ति कार्य कर रहा है जिसमें काम भावना का उदात्त रूप ही अभिव्यक्त होता है। यह भक्ति भावना स्वतन्त्र एवं सहज वृत्ति न होते हुए भी महत्त्व और प्रभाव की दृष्टि से सहज वृत्तियों के समान ही है।

काम जब ऐन्द्रिक सुख का विषय बन जाता है तब वह निम्नवासना मूलक हो जाता है किन्तु यही जब रूपान्तरित होकर परमार्थमूलक पुरुषार्थ का रूप धारण करता है तब वह मनुष्य को ऊर्ध्वगामी करता है और दिव्य प्रेरणा प्रदान करता है। उच्च स्तर पर पहुँचकर यही श्रद्धा भक्ति में परिणत होकर अलौकिक प्रेम का रूप धारण कर लेता है। जब लौकिक प्रेम जब ईश्वरोन्मुख प्रेम में परिणत हो जाता है तब रागमयी भक्ति साधना का प्रादुर्भाव होता है जिससे मधुर रस निःसृत होकर भक्त हृदय को आप्यायित करता है।

प्रेम भाव का सर्वस्व श्रेष्ठ स्थान रति भाव है और इसका उद्भव सर्वथा नैसर्गिक है। कामवृत्ति के स्थायीभाव रति और उसके व्यावहारिक रूप प्रेम द्वारा ही उसकी अभिव्यञ्जना होती है। पात्र भेद से यही प्रेम दास्य सख्य वात्सल्य और दाम्पत्य भाव के रूप में प्रकट होता है। दाम्पत्य प्रेम में प्रेम भाव का पूर्ण स्फुरण एवं काम भाव का उन्नयन होने के कारण स्वाद की

गौणता एव पराय की प्रमुखता रहती है जिससे मानव-हृदय म कोमल भावनाओ का उदय होता है। काम का उन्नयन दाम्पत्य आनन्द का स्वरूप है तथा दाम्पत्य प्रेम और ईश्वर प्रम का मनो दशाए समान हैं। काम के उन्नयन का व्यावहारिक रूप दाम्पत्य प्रम है और आदर्श रूप ईश्वर प्रेम है। दाम्पत्य प्रम अत्यन्त व्यापक एव आत्मा-परमात्मा के तादात्म्य का प्रतीक है। नर-नारी के रूप म दो हृदयो का अन्यतम अखिल विश्व जीवन की एकता के अनुभव-पथ का द्वार है। इस प्रकार काम वृत्ति का स्थायी भाव रति या प्रम भाव का ही भगवान् का मधुर भक्ति म रूपान्तर हो जाता है। यह रूपान्तर एक नय जन्म ग्रहण के समान है जिसमे पुरानी वैयक्तिक वृत्तियाँ भूजित बीज के समान सत्वहीन हो जाती हैं और परम प्रमानन्द स्वरूपा मधुरा भक्ति का प्रादुर्भाव होता है। फलत लौकिक प्रम के अलौकिक प्रम मे रूपान्तरित हो जाने पर सामान्य नायक नायिका के मिलन विरह प्रसगो के अनुरूप ही जीवात्मा अथवा भक्त रूपी प्रिया और परमात्मा रूपी प्रियतम के मिलन विरह प्रसगो की भाव-दशाए परिलक्षित होने लगती हैं। साधक शक्तिमान और उसकी शक्तिया के मध्य मानवीय रस से परिपूर्ण दाम्पत्य भाव-सबध की अव तारणा द्वारा आध्यात्मिक परिणय की शाश्वत अभिव्यञ्जना करता है। उसकी यही अनन्य प्रम दशा सर्वोत्तम मधुरा भक्ति की भाव दशा है जिसकी चरम परिणति ही मधुर रस की सिद्धि है।

विश्व जगत का विषय होने के कारण धार्मिक तथा आध्यात्मिक अनुभूतियो स मधुर रस का घनिष्ठतम सम्बन्ध है। धार्मिक एव आध्यात्मिक अनुभूतियो का सम्बन्ध मनुष्य के सम्पूर्ण चेतना-मूलक जीवन स है। धम चेतना म मनुष्य को सम्पूर्ण अखण्ड अनुभूतियो के प्रत्यक्ष एकता रूप के दशन होते है। दृश्यतेऽनेन इति दर्शनम् स यह स्पष्ट है कि जीवन के किसी मूल तत्त्व या परम सत्य का विवेचन करना ही दशनशास्त्र का प्रतिपाद्य है। दशनशास्त्र जीवन के मूल तत्त्व या परम सत्य स सम्बद्ध तथ्यो को तक शास्त्रीय एव अन्य मूल्यो के आधार पर स्पष्ट करने का प्रयास करता है। कुछ दार्शनिक इन्द्रिय अनुभव के आधार पर तर्कार्जित सत्य को ही अन्तिम सत्य मानते हैं और कुछ स्वय प्रज्ञा ज्ञान क्षेत्र म प्रवेश कर तर्कातीत सत्य को ही परम सत्य स्वीकार करते हैं तथा बुद्धि द्वारा उसके स्वरूप का प्रकाशित करने का प्रयास करते है। मूल तत्त्व के ऐसा स्पष्टीकरण विवेचन विश्लेषण क परिणामस्वरूप अनेक दार्शनिक सिद्धान्तो की स्थापना हुई है।

भारतीय चिन्तन के इतिहास म ज्ञानोपलब्धि की प्रक्रिया और उपलब्ध ज्ञान उभय रूपो म दशन शब्द का प्रयोग हुआ है। जहाँ तक अध्यात्म-साधना और अध्यात्म शास्त्र का प्रश्न है वे दर्शन के इन द्विविध अर्थों म शत प्रतिशत अनुप्राणित हैं। इनके अतिरिक्त साहित्य और साहित्य शास्त्र भी ज्ञानोपलब्धि की प्रक्रिया और उपलब्ध ज्ञान दोनो रूपो म दार्शनिक मतवादो म प्रभावित हैं। इसका मूल कारण यह है कि साहित्य शास्त्र और दशन शास्त्र दोनो अपनी अपनी पद्धति म मानव अनुभवो के मूलभूत सत्य का प्रकाशन और परम सत्य का सधान करते हैं। भारतीय साहित्य-शास्त्र-वेत्ता दशनशास्त्र के भी ममज्ञ थे। अतएव उन्होने ब्रह्मास्वाद रसास्वाद म कोई तात्त्विक अन्तर नहीं माना तथा न्याय मीमासा साख्य, तन्त्र शैव और वेदान्त दर्शन का सहारा लेकर काव्य रस का अनेक प्रकार स व्याख्यान किया। परमशिव और परम आनन्द का मिलन अनुभूति म ही सत्य शिव और आनन्द का सम्मिलन होता है। यही वह सत्य है जहाँ साहित्य और दर्शन का एकात्म सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और मधुर रस की

धारा चिंतन और अनुभूति के कगारों से प्रवाहित होने लगती है।

क्षुधा, काम-वासना आदि मूल वृत्तियों से सम्बद्ध आवश्यकताएं जिस तरह उन्हें पूर्ण करने वाले पदार्थों की सत्ता को सिद्ध करती हैं, उसी तरह उपासना की आवश्यकता का अनुभव भी यह सिद्ध करता है कि कोई उपास्य सत्ता या देवता है जिसके प्रति उपासक अपने स्वभाव, रुचि और प्रवृत्ति के अनुरूप भावात्मक सम्बन्धों की उद्भावना करता है। इनसे सम्बद्ध धार्मिक आध्यात्मिक अनुभूतियाँ प्रेम और सौन्दर्य की अनुभूतियों के समान ही अनूप हैं। ईश्वर का अस्तित्व-बोध, दुःख की आत्यंतिक निवृत्ति तथा शाश्वत आनन्द-लाभ आध्यात्मिक साधना का मूल प्रयोजन है। अध्यात्म-क्षेत्र में मधुर भाव की साधना का यही मूल कारण है। मनुष्य के हृदयस्थित मधुर भाव का मूल अभिप्राय शाश्वत आनन्द प्राप्ति है। यह आनन्द तत्त्व मनुष्य के कर्मों या संस्कारों के अनुरूप प्रकट होता है। मधुरोपासना द्वारा इसी की अभिव्यंजना होती है।

सृष्टि की उत्पत्ति का कारण, जड़ और चेतन का भेद, विश्व और जीवन की उत्पत्ति, जीव, जगत और ब्रह्म का स्वरूप, शाश्वत आनन्द-लाभ, जरा-मरण भय से त्राण आदि कुछ ऐसे शाश्वत प्रश्न हैं जो मानव चेतना के विकास से सम्बद्ध हैं। युग-युग में इन्हीं मूल प्रश्नों का समाधान ढूंढने का प्रयास किया जाता रहा है। मनुष्य ने अपने अर्जित ज्ञान के आधार पर अनुभव किया है कि सृजन का आनन्द ही सृष्टि का प्रेरक तत्त्व है। सभी तत्त्व एक ही विराट चेतना के भिन्न भिन्न रूप हैं। सभी पारस्परिक मधुर प्रेमाकर्षण के कोमल तन्तु में आबद्ध हैं। सृष्टि के मूल में ईक्षण शक्ति, प्रेरणा, आकर्षण और सम्मिलन की मधुराकांक्षा सन्निहित है। यह सृष्टि प्रजात्मा एवं पुरुष दाम्पत्य अनुरंजन का परिणाम है। इस तरह सृष्टि का सूत्रपात मूलतः मैथुनी है और जगत के समस्त पदार्थों का कारण, आधार और लय आनन्द ही है। यही आनन्द मधुर रस का आस्वाद्य है।

मधुर रस के विषयालम्बन ब्रह्म और आश्रयालम्बन उसकी शक्तियों में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। इसे सभी ईश्वरवादी दार्शनिक सिद्धान्त स्वीकार करते हैं। यद्यपि ब्रह्म और उसकी शक्तियों के तात्त्विक-स्वरूप और पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर ईश्वरवादी दर्शन के क्षेत्र में अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, द्वैतवाद, अचिन्त्य भेदाभेदवाद, सर्वेश्वरवाद आदि दार्शनिक मतवादों की स्थापना की गई है, तथापि सबने प्रकारान्तर से ब्रह्म और उसकी शक्तियों की एकात्मता का अनुमोदन किया है। वैष्णवाचार्यों ने मूल में अद्वैत को मानते हुए भगवत्प्रीत्यर्थ भाविक द्वैत की तथा नाम और रूप की उपासना द्वारा भगवान के भावाश्रित रूप की कल्पना की है। प्रेम की अनन्यता और आत्मनिवेदनासक्ति के चरमोत्कर्ष की दृष्टि से भगवान् की यही भावना विनिर्मित साकार रूप भक्तों का उपास्य है। भक्ति के क्षेत्र में राधा-कृष्ण तथा सीता-राम की युगलोपासना का यही रहस्य है। पुष्टि दर्शन का यही मूलमंत्र है। भक्तों के लीलागान का यही मर्म है।

वैष्णवाचार्यों के दार्शनिक सिद्धान्तों में व्यष्टि रूप में यद्यपि परस्पर विभेद लक्षित होते हैं, तथापि समष्टि रूप में उनमें मौलिक समानताएं हैं। सबने एकमात्र विष्णु भगवान् की आराधना को व्यापक रूप में ग्रहण किया गया है तथा राम और कृष्ण को विष्णु का ही भिन्न रूप माना गया है। इनमें शंकराचार्य के अद्वैतवाद और मायावाद की समालोचना, ईश्वरावतार, भक्ति की अनिवार्यता, अनन्य प्रेमाश्रित विशुद्ध भक्ति, शरणागति, नाम माहात्म्य

सदाचार रूपोपासना एव लीला माहात्म्य पर पर्याप्त बल दिया गया है। ये ही सारे तत्त्व सगुणोपासक भक्तों की मधुर रस साधना के प्रेरक स्रोत हैं जिनमें सर्वोपरि है लीला-तत्त्व। वैष्णव दर्शन की अभिनव कल्पना—यह लीला तत्त्व ही मधुर रस का उत्स है जहाँ से भागवत रस की प्रमोज्ज्वल सुधाधारा युग युग से प्रवाहित होती रही है। परिष्कृत वैष्णव निर्गुनिया सन्तों ने भी *वैष्णवाचार्यों की दार्शनिक एवं साधनागत उपयुक्त उपलब्धियों में से भक्ति-तत्त्व नाम तत्त्व,* प्रपत्ति अनन्य प्रेमासक्ति आदि तत्त्वों का ग्रहण कर निर्गुण भक्ति का अत्यधिक प्रचार किया है तथा राजा राम को अपना प्रियतम और अपने आपको उसकी प्रियतमा के रूप में कल्पित कर मधुर रस की मार्मिक अभिव्यञ्जना की है।

सांख्य दर्शन के अनुसार पच्चीस तत्त्वों में पुरुष और प्रकृति ही दो मूल तत्त्व हैं। विषम गुणवाले इन दोनों के योग से ही सृष्टि की स्थिति है। पुरुष समस्त पदार्थों में विद्यमान रहता हुआ भी अलिप्त है किन्तु प्रकृति अपने प्रपंच-जाल में पुरुष को नित्य ही फँसाने का प्रयत्न करती है। पुरुष और प्रकृति के संयोग से जगत की स्थिति उसी प्रकार है जैसे अग्नि की उत्पत्ति सूर्य एव दर्पण के संसर्ग से होती है। जिस तरह चुम्बक के संसर्ग से सुई गतिशील हो उठती है वायु के संयोग से समुद्र में तरंग उठने लगती हैं और सूर्य के प्रकाश से नेत्र भिन्न भिन्न रूपों को ग्रहण करते हैं उसी प्रकार पुरुष और प्रकृति के संयोग से सृष्टि की रचना होती है। सांख्य दर्शन के पुरुष प्रकृति तत्त्ववाद के आधार पर ही मध्यकालीन धर्म साधना के क्षेत्र में जीवात्मा और परमात्मा शक्तिमान और उसकी शक्तियों के दाम्पत्य प्रेम-सम्बन्ध की अवतारणा की गई है जो साधना साहित्य के भावात्मक रहस्यवाद तथा मधुर रस साधना का सुरम्य संस्थान है।

योग-दर्शन जीवात्मा परमात्मा के तादात्म्य स्थापन की विशिष्ट प्रणाली का प्रतिष्ठापक है। *चंचल चित्तवृत्तियों का निरोध करना ही इसका मुख्य लक्ष्य है। सम्पूर्ण योग दर्शन* अन्तस्साधना पर आधारित है। योग साधना से सम्बद्ध समग्र व्यापार काया में ही सम्पन्न होते हैं। साधक को इस विशिष्ट साधना पद्धति में निष्णात होने के लिए क्रमश यम नियम आसन प्रत्याहार ध्यान धारणा और समाधि—योग के इन आठ अंगों की साधना करनी पड़ती है तथा साधक को इनकी पूर्णाप्ति के उपरान्त ही सच्चिदानन्द स्वरूप के दिव्य दर्शन होते हैं और वह जीवात्मा परमात्मा के मध्य तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करने में समर्थ होता है। मन का लय ही योगियों का चिर साध्य है। इसी अभीष्ट की सिद्धि के लिए योग के अनेक भेदों की अवतारणा हुई है। मन के लय का सर्वोत्तम साधन नादानुसंधान है। योग दर्शन में नाद और बिन्दु के सम्मिलन का वर्णन ही मधुर चर्चा की गई है। जिस तरह मकरन्द-पान में मस्त भंवरा गन्ध की ओर ताकता भी नहीं उसी प्रकार योगी का चित्त नाद में ही रम जाता है। अन्तस्साधना मूलक यौगिक प्रक्रियाओं में भी किसी न किसी रूप में मधुर रस के स्वरूप का स्पष्टीकरण किया गया है। इस दृष्टि से राजयोग लययोग मन्त्रयोग और हठयोग का विशेष महत्त्व है। राजयोग की साधना बहिर्जगत के भीतर अन्तर्जगत की मानसिक प्रत्यक्षीकरण है। यह मुख्यत मन-साधना से सम्बद्ध है। इसका साधक मायामय संसार के मध्य रहकर भी उससे निर्लिप्त रहता है। फलत ज्ञान और भक्ति के समन्वय के कारण राजयोग में मधुर रस का सन्निवेश अनायास ही हो जाता है। यौगिक साधक भाव की दृष्टि से योग-साधनाओं में हठयोग का विशेष महत्त्व है। इसके अन्तर्गत तान्त्रिक प्रभाव के कारण इड़ा और पिंगला प्राण और अपान

कुंडलिनी शक्ति और सदाशिव के मधुर मिलन और तज्जन्य आनन्द का—महारसपान की बड़ी ही प्रगल्भ कल्पना की गई है। वयक्तिक शरीर में महान् विश्व शक्ति का प्रतीक कुण्डलिनी शक्ति जब जाग्रत होकर क्रमशः मूलाधार स्वाधिष्ठान मणिपूरक अनाहत, विशुद्धाख्या आज्ञाचक्रों का भेदन करती हुई सातवें चक्र सहस्रार म प्रवेश करती है तब वहाँ परमात्म पुरुष शिव के महामिलन की अनेकानेक भाव भूमियों की परिकल्पना द्वारा यौगिक मधुर रस-साधना का बड़ा ही व्यापक एव सरस स्वरूप प्रस्तुत किया गया है।

तन्त्र अद्वतवाद का साधना-माग है। कुलाणव तन्त्र के अनुसार परब्रह्म निष्कल शिव सवज्ञ आद्यन्तहीन निर्विकार और सच्चिदानन्दस्वरूप है तथा जीव और जगत् अग्नि-स्फुलिंग के समान उसी स उद्भूत हैं। ब्रह्म अंशी है और जीव अंश है। पूणता प्राप्ति के लिए अंश रूप जीव का अंशी ब्रह्म स तादात्म्य भाव ही मधुर रस का तात्त्विक स्वरूप है। तन्त्र के सप्त आचारों म कौलाचार को सव श्रेष्ठ माना गया है। कुंडलिनी शक्ति को कुल तथा परमशिव को अकुल मान कर दोनों का सयोग करान वाले साधक को ही कौल या कुलीन की सज्ञा दी गई है। कुण्डलिनी के प्रति किये गए आचार ही कुलाचार हैं जो पचमकार द्वारा अनुष्ठित होते हैं। वामाचार म मद्य मासादि-सेवन करन एव पर-स्त्री के साथ मथुन करने का विधान है। इसम पचविधान द्वारा भरवी चक्र की साधना की जाती है। इसम साधक साधिकाओं के साथ मद्यादि-सेवन तथा परस्पर मनोरथ सुखों की पूर्ति करते हैं। भरवी चक्र म सुरापान तथा विभिन्न वर्णों की स्त्रियों को पचशक्ति के रूप म परिकल्पित करन एव इनका सेवन करने के कारण रहस्यमय तान्त्रिक माधुर्य भाव की अवतारणा की गई है जिसस मधुर रस के तात्त्विक स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। बीजाक्षर मडलचक्र आदि तान्त्रिक साधना के गुह्य अनुष्ठानों के प्रमुख अंग हैं जिनम मधुर रस साधना के तात्त्विक स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

शवमत मे आगमशास्त्र स्पन्दशास्त्र और प्रत्यभिज्ञाशास्त्र को त्रिक दशन की सज्ञा दी गई है। त्रिक दशन का सर्वोपरि अनुशासन सामरस्य है। इसके अनुसार शिव चतन्य-स्वरूप होने के कारण प्रत्येक पदाथ के साथ तादात्म्य स्थापित करके ज्ञान कराते हैं अपनी शक्ति के साथ सतत लीलारत होकर प्रीति जगाते हैं और शक्ति के ऊपर वशी होने के कारण अप्रतिहत इच्छा शक्ति उत्पन्न करते हैं। काश्मीरी शव-साधना का मधुरोपासनापरक उपयुक्त मान्यता ही ज्ञान कम और भक्ति शिव शक्ति और सौंदर्य एव योग ज्ञान और भक्ति के समन्वित रूपों म पल्लवित हुई है जिसम मधुर रस साधना का माग स्वत सिद्ध हो जाता है। शव-दर्शन के अन्तगत रसवाद एक नूतन दार्शनिक चिन्तन-पद्धति का परिचायक है। ज्ञान के साथ भक्ति तथा दर्शन के साथ भावना का [illegible] सयोग होते ही मधुर रस प्रवर्धित होने लगता है। [illegible] के प्रति

पान्न द्वारा [illegible] र की भूमि म ऊपर उठाकर रस या स्फुरण सर्वोत्तर चमत्कार

अर्थ [illegible] भूमि पर पहुँचाकर मधुर रस-साधना के स्वरूप का स्पष्ट किया [illegible] गम के द्वनवाद पर अद्वतवाद का स्थापना की गई है। [illegible] रामार्गों म ऊपर उठाकर उसकी विरागता म उस पुन परिनिष्ठ [illegible] के समान हो इसन बहुत अधिक मात्रा म [illegible] [illegible] दर्शन म शिव की शिव रूप म स्थापना हुई है [illegible] [illegible] हुई है। मधुर रस के सद्धान्तिक निरूपण का दृष्टि स

पंजाब [illegible]
एकार सा[illegible]

है। बिन्दु दोनों के संयोग का द्योतक है। ब्राह्मण-तन्त्रों में शिव शक्ति-सम्मिलन के समान ही वज्रयान दर्शन का एव तत्त्व प्रज्ञोपाय के युगनद्ध रूप का सूचक है। इसी एव तत्त्व को वैष्णव साधना मे युगल मूर्ति तान्त्रिक साधना म यामल और बौद्ध साधना म युगनद्ध के रूप म स्वीकार कर मधुर रस की मनोरम उद्भावना की गई है। वज्रयान दर्शन के अन्तर्गत गुरुतत्त्व की मिथुनाकारता तथा भाव एव सत्ता ज्ञान पारमिता साधन एव महासुख बोधिचित्ताभिषेक पचध्यानी बुद्ध और उनकी भार्याओ की सम्भोग लीला पच मुद्रा-साधना चतुर्विध आनन्द चतुर्काय सिद्धान्त महासुख महाराग पचमकार युगनद्ध तत्त्व बोलक्कोल योग महासुख सहज विलास आदि दार्शनिक तत्त्वों की अति सूक्ष्म विवेचना की गई है तथा उनके आधार पर मधुर रस के तान्त्रिक स्वरूप का सूक्ष्म निरूपण किया गया है।

वज्रयान योग दर्शन के अन्तर्गत वज्रयानी नाडीविज्ञान चक्रविज्ञान प्राण साधना आदि के माध्यम से सिद्धाचार्यों के सहज विलास की सूत्रधारिणी तथा बोधिचित्त का मध्यपथ से उष्णीष कमल म पहुचाने वाली तथा महासुख रस पान कराने वाली सहज सुन्दरी भगवती नैरात्मा के मधुर भाव विलास के वर्णन द्वारा मधुर रस के साधनात्मक स्वरूप का बडा ही उदात्त निरूपण किया गया है।

त्याग एव वैराग्य प्रधान जैन धर्म-दर्शन मे वीतराग भगवान् के प्रति अनुराग भक्ति का विधान किया गया है। आचार्य जोगीन्दु के अनुसार पर म किया गया राग पाप का कारण है। वीतराग परमात्मा पर नहीं अपितु स्व आत्मा ही है। अतएव जिनेन्द्र म किया गया राग स्व का राग कहलाने के कारण मोक्षदायक माना गया है। तान्त्रिक प्रभाव के कारण जिन शासन की अधिष्ठात्री देवियों से परिसेवित जिनेन्द्र की उद्भावना के मूल म परम्परागत माधुर्य भाव साधना क्रियाशील दृष्टिगत होती है।

इस्लाम के प्रेम प्रवण रहस्यवादी साधकों को सूफी कहा गया है तथा उनके दर्शन को 'तसव्वुफ' की सज्ञा दी गयी है। सूफियों के इल्हाम के विधायक कर्मकाडी नबी हैं जिन्हें शामियों म नबी सन्तान कहा गया है। सूफी साधना के सर्वस्व माधुर्य भाव के जन्मदाता ये नबी ही हैं जिनकी सुरा सेवन आदि प्रवृत्त्यात्मक भावनाओं एव धारणाओं की रक्षा का सच्चा प्रयत्न सूफी मत का तसव्वुफ है। तसव्वुफ के अनुसार ईमान का वास्तविक आधार अल्लाह है। उसकी सार्वभौम सत्ता और शक्ति असीम है। वह अल्लाह एकमात्र सर्वशक्तिमान परमेश्वर ही नहीं है अपितु परम प्रमास्पद और निरतिशय सौन्दर्य निधि भी है। सूफी साधक इसी प्रियतम के वियोगी हैं और रात दिन उसके समागम सुख के लिए लालायित रहते हैं। वे अल्लाह की अज्मकुर्मों के बजाय उसके जमाल पर अपने को कुर्बान करते हैं। सूफी तत्त्व चिन्तक सम्पूर्ण दृश्य जगत् म एकमात्र परमात्मा की सत्ता की परिव्याप्ति देखता है। वजूदिया। शुहूदिया नामक सूफी तत्त्व चिन्तको के दो वर्ग हैं जो क्रमश प्रसिद्ध दार्शनिक मुहिउद्दीन इब्नुल अरबी और शाह करीमेजीली के तत्त्व चिन्तन म प्रभावित हैं। अरबी और जीली के तत्त्व दर्शन म वही अन्तर है जो अन्तर शकराचार्य और रामानुजाचार्य के तत्त्वदर्शन म है। जीली के अनुसार जात जमाल जलाल और कमाल ये अल्लाह के चार गुण हैं। इन्हीं के अनुरूप क्रमश सत्ता माधुर्य ऐश्वर्य और अद्भुत—अल्लाह के ये चार रूप हैं। अल्लाह और इन्सान बर्फ और पानी की तरह तत्त्वत एक ही हैं। इस प्रकार जीवात्मा और परमात्मा के प्रेम-व्यापार के रूप म सत्ता ही सत्ता से प्रेम करता है। क्योंकि

प्रेमी और प्रियतम के युगल स्वरूप में एक ही मिथुनाकार आत्मा निवास करती है। निखिल सौन्दर्य रसानन्द स्वरूप परमात्मा ही सृष्टि के रूप में अपने आपको अभिव्यक्त करता है। यह जगत् परमात्मा के अनन्त सौन्दर्य का आगार है। सूफी साधक परमात्मा रूपी परम प्रियतम के रोम रोम में समा जाने के लिए निरन्तर प्रेम की पीर में तड़पते रहते हैं। वे सतत परम प्रियतम का प्रेमी बनकर ही रहना चाहते हैं। अपने प्रियतम के प्रेम में लीन होना ही उनका चिर काम्य है। इस प्रकार सूफी दर्शन भाव प्रधान अन्तवाद का प्रतिपादक है तथा इश्कमजाजी द्वारा इश्क हकीकी को प्राप्त करने का समर्थक है। सम्पूर्ण सूफी दर्शन प्रेमवाद पर आधारित है जो मधुर रस का आधार स्तम्भ है।

सामान्य रूप से मधुर रस का साध्य-तत्त्व जीवात्मा और परमात्मा का भक्त प्रेयसी और भगवान् प्रियतम का दाम्पत्य प्रेम परक एकात्म भाव है। यही मधुर रस-साधना का चिर साध्य है। जीवात्मा और परमात्मा के तात्त्विक स्वरूप और पारस्परिक प्रेम संबंध के निर्धारण एवं सम्यक् स्पष्टीकरण के लिए विभिन्न युगों में विभिन्न धर्माचार्यों ने जिन अनेकानेक द्वैत अद्वैत आत्म अनात्म-परक दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है उन सबका मधुर पर्यवसान प्रेम दर्शन के सार्वजनीन एवं सार्वभौम सिद्धान्त के रूप में होता है। प्रेम-दर्शन का यह सिद्धान्त अन्तश्चेतना के रूप में सभी प्रकार के तत्त्व दर्शनों के अन्तर्गत विद्यमान है। सगुण निर्गुण साधनात्मक एवं भावात्मक सभी प्रकार के साधकों ने ब्रह्म एवं उनकी शक्तियों के रागात्मक संबंध की सिद्धि के लिए प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से प्रेम को ही परम पुरुषार्थ माना है और प्रेम-दर्शन के सिद्धान्त को ही प्रमुख साधन-तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है। प्रेम रसायन का यह अनुपम आस्वाद मूकास्वादनवत् केवल अनिर्वचनीय है जिसे प्राप्त कर प्रेमी-साधक प्रेम को ही देखता है प्रेम को ही सुनता है और प्रेम का ही चिन्तन और वर्णन करता है। ईश्वरीय प्रेम गुण रहित कामना रहित प्रतिक्षण वर्द्धमान अविच्छिन्न, अतिसूक्ष्म एवं स्वानुभवकगम्य है। इसीलिए कहा गया है कि ब्रह्म को ज्ञानमय समझने वाले उसके एक लघु-अंश को ही जान पाते हैं किन्तु उसको प्रेममय समझने वाले उसके सम्पूर्ण रूप को ही जानने में समर्थ होते हैं। प्रेम मूलतः आध्यात्मिक है। उसमें तत्सुखे सुखित्व की प्रधानता है। आनन्द प्रेम का शाश्वत धर्म है। उदात्त दैवी अनुभूति का आधार प्रेम-तत्त्व ही है। प्रेम नित्य आत्मा का शाश्वत धर्म है। यह आत्मा का रसमय अनुभव है। आत्मतत्त्व की स्निग्ध मनोभूमि पर प्रेम की उदात्त अनुभूति ही साधक की मधुरोपासना का मूल मंत्र है। यही मधुर रस का शाश्वत स्वरूप है, जिसकी मधुर परिणति आत्मा और परमात्मा के दाम्पत्य प्रेम संबंध में होती है।

प्रसंग के अनुसार 'रस' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया गया है। रस के भौतिक और मानसिक दो रूप हैं। भौतिक रूप में रस स्थूल इन्द्रिय-सुख या स्वाद का द्योतक है तथा मानसिक रूप में वह सूक्ष्म अतीन्द्रिय सारभूत तत्त्व और अलौकिक आनन्द का आनन्द या आस्वाद का उद्बोधक है। इस प्रकार रस मूलतः आनन्दस्वरूप तथा आस्वाद्य है। भरत ने 'रस' को नाट्य में सौरभ और सौन्दर्य का विधायक माना है। शतपथ ब्राह्मण में 'रसावयव' कहकर ब्रह्म को रसमय और मधुमय कहा गया है। प्राण के अधिश्वर परानल में ही स्थूल भूतों में मधुर रस का अवतरण होता है। प्राणों में मधु रस का जो अनुभव होता है वह प्राण मात्रा या स्नेह के सूक्ष्म स्रोतों से ही निःसृत है। बाह्य विषयों में मधुरास्वाद पानेवाला मन जब उलटा रति से बढ़कर

अपनी आत्मा के अन्तर्देश में मधुर रसास्वाद खोजता है तब उसे अपने ही चैतन्य-केन्द्र में मधु रस का भरा हुआ पात्र प्राप्त हो जाता है। इसी मधुरस-कोष की उपलब्धि भक्ति किंवा मधुर रस का आस्वाद और जीवन का उपनिषद् है।

भारतीय चिन्तन के इतिहास में रस की कल्पना अति प्राचीन है। आचार्य द्रुहिण से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक संस्कृत साहित्य शास्त्र में रस निष्पत्ति रस का स्वरूप रस की संख्या आदि सम्बद्ध विषयों पर गम्भीरता पूर्वक विचार होता रहा है। मानव जीवन के वैविध्य मानव चेतना के विकास और उसके स्वभावों की संकुलता के अनुरूप नये-नये नवरसेतर रसों की कल्पना भी होती रही है जिनमें भक्ति किंवा मधुर रस विशेष उल्लेखनीय एवं महत्वपूर्ण है।

वैष्णवाचार्यों ने भक्ति को प्रधान रस मानते हुए शान्त दास्य सख्य वात्सल्य और मधुर को मुख्य रस तथा हास्य अद्भुत वीर करुण रौद्र भयानक और बीभत्स को गौण रस माना है। गौडीय वैष्णवाचार्यों ने राधाकृष्ण को आलम्बन बनाकर मधुर रस का सावयव निरूपण किया है तथा उसे भक्ति रसराज कहा है। भगवान के प्रति जीवात्मा अथवा भक्त प्रेयसी की मधुरा रति ही मधुर रस का स्थायी भाव है जो उभय आनन्दप्रद तथा मिथः सम्भोग है। निखिल सौन्दर्य रसानन्द मूर्ति नित्य रसमय प्रेममय और आनन्दमय परमेश्वर ही इसका विषयालम्बन तथा जीवात्मा और भक्त रूपा हरि वल्लभाएं ही इसके आश्रयालम्बन हैं। भगवान् और उनकी वल्लभाओं की नित्य प्रणय लीला ही प्रत्युत मधुर रस की आत्मा है। रूप गुण-लीला धाम भगवान् के गुण चेष्टा चारु चरितावली तथा उनकी लीला माधुरी से सम्बद्ध समग्र विषय इसके उद्दीपन विभाव हैं। स्मित नृत्य गानादि अनुभाव एवं स्तम्भादि सात्त्विक अनुभाव हैं। निर्वेद हर्षादि तैंतीस संचारी भाव हैं। इस प्रकार युक्त विभावों अनुभावों संचारी आदि भावों द्वारा सहज शुद्ध स्नेहधारा अनुकारिणी भक्ति माहात्म्य बोधजा प्रेम परिपक्वता सात्त्विक रति रूप भाव या वृत्ति भगवान के ऐश्वर्य-बोध के साथ नाना भूमिकाओं में विकसित होकर जब भक्त हृदय में रसास्वादन की स्थिति तक पहुंचती है तब भक्ति रसराज मधुर रस की निष्पत्ति होती है। सर्वोपरि ममता और प्रीति की प्रगाढ़ता से परिपुष्ट अनन्य प्रेम भाव तथा तादात्म्य भाव से सवलित करता भाव के माधुर्य से मधु वेष्टित उत्कर्षात्मक मधुर रस जब परकीया भाव से अनुष्ठित होता है तब स्वयं रसास्वादन में माधुर्य की पराकाष्ठा हो जाती है। वस्तुतः वैष्णव रस-साधना में स्वकीया और परकीया दोनों भावों में मधुर रस के अनुष्ठित होने का विधान है। साधन भक्ति द्वारा चित्त के समापन होने पर जब वृत्ति सुस्थिर हो जाती है तब वह वृत्ति-मात्र न रहकर भक्ति बन जाती है। इसी स्थिति में भक्त की या साधक की भक्ति किंवा मधुर रस की अनुभूति होती है।

जड़ जगत् को चिज्जगत् का प्रतिफलन कहा गया है। इसीलिए प्रतिफलन के कारण चिज्जगत् और जड़ जगत में रसों की स्थिति में भी भिन्नता आ जाती है। फलतः जड़ाभिमुख होने के कारण जिस कान्ता रति को निकृष्ट लौकिक शृंगार माना जाता है उसके चिदुन्मुख हो जाने पर उसे सर्वोत्कृष्ट मधुर रस की मान्यता दी जाती है। अतएव मधुर रस शृंगार रस का भक्ति परक नाम नहीं है अपितु उससे सर्वथा भिन्न सत्ता रखनेवाला स्वतंत्र रस है क्योंकि शृंगार जहाँ कामाश्रित एवं लौकिक है वहाँ मधुर रस विशुद्ध रूप से प्रेमाश्रित और अलौकिक है। मधुर रस में प्रेम भक्ति आनन्द और सौन्दर्य के परस्पर सम्बद्ध होने के कारण प्रेम की आन्तरिकता का

चरमोत्कष हो जाता है। अलौकिक माधुय से मन रूपी चातक को परितृप्त करन वाले सवश्रेष्ठ मधुर रस का उद्‌भव बडा ही कठिन एव दुरूह है।

वष्णव रस शास्त्र के अन्तगत मधुर रस के उभय पक्षा म सभोग की अपेक्षा विप्रलम्भ को अधिक महत्व दिया गया है, क्योकि विप्रलम्भ की अवस्था म ही प्रेम पूणता को प्राप्त होता है।

प्राचीन आचार्यों के साथ साथ कतिपय आधुनिक विद्वानों न भी भक्ति किंवा मधुर रस को स्वतत्र रस माने जाने का विरोध किया है तथा उस देवता विषयक रति मानकर भाव की कोटि म ही परिगणित किया है एव शृगार, शान्त, अद्‌भुत आदि रसो म ही उसके अन्तर्भाव का प्रयास किया है। किन्तु मधुर किंवा भक्ति रस की निष्पत्ति रस विधायक तत्त्व और आस्वाद योग्यता को देखते हुए मधुर रस को स्वतत्र रस रूप म स्वीकार नही किये जान का परम्परा भिमान को छोडकर और कोई दूसरा बौद्धिक आधार नही है।

वस्तुत शान्त शृगार करुण वीर अद्‌भुत, भयानक बीभत्स आदि रसो से भक्ति किंवा मधुर रस की सवथा पृथक सत्ता है तथा यह अपनी व्यापकता प्रम भाव की तीव्रता विक्रिया शीलता और मधुरता की अतिशयता की दृष्टि स सवश्रेष्ठ रस है। इसकी इसी विलक्षणता को देखते हुए इसे भक्ति रसराज कहा गया है। मधुसूदन सरस्वती क शब्दो म ऐकान्तिक रूप मे पूण सुखमय मधुर रस के सामने अन्य रस वसे ही क्षुद्र प्रतीत होते हैं जसे आदित्य क समक्ष खद्योत। रूप गोस्वामी ने तो मधुर रस के आनन्दास्वाद के समक्ष समाधिजन्य ब्रह्मानन्द को परमाणु-तुल्य भी नहीं माना है। उन्होंने विराट मधुर रस के निस्सीम पयोधि को अतल अपार एव दुर्विगाह बतलाकर स्पष्टत स्वीकार किया है कि उन्होंन तट पर खडे होकर ही इस रसाणव का स्पश मात्र किया है—

> अतलत्वादपारत्वादाप्तोऽसौ दुर्विगाहताम् ।
> स्पष्ट पर तटस्थेन रसाब्धिमधुरो मया ॥

कामायनी श्री जयशंकर प्रसाद
रस-कलश हरिऔध
वैदिक सम्पत्ति प० रघुनन्दन शर्मा शास्त्री
प्रिय प्रवास हरिऔध
हड़प्पा प० केदारनाथ शास्त्री
शैवमत डा० यदुवंशी
रसवन्ती दिनकर
नवरस बा० गुलाबराय
संस्कृति का दार्शनिक विवेचन डा० देवराज उपाध्याय
परिषद्-पत्रिका (अप्रैल १९६१)—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्
प्रागैतिहासिक चित्रण (१९०३ ई०)—जे जी० फ्रेजर
कबीर वचनावली—स० हरिऔध
हिन्दी साहित्य कोश
कबीर की विचारधारा—डा० गोविन्द त्रिगुणायत
हिन्दुत्व
भक्तमाल नाभादास
अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय डा० दीनदयाल गुप्त
ब्रजबुलि साहित्य रामपूजन तिवारी
गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्त रामपूजन तिवारी
सहजोबाई की बानी
भीखासाहब की बानी
दादूदयाल की बानी
रैदास की बानी
पद्मावत जायसी
सुन्दर-दर्शन डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित
भारतीय दर्शन प० बलदेव उपाध्याय
कल्याण योगांक
मेघदूत अनु० प० केशवप्रसाद मिश्र
कबीर आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
सर्वांगयोगप्रदीपिका सुन्दरदास
हठयोग प्रदीपिका की टीका रामस्वामी
गोरखबानी स० डा पी० डी० बड़थ्वाल
सन्तमत का सरभंग सम्प्रदाय डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री
सन्तकवि दरिया एक अनुशीलन—
द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ
बौद्ध-दर्शन प० बलदेव उपाध्याय
भागवत सम्प्रदाय
नाथ सम्प्रदाय आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
रामभक्ति में मधुरोपासना डा० भुवनेश्वरनाथ माधव
पुरातत्त्व ग्रन्थावली
गंगा पुरातत्त्वांक
सिद्ध साहित्य डा० धर्मवीर भारती
तान्त्रिक बौद्ध-साधना और साहित्य नागेन्द्रनाथ उपाध्याय
बौद्धधर्म दर्शन आ० नरेन्द्रदेव
सर्वदर्शन संग्रह स० माधवाचार्य
विश्वभारती खंड ५ अंक १ (मन्न शान्ति भिक्षु का निबन्ध)
पलटूसाहब की बानी
संत कबीर डा रामकुमार वर्मा
जैन परम्परा का इतिहास मुनिनाथमल
परमात्म प्रकाश योगीन्दु
सर्वार्थ सिद्धि आचार्य पूज्यपाद
तसव्वुफ और सूफीमत श्री चन्द्रबली पाण्डेय
मध्यकालीन प्रेम साधना श्री परशुराम चतुर्वेदी
भगवत रसिक की बानी
सुधर्म बोधिनी श्री लाडिलीदास
आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौन्दर्य डा० रामेश्वरलाल खंडेलवाल
बयालीस लीला ध्रुवदास
चातक चौंतीसी गो० तुलसीदास
हिन्दी काव्य धारा में प्रेम प्रवाह श्री परशुराम चतुर्वेदी
उद्धव शतक रत्नाकर
बिहारी सतसई बिहारीलाल
रस सिद्धान्त स्वरूप और विश्लेषण डा आनन्दप्रकाश दीक्षित
हिन्दी रसगंगाधर
जनधर्म
रासपंचाध्यायी नन्ददास
विद्यापति की पदावली
कीर्तन संग्रह
रस विमर्श
काव्यकला और अन्य निबन्ध श्री जयशंकर प्रसाद
संस्कृत साहित्य का इतिहास सेठ कन्हैयालाल पोद्दार
रसमंजरी नन्ददास
आलोचना (त्रैमासिक) अक्तूबर १९५३
जुगल शतक श्री भट्ट
महावाणी हरिव्यास

परमानन्दमय हो जाता है। अलौकिक माधुर्य में मन रूपी चातक को परितृप्त करने वाले सर्वश्रेष्ठ मधुर रस का उद्भव बड़ा ही कठिन एवं दुरूह है।

वैष्णव रस शास्त्र के अन्तर्गत मधुर रस के उभय पक्षों में सम्भोग की अपेक्षा विप्रलम्भ को अधिक महत्त्व दिया गया है, क्योंकि विप्रलम्भ की अवस्था में ही प्रेम पूर्णता को प्राप्त होता है।

प्राचीन आचार्यों के साथ-साथ कतिपय आधुनिक विद्वानों ने भी भक्ति किंवा मधुर रस को स्वतन्त्र रस माने जाने का विरोध किया है, तथा इसे देवता विषयक रति मानकर भाव की कोटि में ही परिगणित किया है एवं शृंगार, शान्त, अद्भुत आदि रसों में ही उसके अन्तर्भाव का प्रयास किया है। किन्तु मधुर किंवा भक्ति रस की निष्पत्ति, रस-विधायक तत्त्व और आस्वाद-यापना को देखते हुए मधुर रस को स्वतन्त्र रस रूप में स्वीकार न किए जाने का पाण्डित्याभिमान को छोड़कर और कोई दूसरा बौद्धिक आधार नहीं है।

वस्तुतः शान्त, शृंगार, करुण, वीर, अद्भुत, भयानक, हास्य आदि रसों से भक्ति किंवा मधुर रस की सर्वथा पृथक् सत्ता है तथा यह अपनी व्यापकता, प्रेम तत्त्व की गम्भीरता, चिन्मय-शीलता और मधुरता की अतिशयता की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ रस है। इसकी इसी विशेषता को देखते हुए इसे भक्ति रसराज कहा गया है। मधुसूदन सरस्वती के शब्दों में [illegible] पूर्ण सुखमय मधुर रस के सामने अन्य रस वैसे ही प्रभावहीन हैं जैसे आदित्य के समक्ष खद्योत। रूप गोस्वामी ने तो मधुर रस के आनन्दाम्बुधि के समक्ष [illegible] को परमाणु-तुल्य भी नहीं माना है। उन्होंने विराट मधुर रस के विस्तार [illegible] एवं दुर्विगाह बतलाकर स्पष्टतः स्वीकार किया है कि उन्होंने तो तटस्थ रहकर ही इस रससागर का स्पर्श मात्र किया है—

अनन्तत्वादपारत्वादप्राप्तोऽसौ दुर्विगाहकः।
स्पृष्टः परं तटस्थेन रसाब्धिर्मधुराभिधः॥

सन्दर्भ ग्रन्थानुक्रमणिका

संस्कृत

ऋग्वेद
ऋग्वेद संहिता
कठोपनिषद्
श्वेताश्वतरोपनिषद्
भागवतपुराण
गोविन्दलीलामृत
ब्रह्मवैवर्त पुराण
बृहद् गौतमीय तन्त्र
ब्रह्म संहिता
सम्मोहन तन्त्र
संहिता साहित्य
बृहद् कौशल खण्ड
सत्योपाख्यान
भगवद्गीता
शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र
नारद भक्ति-सूत्र
भक्ति रसायन मधुसूदन सरस्वती
भगवद् भक्तिचन्द्रिका नारायण तीर्थ
भक्ति सन्दर्भ रूपगोस्वामी
हरिभक्तिरसामृतसिन्धु रूपगोस्वामी
उज्ज्वलनीलमणि रूपगोस्वामी
रसार्णव-सुधाकर
रस-कलिका
प्रीति-सन्दर्भ जीवगोस्वामी
श्रीमन्नाथसुधा श्रीज्जयतीर्थ
शाण्डिल्य संहिता
पातञ्जल योग-दर्शन
विष्णुपुराण
छान्दोग्योपनिषद्
तैत्तिरीयोपनिषद्
दैवी मीमांसा दर्शन
नारद पांचरात्र
भक्ति रसतरंगिणी श्री नारायण भट्ट
बोधसार
सनत्कुमारतन्त्र
बृहद् भागवतामृत सनातन गोस्वामी
संकल्प कल्पद्रुम जीव गोस्वामी
विलास कुसुमांजलि रघुनाथ गोस्वामी
सिद्धान्त रत्नांजलि हरिव्यास
श्रीगोविन्दभाष्य बलदेव विद्याभूषण
हनुमत्संहिता
स्तोत्ररत्न
गौतमीय तन्त्र
भक्तिमीमांसा सूत्र
त्रिपुरसुन्दरी रहस्य
बृहदारण्यकोपनिषद्
महाभारत व्यास
अग्निपुराण
ईशोपनिषद्
नाट्यशास्त्र भरत
दशरूपक धनंजय
साहित्य-दर्पण विश्वनाथ
मनुस्मृति मनु
अथर्ववेद
सुधासागर
कामसूत्र वात्स्यायन
शिवपुराण यमसंहिता
कुमारसम्भवम् कालिदास
वेदामृत
बौधायनस्मृति
ब्रह्मपुराण
कठोपनिषद्
यजुर्वेद
सांख्यसूत्र कपिल
ब्रह्मसूत्रभाष्य शंकराचार्य
श्रीभाष्य रामानुजाचार्य
वेदान्त पारिजात सौरभ भाष्य निम्बार्काचार्य
पूर्णप्रज्ञ भाष्य मध्वाचार्य

अणु भाष्य वल्लभाचाय
तत्त्वत्रय रामानुजाचाय
वायुपुराण
दशश्लोकी निम्बार्काचाय
वेदान्त कामधनु निम्बार्काचाय
जैमिनि-पूव मीमासा सूत्रभाष्य वल्लभाचाय
सुबोधिनी वल्लभाचाय
तत्त्वदीप निबध वल्लभाचाय
पचदशी
लघभागवतामृत रूपगोस्वामी
भगवत्सदभ जीवगोस्वामी
हसदूत रूपगोस्वामी
षट-सदभ जीवगोस्वामी
वष्णवतोषिणी सनातन स्वामी
हरिभक्तिविलास सनातन स्वामी
साख्यकारिका ईश्वरकृष्ण
साख्य प्रवचन सूत्रभाष्य विज्ञानभिक्षु
चरक सहिता
षडदशन समुच्चय गुणारत्न
सिद्धसिद्धान्तसग्रह
पतजलि-योगसूत्रभाष्य वेदव्यास
गोरक्ष पद्धति
योगतारावली शकराचाय
शिवसहिता शिवहर स्टेट वासी श्री सिया किशोरी सहचरी द्वारा प्रकाशित
हठयोगप्रदीपिका
आगमसार
योगरसायनम्
घेरण्ड सहिता
कामिनी आगम
वाराही तत्र
शवागम
कुलाणव तत्र
भावचूडामणि तत्र
स्वच्छन्द तत्र
धर्माचय विनिश्चय
ब्रह्माण्ड पुराण
नीलमत पुराण
मालतीमाधव भवभूति
देवी भागवत
सौन्दय लहरी शकराचाय
कपूर मजरी भवभूति
सेकाद्देश की टीका नडपाद
पाशुपत सूत्र महेश्वर
रसशास्त्र कल्लट
प्रत्यभिज्ञाशास्त्र सोमानन्द
शिवसूत्र वसुगुप्त
स्पन्दकारिका भट्ट कल्लट
स्पन्दवृत्ति
स्पन्दनिर्णय क्षेमराज
स्पन्द सन्दोह
विवृति रामकण्ठ
प्रदीपिका उत्पल वष्णव
शिवदृष्टि सोमानन्द
ईश्वर प्रत्यभिज्ञाकारिका विमर्शिणी उत्पलाचाय
तत्रसार
तत्रालोक
परमाथ शास्त्र
कामकला विलास पुण्यानन्द
शारदातिलक
दुर्गासप्तशती माकण्डेय
भुवनेश्वर्युपनिषद्
सौभाग्य भास्कर
कौलज्ञा ननिणय
रुद्रयामल तत्र देवी रहस्य —स० रामचद्र काक और हरभट्ट शास्त्री
कौलोपनिषद्
महायान (प्रस्तावना) शान्ति भिक्षु
सद्धम पुण्डरीक
महावस्तु
चतु शतक स्तोत्र
मजय व्याकरण
अवदान शतक
कल्पना मण्डीतिका
जातकमाला आयसूर
दिव्यावदान
ललितविस्तर
अवदान कल्पलता
अभिधर्मपिटक
सूत्रालकार असग
वज्रसूची
दश भूमीश्वर
अष्ट साहस्रिका प्रज्ञापारमिता स० राजेन्द्रलाल मित्र
सुवर्णप्रभास
लकावतारसूत्र स० दास और आचार्य
गडव्यूह
तथागत गुह्यक
बुद्धचरित अश्वघोष

अद्वयवज्रसंग्रह सं० पं० हरप्रसाद शास्त्री
महायान सूत्रालंकार अश्वघोष
मानमेयोदय नारायण
मूल माध्यमिककारिका नागार्जुन
मूल माध्यमिककारिका वृत्ति चन्द्रकीर्ति
पंचक्रम
ज्ञानसिद्धि
हेवज्रतन्त्र
तत्त्वसंग्रह
अद्वयवज्रसंग्रह सं० डा० विनयतोष भट्टाचार्य
त्रिंशिकाकारिका स्थिरमति की टीका
श्रीचक्र सम्भारतन्त्र सं० काजी दावा समदुप
गुह्य समाजतन्त्र सं० विनयतोष भट्टाचार्य
प्रज्ञोपाय विनिश्चयसिद्धि अनंगवज्र
गुह्यसमाज तन्त्र
योगिनी तन्त्र
विजय तन्त्र
मेरुतन्त्र
साधनमाला सं० वि० तो० भट्टाचार्य
श्री कालचक्रमूल तन्त्र
श्रौत-सूत्र
अमरकोश
विश्वकोश
शतपथ ब्राह्मण
काव्य प्रकाश मम्मट
लोचन
रसगंगाधर पण्डितराज जगन्नाथ
काव्य दर्पण
काव्यालंकार भामह
वेदान्तसार
पंचीकरणवार्तिक सुरेश्वराचार्य
सरस्वती कंठाभरण भोजदेव
गीतगोविन्दम् जयदेव
पद्मपुराण
रसतरंगिणी भानुदत्त
अभिनव भारती भाग—१ अभिनवगुप्त
रसगंगाधर चन्द्रिका
भागवत सन्दर्भ जीवगोस्वामी
भक्ति निर्णय
ध्वन्यालोक आनन्दवर्द्धन
वाल्मीकि रामायण
अलंकार-कौस्तुभ कर्णपूर
प्रेमभक्ति चन्द्रिका नरोत्तमदास
भक्ति रसामृत सिन्धु बिन्दु
माधुर्य कादम्बिनी विश्वनाथ चक्रवर्ती
राधा सुधानिधि स्वामी हितहरिवंश
लोचन रोचनी जीवगोस्वामी
आनन्द चन्द्रिका
उज्ज्वल नीलमणि किरण विश्वनाथ चक्रवर्ती
भावार्थ दीपिका (भागवत की श्रीधरी टीका)
दुर्गम संगमनी— जीवगोस्वामी
अर्थरत्नाल्पदीपिका— मुकुन्ददास गोस्वामी
भक्ति-सार प्रदर्शिनी— विश्वनाथ चक्रवर्ती
(हरिभक्ति रसामृत सिन्धु की टीकाएं।)

हिन्दी

भागवत सम्प्रदाय—पं० बलदेव उपाध्याय
चिन्तामणि—आ० रामचन्द्र शुक्ल
मध्यकालीन धर्म साधना आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
साहित्यिक निबन्धावली सं० आ० देवेन्द्रनाथ शर्मा
निर्गुण धारा—पं० विश्वनाथ
चैतन्य मत और ब्रज-साहित्य (भूमिका)— आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
रामचरितमानस गोस्वामी तुलसीदास
कबीर ग्रंथावली डॉ० श्यामसुन्दरदास
रश्मिबन्ध पं० सुमित्रानन्दन पन्त
योग प्रवाह डा० पी० डी० बड़थ्वाल
मलूकदास की बानी
रसखान
सूरसागर
ज्ञानसमुद्र सुन्दरदास
मीरा की पदावली
कल्याण भक्ति विशेषांक
ब्रजभाषा के कृष्णकाव्य में माधुर्य भक्ति—डा० रूपनारायण
बिहारिन देव की बानी
रीतिकालीन कविता एवं शृंगार रस का विवेचन डा० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी
रस-मीमांसा आ० रामचन्द्र शुक्ल
रीति-काव्य की भूमिका डा० नगेन्द्र
प्रकृतिवाद
हिन्दी शब्दसागर

कामायनी श्री जयशंकर प्रसाद
रस-कलश हरिऔध
वदिक सम्पत्ति प० रघनन्दन शर्मा शास्त्री
प्रिय प्रवास हरिऔध
हडप्पा प० केदारनाथ शास्त्री
शवमत डा० यदुवशी
रसवन्ती दिनकर
नवरस बा० गुलाबराय
सस्कृति का दार्शनिक विवेचन डा० देवराज उपाध्याय
परिषद्-पत्रिका (अप्रल १९६१)—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्
प्रागतिहासिक चित्रण (१९०३ ई०)— ज० जी० फ्जर
कबीर वचनावली—स० हरिऔध
हिन्दी साहित्य कोश
कबीर की विचारधारा—डा० गोविन्द त्रिगुणायत
हिन्दुत्व
भक्तमाल नाभादास
अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय डा० दीनदयाल गुप्त
व्रजबुलि साहित्य रामपूजन तिवारी
गौडीय वष्णव सम्प्रदाय क दार्शनिक सिद्धान्त रामपूजन तिवारी
सहजोबाई की बानी
भीखासाहब की बाना
दादूदयाल की बानी
दरिया की बानी
पद्मावत जायसी
सुन्दर-दर्शन डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित
भारतीय दर्शन प० बलदेव उपाध्याय
कल्याण योगांक
मघदूत अनु० प० केशवप्रसाद मिश्र
कबीर आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
सर्वांगयोगप्रदीपिका सुन्दरदास
हठयोग प्रदीपिका की टीका रामस्वामी
गोरखबानी स० डा० पी० डी० बडथ्वाल
सन्तमत का सरभग सम्प्रदाय डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री
सन्तकवि दरिया एक अनुशीलन—
द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ
बौद्धदर्शन प० बलदेव उपाध्याय
नाथ सम्प्रदाय
नाथ सम्प्रदाय आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
रामभक्ति म मधुरोपासना डा० भुवनेश्वरनाथ माधव
पुरातत्त्व ग्रन्थावली
गगा पुरातत्त्वांक
सिद्ध साहित्य डा० धमवीर भारती
तान्त्रिक बौद्ध-साधना और साहित्य नागेन्द्रनाथ उपाध्याय
बौद्धधम दर्शन आ० नरेन्द्रदेव
सवदर्शन सग्रह स० माधवाचाय
विश्वभारती खड ५ अक १ (भन्त शान्ति भिक्षु का निबन्ध)
पलटूसाहब की बानी
सत कबीर डा रामकुमार वमा
जन परम्परा का इतिहास मुनिनाथमल
परमात्म प्रकाश योगीन्दु
सर्वाथ सिद्धि आचाय पूज्यपाद
तसव्वुफ और सूफीमत श्री चन्द्रबली पाण्डय
मध्यकालीन प्रम साधना श्री परशुराम चतुर्वेदी
भगवत रसिक की बानी
सुधम बोधिनी श्री लाडिलीदास
आधुनिक हिन्दी कविता म प्रम और सौन्दय डा रामेश्वरलाल खडेलवाल
बयालीस लीला ध्रुवदास
चातक चौतीसी गो तुलसीदास
हिन्दी काव्य धारा म प्रेम प्रवाह श्री परशुराम चतुर्वेदी
उद्धव शतक रत्नाकर
बिहारी सतसई बिहारीलाल
रस सिद्धान्त स्वरूप और विश्लेषण डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित
हिन्दी रसगगाधर
जनधम
रासपचाध्यायी नन्ददास
विद्यापति की पदावली
कीतन सग्रह
रस विमश
काव्यकला और अन्य निबन्ध श्री जयशंकर प्रसाद
सस्कृत साहित्य का इतिहास सठ कन्हैयालाल पोद्दार
रसमजरी नन्ददास
आलोचना (त्रिमासिक) अक्तूबर १९५३
जुगल शतक श्री भट्ट
महावाणी हरिव्यास

ध्यानमंजरी अग्रदास
शृंगार रस सागर अग्रदास
श्री सुदर्शन मणि सन्दर्भ
माधुर्य केलि कादम्बिनी मधुराचार्य
सिद्धान्त मुक्तावली श्री रसिकअली
रससार ग्रन्थ कृपानिवास
रस तालिका रामचरणदास
शृंगार रस रहस्य जुगलप्रिया
नवरस बाबू गुलाबराय
राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य डा० विजयेन्द्र स्नातक
हितहरिवंश स्वामी सम्प्रदाय और साहित्य गोस्वामी ललिताचरण
सोलहवीं शती के हिन्दी और बंगाली के वैष्णव कवि डा० रत्नकुमारी
राम भक्ति में रसिक सम्प्रदाय डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह
चैतन्य मत और ब्रज-साहित्य प्रभुदयाल मीतल
हिन्दी सूफी कवि और काव्य डा० सरला शुक्ल
निम्बार्क माधुरी ब्रह्मचारी बिहारीशरण

अंग्रेजी

Hindu Psychology Akhilanand
Expression of Emotions Charles Darwin
The Mansions of Philosophy William Durant
Psychological Studies of Rasas Dr Rakesh Gupta
Plato
Edison
Bradley
Psychological Analysis of Rasas Dr Rakesh Gupta
Theory of Rasa and Dhwani Dr A Shankaran
Instinct of Man James Drever
Elements of Psychology Mellove and Drummond
Psychology R S Woodworth
Science of Emotions Dr Bhagwan Das
Psychology William James
An outline of Psychology William Mc Dougall
Love s Philosophy William Shelly
Character of Emotions A F Shand
Origins of Love and Hate Jan D Suttie
Studies in the Psychology of Sex Haveleck Ellis (Vol I II)
Introduction to Social Psychology William Mc. Dougall
Introduction to Psychology of Religion Thouless
Introductory Lectures on Psycho-Analysis —Freud
Basic writings of Sigmend Freud
The Ego and Id Freud
The Future of an Illusion Freud
Modern Man in Search of Soul C G Yung
The Psychology of Sex Oswald Schwarz
Religions Consciousness William Pratte
The Varieties of Religions Experiences William James
The Psychology of Religion W B Selbie
Psychology and Religion Forsyth
Introduction to the Psychology of Religion Thouless
Study of Religion Morris Jastro
Psychology & Religious quest R B Cattel
Religion and new Psychology Swisher
A short History of Sex worship H Cutner
Marriage and Morality Bertrand Russel
Psycho-analytic Method Freud
Interpretation of Dreams Freud
The Comparative Study of Religions Alban G W Widgery
Studies in Tantras P C Bagachi I & II
Surpent Power Arther A Avalon
An Introduction to the Budhist Asoterism Dr Binoytosh Bhattacharya
The Occallating Universe Ernest J Opik
The Mahavansham edited by Dr Gaybhanger

कामायनी श्री जयशंकर प्रसाद
रस-कलश हरिऔध
भक्ति सम्प्राप्ति प० रघुनन्दन शर्मा शास्त्री
प्रिय प्रवास हरिऔध
कृष्णा प० केदारनाथ शास्त्री
वामन डा० वासुदेवी
रसवन्ती दिनकर
नवरस बा० गुलाबराय
संस्कृति का दार्शनिक विवेचन डा० देवराज उपाध्याय
परिषद्-पत्रिका (अप्रैल १९६१)—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्
प्रागैतिहासिक चित्रण (१९०३ ई०)—जे० जी० फ्रेजर
कबीर वचनावली—स० हरिऔध
हिन्दी साहित्य कोश
कबीर की विचारधारा—डा० गोविन्द त्रिगुणायन
हिन्दुत्व
भक्तमाल नाभादास
अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय डा० दीनदयाल गुप्त
ब्रजबुलि साहित्य रामपूजन तिवारी
गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्त रामपूजन तिवारी
सहजोबाई की बानी
भीखासाहब की बानी
दादूदयाल की बानी
रैदास की बानी
पद्मावत जायसी
सुन्दर-दर्शन डा त्रिलोकीनारायण दीक्षित
भारतीय दर्शन प० बलदेव उपाध्याय
कल्याण योगांक
मेघदूत अनु० प केशवप्रसाद मिश्र
कबीर आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
सर्वांगयोगप्रदीपिका सुन्दरदास
हठयोग प्रदीपिका की टीका रामस्वामी
गोरखबानी स० डा० पी० डी० बड्थ्वाल
सन्तमत का सरभंग सम्प्रदाय डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री
सन्तकवि दरिया एक अनुशीलन—
द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ
बौद्ध दर्शन प० बलदेव उपाध्याय
भागवत सम्प्रदाय
नाथ सम्प्रदाय आ हजारीप्रसाद द्विवेदी
रामभक्ति में मधुरोपासना डा० भुवनेश्वरनाथ मिश्र
पुराणतत्त्व प्रकाश
गंगा पुरातत्त्वांक
सिद्ध साहित्य डा० धर्मवीर भारती
तांत्रिक बौद्ध-साधना और साहित्य नागेन्द्रनाथ उपाध्याय
बौद्धधर्म दर्शन आ० नरेन्द्रदेव
नवरत्न संग्रह म० माधवाचार्य
विश्वभारती खंड ५ अंक १ (मन्मथ नाथ मित्र का निबन्ध)
पलटूसाहब की बानी
सन्त कबीर डा० रामकुमार वर्मा
जैन परम्परा का इतिहास मुनिनाथमल
परमात्म प्रकाश योगीन्दु
सर्वार्थ सिद्धि आचार्य पूज्यपाद
तसव्वुफ और सूफीमत श्री चन्द्रबली पाण्डेय
मध्यकालीन प्रेम साधना श्री परशुराम चतुर्वेदी
भगवत रसिक की बानी
सुधर्म बोधिनी श्री लाडिलीदास
आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौन्दर्य डा० रामेश्वरलाल खंडेलवाल
बयालीस लीला ध्रुवदास
चातक चौंतीसी गो तुलसीदास
हिन्दी काव्य धारा में प्रेम प्रवाह श्री परशुराम चतुर्वेदी
उद्धव शतक रत्नाकर
बिहारी सतसई बिहारीलाल
रस सिद्धान्त स्वरूप और विश्लेषण डा आनन्दप्रकाश दीक्षित
हिन्दी रसगंगाधर
जनधर्म
रासपंचाध्यायी नन्ददास
विद्यापति की पदावली
कीर्तन संग्रह
रस विमर्श
काव्यकला और अन्य निबन्ध श्री जयशंकर प्रसाद
संस्कृत साहित्य का इतिहास सेठ कन्हैयालाल पोद्दार
रसमंजरी नन्ददास
आलोचना (विशेषांक) अक्तूबर १९५३
जुगल शतक श्री भट्ट
महावाणी हरिव्यास

ध्यानमंजरी अग्रदास
शृंगार रस सागर अग्रदास
श्री सुन्दरमणि सन्दर्भ
माधुर्य केलि कादम्बिनी मधुराचार्य
सिद्धान्त मुक्तावली श्री रसिकअली
रससार ग्रन्थ कृपानिवास
रस तालिका रामचरणदास
शृंगार रस रहस्य जुगलप्रिया
नवरस बाबू गुलाबराय
राधा वल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य
डा० विजयेन्द्र स्नातक
हित हरिवंश स्वामी सम्प्रदाय और साहित्य
गोस्वामी ललिताचरण
सोलहवीं शती के हिन्दी और बंगाली के वैष्णव
कवि डा० रत्नकुमारी
राम भक्ति में रसिक-सम्प्रदाय
डा० भगवतीप्रसाद सिंह
चैतन्य मत और व्रज-साहित्य प्रभुदयाल मीतल
हिन्दी सूफी कवि और काव्य
डा० सरला शुक्ल
निम्बार्क माधुरी ब्रह्मचारी बिहारीशरण

अंग्रेजी

Hindu Psychology Akhilanand
Expression of Emotions Charles Darwin
The Mansions of Philosophy William Durant
Psychological Studies of Rasas Dr Rakesh Gupta
Plato
Edison
Bradley
Psychological Analysis of Rasas Dr Rakesh Gupta
Theory of Rasa and Dhwani Dr A Shankaran
Instinct of Man James Drever
Elements of Psychology Mellove and Drummond
Psychology R S Woodworth
Science of Emotions Dr Bhagwan Das
Psychology William James
An outline of Psychology William Mc Dougall
Love s Philosophy William Shell y
Character of Emotions A F Shand
Origins of Love and Hate Jan D Suttie
Studies in the Psychology of Sex Havelock Ellis (Vol I II)
Introduction to Social Psychology William Mc Dougall
Introduction to Psychology of Religion Thouless
Introductory Lectures on Psycho Analysis —Freud
Basic writings of Sigmend Freud
The Ego and Id Freud
The Future of an Illusion Freud
Modern Man in Search of Soul C G Yung
The Psychology of Sex Oswald Schwarz
Religions Consciousness William Pratte
The Varieties of Religions Experiences William James
The Psychology of Religion W B Selbie
Psychology and Religion Forsyth
Introduction to the Psychology of Religion Thouless
Study of Religion Morris Jastro
Psychology & Religious quest R B Cattel
Religion and new Psychology Swisher
A short History of Sex worship H Cutner
Marriage and Morality Bertrand Russel
eli gions Alban G W W dgery
Studies in Tantras P C Bagachi I & II
Surpent Power Arther A Avalon
An Introduction to the Budhist Asoterism Dr Binoytosh Bhattacharya
The Occillating Universe Ernest J Opik
The Mahavansham edited by Dr Gaybhanger

Visva Bharati quarterly I New Series Kshitimohan Sen
Indian Philosophy Dr S Radhakrishanan
A History of Indian Literature Winternitz I & II
Outlines of Mahayan Budhism D T Suzuki
A History of Indian Philosophy Surendra Nath Gupta Vol 1
Obscure Religions Cults Dr Shashi Bhushan Das Gupta
Indian Historical quarterly March 1933 Notes on the Guhya Samaj and the ag of the Tantras Winternitz
Mystic Tales of Lama Taranath Bhupendra Nath Datta
Manual of Indian Budhism H Karn
Journal of Asiatic Society of Bengal 1598 Sam Vol I & II
An Introduction to Tantric Budhism Das Gupta
To Vajrayan Works Dr Binoytosh Bhattacharya
The Mystic Significance of Evam M M Gopinath Kaviraj
G N Jha Research Institute Journal Vol II Part I 1944 Chinese Translation of Hevajratantra Tokyo
Journal Asiatic Research Society of Bengal 1898 Vol I Part II Yuganaddh th Tantri mode of life Herbert V Gunther
A History of Indian Philosophy Surendranath Das Gupta Vol II
Journal of the Asiatic Society of Bengal No 14 Feb 1833 (Notes on the origin of the Kal chakra and Adi Buddha System by Alex D Koros)
Encyclopaedia of Islam
Studies in Islami Mysticism
New International Dictionary of English Literature — Webster
Human affection and Divin Love Swami Abhedanand
Psychology of Sex Havelock Ellis Vol V
Heart of Rama Swami Ram Tirth
Sadhana Ravindra Nath Tagore
Among the great (1950) Dilip Kumar Roy
Phaedrus Plato
Studies in a Dying culture Christopher Caudwell
Symposium Plato
Vaishnava Faiths and Movement S K De
The Number of Rasas Raghavan

अन्य भाषाओं के ग्रन्थ

चैतन्य चरितामृत (बंगला) कृष्णदास कविराज
गीतांजलि (बंगला) रवीन्द्रनाथ ठाकुर
मज्झिम निकाय बुद्ध
बौद्धगान ओ दोहा (अपभ्रंश)
दोहाकोश सं० प्रबोधचन्द्र बागची
कथावत्थु
चर्यापद (अपभ्रंश)
मिलिंद पन्हो
धम्मपद
तर्जमानुल कुरआन तफ्सीर सूरत फातेहा मौलाना अबुल्कलाम आज़ाद।
ऋषि निरवलम्बर तामिलनाद (अजमेर)
चण्डीदास पदावली
बंगीय साहित्य सम्मेलन का २१वाँ अधिवेशन १९३८ (बंगला)
पदकल्पतरु (बंगला)
जीवन आणि साहित्य शिवराम पंत (मराठी)
रस विमर्श (मराठी) डा० वाटवे
मराठी साहित्यातील मधुरा भक्ति श्री प्रह्लाद नरहर जोशी